मानव की कहानी

पहला भाग

—डॉ० रामेश्वर गुप्त

मानव की कहानी

पहला भाग

(सृष्टि के आदि से सन् १५०० ई० तक)

डॉ० रामेश्वर गुप्ता, एम. ए., पी एच.डी.

प्रकाशक :

चेतनागार

वनस्थली

प्रस्तावना

यह 'कहानी' सृष्टि के आदि अस्तित्व या उद्भव काल से प्रारम्भ होती है। फिर यह कहानी सृष्टि के विकास की स्थितियों का अवलोकन करती है। पहिले किस प्रकार युग-युगांतरों तक निष्प्राण, निश्चेतन स्थिति में सृष्टि का विकास होता रहता है; फिर उस निष्प्राण स्थिति में कब और कैसे प्राण और चेतना का आविर्भाव होता है; फिर किस प्रकार उस प्राण और चेतना में उत्तरोत्तर विकास होकर सृष्टि के पटल पर मानव का आगमन होता है; फिर किस प्रकार मानव-समाज बनता है, और अन्त में किस प्रकार यह मानव समाज और प्रकृति में रहता हुआ, परिवर्तन और विकास करता हुआ, आज की स्थिति तक पहुंचता है। भविष्य में किस ओर इसकी प्रगति हो सकती है, इसका भी कुछ निर्देश किया गया है—आज के मनीषियों के विचारों के आधार पर।

सृष्टि और मानव-विकास की सभी बातें अभी पूर्ण ज्ञात नहीं हैं, किन्तु अनुसंधान और वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा ज्यों ज्यों मानव ज्ञान में वृद्धि होगी एवं पुरातत्व और इतिहास सम्बन्धी ज्यों ज्यों नये अन्वेषण होंगे त्यों त्यों अब तक की अपूर्ण ज्ञात या अज्ञात बातों की जानकारी में पूर्णता आती जायगी।

हम में यह उत्सुकता है कि हम आज अपने आपको, अपने देश, काल, समाज और सर्वोपरि मानव और दुनिया को समझ सकें। यह भी समझ सकें कि सृष्टि में मानव का क्या स्थान है। इन बातों की समझ प्राप्त करने में हमारा सबसे बड़ा सहायक इतिहास ही हो सकता है। ऐसी समझ हमारे मूढ़ाग्रहों, अन्धविश्वासों और अज्ञान को हटाकर हमारी चेतना को निर्भय और

मुक्त करती है-और इसके आधार पर हम अपने भविष्य में अमंगलकारी स्थितियों को टाल सकते हैं। कम से कम इतना तो अवश्य जान सकते हैं कि अमंगलकारी स्थितियों को कैसे टाला जा सकता है।

इस पुस्तक में एक सारांश-सा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है—आज तक की ज्ञात बातों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों का, और इतिहास से सीधे सम्बन्धित ऐसे जीव-शास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विचारणाओं का जिनसे मानव प्रगति की गतिविधि समझने में सहायता मिल सके।

यद्यपि पुस्तक में प्रायः प्रत्येक देश का प्रारम्भिक काल से आधुनिक काल तक, संक्षेप में सिलसिलेवार राजनैतिक और सामाजिक इतिहास दिया गया है, किन्तु इसको मानव की कहानी की एक पृष्ठ-भूमि मात्र समझा गया है। उद्देश्य तो यही रहा है कि किसी प्रकार हम मानव की गतिविधि को समझ जायं, उसकी सीमाओं और विकास की संभावनाओं को समझ जायं।

'मानव की कहानी' को कई काल विभागों या युगों में विभक्त किया गया है, और ऐसा भी संकेत किया गया है कि भिन्न भिन्न युगों की व्यक्तिगत अपनी अपनी विशेषतायें थीं—किन्तु इस बात को इतना सीधा नहीं मान लेना चाहिये। इतिहास तो एक सतत प्रवाहमान धारा है, उसमें कहीं भी पृथक-पृथक सीमाबद्ध कक्ष नहीं हैं, कोई भी युग निरपेक्ष, अपने में ही सम्पूर्ण नहीं। अतः एक युग की विशेषताओं के उदाहरण आगे पीछे दूसरे युगों में भी कुछ-कुछ मिल सकते हैं।

आज इतिहास जातिगत राष्ट्रीयता एवं अखिल मानव-समाज-गत अन्तर्राष्ट्रीयता के मिलन बिन्दु पर खड़ा है। आज हम कल्पना कर सकते हैं कि अब भविष्य में सब राष्ट्र, सब जातियां

'एक' मानव समाज, 'एक' मानव जाति की दृष्टि से देखी जायगी, अतएव अब भिन्न-भिन्न देशों अथवा राष्ट्रों और जातियों का नहीं समस्त मनुष्य जाति का इतिहास लिखा जायगा,—उस 'मनुष्य जाति' का जिसका देश है इस सौर मंडल का एक ग्रह—यह पृथ्वी; और वह 'इतिहास' जो अपने वस्तुगत (Objective) सत्य से मानव आत्मा में प्रेम और शांति की उद्भावना करे।

पुस्तक का विषय तो बहुत आकांक्षापूर्ण रहा है—यथा सृष्टि के अभ्युदय से आज तक मानव की प्रगति;यह कार्य कितना दुःसाहस पूर्ण है इसकी कल्पना की जा सकती है। अतः पुस्तक में इस विषय की केवल मोटी मोटी बातों की रूपरेखा मात्र दी गई है। इतना भी निभ गया है या नहीं, इसमें सन्देह हो सकता है। किन्तु इतनी आशा तो अवश्य है कि पुस्तक पढ़ने से चेतना कुछ तो जाग्रत होगी।

उन सब लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूं जिनकी कृतियों की सहायता से यह "कहानी" प्रस्तुत हो सकी।

वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली (राजस्थान)
१४ जनवरी, १९५१

रामेश्वर गुप्ता

चतुर्थ संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में—

• नवज्ञात तथ्यों के आधार पर संशोधन किया गया है; प्राय: प्रत्येक अध्याय में ऐसा करना पड़ा। इन पिछले वर्षों में प्रजाति, वंशानुक्रम एवं प्रजनन विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन के कारण कुछेक अध्यायों को तो नये सिरे से लिखना पड़ा।

•• पुरातन लुप्त सभ्यताओं के नवोद्घाटित तथ्यों का समावेश तत्सम्बन्धी अध्यायों में किया गया है।

••• पुस्तक के द्वितीय भाग में १९५० से १९५७ तक की महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन जोड़ा गया है।

•••• वाक्यों में इधर उधर परिवर्तन-संशोधन करके समस्त ग्रन्थ का कुछ इस प्रकार पुनर्नियोजन किया गया है कि लेखक का यह दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो कि प्रकृति, मानव समाज, और मानवात्मा (चरित्र) अन्योनाश्रित एवं सापेक्षिक प्रक्रियायें हैं, इन तीनों के परस्पर घात-प्रतिघात, संगठन-विघटन से ही इतिहास प्रक्रिया चलती रहती है, और कि मानव धीरे धीरे इस स्थिति में पहुंच रहा है कि वह इस प्रक्रिया को अधिक से अधिकतर समझ सके—और शायद ~~कुसल~~ कुछ नियंत्रण भी कर सके।

वनस्थली,
१-६-१९५८

—रामेश्वर गुप्ता

पुस्तक की योजना

पुस्तक २ भागों व निम्न ७ खण्डों में विभक्त है

पहला भाग

१. सृष्टि की अभिव्यक्ति:—

अनिश्चित अतीतकाल से लेकर आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व तक अर्थात् विश्व के अभ्युदय काल से "मानव उद्भव" काल के पूर्व तक।

२. मानव का उद्भव:—

आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व से ई० पू० लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व तक अर्थात् मानव के प्रारम्भिक उद्भव काल से लेकर पूर्ण विकसित मानव (Homo sapien) के आगमन और प्रारम्भिक जीवन तक।

३. मानव की सर्व प्रथम संगठित सभ्यतायें:—

अनुमानतः ६००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक (सभ्यतायें जो अब लुप्त हैं)।

४. मानव इतिहास का प्राचीन युग:—

२००० ई० पू० से ५०० ई० तक।

५. मानव इतिहास का मध्य युग:—

५०० ई० से १५०० ई० तक।

दूसरा भाग

६. मानव इतिहास का आधुनिक युग:—

१५०० ई० से १९५६ ई० तक।

७. भविष्य की ओर संकेत।

विषय सूची

पहला खंड

सृष्टि की अभिव्यक्ति

(अनिश्चित अतीतकाल से लेकर आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व तक अर्थात् विश्व के अभ्युदय काल से "मानव उद्भव" काल के पूर्व तक)

दूसरा खंड

मानव का उद्भव

(आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व से ई० पू० लगभग ६००० वर्ष पूर्व तक अर्थात् मानव के प्रारम्भिक उद्भव काल से लेकर पूर्ण विकसित मानव (Homo sapien) के आगमन और प्रारम्भिक जीवन तक)

तीसरा खंड

मानव की सर्वप्रथम संगठित सभ्यतायें

(जो अब लुप्त हैं)

(अनुमानत: ६००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक)

चौथा खंड

मानव इतिहास का प्राचीन युग

(२००० ई० पू० से ५०० ई० तक)

पांचवां खंड

मानव इतिहास का मध्य युग

(५०० ई० से १५०० ई० तक)

तिथिक्रम, अनुक्रमणिका एवं परिशिष्ट दूसरे भाग के अन्त में देखिये ।

चित्रों एवं मानचित्रों की सूची

पहला खण्ड

[अनिश्चित अतीत काल से लेकर आज से लगभग
१० लाख वर्ष पूर्व तक]

सृष्टि की अभिव्यक्ति

[विश्व के अभ्युदय काल से "मानव उद्भव"
काल के पूर्व तक]

सृष्टि की अभिव्यक्ति

(१)

विषय प्रवेश

हम मानव हैं, इस धरती पर रहते हैं। हमारे चारों ओर आकाश फैला है जहाँ रात में टिमटिमाते हैं अनेक नक्षत्र और दिन में चमकता है एक सूर्य। इस समस्त सृष्टि को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। क्या हमने कभी सोचा है यह सृष्टि कैसे बन गई ? इस सृष्टि में हम हैं : क्या हमको यहाँ किसी ने बुलाया था ? क्या हमको यह जानने का कौतूहल नहीं होता कि कहाँ से ये नक्षत्र आगये, कहाँ से सूर्य आगया, और कहाँ से पृथ्वी ? और कब और क्यों आगये ये ? कौन सबसे पहला मानव होगा, क्या खाता-पीता होगा, कैसे रहता होगा, क्या सोचता होगा ? क्या ये बातें हमें परेशान नहीं करतीं ?

तुरन्त हममें से कुछ कहेंगे—अरे, इसमें कौनसी नई बात है—खुदा के दिल में सहसा किसी वक्त कुछ रचने की-सी बात समा गई और एक दिन बैठकर उसने यह सब कुछ रच डाला। फिर कोई जन कहेंगे—अरे क्यों पचड़े में पड़ते हो, सीधी सी बात है—अनादिकाल से

हम रहते हुए आये हैं, अनन्त काल तक हम रहेंगे; हम कब पैदा हुए, कैसे पैदा हुए, यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बात इतनी सरल नहीं है। आज यह एक निश्चित और सिद्ध मान्यता है कि एक समय था जब कि इस पृथ्वी पर कहीं भी मानव था ही नहीं। मानव तो क्या कोई भी पशु-पक्षी, किसी भी तरह का छोटा मोटा जीव-जन्तु, कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधा, घास इत्यादि कुछ भी नहीं था।

अरे इन पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, आदमियों की बात तो जाने दो, स्वयं यह पृथ्वी भी नहीं थी। पृथ्वी की भी बात छोड़ो—ये नक्षत्र, सूर्य-चन्द्रमा, आकाश, जल, वायु कुछ भी नहीं थे। क्या सचमुच नहीं थे? यदि थे नहीं तो आ कहाँ से गये? सोचिये।

इन बातों को जिन्होंने सोचा है, जिन्होंने इनका पता लगाया है उनका कहना है कि तारे, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, जल-थल, वनस्पति, जीव-जन्तु और मनुष्य—इन सबका आविर्भाव होने के पहले केवल भूत-द्रव्य अपनी आदि-स्थिति में विद्यमान था। वह स्थिति मानो एक वर्णनातीत, परिव्याप्त ज्वलंत वाष्पपिंड की-सी थी—निराकार, मानो वह कोई तेजोमय पुञ्ज था। जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि वह आदिभूत सुस्त, स्थिर नहीं पड़ा था, उस में गति थी। और इसीलिये धीरे-धीरे उसमें से रूपमान सृष्टियाँ विकास पा रही थीं—आविर्भूत हो रही थीं। धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति आई जब उस आदि गतिमान भूतद्रव्य में से असंख्य नक्षत्र उत्पन्न होकर, मानो छिटककर, अपना ही आकाश बनाकर उसमें घूमने लगे। यह घटना तो असंख्यों वर्षों पहिले की है। उन्हीं नक्षत्रों में एक अपना सूर्य था। उसी सूर्य में से छिटक कर अलग हुआ उसका एक अंश, जो कोई छोटा-मोटा अंश नहीं था। २५००० मील उसकी गोलाई थी। सूर्य का यही अंश हमारी पृथ्वी थी। यह घटना हुई होगी आज से २ अरब वर्ष पूर्व। प्रारम्भ में यह पृथ्वी एक गरम गैस का गोला था, किसी भी प्रकार की वनस्पति, जीव-जन्तु का नाम निशान तक उस पर नहीं था। धीरे धीरे वह गोला ठण्डा होने लगा,—और उस

एक अरूप पिंड में से जल-थल, पहाड़, नदी, झील, पत्थर, मिट्टी और रेत—अनेक रूप प्रकट होने लगे; और फिर आये जीव-जन्तु और वनस्पति। लेकिन मानव ? पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व में आने की बात तो कोई बहुत पुरानी नहीं— केवल यही ५-६ लाख वर्ष की कहानी है। और हम-आप जैसे वास्तविक मानव-जाति के प्राणियों की प्रत्यक्ष हलचल की बात तो, यों कहिये, केवल ५०-६० हजार वर्ष ही पुरानी है। तो शुरु में वह मानव कैसा था ? कैसे रहता था ? अरे, पशु की तरह बिल्कुल नंगा था, पेड़ों के नीचे या गुफाओं में पड़ा रहता था, पशु की ही तरह भोजन की तलाश में इधर उधर घूमता फिरता था— पशुजगत का ही एक एक सदस्य था। किन्तु उस मानव के मन में एक बेचैनी-सी रहने लगी थी—जैसे वह सब कुछ समझ लेना चाहता हो।

धीरे-धीरे उसने बहुत कुछ समझा भी। इतना कि आज वह बिजली के प्रकाश वाले सुन्दर मकान में रहता है, हवाई जहाज में चलता है, रेडियो पर समाचार और गीत सुनता है—और बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में पढ़ता है।

जरा सोचो, कहाँ तो वह आदि मानव जो एक-दो-तीन भी गिनना नहीं जानता था; क-ख-ग भी नहीं जानता था, बिल्कुल पशु था, पशु की तरह ही रहता था; और कहाँ हम इतने ज्ञान-विज्ञान के धनी ?

मानव ने कितना विकास कर लिया है। क्या वह इस सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य को नहीं जान सकता ? एक दिन जान सकेगा।*

---

* *Our human ignorance moves towards the Truth*
That Nescience may become Omniscient.
(*Sri Aurobindo*)

[**मानव की अज्ञानता 'सत्य' की ओर बढ़ती चली जा रही है जिससे कि मानव जिसके लिये सब कुछ अज्ञात-सा है सर्वज्ञ बन जाय]**
यही तो इतिहास की गति है।

सचमुच मानव का ज्ञान बढ़ा है, अपने जीवन के कुछ ही हजार वर्षों में उसकी कार्य कुशलता बढ़ी है, उसकी चेतना गहरी हुई है। इसी-लिये तो हम कहते हैं—मानव का,उसकी सभ्यता का, विकास हुआ है। विकास की यह कहानी सचमुच दिलचस्प कहानी है। हमें यह कहानी मालूम होनी चाहिये।

●

(२)

सृष्टि—एक आश्चर्य

यह जीवन है, तुम हो और है यह सृष्टि जिसमें प्रातःकाल उषा गुलाल बिखेरती है और सूर्य का स्वागत करती है। सूर्य दूर, बहुत दूर जहाँ आकाश का छोर है, चुपके से प्रकट होता है और सब तरु-पल्लव, वनस्पति, असंख्य जीव-प्राणियों पर अपनी प्राणदायिनी रश्मियाँ बिखेरता हुआ आगे बढ़ता है। दिन भर समस्त आकाश मण्डल की यात्रा करता हुआ सायं अस्त हो जाता है, और फिर निरभ्र रात्रि, अनन्त आकाश में, दूर-दूर तक टिमटिमाने लगते हैं तारे असंख्य। कब से, कितने वर्षो से सूर्य उदय-अस्त होता आ रहा है, कितने वर्षों से तारे टिमटिमाते हुए आ रहे हैं और कितने विशाल हैं ये ? और फिर हो तुम और तुम्हारा जीवन। कितने बड़े हो तुम और कितना बड़ा तुम्हारा जीवन—यह कभी सोचा ? कब, क्यों यह सृष्टि पैदा हुई ? क्यों आप इसमें टपक पड़े ? किसी ने आपको निमन्त्रण दिया था—किसी ने आपको बुलाया था, या आपने स्वयं कभी चाहा था कि इस संसार में आप चले आयें ? ये बातें कभी आपकी चेतना से आकर टकराई हैं ? इन बातों ने कभी आपकी चेतना में कुछ सिहरन, कभी कुछ गति पैदा की है ?

इस पृथ्वी पर जिस पर हम रहते हैं–अपना घर बनाए हुए हैं, कैसी है इसकी शकल, कितनी बड़ी है यह ? हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से तो देख रहे हैं कि यह चपटी है । ठीक है, प्रकृति ने तो कभी यह खयाल किया नहीं था कि हम वैज्ञानिक बनेंगे और इसीलिए प्रकृति ने हमारी आँख और कान इस तरह के बना दिये कि हम साधारणतया पृथ्वी पर जीवन का व्यवहार चला सकें, हमारी दृष्टि इतनी विशाल नहीं बनाई कि हम दूर से दूरस्थ वस्तु को भी देखलें—लाखों ऐसे तारे हैं जिनको हम देख ही नहीं पाते । हमारी दृष्टि इतनी सूक्ष्म नहीं बनाई गई कि हम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तु को देख सकें । हमारी आँखों के सामने असंख्य कल्पनातीत इतने सूक्ष्म जीव प्राणी हैं, भूत द्रव्यों के इतने सूक्ष्म अणु परमाणु हैं जिन्हें हम अपनी आँखों से नहीं देख पाते । यदि ऐसी विशाल और सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति हमें दे देती तो इस सृष्टि का चित्र ही हमारे लिए सर्वथा उससे भिन्न होता जैसा प्रत्यक्ष हम अपनी आँखों से आज देख रहे हैं । किन्तु फिर भी मनुष्य मनुष्य ही है । छोटा है किन्तु उसकी चेतना, उसकी बुद्धि विशाल है । उसने ऐसी दूरबीनें (Telescopes), ऐसे अणुवेक्षणीय यन्त्र (Microscopes) ईजाद कर लिए, ऐसे साधन उपलब्ध कर लिए और निरन्तर करता हुआ जा रहा है कि प्रकृति अपने कोई भी रहस्य मानव चेतना से छिपा कर न रख सके । भू-तत्ववेत्ताओं ने, वैज्ञानिकों ने, ज्योतिषियों ने यह पता लगाया है कि पृथ्वी चपटी नहीं, गोल है । इसका व्यास ७९१३ मील है । इसका घेरा लगभग २५००० मील है । जल, मिट्टी, पहाड़-पत्थर, अनेक धातु ठोस और तरल पदार्थों की बनी हुई यह पृथ्वी वजन में १७० हजार शंख मन है । यह पृथ्वी किसी सर्प की फणी पर अचल स्थित नहीं वरन् आकाश में निराधार लटकी हुई, १०४० मील प्रति घंटा की चाल से लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूम रही है, और अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ ६५,००० मील प्रति घंटा की चाल से एक सुनिश्चित कक्ष में सूर्य के चारों ओर भी चक्कर काट रही है । ६०

करोड़ मील का यह चक्कर है जिसे पृथ्वी ३६५१/४ दिनों में पूर्ण करती है। इसे सूर्य के चारों ओर वशतः घूमना पड़ता है, इसलिए आकाश में निराधार होते हुए भी यह पृथ्वी और किसी तरफ गिर या लुढ़क नहीं जाती। क्यों यह पृथ्वी एक सुनिश्चित कक्ष में सूर्य के चारों ओर घूम रही है? क्योंकि, यह पृथ्वी सूर्य का ही तो एक अन्डा बच्चा है। एक काल था, आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले जब न यह पृथ्वी थी, न मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि ग्रह और न चन्द्र। केवल था सूर्य, एवं सूर्य जैसे अन्य असंख्य नक्षत्र—वे नक्षत्र जिन्हें आज हम रात में आकाश में टिमटिमाते हुए देखते हैं, जिनमें अनेक तो सूर्य की अपेक्षा लाखों गुणा बड़े हैं किन्तु दिखने में सूर्य से छोटे। बड़े होते हुए भी दिखने में छोटे क्यों? क्योंकि वे हमारी पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा लाखों गुण दूर हैं—दूर की चीज छोटी दिखती ही है। किन्तु यह सूर्य क्या है? यह है भयंकर, धधकता हुआ, कल्पनातीत तीव्र गति से चक्कर काटता हुआ आग का गोला। इतना भयंकर रूप से धधकता हुआ कि उसमें सब धातु, सब द्रव्य पदार्थ, उसमें का सब कुछ वाष्प रूप में विद्यमान है—तरल एवं ठोस कुछ नहीं। अतएव वास्तव में यह हुआ कल्पनातीत भयंकर रूप से धधकता हुआ एक वाष्प पिंड। छोटा मोटा पिंड नहीं, पृथ्वी से १३ लाख गुणा बड़ा, जिसका घेरा ८,६४,३६७ मील, और इतना गर्म कि जिसकी सतह का तापमान ६००० डिगरी सेण्टीग्रेड हो। १००° के ताप में तो पानी भाप बन जाता है किन्तु ६००० डिगरी इतना ताप हुआ कि इसमें तो लोहा, तांबा तथा अन्य ठोस से भी ठोस धातु या पदार्थ भाप बन जायं। केवल इतना ही नहीं, किन्तु इतना अधिक ताप कि जिसमें उद्जन-वाति (हाईड्रोजन गैस) भी गैस रूप में न रहकर टूट टूट कर विद्युत-कण बन जाता है। इतना गर्म है यह कि यदि पृथ्वी अपनी कक्ष छोड़कर थोड़ी-सी भी इसके समीप चली जाय तो वह जलकर भस्म हो जाय। और इतनी तीव्र गति इसकी है, ६७,००० मील प्रति घन्टा, कि कोई भी वस्तु इसके प्रभाव क्षेत्र में आ

पड़े तो अपने झोंक के दबाव में उसे अपने साथ उड़ा ले जाय, उसी प्रकार जिस प्रकार बहुत तेज दौड़ती हुई रेलगाड़ी के डिब्बे के अन्दर उछाली हुई चीज गाड़ी के झोंक के साथ उसी तरफ चलती है जिस ओर गाड़ी जा रही है; जिधर गाड़ी जा रही है उसकी विपरीत दिशा में नहीं।

तो आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले किसी कारणवश (देखिए अध्याय चतुर्थ) इस सूर्य में कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस सूर्य के शरीर में से, उस सूर्य की वस्तु में से अनेक टुकड़े पृथक हो होकर अलग जा पड़े। वे अग्निमय वाष्प के टुकड़े तीव्र गति से घूमते हुए सूर्य के झोंक के प्रभाव में सूर्य के ही चारों ओर घूमने लगे। याद रखिए दो अरब वर्ष पहिले, और वह गतिमय शक्ति इतनी जबरदस्त थी कि ये टुकड़े आज भी सूर्य के चारों ओर अप्रतिहत गति से चक्कर लगा रहे हैं। ये टुकड़े हैं वे वस्तु जिन्हें आज हम ग्रह कहते हैं। अपनी पृथ्वी इन्हीं टुकड़ों में का एक ग्रह है। अभी तक नव ग्रहों का पता लगा है : शुक्र, बुध, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वरुण, नेपच्यून, प्लूटो, जिनमें बृहस्पति सबसे बड़ा, मंगल सबसे छोटा और पृथ्वी मझले कद की है। कितनी दूर सूर्य से पृथक होकर ये टुकड़े गिरे ? बृहस्पति ४८ करोड़ ३३ लाख मील दूर, पृथ्वी ९ करोड़ ३० लाख मील दूर, और इसी प्रकार। इन दूरियों की जरा कल्पना कीजिए। फिर सूर्य के ये अग्निमय वाष्प के टुकड़े धीरे-धीरे ठण्डे होने लगे—ठंडा होने के फलस्वरूप ये ठोस बने, कुछ भाग तरल रूप में पानी बन गये, और वैज्ञानिकों का कहना है कि आज से लगभग ५० करोड़ वर्ष पहले, अपनी पृथ्वी पर कुछ ऐसी विशेष भौतिक, रासायनिक एवं वायुमण्डलीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि पृथ्वी पर जीवों का प्रादुर्भाव हो सके। जीवों का प्रादुर्भाव हुआ, और शनैः शनैः साधारण और सरल जीवों से विकसित होते होते ऐसे प्राणी उद्भूत हुए जो मानव थे—जिनकी आप और हम सन्तान हैं। यह ग्रह, अपनी पृथ्वी तो शनैः शनैः ठण्डी हुई और ऐसी भौतिक परिस्थितियां

यहां उत्पन्न हुईं कि जिनसे जीवन का उदय हो सका और फिर असंख्य जातियों के जीव-प्राणी इस पृथ्वी पर फैल गये—किन्तु अन्य आठ ग्रहों पर भी क्या ऐसी ही परिस्थितियों का विकास नहीं हुआ ? वे भी तो आखिर पृथ्वी के साथ ही साथ अपने एक जनक सूर्य से ही उत्पन्न हुए थे। क्या ये अन्य ग्रह भी हमारी पृथ्वी की तरह अनेक जीव-प्राणियों के घर नहीं ? कौन जानता है ? कौन निश्चयपूर्वक इन बातों का उत्तर दे सकता है ? वैज्ञानिकों ने, ज्योतिषियों ने अनेक परीक्षणों के बाद अनुमान लगाया है कि पृथ्वी को छोड़कर अन्य आठ ग्रह (मंगल के विषय में कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता) इतने ठण्डे होगये हैं कि उन पर किसी भी प्रकार के जीवन का अस्तित्व बिल्कुल भी संभव नहीं। स्वयं पृथ्वी पर आप देखिये—प्राण और चेतना गतिमय और अकुलाते हुए पाये जाते हैं केवल पृथ्वी की सतह पर—ये प्राण पहुँच पाये हैं पृथ्वी की सतह के नीचे केवल तीन मील तक (जल-जीव) और पृथ्वी की सतह के ऊपर वायु-मंडल में केवल ५ मील ऊपर तक। समुद्र में तीन मील से अधिक गहराई के नीचे किसी भी जीव-प्राणी के चिन्ह नहीं हैं—कोई भी पक्षी वायु-मंडल में ५ मील से अधिक ऊपर नहीं उड़ पाया है। मनुष्य ने इससे अधिक ऊँचा उड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु बहुत कठिनता से। ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं वायु-मण्डल हल्का होता जाता है और श्वास लेना अति कठिन, अतएव एक निर्दिष्ट ऊँचाई से अधिक ऊँचे स्थानों में प्राण की स्थिति वने रहना असम्भव है। आप कल्पना करने की कोशिश तो कीजिए—अपनी यह सूर्यमण्डली है जिसके केन्द्र में है विशाल सूर्य जिसके चारों ओर करोड़ करोड़, अरब अरब मील दूर तक चक्कर लगा रहे हैं अपने नव ग्रह; और फिर इस सूर्य और इन ग्रहों के बीच में भी है अचिंत्य शून्य अवकाश (Space)। इतने कल्पनातीत विशाल क्षेत्र में—चेतन अनुभूति करते हुए प्राण हैं केवल पृथ्वी की सतह पर। स्पष्ट है—प्रकृति ने प्राण एवं चेतना के विकास के लिए कोई निश्चित, पूर्व-निर्दिष्ट अपनी गति प्रारम्भ नहीं की थी, यदि

ऐसा होता तो क्यों नहीं अन्य ग्रहों पर जीव होते ? ऐसा प्रतीत होता है, जीव का आगमन तो अचानक अ-पूर्वकल्पित, अनायोजित योंही कोई घटना हो गई। विश्व योजना में मनुष्य या प्राणी-जगत का कोई स्थान मालूम नहीं होता। अब सोचिये—आप भी इस पृथ्वी पर शायद योंही टपक पड़े हों !

अरे अपनी इस सूर्य-मण्डली की बात तो जाने दीजिए। आपने ऊपर पढ़ा,और आप देखते भी हैं कि असंख्य नक्षत्र ऊपर आकाश में टिमटिमाते हैं। अपना सूर्य इन विपुल-संख्यक नक्षत्रों में से एक नक्षत्र है। अर्थात् ये नक्षत्र भी पृथक - पृथक एक - एक सूर्य हैं। ये नक्षत्र अपनी पृथ्वी से अरवों अरबों मील दूर हैं—कितनी दूर ये हैं इसका अन्दाजा आप इससे लगाइए कि अपनी पृथ्वी के सबसे निकट जो नक्षत्र है अर्थात् वही अपना सूर्य, वह पृथ्वी से केवल ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है जबकि जो तारा अपने सूर्य के सबसे निकट है उसकी दूरी तो आसानी से हम संख्या में प्रकट भी नहीं कर सकते। नक्षत्रों की दूरी को बतलाने के लिए ज्योतिषियों ने एक ढंग निकाला है। हमको ज्ञात होना चाहिये कि जिस प्रकार पानी में कोई पत्थर या ढेला फेंक देने से उसमें तरंगें उठ जाती हैं उसी प्रकार प्रकाश की भी तरंगें होती हैं—और ये प्रकाश की तरंगें चलकर हमारे पास आती हैं, इनकी चाल बहुत ही द्रुत-गामी होती है,—एक सेकिण्ड में १,८६,३०० मील। सूर्य के प्रकाश की भी तरंगें जो हमारे पास आती हैं उनको ९ करोड़ ३० लाख मील दूर का फ़ासला तय करके हमारे पास आना पड़ता है और यह फासला तय करने में सूर्य के प्रकाश की किरणों को लगभग आठ मिनिट लग जाते हैं। इस प्रकार प्रकाश यदि एक सेकिण्ड में १ लाख ८६ हजार ३ सौ मील चलता है तो हिसाब लगाइए कि एक वर्ष में वह कितना चलेगा—एक वर्ष में वह चलेगा:—

$$१८६३००\times६०\times६०\times२४\times३६५\tfrac{१}{४} = ५८,७९,०००,०००,०००$$

मील, अर्थात् कह सकते हैं लगभग ६० खरब मील। इस दूरी को ज्यो-

तिषी लोग एक प्रकाश-वर्ष कहकर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार दो प्रकाश वर्ष का अर्थ होगा २×५८,७६,०००,०००,००० अर्थात् लगभग १२० खरब मील। अब नक्षत्रों की दूरी पर आइए। अपनी पृथ्वी के सबसे नजदीक तो अपना सूर्य ही है और अन्य असंख्य नक्षत्रों में से जो नक्षत्र अपने सूर्य के सबसे निकट है वह आपको मालूम है सूर्य से कितनी दूर है ? उसकी दूरी है ४ "प्रकाश-वर्ष" अर्थात् वह प्रकाश जो एक सेकिण्ड में १ लाख ८६ हजार ३ सौ मील चलता है उसको सूर्य तक पहुँचने में चार वर्ष लगते हैं। इस प्रकार अनेकों तारे हैं जिनका प्रकाश अपनी पृथ्वी तक पहुँचने में एक नहीं, दो नहीं, किन्तु लाखों वर्ष लगते हैं। इससे अपने मन में जरा कल्पना बैठाइए कि कितना विशाल यह विश्व है !

नक्षत्र भी प्राय: अपना एक समूह, अपना एक गुच्छ, अपनी एक मंडली बना कर रहते हैं। अंधेरी रात के आकाश में प्रकाश से पुती हुई जो एक सड़क सी मालूम होती है और जिसे हम "आकाश-गंगा" कहते हैं, वह भी नक्षत्रों का एक समूह है। अपना सूर्य इस आकाश गंगा का ही एक सदस्य है। इस आकाश-गंगा नामक नक्षत्र मंडली में लगभग एक खरब नक्षत्र हैं और ज्योतिषियों की अनुमानात्मक गणना है कि जिस प्रकार एक नक्षत्र-मंडली में प्राय: एक खरब नक्षत्र हैं उसी प्रकार इस सम्पूर्ण आकाश (खगोल) में एक खरब नक्षत्र-मंडलियाँ हो सकती हैं। और जिस प्रकार एक नक्षत्र-मंडली में एक एक नक्षत्र दूसरे नक्षत्र से खरबों खरबों मील दूर है उसी प्रकार एक एक नक्षत्र-मंडली दूसरी नक्षत्र मंडली से संख्यों संख्यों मील दूर है। यह तो अवकाश (Space) की बात हुई— अब कल्पना कीजिए काल की। अपनी पृथ्वी को सूर्य नामक वाष्पपिंड में से आविर्भूत हुए तो केवल दो अरब वर्ष हुए हैं, किन्तु उस सूर्य का भी तो कहीं से आविर्भाव हुआ होगा। अवकाश में अनेक ऐसे पिण्ड हैं जो बिखरी हुई वाष्प के रूप में हैं जिन्हें नीहारिका कहते हैं। ज्योतिषियों का अनुमान है कि ऐसी ही किसी एक नीहारिका में से सूर्य का अचिंत्य प्राचीन काल में प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार सूर्य का बनना हुआ, उसी

प्रकार किसी काल में अन्य असंख्य नक्षत्र भी तो बने होंगे। इस प्रकार आगे बढ़ते जाइए और आपको ज्ञात होगा कि जिस प्रकार आकाश (Space) फैला हुआ है उसी प्रकार काल का फैलाव हुआ है। आज के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइन्सटाइन का तो यह कहना है कि आकाश एवं काल दोनों समानन्तर हैं–जिस प्रकार आकाश (Space) किसी वस्तु का किसी एक दिशा में फैलाव है उसी प्रकार काल उसी वस्तु का दूसरी दिशा में फैलाव है। अन्यथा आकाश और काल में कोई भेद नहीं है। ज्यों-ज्यों काल बीतता जा रहा है अर्थात् काल का फैलाव होता जा रहा है उसी प्रकार आकाश का फैलाव भी होता हुआ जा रहा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन की कल्पना है कि विश्व ऐसे रबर के गुब्बारे की तरह है जिसे हवा भरकर फुलाया जा रहा है, एवं हर १३ करोड़ वर्ष बाद यह विश्व का गुब्बारा फूलकर दुगुना बड़ा हो जाता है। अर्थात् समय के प्रसार के साथ साथ आकाश का प्रसार भी हो रहा है। मानो अपने विकास के इतिहास के किसी पूर्वकाल में यह सृष्टि अपनी अनंतता से सिकुड़ कर किसी घनीभूत द्रव्य रूप में केन्द्रित हो गई, और फिर मानो उस केन्द्र में घनीभूत शक्ति से परिचालित होकर यह सृष्टि पुनः प्रसारित होने लगी—चारों ओर फैलने लगी। फिर अपनी उस जीव की कल्पना को लीजिए जिसे हम छोड़ आए हैं। जिस प्रकार अपने नक्षत्र अर्थात् सूर्य में से उसके कुछ अंश पृथक होकर ग्रह, पृथ्वी बन गए,–क्या यही बात अन्य नक्षत्रों के सम्बन्ध में संभव नहीं हो सकती? उन नक्षत्रों के उत्पन्न होने के बाद कालान्तर में क्या उन नक्षत्रों की भी अपनी अपनी ग्रह मंडलियां नहीं बनी होंगी, उन ग्रहों पर भी क्या यह संभव नहीं कि जल, थल, वनस्पति का विकास हुआ होगा और अंत में चेतन प्राणियों का भी उदय हुआ हो। कौन कह सकता है? यदि जीव-प्राणियों का उदय हुआ हो तो क्या उनका भी विकास उसी प्रकार का हुआ होगा जिस प्रकार का हमारा हुआ–क्या वे भी ऐसे ही प्राणी हैं जैसे हम? कौन कह सकता है–कौन जानता है? वैज्ञानिकों का तो

केवल एक अभ्यास मात्र है कि स्यात् ऐसा नहीं हुआ। स्यात् ऐसा हुआ हो। यह सब बातें कैसे हम अपनी कल्पना में संभालें? यही कहकर टाल सकते हैं कि यह एक वैचित्र्य है।

यह वैचित्र्य काल और आकाश की विशालता में ही समाप्त नहीं हो जाता। जितनी विशाल यह सृष्टि है उतनी ही यह सूक्ष्म भी है। इस सृष्टि की विशालता जिस प्रकार अचिंत्य है, उसी प्रकार इसकी सूक्ष्मता भी अचिंत्य है। यह सूक्ष्म विश्व आंखों से नहीं देखा जाता फिर भी वास्तव में समस्त सृष्टि का मूल अदृश्य सूक्ष्मता में ही निहित है। मूल में यह सृष्टि ऐसी किस सूक्ष्म चीज की बनी है यह हमें देखना है। वैज्ञानिकों ने पता लगाया था कि वे आधारभूत पदार्थ, मौलिक पदार्थ, जिनका यह विश्व बना है, कुल ९२ हैं। जैसे उद्जन (Hydrogen), जारक (Oxygen), क्लोरीन, इत्यादि गैस, लोहा, सोना, तांबा, सिलिकेट, प्रागार (Carbon) इत्यादि अन्य पदार्थ। मौलिक आधारभूत पदार्थ का मतलब है ऐसे पदार्थ जो स्वयं सिद्ध हैं–जो किन्हीं अन्य दो या दो से अधिक पदार्थों के मिश्रण से नहीं बने। जैसे पानी मौलिक पदार्थ नहीं क्योंकि यह तो अन्य दो मौलिक पदार्थो यथा हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन से मिलकर बना है। लोहा मौलिक पदार्थ है, क्योंकि इसमें अन्य किसी पदार्थ का मिश्रण नहीं, यह स्वतः ही अलग एक वस्तु है। और उदाहरण लें–जैसे नमक, एक मौलिक पदार्थ नहीं क्योंकि यह सोडियम एक ठोस एवं क्लोरीन एक गैस पदार्थ से मिलकर बना है, और सोडियम और क्लोरीन मौलिक पदार्थ हैं क्योंकि वे अन्य किन्हीं भी पदार्थों के मिश्रण से नहीं बने। हिन्दू धर्म-शास्त्र पाँच ऐसे मौलिक पदार्थ मानते हैं जिनसे यह समस्त विश्व बना है यथा पञ्च-महाभूत,–पृथ्वी, तेज, जल, वायु, आकाश। हम अपनी नासमझी के कारण इन पाँच महाभूतों को पाँच "पदार्थ" समझ बैठे हैं। यह पंच महाभूत पांच पदार्थ नहीं हैं किन्तु ये तो प्रकृति की आदि स्थिति की पांच अवस्थाएँ हैं, प्रकृति के पांच आदि गुण हैं। इसलिए इन पंच महाभूतों

की बातों को वैज्ञानिकों की ९२ मौलिक पदार्थों की बात से नहीं मिलाना चाहिए। ये ९२ मौलिक-पदार्थ जिनके योग-वियोग से संसार की सभी चीजें बनी हैं, वे स्वयं कैसे बने हैं ? एक एक पदार्थ बहुत छोटे छोटे टुकड़ों का बना हुआ है—एक मौलिक पदार्थ के टुकड़े करते करते जब इतने सूक्ष्म टुकड़े हो जायें कि उन्हें और अधिक न तोड़ा जा सके तो उन अन्तिम छोटे टुकडों को हम अपनी भाषा में परमाणु और अंग्रेजी भाषा में अटम् (Atom) कहते हैं। भिन्न भिन्न मौलिक पदार्थों के परमाणु भिन्न भिन्न गुणों के होते हैं। ये परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि १० करोड़ परमाणुओं को एक पर एक सजाने से उनका माप केवल एक इंच होता है। तो अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे तो यह परिणाम निकला कि यह समस्त सृष्टि—इसके सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, तारे—९२ भिन्न भिन्न पदार्थो के परमाणुओं से बने हैं। कुछ वर्षों पूर्व तक ऐसा ही विश्वास किया जाता था और ये ही बातें विज्ञान में सिखलाई जाया करती थीं। किन्तु विज्ञान ने प्रगति की—और आज से कुछ ही वर्ष पूर्व सन् १९११ में—यह तथ्य प्रगट हुआ कि जिसे हमने परमाणु कहा था वह भी विशेष सूक्ष्म अवयवों में तोड़ा जा सका और उस परमाणु के भीतर "सूक्ष्मतर परमाणु" पाये गये। जब इन "सूक्ष्मतर परमाणुओं" का परीक्षण किया गया तो इनकी प्रकृति ही दूसरी प्रकार की निकली—ये "पदार्थ कण" नहीं थे, ये निकले विद्युत कण, ये द्रव्य पदार्थ के कण नहीं थे, ये पाये गये शक्ति-कण। इस रहस्य के उद्घाटित होते ही हमने सृष्टि-रचना की, विश्व-गठन की जो शकल सोच रखी थी वह मूलतः परिवर्तित हो गई। जिस प्रकार विद्युत् में हां-धर्मी (Positive) और ना-धर्मी (Negative) दो जातियों के कण पाये जाते हैं और हाँ-धर्मी ना-धर्मी कणों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं,—यही हाल भूत-द्रव्य के परमाणु में पाया गया। भूत-द्रव्य के परमाणु के केन्द्र में हाँ-धर्मी कण (प्राणु=Proton) पाए गए और उस केन्द्र के चारों ओर

तीव्र गति से चक्कर लगाते हुए पाए गए ना-धर्मी कण (विद्युदणु= Electrons)। यह भी पता लगाया गया कि केन्द्र में स्थित प्राणु (प्रोटोन) के चारों ओर विद्युदणुओं (इलेक्ट्रोन्स) के दौड़ने का वेग प्रति सेकिण्ड प्रायः १३५० मील है। इस रहस्य ने पूर्वोक्त इस बात को कि ९२ आदि-भूत (मौलिक पदार्थ) ही विश्व के मौलिक पदार्थ हैं, अप्रमाणित कर दिया। भिन्नता में एकता के दर्शन हुए और साथ ही साथ यह भी दर्शन हुआ कि समस्त विश्व-सृष्टि के मूल में विद्युत कणों का ही "युग्म-नृत्य" चल रहा है। ऐसे ही नृत्य के दर्शन हमने अपने सौर-परिवार (सूर्य-मंडली) में किये थे। सूर्य जिस प्रकार सौर-लोक के केन्द्र में रहकर आकर्षण की शक्ति से पृथ्वी को अपने चारों ओर घुमा रहा है, प्राणु (प्रोटोन) भी उसी प्रकार परमाणु के केन्द्र में रहकर विद्युदणुओं (इलेक्ट्रोन्स) को अपने चारों ओर घुमा रहा है—मानों पिण्ड में ब्रह्मांड स्थित है और ब्रह्मांड में पिण्ड।

इस विचित्र सृष्टि की पृष्ठ-भूमि में—इस विचित्र सृष्टि का ही अंग होकर—'चेतनामय-मानव', प्रेम-अप्रेम, सुख-दुःख एवं हर्ष-विषाद की अनुभूति करता रहता है।

इस अद्भुत अनुपम सृष्टि की कैसे और कहां से उत्पत्ति हुई ?

(३)

सृष्टि, पृथ्वी एवं आदि जीवों का इतिहास जानने के साधन

सृष्टि, पृथ्वी एवं जीवों का इतिहास जानने में हम लोगों के सबसे बड़े सहायक विज्ञान-वेत्ता ही हुए हैं। समय समय पर उन्होंने अपने अनेक अन्वेषणों के द्वारा सृष्टि एवं जीवों के विषय में अनेक तथ्यों का

उद्घाटन किया है, और आज भी करते हुए जारहे हैं। विज्ञानवेत्ता की यह मान्यता होती है कि सृष्टि में संभवत: कोई भी घटना, कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता जो स्वत: ही मनमाने बिना किसी उपयुक्त कारण के घटित होजाय। उसकी मान्यता है कि सृष्टि में जो कुछ भी होता है उसका समझ में आने वाला सही कारण ढूंढा जा सकता है। यह बात सत्य है कि आज अनेक घटनायें जो हमारे सामने प्रकृति में होती रहती हैं–आज अनेक प्रकार की स्थिति, अनेक प्रकार के तथ्य जो हमारे सामने आते हैं उन सबका सही-सही कारण हम नहीं जानते, उनको वैज्ञानिक आधार पर हम नहीं समझा सकते;हमारा ज्ञान अभी इतना अल्प है; किंतु साथ ही साथ यह बात भी सत्य है कि शनैः शनैः हमारे ज्ञान की वृद्धि हो रही है और वे अनेक घटनायें जिनको आज हम नहीं समझा पाते, उनको कल वैज्ञानिक आधार पर, कारण कार्य के आधार पर, समझा पायेंगे। अतएव जो कुछ भी आज हम सृष्टि, पृथ्वी एवं जीवों की उत्पत्ति, विकास एवं स्थिति के विषय में जानते हैं–उसके लिये हम यह नहीं कह सकते कि वह जानकारी सम्पूर्ण है। उनमें से बहुतसी बातें तो केवल अनुमान से मान ली गई हैं, और यह संभव है कि भविष्य में किसी भी या किन्हीं भी नये तथ्यों का उद्घाटन होने पर, हमें अपनी धारणाओं में परिवर्तन करना पड़े।

सृष्टि के नक्षत्र, आकाश-अवकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारों के विषय में जो ज्ञान संपादन हुआ है, उसके विशेषत: निम्न लिखित मुख्य आधार रहे हैं—

१. दूरबीन (Telescope) यन्त्र–यह एक ऐसा यन्त्र होता है जिसकी सहायता से लाखों मील दूर के ग्रह नक्षत्र ऐसे स्पष्ट दिखलाई देने लग जाते हैं मानो वे २०-२५ मील दूर हों। यह यन्त्र किसी भी बहुत दूर की वस्तु के आकार को बड़ा करके दिखाता है। दूरबीन का आविष्कार १७वीं शताब्दी में इटली के साइन्सवेत्ता गैलिलियो ने किया था। गैलिलियो के बाद तो बहुत बड़ी-बड़ी और विशाल

पर्यवेक्षण शक्तिवाली दूरबीनें बनाई गईं। अमेरिका की विल्सन ऑबजर्वेटरी में एक बहुत विशाल दूरबीन की स्थापना की गई है, जो ५० करोड़ प्रकाश वर्ष जितनी दूर तक के तारों को स्पष्ट देख सकती है। फिर जून ३ सन् १९४८ के दिन पलोमार ऑबजर्वेटरी में "हेल" नामक दूरबीन का उद्घाटन समारोह हुआ। इस दूरबीन का काँच २०० इंच मोटाई का है और आशा की जाती है कि इससे नक्षत्र लोक के अनेक रहस्यों का पता लग सकेगा।

२. रश्मिवर्णदर्शक यन्त्र–(Spectroscope) अनेक नक्षत्रों की दूरी इतनी विषम है कि कितने ही मोटे लैंस वाले दूरबीन के लिये यह बूते की बात नहीं थी कि वह उन कल्पनातीत दूरस्थ नक्षत्रों की दूरी का या उनके परिमाण का कुछ भी अनुमान लगा सके। इसके लिये साइंसवेत्ताओं ने एक अन्य अद्भुत यन्त्र का निर्माण किया। इसे "रश्मिवर्णदर्शक" यन्त्र कहते हैं। यह यन्त्र दूरबीन, फोटोग्राफी, एवं बिजली के सिद्धान्तों के योग से बनाया गया है, एवं करोड़ों करोड़ों मील दूर के नक्षत्रों का भी ज्ञान इससे प्राप्त किया जा सकता है।

३) प्रकाश का वेग–भौतिक शास्त्र द्वारा उद्घाटित यह एक तथ्य है कि प्रकाश की किरणें होती हैं और प्रकाश की ये किरणें एक सेकिण्ड में १ लाख ८६ हजार तीन सौ मील के वेग से चलती हैं। इस तथ्य ने नक्षत्रों की दूरी आदि जानने में बहुत सहायता दी।

४) गुरुत्वाकर्षण–इंगलैंड के साइंसवेत्ता न्यूटन ने १७वीं शताब्दी में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त निकाला–जिससे यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि सब ग्रह, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि एक दूसरे की आकर्षण शक्ति से अपने सुनिश्चित कक्षों में एक दूसरे के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। इस सिद्धान्त से भी सृष्टि के विषय में बहुत सी बातों का पता लगा।

५) **सापेक्षता सिद्धान्त**—आज के प्रसिद्ध साइन्सवेत्ता आइन्सटाइन ने प्रसिद्ध सिद्धान्त सापेक्षतावाद की प्रस्थापना की। यह सिद्धान्त उपर्युक्त गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का एक प्रकार से पूरक है, किन्तु साथ ही साथ यह बतलाता है कि अवकाश (Space), काल (Time), भूतत्व (Matter) सब साक्षेप घटनायें हैं—इनमें से कोई भी वस्तु स्वतन्त्र, एक दूसरे से निर्पेक्ष नहीं। समस्त सृष्टि का—सम्पूर्ण खगोल का—एक सही सही खाका, एक तस्वीर बनाने में इस सिद्धान्त ने बहुत सहायता की।

६) **सूक्ष्मतम परमाणु—विद्युदणु (इलेक्ट्रोन), प्राणु (प्रोटोन), इत्यादि का आविष्कार**—२०वीं शताब्दी में अनेक भू-शास्त्रज्ञों ने इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन, इत्यादि के आविष्कारों द्वारा यह बतलाया कि समस्त भिन्न भिन्न भू-पदार्थ मूल में एक ही तत्व है—और फिर अजाणुवाद (क्वान्टम सिद्धांत) एवं तरंग यान्त्रिकी (वेव मैकेनिक्स) के सिद्धान्तों से यह स्थापित हुआ कि यह 'तत्व' एक वस्तु नहीं, किन्तु एक गति है, एक प्रवाह है,—जिस प्रकार बिजली या प्रकाश एक गति (चलने वाली चीज या एक शक्ति) है। पृथ्वी एवं जीवों के विषय में ज्ञान सम्पादन के आधार मुख्यतया निम्न रहे हैं:—

७) **भूगर्भ शास्त्र**—भूगर्भ शास्त्र विज्ञान की एक पृथक ही शाखा है। यह पृथ्वी के गर्भ, पृथ्वी के निर्माण, बनावट आदि के विषय में जानकारी हासिल करने के लिए प्रयत्न करता रहता है। भूगर्भ-शास्त्रवेत्ताओं ने एक विचित्र यंत्र का निर्माण किया जिसे भू-मापक (Sesmograph) कहते हैं। इस यंत्र ने पृथ्वी की भीतरी अवस्था को जानने में हमारी बहुत सहायता की।

उपर्युक्त शास्त्र ने यह तथ्य बतलाया कि पृथ्वी को ऊपरी सतह एक दूसरे पर जमी हुई अनेक चट्टानों की बनी हुई है—इन्हें

स्तरीय चट्टान कहते हैं। चट्टानों के स्तरों की परीक्षा करने पर यह पता लगा कि उनमें (भिन्न भिन्न स्तरों-सतहों में) प्राचीन जीव प्राणियों के शरीरों के अनेक अवशेष चिन्ह मिलते हैं–यथा, हड्डियाँ, औजार, पत्ते, टहनियाँ, खोखले इत्यादि। ये चीजें बहुधा तो पथराई हुई स्थिति (फोसिल स्थिति) में मिलती हैं। जिन जिन स्तरों में ये चीजें मिलती हैं उनसे यह तो पता लगता है कि जिस जिस काल की वे चट्टानों की स्तरें हैं,–उस उस काल में पृथ्वी पर उस प्रकार के प्राणी रहते थे–एवं उस प्रकार की वनस्पति भी, जिसके फोसिल (अवशेष चिन्ह) उन चट्टानों में मिलते हैं। अब प्रश्न यह रहा कि इन चट्टानों का काल कैसे निर्धारित हो। चट्टानों का काल जानने के पहिले तो इस सिद्धांत पर एक ढंग अपनाया गया कि मिट्टी की कितनी मोटी तह प्रति वर्ष जमती है। किन्तु इसमें गल्तियाँ होने की अनेक संभावनायें हैं क्योंकि सभी जगहों पर एक वर्ष में समान मोटाई की तहें नहीं जमतीं, कहीं-कहीं तो एक हजार वर्ष में ५ फीट मोटी मिट्टी की तह जम जाती है और कहीं ४ हजार वर्ष में जाकर एक फुट मोटी तह जमती है। इसलिये चट्टानों का काल जानने का दूसरा ढंग निकाला गया।

८) तेजोद्‌गिरण क्रिया–(Radioactivity) यूरेनियम एक धातु है जिसकी विशेषता यह है कि वह स्वयं ध्वस्त होती रहती है। इसके परमाणु छिटक छिटक कर इससे पृथक होते रहते हैं और कुछ काल में यह धातु अपने आप सीसे (Lead) के रूप में परिवर्तित हो जाती है। प्रारंभ में पृथ्वी में सभी तत्व रहे होंगे, जिसमें यूरेनियम भी रहा होगा। भिन्न भिन्न चट्टानों में यूरेनियम एवं सीसा किस अनुपात से मिलता है, इसका पता लगाया जा सकता है–और उससे चट्टान की आयु का पता इस आधार पर लगाया जा सकता है कि अमुक काल में अमुक मात्रा जितना यूरेनियम सीसे में परिवर्तित हो जाता है।

९) फ्लोरीन परीक्षा—भिन्न भिन्न चट्टानों की आयु एवं उन चट्टानों की स्तरों में पाये जाने वाले पौधों और जानवरों के फ़ोसिल्स की आयु का पता लगाने में एक और कठिनाई रही है। यदि चट्टानों की एक के बाद दूसरी स्तर जिस प्रकार जमा होती गई, उसी प्रकार वे बनी रहतीं तो उनमें स्थित फोसिल्स की आयु का पता लगाने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती; किन्तु बार बार पृथ्वी में भूचाल आने से, एवं अनेक अन्य उथल पुथल होने से ऐसा हुआ है कि एक स्तर के फोसिल्स दूसरे स्तरों में मिल गये अर्थात् आज चट्टानों के एक स्तर में पाये जाने वाले फोसिल्स (अवशेष चिन्ह) भिन्न भिन्न काल के हो सकते हैं। पिछले वर्षों में इस कठिनाई को भी दूर किया गया है। मनुष्य की सत्यान्वेषण की वृत्ति उसे चैन से नहीं बैठने देती और जब तक उसे सच्चे तथ्य का पता नहीं लग जाता वह संतुष्ट नहीं होता। अन्वेषण करते करते इस बात का पता लगा कि जीव की हड्डी चट्टानों में पड़ी हुई ज्यों ज्यों फोसिल के रूप में परिवर्तित होती जाती है अर्थात् ज्यों ज्यों वह पथराने लगती है, वह फ्लोरीन नामक एक गैस अपने अन्दर जज्ब करती रहती है। जितनी ही ज्यादा पुरानी हड्डी होगी उतनी ही ज्यादा फ्लोरीन की मात्रा उसमें होगी। इस परीक्षण से पता लग सकता है कि कोई फोसिल (प्राचीन जीव की हड्डी का अवशेष) कितना पुराना होगा। इस प्रकार के परीक्षण से चट्टान की स्तरों में पथ-राई हुई स्थिति में पाई जाने वाली कई पुराने जीवों की हड्डियों के काल का पता लगाया गया है।

१०) विकासवाद—उपरोक्त साधनों से, एवं प्रकृति, वनस्पति और जीवों के अनेक वर्षों के निकट निरीक्षण और परीक्षण से, जीवशास्त्र वेत्ताओं ने 'विकासवाद' के सिद्धान्त का पता लगाया। इस सिद्धांत के उद्-घटित होने से यह बात स्थापित हुई कि जीवों का क्रमिक विकास होता रहता है। मनुष्य स्वयं अपनी श्रेष्ठ स्थिति तक, धीरे-धीरे

सूक्ष्म जीवों की कोटि में से विकास प्राप्त करता हुआ ही पहुँच पाया है।

११) कार्बन (१४) परीक्षण—अमेरिका के शिकागो विश्व-विद्यालय की अणु-विज्ञान का अध्ययन करने वाली प्रयोगशाला (Institute for Nuclear Studies) में एक और ढंग का आविष्कार हुआ है, जिससे फोसिल्स (पथराई हुई हड्डियाँ, पत्ते आदि) की आयु का निश्चित रूप से सही पता लग सकता है। पुराने फोसिल्स में एक विशेष प्रकार का कार्बन (प्रांगार) मिलता है जिसका वैज्ञानिकों ने "कार्बन चतुर्दश" (प्रांगार १४) नाम रक्खा है। यह पदार्थ भी रेडियो क्रिया वाले पदार्थ (तेजोद्गार पदार्थ) की भाँति छितरता रहता है, उसका ह्रास होता रहता है, और अन्त में वह साधारण कार्बन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह गति जिससे यह क्रिया होती रहती है, अपरिवर्तनशील है, हमेशा के लिए एक है। इस गति, और फोसिल में अवशेष कार्बन चतुर्दश की मात्रा की तुलना करके वैज्ञानिक उस फोसिल की निश्चित आयु मालूम कर लेते हैं। ऐसी आशा है इससे प्राचीन सभ्यताओं, एवं अनेक प्राचीन तथ्यों के काल निर्धारण में काफी सहायता मिलेगी।

•

(४)

इस आश्चर्यमयी सृष्टि की उत्पत्ति कब और कैसे ?

सेमेटिक (ईसाई, यहूदी आदि) धर्मों की कल्पना—ईसा के ४००४ वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व इस सृष्टि की

रचना ईश्वर ने की* । ईश्वर ने पहले दिन-रात, जमीन आसमान बनाए, फिर वनस्पति, अनेक जीव-जन्तु और फिर मानव । ईश्वर ने सब प्रकार के जीव-जन्तु, वनस्पति-प्राणी एक ही बार बना दिए और उन्हीं की परम्परा चली । इस सृष्टि को बनाने में ६ दिन लगे और ७वें दिन ईश्वर ने आराम किया । आज से कुछ ही वर्ष पूर्व तक दुनिया के ईसाई एवं यहूदी लोग अपनी धर्म-पुस्तक बाइबल के आधार पर यही विश्वास किया करते थे और उनको यही सिखलाया जाता था । सृष्टि की रचना के विषय में मुसलमानों की धर्म पुस्तक कुरान में भी यही मत मान्य है। मुसलमानों ने यहूदियों के सम्पर्क से ही यह बात अपने धर्म में ली । इस प्रकार हम देखते हैं कि करोड़ों सभ्य लोग केवल कुछ वर्षों पहिले तक यही माने बैठे थे कि निश्चित रूप से ईसा के ठीक ४००४ वर्ष पहिले दुनिया बनी । पारसियों की धर्म पुस्तक 'जेन्दावस्ता' में हम ऐसा ही विवरण पाते हैं कि एक व्यक्तिरूप परमात्मा अहुरमज्द ने सृष्टि की रचना की । सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में इन विचारों को अब स्यात ही कोई मान्यता देता हो । किन्तु, यहूदी और ईसाई धर्मशास्त्रियों ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में सृष्टि सम्बन्धी अपने शास्त्रोक्त वाक्यों के नये अर्थ लगाये हैं जिनका तत्वतः यही प्रयोजन है कि जहां विज्ञान इस सृष्टि की रचना, विकास और परिचालन में किसी चेतन तत्त्व, दैवी बुद्धि (Divine Intelligence) की सत्ता स्वीकार नहीं करता वहाँ ये धर्म सृष्टि के अस्तित्व का मूलाधार केवल ईश्वर (चेतन तत्त्व) में ही मानते हैं; सृष्टि का कर्तृत्व भी ईश्वर में ही निहित मानते हैं । यहूदियों के टालमुंड (Talmund) धर्मशास्त्र में एक कथा आती है:—अब्राहम (यहूदियों का आदि पुरुष) विचारमग्न बैठा है, और पूछ रहा है, "क्या यह संभव है कि इस सृष्टि और उसमें जो कुछ भी है—

*** यह धारणा आयरलैंड के पादरी अशर (Usher) ने १६५० ई० में प्रस्तुत की थी, और इसे ईसाई धर्म में अपना लिया गया ।**

उसका नियंता कोई 'मन' नहीं ?" ईश्वर प्रगट होता है और अब्राहम को कहता है, "सृष्टि का स्वामी मैं ही हूँ।'

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में हिन्दू मत—स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो कह सकते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में साधारण हिन्दू की यही कल्पना है कि ब्रह्मा (देवता—शक्ति) सृष्टि की रचना करता रहता है, विष्णु (देवता-शक्ति) उसका भरण-पोषण, और महेश (देवता-शक्ति) उसका संहार। किसी एक अति प्राचीन काल-विशेष में ब्रह्मा ने प्रथम मानव की रचना की जिसका नाम मनु था; इला उसकी स्त्री थी, और उन्हीं से मानव सृष्टि की परम्परा चली। किन्तु तत्वतः चित्र दूसरे प्रकार का है :—

जिस अर्थ में हम उत्पत्ति समझते हैं, अर्थात्,—कोई व्यक्ति-रूप कर्त्ता किसी उपादान (पदार्थ) को घड़घड़ाकर, संवारकर कोई नई चीज बनाता है, उत्पन्न करता है—उस अर्थ में सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु किसी सतत गतिमान अस्तित्व (भूत ? ब्रह्म ?) में अपनी ही अन्तर्निहित गति से अपने में ही परिवर्तन और विकास होता रहता है,—मानो कर्ता, कर्म और उपादान सब एक ही हों, एक ही प्रक्रिया या गति के रूप हों। उसी एक ही प्रक्रिया—प्रवाह में रूप आरोहित और तिरोहित होते रहते हैं—बस यही सृष्टि है। जगत वस्तुओं का, जिससे स्थिरता प्रगट होती है, समूह नहीं वरन् घटनाओं, प्रक्रियाओं (Processes), सतत आविर्भावों का समूह है। जगत तो केवल प्रक्रिया है और उसका चक्र सतत चलता रहता है। इस प्रक्रिया में प्रथम रूप के आविर्भाव के पहिले, अर्थात् विकास के आदि में जो स्थिति थी वह अचिंतनीय थी। तब (प्रारम्भ में, दृश्य सृष्टि के पहले) ना सत था और ना असत्, ना ही था आकाश, ना ही अन्तरिक्ष। मृत्यु या अमरत्व (अमृत) का कोई भेद नहीं था, रात-दिन की कोई पहिचान नहीं थी। वह "एक" था जो बिना प्राण वायु के ही अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था। उस "एक" से भिन्न एवं परे कुछ नहीं था। उस समय केवल

अन्धकार, अन्धकार से ढका हुआ था। यह सारा जगत अपने कारण में विलीन अथच, अव्यक्त था। वह "जो अव्यक्त में लुप्त था तप (ज्ञान ? संकल्प ?) से व्यक्त हुआ। (वह जो व्यक्त हुआ) उसमें, जिसमें मन (बुद्धि, चैतन्य) का आदि तत्व स्थित था, काम (जगत की सृष्टि करने वाली शक्ति) जाग्रत हुआ। काम वह रश्मि है जो व्यक्त और अव्यक्त को मिलाती है। यह रश्मि (बीज-रूप काम) आगे पीछे सर्वत्र फैल गई। तब रतधा (सृष्टि के आदि काम) और महीम (आदि शक्ति) का उदय हुआ—नीचे स्वधा (प्रकृति, माया) थी और ऊपर प्रयति (पुरुष)। यह ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की बात है। इसी सूक्त में आगे कहा है, 'कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से उद्भूत हुई ? स्वयं देवता भी इस सृष्टि के अनन्तर उत्पन्न हुए। तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई ? संभव है कि हिरण्यगर्भ (वह जो कि सर्वोपरि इसका स्वामी है) जानता हो कि किससे यह सृष्टि पैदा हुई और किसने इसकी रचना की। और संभव है वह भी नहीं जानता हो।' उपनिषदों का मन्तव्य है कि अपने में ही निहित शक्ति से ब्रह्म अपने ही आपको फैलाता है, ब्रह्म से भूत द्रव्य उत्सूत होता है, भूत द्रव्य से प्राण और चेतना (मन), एवं सत्य एवं सृष्टियाँ। (मुण्डक उपनिषद्, १—८) अन्यत्र तैत्तिरीय श्रुति में कहा है—उस परमात्मा से आकाश (Space) हुआ, आकाश से वायु (Vibration), वायु से अग्नि (Gaseousness), अग्नि से जल (Liquid), जल से पृथ्वी (Solid), पृथ्वी से औषधि और औषधि से अन्न हुआ।" ऋग्वेद में एक जगह और आता है—"ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धा तपसोध्य जायत·········।" सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। वह अटल नियम जिसके अनुसार यह विश्व चल रहा है ऋत कहलाता है इसलिए सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से पहिले ऋत की उत्पत्ति कही गई है। भाव यही है कि नियमानुसार विश्व का परि-चालन होता रहता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सृष्टि के सम्बन्ध में यह

बात निहित है कि यह समस्त सृष्टि एक पुरुष (Being) है, और वह विराट पुरुष इस सृष्टि में चारों ओर से व्याप्त होने के उपरान्त भी इसके ऊपर और नीचे बचा रहा। इसमें यह भाव निहित है कि यह समस्त सृष्टि "एक" ही की अभिव्यक्ति है, किन्तु वह एक इस समस्त दृश्य-सृष्टि से भी बृहद् है,—उसका कुछ अनुमान नहीं।

उपर जो कुछ कहा गया है उसका सीधा साधा यह अर्थ निकलता है कि सृष्टि की उत्पत्ति (Creation), नहीं होती, इसका विकास, आविर्भाव (Evolution) होता है। उपरोक्त ईसाई, मुसलमान धर्मों में जिस प्रकार कहा गया है कि एक निश्चित काल बिन्दु पर ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति की, ऐसी मान्यता हिन्दू मत की नहीं। इसके अनुसार तो सृष्टि की उत्पत्ति (Creation) नहीं हुई, वरन् सृष्टि का आविर्भाव हुआ, और जब उत्पत्ति नहीं हुई तो कर्त्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। आदि अनादि में "वह एक" था, अव्यक्त। इसे हिन्दुओं ने अपनी भाषा में ब्रह्म कहा है जो अनिर्वचनीय है। इस प्रश्न के उत्तर में कि ब्रह्म क्या है—वेदान्त दर्शन का एक सूत्र है। "जन्माद्यस्ययतः।" अर्थात् इस जगत का जिससे जन्मादि होता है,—वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म अभिव्यक्त होता है प्रकृति और पुरुष में। प्रकृति मानो भौतिक वैज्ञानिकों का भूत-द्रव्य (Primordial Matter) है, जिसमें द्रव्य (Matter) एवं शक्ति (Energy) दोनों स्थित हैं। पुरुष उसका चैतन्य दृष्टा और भोक्ता—चेतन या मन तत्व। प्रकृति अविभक्त पड़ी थी, उसमें एक क्षोभ, एक उद्रेक एवं स्पंदन उत्पन्न होता है और वह अपने में निहित कृत (नियम) और गुण (त्रिगुण-शक्ति) द्वारा नाना रूप दृश्यों में खिलती है—विपुल नक्षत्रगण, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वनस्पति, जीव, और मानव प्रगट होते हैं। प्रकृति में यह क्षोभ क्यों उत्पन्न होता है? क्योंकि पुरुष आनंद की अनुभूति करना चाहता है—यदि यह न हो तो प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होकर उसका नाना रूप सृष्टि में अभिव्यक्त होना अर्थहीन है—निष्प्रयोजन है। यह सब सोचते हुए यह नहीं मान लेना

चाहिए कि प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं,वे तो दोनों एक ही ब्रह्म की स्थिति हैं। एक ही ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष (विभिन्नधर्मा प्रकृति और पुरुष) दोनों एक साथ कैसे ? यह इस प्रकार जैसे द्रव्य एक ही साथ कण और तरंग (Particle एवं Wave)। इसका विशेष विवेचन देखिये "आधुनिक ज्ञान धारा" अध्याय में। आधुनिक विकासवाद अपनी कहानी आदि द्रव्य-पदार्थ (Primordial matter) से आरम्भ करता है—उससे पूर्व की स्थिति ब्रह्म और उस प्रकृति के ही ऊपर उसका भोक्ता पुरुष इसकी कल्पना उसमें नहीं आती। इसके आगे तो उसकी प्रस्तावना बिल्कुल हिन्दू मत से मिलती जुलती है। मानव प्राणी का विकास कैसे हुआ इसकी भी एक कहानी पुराणों में आती है जो कई अंशों में विकासवाद के परिणामों के अनुरूप है। वह कहानी है:— कि महा प्रलय के बाद सृष्टि में केवल जल ही जल रह गया था। पहला अवतार "मत्स्यावतार" मछली के रूप में हुआ, जो जल में रहती है। दूसरा अवतार "कूर्मावतार" कछवे के रूप में हुआ, जो कि जल में तो रहता ही है और आवश्यकता होने पर थल भाग में भी रह सकता है। तीसरा अवतार "वराहवतार" हुआ, जो जल और थल दोनों में रहता है। चौथा नृसिह अवतार हुआ। इसका आधा रूप आदमी और आधा सिह का था। इसका अर्थ यह है कि अभी आदमी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ, उसका सिर्फ आधा शरीर मनुष्य का हो सकता है, शेष आधा तो पशु ही है; इसका भी धीरे धीरे मनुष्य के रूप में विकास होता है। पाँचवा अवतार 'वामन, है, इसमें जीव पशु योनि से मानव योनि में आता है। इस प्रकार विकास होता रहता है।

हिन्दू धर्म की प्रतीकात्मक भाषा का उपयोग करें तो यों कहेंगे:—

सृष्टि के पूर्व भगवान ही थे, केवल वही थे, कोई क्रिया नहीं थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मिक स्थूल भाव न था, असत् अर्थात् कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था, यहाँ तक कि इनका कारण-भूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर 'भगवान' में लीन था। सृष्टि का यह प्रपंच भगवान

ही है और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर भगवान ही एक मात्र अवशिष्ट रहेंगे। इसी एक सत्य अद्वैत को 'भगवान', 'ब्रह्म', 'वासुदेव' कहा गया है। इसी ब्रह्म से शक्ति का विकास होता है जो एक से नानात्व में बदल जाती है।

प्रथम तो 'कैवल्य ब्रह्म' की अवस्था होती है जबकि सृष्टि की समस्त संभावनायें उसी में लीन या गुप्त रहती हैं—उसमें मानो कोई गति भी नहीं होती। फिर ब्रह्म में आत्माभिव्यक्ति की शक्ति (वाक्) का उदय होने लगता है—उसका कैवल्य नष्ट होने लगता है, और वह अपने को ही दूसरे के रूप में देखने लगता है; अब वही "एक" भूत और मन है, प्रकृति और पुरुष है, शक्ति और शक्तिमान है। किन्तु अभी वे दोनों अभिन्न से ही है। फिर प्रकृति और मन एक दूसरे से दूर भागते हैं, मानो मन या चेतना अन्तर्भूत हो जाती है, और भूत स्थूल रूप में अभिव्यक्त; मानो शक्तिमान तो अदृष्ट हो जाता है और शक्ति प्रकृति (स्थूल जगत) रूप में प्रगट। फिर इसी प्रकृति में जिसमें मन या चेतना अभी अदृष्ट, अन्तर्भूत या अनभिव्यक्त है, धीरे धीरे चेतना (शरीरस्थ होकर) अभिव्यक्त होने लगती है—पशु में अभिव्यक्त होती है, मानव में और भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है; और फिर धीरे धीरे वह मानव-बद्ध चेतना इसी दृष्ट सृष्टि में अपनी गहनतम स्थिति (आत्म-स्वरूप, ब्रह्मस्वरूप) को प्राप्त होती है।

वैज्ञानिक मत—सृष्टि के आविर्भाव के विषय में अभी निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञान ने इस विषय में अन्तिम तथ्य जान लिया हो सो बात नहीं है। समय समय पर विज्ञान (ज्योतिष विज्ञान, भौतिक-विज्ञान; भूगर्भ शास्त्र; प्राणी विज्ञान इत्यादि) ने प्रकृति के अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनके आधार पर सृष्टि की आदि अवस्था, और उसकी उत्पत्ति के विषय में एक वैज्ञानिक प्रस्तावना मात्र बनी है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सृष्टि में आज हम जो अनेक रूप वैचित्र्य देखते हैं—विपुल नक्षत्र हैं चारों ओर ५० करोड़

प्रकाश-वर्ष से भी खूब अधिक दूर दूर तक, मानो असीम अवकाश में बिखरे हुए; सूर्य है, चन्द्र है, पृथ्वी है, पहाड़ हैं, झीलें हैं, समुद्र हैं; वनस्पति, जानवर और मानव हैं,—इन सबकी स्थिति के पहिले, बहुत पहिले, रूप-रंग-आकार-विहीन केवल एक घनीभूत, तेजोमय, गत्यात्मक, भूत-द्रव्य (?) का अस्तित्व था जो अपने आप में मानो खूब घना-सा सिमटा हुआ, दबा हुआ, केन्द्रीभूत-सा था; वही भूत अपनी ही अन्तर्भूत शक्ति से मानो विस्फरित होने लगा, ज्वलंत वाष्प (गैस) के रूप में अभिव्यक्त और परिव्याप्त होने लगा; वह भूत स्वयं अपने आकाश और काल का, अणु-परमाणु का, नक्षत्र और ग्रह का निर्माण करता चला जाता था और फैलता जाता था। उस काल में वह ज्वलंत वाष्प कितने विशाल अवकाश में परिव्याप्त होगया, कौन कह सकता है। इतना ज्वलंत तेज (गर्मी) इसमें व्याप्त था कि उस समय विश्व के सभी हल्के या भारी पदार्थ गैस के रूप में थे। करोड़ करोड़ वर्षों से वह व्याप्त रहा होगा—करोड़ करोड़ वर्षों से वह ठण्डा होता जा रहा होगा। कुछ गर्मी कम होते होते (या किसी अन्य उद्रेक की वजह से ?) ऐसी अवस्था आई जब उस ज्वलंत वाष्प से, उस गैस से, छोटे छोटे टुकड़े घन होकर टूट पड़े—उसी प्रकार जिस प्रकार बादल में पानी की भाप ठण्डी होते होते उस भाप के भीतर एक एक कण पानी इकट्ठा होता है, और वे बूंद होकर बिखर जाते हैं। किन्तु उस आदि ज्वलंत वाष्प के घन-कणों में अभी इतना तेज व्याप्त था कि वे भी गैस के ही घन-कण थे। कितने छोटे वे कण थे ? लाखों लाखों मील गोलाई वाले ! ये वे ही घन-कण हैं जिन्हें हम रात्रि के समय आकाश में तारों के रूप में बिखरा हुआ पाते हैं। वे ही आदि विपुल-संख्यक कण तारों के आकार में दल बांध कर निहारिका (Nebula) गठित किये हुए हैं, और अप्रतिहत गति से घूम रहे हैं। "आकाश गंगा"—वह दूर तक फैली हुई ताराओं की बनी हुई एक सड़क सी जो कि अन्धेरी रात में आकाश में दिखलाई देती है ऐसी ही एक निहारिका है,—और हमारा सूर्य इसी आकाश गंगा के बीच

एक तारा (नक्षत्र) है। यह अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा बड़ा इसलिए दिखता है कि अपेक्षाकृत यह हमारे समीप है। अभी तक पृथ्वी, ग्रह, चन्द्र इत्यादि का कुछ भी पता नहीं था।

पृथ्वी की उत्पत्ति—यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं कैसे अस्तित्व में आई? कहाँ से आये वे पदार्थ जिससे यह निर्मित है—पत्थर, लौह, मिट्टी, जल इत्यादि। कौन, या क्या शक्तियां इसके निर्माण का कारण हैं? वैज्ञानिक आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर देने का सबसे प्रथम प्रयास १७४६ ई० में एक फ्रैंच वैज्ञानिक कोम्ट द बफून (Comte de Buffon) ने किया था। उसकी कल्पना यह है कि एक उल्का (पुच्छल तारा) अंतरिक्ष में घूमता घूमता सूर्य से आ टकराया था जिसके फल-स्वरूप सूर्य की मात्रा (mass) में से कोई कण छिटककर उससे अलग गिर पड़े और वे कण सूर्य की घूर्णित गति के अनुसार उसी के चारों ओर घूमने लगे। ये कण ही पृथ्वी एवं अन्य ग्रह थे।

कांट एवं लापलेस की कल्पना (निहारिका सिद्धान्त)—जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने पहले तो सृष्टि की आदि स्थिति की कल्पना की। उसका अनुमान था कि प्रारम्भ में सारा विश्व असंख्य छोटे-मोटे स्थिर, ठंडे भूत कणों से परिव्याप्त था। न्यूटन के आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार उक्त कणों में परस्पर आकर्षण हुआ होगा और फलस्वरूप एक कण का दूसरे कण के साथ ऐसा वेगपूर्ण स्पर्श हुआ कि वे एक दूसरे में मिलकर विभिन्न ज्वलंत गैसीय निहारिकाओं गोलाकार वायवीय पिंडों में परिवर्तित हो गये। ऐसा ही एक गैसीय पिंड सूर्य था। इसका पुञ्ज इतना बड़ा और घना था कि इसके आयतन में सभी वर्तमान ग्रह समाहित थे। यह अपनी ही धुरी पर घूम रहा था और धीरे धीरे ठंडा हो रहा था, जिससे इसमें सिकुड़न पैदा हुई। सिकुड़न की वजह से ज्यों ज्यों इसके आयतन में कमी हुई त्यों त्यों इसकी केन्द्र-बहिर्गत शक्ति में वृद्धि हुई, जिसके कारण इस पिण्ड के कुछ ऊपरी भाग उससे छिटककर अलग होगये।

ये छिटके हुए भाग सूर्य के चारों ओर गैस की मुद्रिका के रूप में थे। यह अनुमान किया जाता है कि कालान्तर में ये मुद्रिकायें टूट गईं। इनके टूटे हुए भाग ज्वाला रहित होकर ग्रहरूप में सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने लगे। फ्रांस के महान् वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ लापलेस (Laplace) ने उपरोक्त सिद्धान्त का ही परिष्करण और विकास किया।

१८५० ई. के लगभग एक अंग्रेज वैज्ञानिक मैक्सवैल ने उक्त सिद्धान्त के प्रति कई आपत्तियाँ उठाई जिनका समाधान उस सिद्धान्त में नहीं था। अतः काण्ट लापलेस का रिंग (मुद्रिका) या निहारिका सिद्धान्त वैज्ञानिक दुनियां में प्रायः अमान्य हो गया।

चैम्बरलेन और मोल्टन की कल्पना (Planetesimal Hypothesis ग्रहाणु-सिद्धान्त)—१६०४ ई. में चैम्बरलेन और मोल्टन नामक दो अमेरिकन वैज्ञानिकों ने निहारिका सिद्धान्त की गल्तियों से मुक्त अपनी ही एक कल्पना प्रस्तुत की जिसके अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य और एक अन्य तारे, (न कि बफून की प्रस्तावना के अनुसार उल्का) के संघर्ष से हुई। इन वैज्ञानिकों ने अनुमान किया कि मूल पिण्ड (सूर्य) गोलाकार, तप्त तथा गैसपूर्ण नहीं था बल्कि ठोस कणों से निर्मित, चक्राकार (Spiral) तथा ठण्डा था। किसी अन्य तारे के निकट आने से, और उसकी आकर्षण शक्ति से मूल पिण्ड का कुछ भाग टूटकर कल्पित तारे की ओर धावित होगया। मूल पिण्ड का मध्यवर्ती भाग तो वर्तमान सूर्य है; तथा जो भाग टूटकर बिखर गया था उसमें केन्द्रस्थल की भाँति कुछ ग्रंथियां (Knots) होगईं जिनमें चारों ओर के बहुत छोटे छोटे ठोसकण (planetesimals) जो मूलपिण्ड से टूटकर इधर उधर बिखर गये थे, आकर्षण शक्ति से खिचकर समाहित होने लगे, और धीरे-धीरे उन्होंने ग्रहों का रूप ले लिया।

उक्त कल्पना के प्रति भी कई आपत्तियाँ उठाई गईं। उनका समाहार करते हुए प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक जेम्स जीन्स एवं जैफरे ने अपना एक

सिद्धान्त प्रस्तावित किया जो ज्वार भाटा सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात है।

जीन्स और जैफरे की कल्पना (ज्वार-भाटा सिद्धान्त) (Tidal hypothesis of Jeans and Jeffreys)—नक्षत्रगण एक दूसरे से करोड़ों मील दूर रहकर घूम रहे हैं, इसलिये यह प्रायः निश्चित है कि उनमें परस्पर धक्का लगना सम्भव नहीं। किसी किसी का अनुमान है कि प्रायः २०० करोड़ (२ अरब) वर्ष पहिले ऐसी ही एक दुसम्भव घटना हो गई थी। हमारे नक्षत्र (सूर्य) के निकट एक अन्य विशाल नक्षत्र आ पहुँचा था। इस नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य के भीतर प्रचण्ड वेग से ज्वार की तरंगें लहरा उठी थीं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वार की तरंगें उठा करती हैं। किन्तु सूर्य की सतह पर से जो गैस की तरंगें उठीं उनकी कल्पना कीजिये—वे समुद्र के ज्वार से कितनी लाख गुणा विशालकाय एवं भयंकर होंगी। अंत में प्रचंड आकर्षण के वेग से कोई कोई तरंग इतनी बढ़ी कि वह सूर्य से पृथक होकर बाहर निकल आई। खूब संभव है उस बड़े नक्षत्र ने इनमें से कईयों को आत्मसात कर लिया होगा किन्तु वह नक्षत्र तो अपने कक्ष में (रास्ते पर) तीव्र गति से दौड़ता हुआ अपनी राह पर चल दिया—अपनी राह चलता चलता एक पल भर के लिये ऐसी स्थिति में आया होगा कि सूर्य में कुछ उद्रेक पैदा कर पाया। इसी उद्रेक की वजह से गरम गैस की यह तरंग एक जेट (Jet), एक लंबान की शकल में निकली उस नक्षत्र की ओर जो घूमता हुआ आया था और निकल गया था। किंतु यह तरंग लंबे जेट की शकल में तो रह नहीं सकती थी। उस जेट में से छोटे बड़े ज्वलंत वाष्प (Gas) के टुकड़े टूट टूट कर गिर गये, जिस तरह होज पाइप में से निकलकर पानी की जेट बूंदों की शकल में बिखर जाती है। अंत में गैस की ये बूंदें, ये विशालकाय ग्लोब, सूर्य के प्रबल आकर्षण से खिंचकर उसी के चारों ओर चक्कर काटने लगे, सूर्य से करोड़ों मील दूर अप्रतिहत

गति से, और करोड़ों वर्षों में ठण्डे होकर, अपना प्रकाश खोकर ग्रह कह-लाये। पृथ्वी उनमें से एक है, जो सूर्य से ९ करोड़ ३० लाख मील दूर आकर पड़ी। किसी किसी ग्रह में गर्मी अब भी हो सकती है, पर रोशनी नहीं। ऐसे ग्रह नव हैं—यथा: पृथ्वी, शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति, शनि, वरुण, नेपच्यून, प्लूटो, (यम)। इससे भी अधिक हो सकते हैं, किन्तु अभी तक उनका पता नहीं। प्लूटो का पता तो अभी अभी सन् १९३० में एक विशेष शक्तिशाली दूरबीन की सहायता से लगा था। जिस प्रकार सूर्य में उद्रेक पैदा होने से ग्रह उत्पन्न हुए—उसी प्रकार पृथ्वी अभी जब गैस रूप में ही थी,उसमें भी एक उद्रेक पैदा हुआ, उसी नियम से जिससे सूर्य में हुआ था। और उसी प्रकार वाष्पदेही पृथ्वी से एक गैस पिंड टूटकर, पृथ्वी से पृथक हुआ और पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा। यही चांद था—जो पृथ्वी का उपग्रह कहलाया।

सूर्य के चारों ओर इन ग्रहों के घूमने का रास्ता चक्र रेखा के समान गोलाकार है। किसी का रास्ता सूर्य के निकट है और किसी किसी का सूर्य से बहुत दूर। किसी को सूर्य के चारों ओर घूमने में साल भर से भी कम समय लगता है और किसी को सौ साल से भी ऊपर। किसी भी ग्रह को घूमने में कितना भी समय क्यों न लगे, इस घूमने का निश्चित नियम है। इसका व्यतिक्रम कभी नहीं होता। सूर्य परिवार के सभी ग्रहों को चाहे वे दूर के हों चाहे निकट के, छोटे हों या बड़े, पच्छिम से पूर्व की ओर प्रदिक्षणा करनी पड़ती है, क्योंकि सभी ग्रह एक ही समय धक्का खाकर सूर्य में से छिटक पड़े थे। जिस प्रकार तेज चलती हुई रेल में से आदमी उतरे तो उसे रेल की दिशा में ही दौड़ना पड़ता है, उसी प्रकार जब ग्रह सूर्य से पृथक हुए, उन्हें सूर्य की झोक में उसके चारों ओर दौड़ना पड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार आदि अचिंत्यनीय ज्वलंत वाष्प में कुछ उद्वेग पैदा होने से अन्य विपुल संख्यक नक्षत्रों के साथ साथ हमारे सूर्य का आविर्भाव हुआ उसी प्रकार इस गैसपिंड सूर्य में एक उद्वेग पैदा होने से अन्य ग्रहों के साथ हमारी

पृथ्वी का आविर्भाव हुआ। पृथ्वी में आज जो सब उपादान—मिट्टी, धातु, पत्थर, जल आदि हैं, वे सब सूर्य में गैस रूप में विद्यमान थे, प्रारम्भ में उसी गैस रूप में ये पृथ्वी में उपस्थित रहे।

फॉन वायजेकर (Von Weizsacker) का नया सिद्धान्त—सन् १९४३ ई० तक तो सर जेम्स जीन्स का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्व मान्य रहा। किन्तु सन् १९४३ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान-वेत्ता वाइससाकर ने, विज्ञान द्वारा उद्घाटित अनेक नए तथ्यों के आधार पर सौर-मंडल की उत्पत्ति के विषय में एक नया सिद्धांत स्थापित किया जिसको अब अधिक मान्यता दी जाती है। वायजेकर का सिद्धांत बहुत संक्षेप में इस प्रकारहै :—

ब्रह्मांड के द्रव्य-पदार्थ (सूर्याति अर्थात् हीलियम, उद-जन, एवं ब्रह्मांड धूलि) के शनैः शनैः संघनन (कनडनसेशन) से तो सूर्य नक्षत्र का निर्माण हुआ। सूर्य के चारों ओर अवकाश में उपर्युक्त ब्रह्मांड गैस एवं धूलि, जिसमें पत्थर शीशे इत्यादि के अति सूक्ष्म कण थे, अपने अपने कक्ष में चक्कर लगाते रहे। इस गति में धूलिकण एक दूसरे से बड़ी जोर से टकराते थे, छोटे कण बड़े कणों में समाहित होते जाते थे और इस प्रकार उस धूलि पुंज का आयतन बढ़ता जाता था, एवं टक्कर की गर्मी से वह पुंज तरल एवं गैसीय स्थिति में परिवर्तित होता जाता था। लगभग १० करोड़ वर्षों तक उपयुक्त प्रक्रिया होती रही, और जब सूर्य के प्रभाव-क्षेत्र में आने वाले अवकाश—यह अवकाश छोटा मोटा नहीं, किन्तु अरबों मील तक विस्तृत के धूलिकण पुंज रूप में परिवर्तित हो गये, तो वे ही पुंज सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने लगे, और ग्रह कहलाए। ये ग्रह धीरे धीरे ठंडे होते गए; ऊपर की सतह कठोर होती गई, और पृथ्वीनाम के ग्रह का वह रूप बना जो आज है। इस प्रकार अपने सूर्य के ग्रहों का निर्माण आज से लगभग २-३ अरब वर्ष पहिले हो चुका था।

इस प्रकार आज से लगभग दो अरब वर्ष पहिले जब पृथ्वी अस्तित्व

में आई उस समय की पृथ्वी की कल्पना कीजिये। गैस रूप में आग का यह एक भयंकर गोला-सा था—छोटा-मोटा गोला नहीं,ऐसा गोला जिसका आवर्तन उस समय २५ हजार मील से भी अधिक होगा। सोच सकते हैं उस समय पृथ्वी पर जीवन का तो कोई चिन्ह हो ही नहीं सकना था। इस गैसीय पिण्ड (वाष्प पिण्ड) का ऊपर का स्तर धीरे धीरे ठण्डा होने लगा, और कुछ हजारों वर्षों में यह ठण्डा होकर पहिले तरल अवस्था में आया और फिर ठोस अवस्था में। भीतर का स्तर आज भी बहुत गरम है। स्यात वहां अनेक तरल और गैस पदार्थ विद्यमान हैं। ऊपर का स्तर ज्यों ज्यों तरल और ठोस होता जाता था तो वह भीतर के स्तर पर जो गैसीय (वाष्पीय) और हल्का था, जोर मारता था। कुछ अन्दर धंस जाता था, कुछ ऊपर ही पहाड़-सा रह जाता था। इस प्रकार धीरे धीरे कई मीलों अन्दर तक पृथ्वी की सतह ठोस होगई और उसकी सतह पर अनेक पहाड़ एवं अनेक गड्ढे हो गये। ऊपर का धरातल ठण्डा हुआ,ठण्डा होने पर भाप रूप में जो पानी विद्यमान था वह पृथ्वी पर गिरने लगा और उस जल से पृथ्वी के गड्ढे पुर गये—और वे समुद्र बन गये। किन्तु अब भी एक वायव्य (गैसीय) आवरण इस ठोस पदार्थ को ढके हुए था—यह गैसीय आवरण उन पदार्थों के गैसों का था जिनको तरल एवं ठोस बनाने के लिये बहुत अधिक ठण्ड (बहुत कम ताप) की आवश्यकता थी। इतना कम तापमान पृथ्वी पर कभी नहीं हुआ, अतएव गैस का एक आवरण अब भी पृथ्वी को ढके हुए है। ६०० मील की दूरी तक (५ मील तक घना और फिर हल्का होता हुआ) पृथ्वी के चारों ओर वायव्य पदार्थों (गैसों) का जिसमें प्रमुख नाइट्रोजन (७७%) और ओषजन (२१%) हैं एक खोलसा चढ़ा है जिसे वायुमंडल कहते हैं, और जो पृथ्वी के साथ साथ घूमता भी है। पृथ्वी का ताप इतना कम नहीं कि ओषजन इत्यादि गैसों को तरल या ठोस रूप में परिवर्तित कर दे। इस प्रकार अनेक करोड़ वर्षों तक नाना रुप में तेज का भयंकर उत्पात चलता रहा—कितना

भयंकर यह उत्पात था, इसका समझ लेना कठिन है। कल्पना कीजिए—आज के युग में लाखों अणुबम एक साथ फट पड़ें और वे उत्पात मचादें तो क्या हो—पृथ्वी कांप उठे—अन्तर में ज्वालामुखी फटने लगें;—तप्त तरल धातुओं को मीलों चौड़ी नदियां बहने लगें, वह अन्तरिक्ष जिसके आरपार हम सूर्य और चन्द्र देख रहे हैं भारी गैसों से आच्छादित हो उठे—और सब अन्धकारमय हो जाय। चारों ओर एक अव्यावृत (जिसमें भेद की प्रतीति न होती हो) सी दशा हो जाये। इस प्रकार अनेक काल तक उत्पात के बाद आज से कहीं लगभग ५० करोड़ वर्ष पहिले यह पृथ्वी प्रायः उस स्थिति को प्राप्त हुई, वे भौतिक परिस्थितियां उत्पन्न हो पाईं, वह स्टेज बन पाया जिस पर "प्राण" का आगमन हो सके—जीवों का प्रादुर्भाव हो सके। इसकी कहानी आगे पढ़िये।

●

(५)

पृथ्वी पर प्राण का आगमन

(Origin of Life)

किसी अचिंत्य, अवर्णनीय आदि ज्वलंत वाष्प-सम महान पिंड में से तो सूर्य की उत्पत्ति,—उस सूर्य में से पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी में से चन्द्र की उत्पत्ति और फिर शनैः शनैः पृथ्वी पर उस पृथ्वी में से ही जल, थल, पहाड़, झील, नदी, वायु-मंडल इत्यादि का आविर्भाव एवं विकास—इतनी कहानी हम पढ़ आये हैं। ज्योतिषियों एवं भू-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी उपरोक्त स्थिति तक आज से प्रायः पचास करोड़ वर्ष पहिले पहुंच चुकी थी। किन्तु अभी तक सब कुछ निष्प्राण था—अचेतन था—पृथ्वी पर वनस्पति तक का भी कोई चिन्ह नहीं था—

किसी भी प्राणमय जीव की स्थिति इस भूतल पर नहीं थी। संभव है केवल पृथ्वी पर ही नहीं वरन् शेष अखिल सृष्टि में भी कहीं पर प्राण एवं चेतना की स्थिति उस समय तक न हो। मानो उस समय तक सब घटनायें—पृथ्वी आदि का आविर्भाव, नदी, पहाड़, पठार, झील आदि का निर्माण—प्राण भावना से निरपेक्ष, निष्प्रयोजन अपने आप होती हुई आ रही हों। घटनायें हो रही थीं किन्तु उनका कोई दृष्टा नहीं था। ऐसी ही सृष्टि में जो अभी तक अ-प्राण थी, अ-चेतन थी, प्राण और चेतना का उदय हुआ। प्राणमय एवं चेतनामय जीवों का आविर्भाव हुआ, और वह आविर्भाव हुआ अप्राण, अचेतन भू-पदार्थ में से ही। सृष्टि में यह एक अभूतपूर्व घटना थी कि अरबों करोड़ों वर्षों तक अप्राण, निश्चेतन अवस्था के अखंड साम्राज्य के बाद सृष्टि में इस पृथ्वी पर प्राण अकुलाने लगे, आँखें टिमटिमाने लगीं,सुख दुख का अनुभव करने वाले जीवों की प्रणाली चली। यह सब हुआ कैसे ? किस तरह अप्राण निश्चेतन-अवस्था में प्राण जागे ? क्या सृष्टि के प्रारम्भ से ही चेतना की स्थिति उसमें नहीं थी ? कैसे सम्भव हो सकता है कि अप्राण द्रव्य पदार्थ (Non-living matter) में से, भू-तत्व में से प्राण का, जीव का, आविर्भाव हो ? कैसे हो सकता है कि प्राण और चेतना का प्रारम्भ, उद्गम भू-पदार्थ (Matter) में से हो ? यह एक प्रश्न है। ठीक है, अभी तक इस बात का निश्चित पता नहीं कि इस पृथ्वी पर प्राण और चेतना का आरम्भ किस प्रकार हुआ, इस विषय में प्राणी-शास्त्र-वेत्ताओं एवं वैज्ञानिकों के अभी तक तो केवल अनुमान मात्र हैं। अभी तक तो उनका इतना ही कहना है कि प्राण और चेतना का उदय होने के पहले सृष्टि निश्चित रूप से निष्प्राण, अचेतन अवस्था में थी एवं प्राण का आविर्भाव अवश्य भू-तत्वों में से ही हुआ। किन्तु कैसे यह घटना हुई इसका कोई निश्चित अनुमान नहीं। प्राणी-शास्त्र-वेत्ता कैसे कहते हैं कि भू-तत्व में से प्राण का विकास हुआ ? प्राण के प्रारम्भ के विषय में उनके क्या अनुमान हैं ? इन प्रश्नों पर विचार

करने के पहिले यह जान लेना जरूरी मालूम होता है कि क्या वे भेद या भेदात्मक गुण हैं जो अप्राण वस्तु को प्राणमय जीव से पृथक करते हैं। यह भेद निर्देश करते समय ही हम इस बात की विवेचना भी करेंगे कि किस प्रकार अ-प्राण वस्तु में ही परिवर्तन होते होते परिवर्तन की एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह परिवर्तित वस्तु अपनी पूर्व स्थिति से एक गुणात्मक विभिन्नता रखने लग जाती है।

जीवधारियों में दो मुख्य ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे वे अप्राण वस्तुओं से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं; पहली विशेषता यह है कि जीवधारी दूसरी वस्तु (खाद्य) को खाते हैं, स्वयं खाद्य वस्तु में से आवश्यक तत्वों को अपने में ही जज्ब कर लेते हैं, और इस प्रकार स्वयं अपने शरीर को बढ़ाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि वे अपने ही जैसे दूसरे जीवधारियों (संतानों) की उत्पत्ति करते हैं। संक्षेप में,—जीव भोजन करते हैं और संतानोत्पत्ति करते हैं। यहाँ हम मानव जैसे विशेष विकसित जीव की कल्पना अभी नहीं करते, जो उपरोक्त दो बातों के अतिरिक्त आदर्श की बातें भी किया करता है। मशीनें तेल, कोयला इत्यादि खा सकती हैं, किन्तु वे स्वयं अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकतीं,— वे स्वयं अपने ही जैसे बच्चे पैदा नहीं कर सकतीं। जीवधारियों की अन्य विशेषता यह भी हो सकती है कि उनके शरीर की टूट फूट स्वयं उनका शरीर ही ठीक करता है, एवं परिस्थितियों के अनुकूल वे स्वयं अपना नियमन करते हैं। जैसे शरीर में घाव होने से शरीर में ही ऐसे गतिमय तत्व मौजूद हैं कि वह घाव भर जाता है, बाह्य तापक्रम में परिवर्तन होने पर भी यथा ३२ डिगरी से ११४ डिगरी गरमी तक कम ज्यादा गरमी होने पर भी शरीर, अपनी ९८ डिगरी की गरमी बनाये रखता है। ये विशेषतायें जीवधारियों की अपनी हैं जो अ-प्राण पदार्थों में नहीं पाई जातीं किन्तु इस फरक को बहुत दूर तक, सीमान्त तक नहीं लेजाना चाहिये। प्रकृति में निर्पेक्ष कुछ नहीं है—सब कुछ सापेक्ष है। यह आज का एक विज्ञान-सिद्ध तथ्य है। प्रकृति में सत्य परमार्थ, निरपेक्ष नहीं,

सत्य सापेक्ष है। हम सत्य की हद में तभी तक रहेंगे जब तक यह कहें कि एक वस्तु अन्य से अधिक जीवमयी और चेतनाशील है। यदि ऐसा कहें कि अमुक वस्तु शत-प्रतिशत् प्राणमय और चेतनामय है, एवं अमुक वस्तु सर्वथा प्राण-शून्य और अचेतन तो स्यात् हम गलती करें। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि अ-प्राण वस्तु एवं स-प्राण जीव में कोई गुणात्मक भेद है ही नहीं। भेद है और हम यहाँ यही दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि एक ही वस्तु में विकास एवं परिवर्तन होते होते वह वस्तु सहसा एक ऐसी छलांग सी मारती है कि दूसरे ही पल में वह वस्तु अपनी प्रारम्भिक स्थिति से गुण में बिल्कुल भिन्न हो जाती है— उसमें गुणात्मक परिवर्तन होजाता है। रेडियम की विचित्र घटना से आप परिचित होंगे। यह स्वर्ण से भी बहुगुणा अधिक मूल्यवान् एवं जाज्वल्यमान एक धातु होती है। इस पृथ्वी पर यह बहुत कम पाया जाता है। प्रत्येक भौतिक तत्व मूल में कुछ विद्युत् कणों का बना हुआ होता है—कुछ हाँ-धर्मी कण जिन्हें प्रोटोन (प्राणु) कहते हैं और कुछ ना-धर्मी कण जिन्हें इलेक्ट्रोन (विद्युत् कण) कहते हैं। रेडियम धातु का युनिट भार २२६ है एवं उसका परमाणु ८८ प्रोटोन ८३ इलेक्ट्रोन का बना हुआ है जबकि हाईड्रोजन गैस का परमाणु १ प्रोटोन और १ इलेक्ट्रोन का ही बना हुआ होता है। रेडियम का परमाणु प्रोटोन और इलेक्ट्रोन की इतनी भीड को संभाल नहीं सकता–, परमाणु के केन्द्र में से विशेष इलेक्ट्रोन छिटकते रहते हैं, वे विद्युत् कण के रूप में विकीर्ण होते रहते हैं। विकीर्ण होते-होते एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब उसमें अपेक्षाकृत कम प्रोटोन एवं इलेक्ट्रोन, एव केवल २०७ यूनिट भार रह जाता है, और तब सहसा वह सीसे (Lead) के रूप में परिवर्तित होकर रह जाता है। बहुमूल्यवान् रेडियम पडा पड़ा स्वयं सीसा बन जाता है। एक धातु दूसरी धातु बन जाती है–मानो स्वर्ण का ढेला पड़ा पड़ा मिट्टी रह गया हो। इसी प्रकार एक और उदाहरण लीजिये। हाईड्रोजन एवं

ऑक्सीजन दो भिन्न भिन्न गैसें हैं—दोनों गन्ध रहित, रंग रहित एवं अदृश्य। इन ऐसे दो गैसीय पदार्थों में जल की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु यदि हाईड्रोजन के दो परमाणु एवं ऑक्सीजन के एक परमाणु का किसी प्रकार संघटन कर दिया जाये, तो उनके संघात से एक सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु—यथा, जल की उत्पत्ति होजाती है। ऐसे ही और उदाहरण लिये जा सकते हैं। इनसे स्पष्ट है कि यदि वस्तुओं के मूल संगठन (बनावट) में किसी प्रकार परमाणुओं की कमी ज्यादती कर दी जाय अथवा पदार्थों के परमाणुओ का किसी विशेष मात्रा में संघटन कर दिया जाय, जो कि विशेष ताप (गर्मी) अथवा विद्युत तरंगों के प्रभाव से हो सकता है, तो एक सर्वथा भिन्न गुण-वाली वस्तु का आविर्भाव हो सकता है। दूसरे शब्दों में इस बात को यों व्यक्त किया जा सकता है कि मात्रा भेद से गुण-भेद संभवित है। इसी न्याय से भू-पदार्थों में से एक सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु—चेतन-जीव का आविर्भाव होना संभव माना जा सकता है। वास्तव में जिन रासायनिक तत्वों से भौतिक जगत का निर्माण हुआ है उसकी सत्ता चिरंतन नहीं मानी जा सकती। ये तत्व स्वयं विकास-प्रक्रिया से उद्भूत हैं। प्रकृति में जिन तत्त्वों से अभी तक हमारा परिचय है अथवा जो तत्व अब तक प्रकृति में वर्तमान हैं पर जिनका हमें ज्ञान नहीं, उनके अतिरिक्त नये तत्वों का कालान्तर में प्रादुर्भाव होना संभवित घटना मानी जा सकती है। इसी प्रकार गतिमान, प्रकृति पदार्थ में विकास प्रक्रिया होते होते एक ऐसा परिणमन बिन्दु (Turning Point) आया जब एक भिन्न गुणवाली वस्तु अर्थात् चेतन वस्तु का प्रादुर्भाव होगया। और कौन कह सकता है कि मानव स्वयं में कालान्तर में कोई ऐसा गुणात्मक परिवर्तन हो जो आज की स्थिति में हमारे लिये कल्पनातीत हो। खैर! यदि हम इस बात को मान लेते हैं कि मात्रा भेद, एवं पदार्थों के परमाणुओं के किसी विशेष संघटन से गुण-भेद हो सकता है तो हम यह जानना चाहेंगे कि आखिर वह कौनसा विशेष रूप से संगठित भूत-

पदार्थ था, कैसी स्थिति में वह था, जिसमें चेतना या जीव नामक एक नवीन मौलिक-गुण का आविर्भाव हुआ। यह बात प्राय: ५० करोड़ वर्ष या इससे भी अधिक पुरानी है। उस पदार्थ स्थिति का जिसमें प्राणों का सर्व-प्रथम आगमन हुआ पता लगा लेना कोई आसान काम नहीं था, फिर भी पिछले वर्षों में रसायन-शास्त्र एवं प्राणी-शास्त्र द्वारा कुछ ऐसे रहस्यों का उद्घाटन हुआ जिनसे उपरोक्त आदि स्थिति की कल्पना कर लेना, उस स्थिति को जान लेना जिस स्थिति में भूत-पदार्थ में प्राण सहसा प्रकट हुए, असंभव नहीं। रसायन-शास्त्र एवं प्राणी शास्त्र के अनुसंधानों मे पहिले तो यह ज्ञात हुआ कि उन भौतिक या रासायनिक तत्वों में जो प्राणमय शरीर के उपादान कारण हैं और उन रासायनिक तत्वों में जिनकी अ-प्राण वस्तुएं बनी हैं कोई भी भेद नहीं है। अर्थात् निश्चित-रूप से जीवधारियों के शरीर भी—उनके शरीर के प्रत्येक अव-यव एवं रस जैसे खून, मांस, मज्जा इत्यादि सब—बिना किसी अपवाद के केवल रासायनिक-तत्वों जैसे, कारबन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाई-ट्रोजन इत्यादि के मिश्रण से बने हुए हैं। उनमें कोई भी ऐसा भौतिक रासायनिक तत्व नहीं जो अ-प्राण पदार्थों में नहीं पाया जाता। यहाँ तक कि प्राणी-शरीर में पाए जाने वाले कितने ही रस या रसायन अब शरीर के बाहर प्रयोगशालाओं में बनाये जा सकते हैं। १९ वीं सदी के प्रारम्भ तक ऐसा समझा जाता था कि प्राणी-शरीर में पाये जाने वाले कितने ही रसायन या रसायन प्रक्रियायें, प्रयोगशाला या आदमी के हाथ से बाहर की चीजें हैं, उन्हें तो शरीर में छिपी हुई कोई रहस्यमयी जीवन-शक्ति ही बना सकती है। किन्तु आज प्राण-शरीर में पाये जाने वाले कितने ही रसायन अथवा प्राणिज पदार्थ जैसे पेशाब में पाये जाने वाला रसायन यूरिया (Urea), अन्य पदार्थ जैसे थाइरोजिन, इन्स्यूलिन, इत्यादि प्रयोगशाला में बन रहे हैं,और कितनी ही रासायनिक प्रक्रियाएं, जो शरीर में होती रहती हैं जैसे पाचन की कई क्रियाएं आदि,—शरीर के बाहर प्रयोगशाला में दोहराई जा सकती हैं। माना जीवधारी एवं

अजीव वस्तुएं एक ही भौतिक रासायनिक तत्वों की बनी हुई हैं, किन्तु फिर भी उनमें प्राण अ-प्राण का मुख्य गुणात्मक भेद बना ही रहा—दोनों में उपादान सर्वथा एक होते हुए भी एक में प्राण, चेतना संचरित है दूसरा मूक है—इस गुत्थी को कोई भी प्राणी-शास्त्री या साइन्स-वेत्ता नहीं खोल पाया। यही रहस्य इस विश्वास का आधार बना रहा कि कोई आध्यात्मिक, परा-भौतिक शक्ति ही प्राण एवं चेतना का संचार कर रही है। किन्तु इस रहस्य पर भी उस समय बहुत कुछ प्रकाश पड़ा जब पिछली शताब्दी में सेल-सिद्धान्त (जीव-कोष सिद्धान्त) का पता लगा। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी और वनस्पति (बड़े से बड़े हाथी से लेकर छोटे से छोटे जीवाणु एवं घास पत्ती तक) जीव-कोषों (Cells) से मिलकर बने हैं। बड़े प्राणी करोड़ों अरबों जीव-कोषों के संगठन हो सकते हैं, कुछ ऐसे सूक्ष्म जीव होते हैं जो केवल एक ही जीव-कोष के बने हुए होते हैं और फिर भी वे आहार-विहार की सब क्रियाएं करते हैं। ये जीव-कोष हैं क्या ? इनको अति सूक्ष्म पिंड शरीर मान सकते हैं—इतने सूक्ष्म कि एक के ऊपर एक जीव-कोष रखा जाय तो एक इंच की दूरी में दस हजार जीव-कोष समा जायं। ये बिना अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता के नंगी आंखों से नहीं देखे जा सकते। ये इतने छोटे पिंड शरीर भी बने होते हैं, मात्र एक भौतिक रासायनिक पदार्थ कारबन कम्पाउण्ड (प्रांगार-वस्तु) के जिसे प्लाज्मा (Plazma) कहते हैं। इस प्लाज्मा में एक नाभि-कण होता है—और इस नाभि-कण में समाहित रहता है वह तत्त्व जिसे प्राण कहते हैं। अर्थात् जीव-कोष के (जो एक कारबन कम्पाउण्ड का बना होता है) दो भाग हुए,—एक अंदर का नाभि-कण जो सजीव भाग है और जिसे जीवन-कण कहते हैं और दूसरा, बाहर का, जीवन-कण का आहार-शरीर जो निर्जीव भाग है और जो एक अर्ध-तरल (पानी से कुछ गाढ़ा) भौतिक-तत्त्व कारबन कम्पाउण्ड (प्रांगार-वस्तु) का बना है। तो प्राण-तत्त्व की खोज करते करते हम इस बात तक तो पहुँचे कि वह

प्राण-तत्त्व अर्ध-तरल कारबन कम्पाउण्ड (प्रांगार-योग) के बने एक खोल (आहार-शरीर) के अंदर स्थित है। जीव-कोष के नाभि-कण एवं कारबन-कम्पाउण्ड के बने उसके बाहरी अर्ध-तरल खोल (आहार-शरीर) में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध है ? पता लगाया गया है कि इन दोनों के बीच के अवकाश (Space) में कारबन-कम्पाउण्ड (प्रांगार-यौगिक-पदार्थ) के अणु-गुच्छ गतिमान रहते हैं—और वहीं कहीं प्राण का रहस्य छिपा रहता है। ये अणु-गुच्छ कोलोइड (Colloids) कहलाते हैं जो कारबन-कम्पाउण्ड के व्यूहाणुओं (Molecules) का बना एक चिपचिपासा पदार्थ होता है और जो प्रकिण्व प्रक्रिया (Fermentation) पैदा करता है, खमीर पैदा करता है।
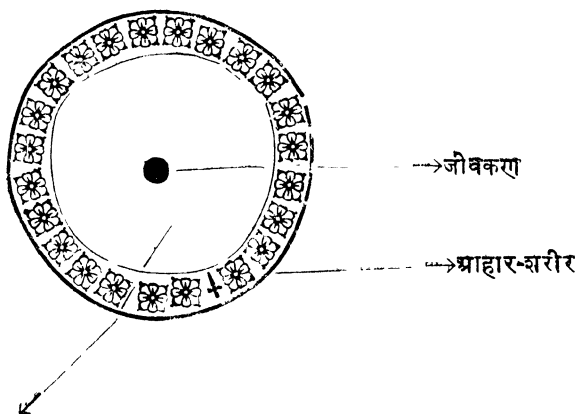
वह अवकाश जिसमें फरमेंटेशन पैदा करने वाले कोलाइडड् गतिमान रहते हैं। इस गति के द्वारा आहार, जोकि एक विशेष प्रकार के रस में परिवर्तित हो चुका है, जीवनकण में स्थित जीवन दीप्ति को जगाये रखता है।

इससे यही आभास होता है कि आहार-शरीर और जीवन-कण के बीच जो कुछ रासायनिक प्रक्रिया की गति होती रहती है उसी से

जीव-कण प्रति-पल, नव-जीवन प्राप्त करता रहता है। अर्थात् स्वयं जीव-कण की स्थिति आहार (भौतिक पदार्थ) में है। कुछ ऐसी ही भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया उस समय हुई होगी जब सर्व प्रथम सृष्टि में प्राण का उदय हुआ। यह आहार रासायनिक गति द्वारा प्राण (Life) में किस प्रकार परिणित हो जाता है इस विषय में हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक गीता के एक श्लोक का उद्धरण उचित ज्ञात होता है। वह इस प्रकार है:—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणीनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम॥

"मैं वैश्वानर रूप में सब प्राणियों के देह में वास करता हूं-चतुर्विध प्रकार का अन्न (देह के धारण-पोषण के लिए केवल पृथ्वी-तत्व का बना अन्न नहीं, किन्तु पोषण के लिए आकाश, वायु, जल एवं पृथ्वी इन तत्वों का बना हुआ अन्न) प्राणापान करके (मुख, अन्ननली, पेट, कलेजा, आंतडियाँ-चमड़ी, मूत्र-पिन्ड आदि अनेक ग्रन्थियों द्वारा भक्षण-पचन-शोधन करके) उचित रूप से पचाता हूँ (जीव-कोषों में आत्म-सात् करता हूँ)।" यही अन्न पचन होने पर, जीव कोषों में आत्म-सात् होने पर, "चेतन रूप" से प्रकट होता है–प्रकाशित होता है।

मानों प्राणों की आहुति प्राणों में ही होमी जा रही है। अर्थात् अन्न में स्थित प्राण, देह में स्थित प्राण में अर्पित किया जा रहा हो,–देह में स्थित प्राण अर्थात् वैश्वानर, अर्थात् परमात्मा। मानों अन्न की परिणति चेतना में हो जाती हो। (Matter converting into spirit)।

अब यदि यह दिखला दिया जाये कि उस भौतिक रासायनिक पदार्थ कारबन-कम्पाउण्ड में ही कुछ ऐसी भौतिक रासायनिक प्रक्रियाएं या गति होती रहती हैं जिसके फलस्वरूप उस कम्पाउण्ड में गुणात्मक परिवर्तन होकर जीव का आविर्भाव हो जाता है तो "जीवन रहस्य" पर से पर्दा उठाया जा सकता है। प्रकृति में एवं रसायन-शास्त्र में ऐसे भी कई अन्वेषण, अनुसन्धान हो चुके हैं जो उपरोक्त संभावना की ओर संकेत

करते हैं। प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्री हिकल (Haeckel) ने समुद्र की सतह पर तैरते हुए मोनेरा (Monera) नामक कुछ प्राणियों का पता लगाया; ये बहुत ही सरलतम प्रकार के बहुत ही छोटे प्राणी होते हैं, इतने अ-पेचीदा और छोटे होते हैं कि इनके शरीर के भिन्न भिन्न कोई अलग अवयव होते ही नहीं, ये जीव बिना किसी विशेष शकल-सूरत के होते हैं। एक मोनेरा का शरीर एक चिपचिपी सी चीज का (Slime or mucus) का छोटा सा ढेला (Lump) मात्र होता है, जो पूर्णतः एकरस कारबन कम्पाउण्ड का बना होता है। उसमें नाभि-कण, प्राण-तत्व का वह केन्द्र बिन्दु भी नहीं होता जो उपरोक्त वर्णित जीव-कोष में पाया जाता है, और फिर भी इसमें वे गुण होते हैं जो एक अ-प्राण पदार्थ को जीवधारी से पृथक करते हैं—यथा गति और सन्तानोत्पत्ति, जिनका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सेल् (जीव-कोष) के जीव-कण के आविर्भाव की संभावना कारबन-कम्पाउण्ड के ही भौतिक, रासायनिक गुणों या भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं में निहित है। इस प्रकार "आदि जीवन" जो इस सृष्टि में आविर्भूत हुआ उसका उद्गम स्थान हम एक साधारण रासायनिक पदार्थ, कारबन कम्पाउण्ड (भौतिक-तत्व, कारबन, हाईड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन से मिलकर बना हुआ एक यौगिक-पदार्थ) में पा सकते हैं। वास्तव में कारबन-पदार्थ वह कड़ी है जो जीव-अजीव के भेद को मिटाती है। ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं जिसके शरीर के अंश अंश में, जिसके प्रत्येक जीव-कोष में कारबन पदार्थ न हो। यह भी हम जानते हैं कि परमाणुओं के अपने अपने विशेष गुण इसीलिए हैं कि उनको बनाने वाले प्रोटोन्स (प्राणु) एवं इलेक्ट्रोन्स (विद्युदणु) की संख्या भिन्न भिन्न है। हाइड्रोजन के गुण हाइड्रोजन में इसीलिए हैं कि उसमें इलेक्ट्रोन्स की संख्या एक है। रेडियम में अपना विशेष गुण इसीलिए है कि इसमें इलेक्ट्रोन्स की संख्या ८३ है, सीसे में अपना विशेष गुण इसीलिए है कि इसमें इलेक्ट्रोन्स की

एक विशेष निश्चित संख्या है। अर्थात् मूल में भिन्न भिन्न परिमाण में इलेक्ट्रोन्स (विद्युदणु) और प्रोटोन्स (प्राणु) के मिश्रण से ही भिन्न भिन्न गुणवाले पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः जैसे ८३ इलेक्ट्रोन्स वाली रेडियम धातु में प्रकाश-विकीर्ण करने का अपना एक विशेष गुण होता है, जिस प्रकार २८ इलेक्ट्रोन्स वाले चुम्बक पदार्थ में लोह-धातु को आकर्षित करने का अपना एक विशेष गुण होता है, उसी प्रकार बाहरी सीमा पर ४ इलेक्ट्रोन्स रखने वाला कारबन भी जीवन-निर्माण करने की अपनी एक विशेष क्षमता रखता है। उपरोक्त मोनेरा प्राणी को जिसके जीव-कोष में नाभि (सेल का वह भाग जो प्राण है) नहीं, हम जीवधारी और अ-प्राण वस्तु के बीच की एक स्थिति मान सकते हैं। पिछले ही कुछ वर्षों में इससे भी निम्न-स्तर के कुछ ऐसे प्राणियों (?) का पता लगा है जिनको जीवधारी प्राणी एवं अ-प्राण वस्तु दोनों कह सकते हैं। ऐसे है कुछ कुछ अकुलाते से जीव जिनको वाईरस (Virus) कहते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि इनको अणुवीक्षण यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता, केवल परली-कासनी रोशनी वाले यंत्र (Ultraviolet-rays microscope) की सहायता से इनका फोटो लिया जा सकता है। ये स्वतन्त्र अवकाश (Space) में प्रजनन नहीं कर सकते किन्तु इनके रहने के उचित वातावरण,—जैसे कोई रासायनिक-रस,फोड़े-फुन्सी के रस,वनस्पति के रस इत्यादि प्राणज योग(Organic compounds),—में ही ऐसा कर सकते हैं। उस वातावरण में उत्पन्न होकर ये बढ़ते तो रहते हैं किन्तु इनमें कुछ गुण अ-प्राण रासायनिक पदार्थों जैसे भी होते हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रज्ञ हैल्डेन (J. B. S. Haldane) का कहना है "एक तरफ कुछ विद्वानों को बड़े जोर से कहते सुनते हैं कि वाईरस सजीव हैं, और दूसरी ओर भी कितने ही विद्वान हैं जो कि उतने ही जोर के साथ कहते हैं कि ये निर्जीव हैं, और तीसरी तरह के विद्वान हैं जिनका कहना है कि इनमें चेतन अचेतन का भेद लाना ही गलत है। सैद्धान्तिक वाद-विवाद से

नहीं, बल्कि रासायनिक प्रयोगों से हमें उस सेतु का एक छोर मिल गया है, जो कि जीवन और रसायन शास्त्र की सीमाओं को मिलाता है।" इस वाईरस के उपरांत एक और प्राणी आते हैं जिन्हें हम बैक्टीरियोफेज (Bacteriophage) कहते हैं। ये भी अति सूक्ष्म अकुलाते-से जीवाणु हैं जिनकी किसी रासायनिक-योग (Chemical-Compound) से स्वतंत्र स्थिति नहीं। इनकी कल्पना आप कई दिन की पड़ी हुई दही में कीजिए, उस दही में अकुलाती सी, कुछ गतिमान सी स्थिति आपको मिलेगी। उस दही में अकुलाते से, गतिमान से जो कुछ भी हैं, वे ये ही बैक्टीरियाफेज हैं। आप उस अकुलाने की, गति की, स्थिति को कोई रासायनिक प्रक्रिया कहेंगे या अकुलाते-से, गतिमान-से जो कुछ भी सूक्ष्म अणुगुच्छ-से उसमें दिखलाई देते हैं उनको स-प्राण जीव कहेंगे ? एक दृष्टि से तो उनको प्राणधारी जीव ही कहना पड़ेगा क्योंकि उनकी संख्या बढ़ती ही रहती है, उनकी प्रसव क्रिया चाहे किसी भी प्रकार की हो। किन्तु ये ऐसे जीव हैं जिनके रहने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता नहीं होती। यह बात इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि दही में प्राणधारी जीव किसी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा प्रगट हुए, उस रासायनिक प्रक्रिया द्वारा जिसे प्रकिण्व प्रक्रिया कहते हैं। इस प्रकिण्व प्रक्रिया द्वारा कारबन वाले कई रासायनिक पदार्थों में जीवाणु उत्पन्न होते हुए पाये गये हैं,—उनमें से बहुत से ऐसे जिन्हें जिन्दा रहने के लिए ऑक्सीजन की जरूरत नहीं रहती। इसका यह अर्थ निकला कि मानो प्राण भी एक भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया है। किन्हीं विशेष रासायनिक पदार्थों में विशेष परिस्थितियों में फ़रमेंटेशन होकर प्राण का उद्भव हो जाता है। इसी आधार पर अनुमान लगाया गया है कि सृष्टि में सर्व प्रथम प्राणी का उद्भव कैसे हुआ। पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद वायु मण्डल में या तो ऑक्सीजन गैस था ही नहीं, या था तो बहुत कम था। उस समय के वायुमण्डल में अमोनिया (नाइट्रोजन का एक योग, एक रासायनिक गैस) एवं कारबनडाईऑक्साइड (प्रांगार-द्विजारेय, एक रासायनिक गैस) की

उपस्थिति की साक्षी मिलती है। वायुमण्डल के ये अमोनिया एवं कारबनडाईऑक्साइड समुद्र के पानी में मिलकर एक रासायनिक यौगिक-पदार्थ (A Chemical compound) बनाए हुए थे। उस समय पानी अभी गर्म ही था और उस गर्मी की वजह से यह सम्भव था कि कुछ रासायनिक प्रक्रिया उस पानी में दूसरे रासायनिक पदार्थों के साथ हो सके। सूर्य की एक विशेष प्रकार की रस्मियां जिन्हें कासनीपार की रश्मियां (Ultraviolet rays) कहते हैं वायुमण्डल को पार करके पृथ्वी तक आईं और उपरोक्त रासायनिक यौगिक-पदार्थ पर उनकी प्रक्रिया हुई। ये रश्मियां वायु-मण्डल को उसी समय पार कर सकती हैं जब उसमें ऑक्सीजन न हो, और यह हम बतला ही आए हैं कि उस समय के वायुमण्डल में ऑक्सीजन नही था। उस प्रक्रिया के फलस्वरूप समुद्र के पानी में जहां कहीं भी उपरोक्त रासायनिक यौगिक-पदार्थ था (अमोनिया एवं कारबनडाईऑक्साइड एवं गर्म समुद्र का पानी मिलकर बना हुआ यौगिक पदार्थ) अनेक रासायनिक परिवर्तन हुए,—और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप कारबन के ऐसे यौगिक पदार्थ बन गए जिनमें प्रकिण्व प्रक्रिया हो सकती थी और तब उन्हीं कारबन कम्पाउण्ड में फरमेंटेशन के द्वारा प्राण की उत्पत्ति हुई। आज सभी अधिकारी विद्वान इस बात को मानते हैं कि प्राण का आरम्भ कहीं छिछले खारे पानी में ही हुआ जिस पर गर्म सूर्य की किरणें आकर पड़ती थीं। एक बार प्राण का आरम्भ होने पर तो प्राणी, एक तरफ तो गहरे पानी में तथा दूसरी ओर शनैः शनैः समुद्र-तट तक,और फिर समुद्र-तट से स्थल पर दूर तक फैले। एक बार जब प्राण की प्रणाली चल निकली तब तो न्यूनतम विकसित, केवल एक जीव-कोष वाले प्राणधारी जीवों में से शनैः शनैः अधिकाधिक पेचीदा एवं अधिकाधिक विकसित जीवों का प्रादुर्भाव होता गया।

हमने देखा कि वह मूल तत्व जिसकी यह सृष्टि बनी हुई है उसकी मूल-स्थिति हां-धर्मी विद्युत-कणों (प्रोटोन-प्राणु) एवं ना-धर्मी विद्युत-कणों (इलेक्ट्रोन,—विद्युदणु) के रूप में है। इन विद्युत-कणों के ही संघात से

सृष्टि के समस्त भिन्न भिन्न पदार्थ बने। एक प्रोटोन और एक इलेक्ट्रोन का सघात (योग) हुआ तो वह हाईड्रोजन बना, किसी विशेष निश्चित संख्या में इलेक्ट्रोन प्रोटोन का संघात हुआ तो वह यूरेनियम बना, इत्यादि। उन्हीं विद्युत-कणों के संयोग से भिन्न भिन्न तत्वों के परमाणु(Atoms) बने। परमाणुओं ने ही मिल कर रासायनिक व्यूहाणु (Molecule) की सृष्टि की। इन्हीं व्यूहाणुओं (Molecules) ने चमत्कारी अणु-गुच्छकों (Colloids) को पैदा किया, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। अणु-गुच्छक ही प्राण एवं अप्राण के बीच की कड़ी बने और उन्ही में गुणात्मक परिवर्तन होकर प्राण का उदय हुआ। विकास के इस वैज्ञानिक सिद्धांत को मान्यता देने पर उन धार्मिक अथवा दार्शनिक मान्यताओं की स्थिति नहीं रहती जिनका मानना है कि जीवन-तत्व या चेतना तो शरीर या भूत-पदार्थ से पृथक ही एक स्वतन्त्र वस्तु है, और कि प्राण और चेतना भूत-पदार्थ के साथ साथ या इसके पहिले से व्यक्त रूप में विद्यमान थे।

मन का विकास

ऐसा माना जाता है कि मन या चेतना का भी प्राण के साथ ही साथ उदय हुआ। हम आसानी से यह कल्पना नहीं कर सकते कि उस आरम्भिक एक जीवन-कोष वाले प्राणधारी में भी कोई मन होगा;—किन्तु बीज रूप से मन की स्थिति हम उसमें मान सकते हैं क्योंकि जीवधारी के साथ जीवनेच्छा बंधी हुई है। यह जीवनेच्छा—मैं जीवित रहूँ—यह अहं, मन का आदिरूप ही है,—यद्यपि इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति तो विशेष विकसित प्राणियों में ही होती है। यह मन और चेतना है क्या ? यह भी उस शरीर से जो भौतिक-तत्व में से विकसित हुआ है कोई भिन्न वस्तु नहीं है। शरीर का एक विशेष भाग होता है जिसे मस्तिष्क कहते हैं और जो प्राणी के सिर की हड्डी के ढांचे में स्थित है। यह भाग (मस्तिष्क) भी शरीर के सब अन्य अवयवों की तरह अनेक जीव-कोषों का बना हुआ होता है। इस मस्तिष्क की प्रक्रिया का नाम ही मन अथवा

चेतना, अथवा बुद्धि अथवा चिन्तन है। यदि किसी प्रकार मस्तिष्क को कोई आघात् पहुँचा दिया जाय और उसे बिल्कुल शून्य कर दिया जाय तो वे कोई भी प्रक्रियाएं नहीं हो सकतीं जिन्हें बुद्धि या चिन्तन या मनन कहते हैं। तो क्या मानव-प्राणी में जो सुख, दुःख, सहानुभूति, प्रेम, द्वेषादि की प्रवृत्तियां हम पाते हैं—उसमें संकल्पात्मक विकल्पात्मक अनेक जो उद्वेग उठते रहते हैं, सौन्दर्य के साथ एकात्म होने की उसमें जो प्रेरणा जागृत होती रहती है,—उसे अनेक विचित्र विचित्र जो अनुभूतियां होती रहती हैं जिनकी कोई थाह नहीं।

क्या ये सब उस भौतिक तत्वों के बने मस्तिष्क की ही प्रक्रिया मात्र हैं ? ऐसा ही है। तो क्या मन, चेतना आदि गुण मस्तिष्क की तरह, जो एक भौतिक-पदार्थ माना गया है, अन्य किसी भौतिक-पदार्थ यथा लोहा, पत्थर, मिट्टी में भी मौजूद हैं ? ऐसा नहीं,—क्योंकि मन भूत-पदार्थ की हर किसी स्थिति में नहीं पाया जा सकता,—वह तो भूत-पदार्थ का एक विशेष प्रकार से संघटित रूप है; उस संघटित रूप की एक क्रिया, प्रवाह, एक विशेष गति है। चिन्तन, मनन, विचार, भाव की स्थिति आप द्रव्य-पदार्थ के उस विशेष संघटित रूप (मस्तिष्क) से पृथक नहीं मान सकते। हां, यह संभव है कि आज जो गुण प्राणी-मस्तिष्क का है, उससे भी सर्वथा भिन्न गुण, ऐसा गुण जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते, विकसित हो जाय। जिस प्रकार अ-प्राण वस्तु में प्राण नामक गुण का विकास एक अद्भुत घटना थी, उसी प्रकार अन्य किसी अलौकिक गुण का विकास इसी भूत पदार्थ में से उद्भूत प्राण और चेतनाधारी जीव में संभव है। मनुष्य या किसी भी चेतना-धारी जीव के विकास की कितनी असंख्य संभावनायें हैं, इसकी कल्पना भी हम साधारणतया नहीं कर सकते।

प्राण एवं चेतना के प्रादुर्भाव के पश्चात् असंख्य प्रकार के जीवों और अंत में मानव का विकास किस प्रकार हुआ—यह अब हमें देखना है।

आदि भूत-द्रव्य से प्राण के उद्भव की श्रेणियां

(Stages) अनुमानित

Existence of Primal Matter as undifferentiated, concentrated, dynamic something constituted of electrons, protons, neutrons; electrons, protons, neutrons combining into atoms of different elements; atoms combining into molecules; one molecular combination turning into carbon compound; the carbon compound, by chemical action, changing into a stage midway between life and non-life, ultimately leading to the formation of life-cells.

प्राणु-विद्युदणु से निर्मित गत्यात्मक भूत-द्रव्य का अस्तित्व किसी निराकार, केन्द्रीभूत, स्थिति में, प्राणु-विद्युदणुओं से अणुओं का निर्माण; अणुओं से व्यूहाणुओं का निर्माण; एक विशेष व्यूहाणु से प्रांगार योग का निर्माण; प्रांगार योग से रासायनिक प्रक्रिया द्वारा प्राण-अप्राण के बीच की स्थिति वाले पदार्थ का निर्माण; उससे अन्त में जीव-कोष का निर्माण।

•

(६)

जीवों का क्रमिक विकास

आदि प्राण (Life) का क्यों भिन्न भिन्न रूपों में विकास हुआ ?

असंख्यों प्रकार के प्राणी हम इस विश्व में देखते हैं, भिन्न-भिन्न रंग रूप और आकार के; भिन्न भिन्न जातियों के। जीवाणु के समान छोटे

से छोटे प्राणी से लेकर (जिसे हम बिना अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता के नहीं देख सकते) हाथी के समान और हाथी भी क्या समुद्र की व्हेल मछली के समान बड़े से बड़े प्राणी तक। बीजाणु के समान अविकसित चेतना एवं अविकसित बुद्धि वाले प्राणी से लेकर मनुष्य के समान विकसित चेतना और बुद्धि वाले प्राणी तक। अनेक रूपों में प्राण गतिमान है—अनेक रूपों में जीवन-नृत्य चल रहा है। सृष्टि में इन नाना प्रकार की जीव-जातियों के अस्तित्व के विषय में पहिले यही माना जाया करता था कि सब प्रकार की वनस्पतियां और जीव परमात्मा ने एक ही बार उत्पन्न कर दिये थे और फिर वंशानुवंश उनकी परम्परा चलती रही। किन्तु आज यह बात मान्य नहीं। आज इस संबन्ध में जो सिद्धान्त मान्य है, उसे "विकासवाद" कहते हैं। इसके अनुसार सब प्रकार की जीव-जातियां किन्हीं अन्य पूर्व-स्थित अपेक्षाकृत कम जीव-जातियों से अवतरित हुई हैं—ये पूर्व स्थित अन्य जीव-जातियां किन्हीं और अपेक्षाकृत कम अन्य जीव-जातियों से अवतरित हुई थीं—और इस प्रकार चलते चलते हम उस आदि स्थिति तक पहुंचते हैं जब एक ही जीव-कोष वाला सरलतम प्राणधारी जीव था। यह एक दिन का काम नहीं था—यह एक वर्ष का काम नहीं था—इस प्रकार के विकास में लगे करोड़ों वर्ष। तो करोड़ करोड़ वर्षों में इन नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव एवं विकास हुआ सरल से सरलतम एक जीव-कोष वाले प्राणी से।

प्रकृति के इस गूढ़ रहस्य का आख़िर पता किसने लगा लिया? वह मनीषी था इंगलैण्ड का चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin)। अनेक वर्षों तक सामुद्रिक यात्रा करते हुए और विभिन्न द्वीपों में रहते हुए हजारों प्रकार के पक्षी, पशु, जल-जीव और वन्य जानवरों के प्राकृतिक रहन-सहन, स्वभाव और शारीरिक निर्माण का अध्ययन कर उसने विकासवाद का सिद्धान्त स्थिर किया था, जो सबसे पहले प्रकाशित हुआ उसकी युगान्तरकारी पुस्तक "ऑरीजन ऑफ दी स्पीसीज" (जीव-

जातियों का उद्गम) में (१८५९ ई०)। ऐसी बात नहीं कि विकासवाद की चर्चा डार्विन से पहले हुई ही नहीं हो। ऐसी चर्चा चलती रहती थी; फ्रांस के विचारक लैमार्क (१७४४–१८२९ ई०) ने इसकी खूब चर्चा की थी; प्राचीन काल में भी दर्शनिकों और विचारकों ने ऐसी बात सोची थी; किन्तु इस बात को स्पष्ट वैज्ञानिक आधार देनेवाला, वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने वाला सबसे पहला मेधावी मानव था चार्ल्स डारविन ही।

विकास क्यों और कैसे होता है?—पिछले अध्याय में यह तो हम देख आये हैं कि किस प्रकार आज से करोड़ों वर्ष पहले समुद्र के किनारे छिछले-से पानी में छोटे छोटे जीव अकुलाने लगे थे, भू-द्रव्य में प्राण आविर्भूत होगया था। अब प्रश्न यह है कि सूक्ष्मतम शरीर में उदय होने के बाद क्यों वह प्राण अनेक भिन्न भिन्न रूपों में विकसित हुआ—ऐसा करने की उसे क्या आवश्यकता थी? दूसरा प्रश्न यह है कि कौनसी वह रीति या ढंग था जिसका अनुसरण करके उस आदि प्राण का अनेक रूपों में विकास हुआ? क्यों आदि प्राण का भिन्न-भिन्न रूप में विकास हुआ? इसका हम क्या उत्तर दें? वैज्ञानिक तो यही कहता है कि आदि, मूल भू-तत्व वास्तव में एक वस्तु नहीं, एक स्थिर पदार्थ नहीं,—वह तो एक गति है, एक प्रक्रिया है जो प्रतिपल होती रहती है। और उसी प्रक्रिया के फल-स्वरूप उस आदि भू-तत्व के अनेक रूप विकसित होते रहते हैं, बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं। क्या किसी निश्चित उद्देश्य से, किसी निश्चित गन्तव्य की ओर वह गति है, वह प्रक्रिया है? वैज्ञानिक यह नहीं जानता। वह तो इतना ही जानता है कि यह गति, यह प्रक्रिया, यह विकास होता रहता है। मनुष्य के समान गहनतम चेतना विकसित होने पर वह मनुष्य उस गति में, उस विकास प्रक्रिया में, अपनी ओर से किसी भी उद्देश्य की कल्पना करले, किन्तु उस आदि भू-तत्व स्वयं में, उस गति स्वयं में कोई उद्देश्य निहित नहीं।

कैसे एक आदि जीव में से भिन्न भिन्न जातियों के जीव विकसित हुए—इस बात का पता लगाने के लिए अनेक वैज्ञानिकों के, अनेक प्राणी-शास्त्रज्ञों के अनेक प्रयास हुए हैं। दो प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रज्ञों के नाम उल्लेखनीय हैं, एक तो फ्रांस का लेमार्क (Lamarck) और दूसरा इंगलैंड का डारविन (Darwin)। डारविन के बाद भी अनेक अनुसन्धान होते रहे और इस शास्त्र की प्रगति होती रही। आज विकास के ढंग के विषय में प्राणी-शास्त्रज्ञों में जो मत प्रचलित है, वह "प्राकृतिक-निर्वाचन" (Natural-Selection) का सिद्धान्त कहलाता है, जिसका संक्षेप में हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं:—

(१) किसी एक प्राणी के सन्तानें उत्पन्न हुई। ये सन्तानें अपने माता-पिता के अनुरूप होती हैं—अर्थात् सन्तानों में आनुवंशीयता होती है, इसका इतना ही अर्थ है कि गदहे के गदहा ही पैदा होगा और मनुष्य के मनुष्य। किन्तु इतनी आनुवंशीयता होने पर भी सन्तानों में परस्पर विभिन्नता होती है, और वे अपने माता-पिता से भी कई बातों में विभिन्न होते हैं। उनकी शक्ल-सूरत, उनका स्वभाव, उनके शारीरिक अवयव इत्यादि। बिल्कुल हूबहू अपने माता-पिता से, या परस्पर एक दूसरे से नहीं मिलते। उनमें प्रत्येक में अपनी कुछ व्यक्तिगत नवीनता होती है। इस नवीनता को परिवर्तन कहते हैं। ऐसी कोई व्यक्तिगत नवीनता ही शनैः शनैः विकसित होकर—पीढ़ी दर पीढ़ी में विकसित होकर—जाति परिवर्तन कर डालती है। अर्थात् पूर्व प्रकार की जीव-जाति से एक भिन्न रूप और गुणवाली जीवजाति पैदा हो जाती है।

(२) शारीरिक अवयवों, शक्ल-सूरत, स्वभाव इत्यादि में यह विभिन्नता बहुत कुछ अंश तक चारों ओर के वातावरण की विभिन्नता की वजह से आ-उपस्थित होती है। किन्तु कुछ विभिन्नता आनुवंशीय (जन्मजात) भी होती है। उदाहरण स्वरूप, कल्पना करो एक जानवर के साधारणतः लाल आँखें हैं और शरीर का रंग भूरा सा। यह संभव हो सकता है कि जन्म से ही इस जानवर की किसी एक संतान की

आंखें लाल न होकर गुलाबी हों और शरीर का रंग मातृ-पितृवत भूरा न होकर काला हो। संतान में यह आनुवंशीय आधारभूत विभिन्नता निश्चय ही आई तो माता-पिता के बीज-कोषों या प्रजनन कोष्ठों (germ-cells) से, किन्तु माता-पिता के बीज-कोषों के गुण में यह अप्रत्याशित परिवर्तन कहाँ से आ गया ? यह बात अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं कि प्रजनन कोष्ठों में या उनके पित्र्यैकों* (genes, जनियों) में सहसा ऐसा परिवर्तन, ऐसी नवीनता क्यों आ-उपस्थित होती है। यह नवीनता जो एक संतान में आई वह जनकबीज के द्वारा उस संतान की संतानों में आनुवंशिक ढंग से प्रगट होती रह सकती है, और इस प्रकार कालांतर में भिन्न रूप और गुण वाली जाति अस्तित्व में आ सकती है।

(३) प्रकृति के क्षेत्र में एक ही जीव-जाति के भिन्न भिन्न व्यक्तियों में तथा भिन्न भिन्न जीव-जातियों में एक निर्वाचन सा चलता रहता है,—अर्थात् प्रकृति में वे जीव जीवित नहीं रह पाते जिनमें ऐसे परिवर्तन या ऐसी नवीनतायें आगई हों जो चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण

***बीज-कोष** (germ cell or reproductive cell) **की नाभि में छोटे छोटे रंगीन धागों की तरह कुछ अवयव होते हैं जिन्हें पित्रसूत्र या वर्णसूत्र** (Chromosomes) **कहते हैं और जो केवल अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा देखे जा सकते हैं। इन पित्रसूत्रों पर माला में मणियों की तरह गुथे हुए कुछ द्रव्य - परमाणु से होते हैं जिन्हें पित्र्यैक या वाहकाणु या जनि** (genes) **कहते हैं। ये पित्र्यैक ही आनुवंशिक गुणों के वाहक होते हैं; इनके द्वारा ही पिता से पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र तक, इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी, आनुवंशीय गुणों की परम्परा चलती रहती है। करोड़ों वर्ष पहिले हमारी पृथ्वी पर जब प्राणी की प्रथम चिन्गारी और उसके साथ प्रथम पित्र्यैक उदय हुए तब से आज तक ऐसा होता चला आ रहा है।**

की कठोरता को, या प्राकृतिक वातावरण के सहसा परिवर्तन को नहीं सह पाते; एवं वे जीव जीवित रह जाते हैं और अपनी परम्परा चलाते रहते हैं जो प्रकृति के वातावरण की या उस वातावरण में किसी भी परिवर्तन की कठोरता को सफलता से सह लेते हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृत्य: वे जीव अथवा जीव-जातियाँ छंटकर बुझती रहती हैं जिनमें आ-उपस्थित होने वाली नवीनतायें प्रकृति के अनुकूल नहीं बैठतीं और वे जीव अथवा जीव-जातियाँ बढ़तीं और चलती रहती हैं जिनमें आ-उपस्थित होने वाली नवीनतायें प्रकृति के अनुकूल बैठती हैं। इसी को "प्राकृतिक निर्वाचन" (Natural Selection) कहते हैं। एक उदाहरण से यह बात समझ में आ सकती है। एक जाति का कीड़ा सूखी काली जगह में पीढ़ियों से रहता था। वह चमकीले लाल और काले रंग का था। समय बदला, अब वह जमीन हरी भरी हो गई। अब कीड़ा हरी पत्तियों और हरे पौधों में रहता है। उसकी सन्तानों में अपनी जाति के अनुसार अधिकांश कीड़े चमकीले लाल और काले रंग के हैं, किन्तु अकस्मात दो चार कीड़े हरे रंग के पैदा होगये। कीड़ों को खाने के लिए कितने ही पक्षी चारों ओर मुँह बाये हुए हैं। ऐसे कीड़े का जल्दी संहार हो जाता है जो अपने आस-पास की जमीन, हरी घास से बिल्कुल अलग रंग रखता है, क्योंकि शत्रु की नजर उस पर फौरन पड़ जाती है; और हरे रंग का कीड़ा बच जाता है। अपने रंग के कारण बचे हुए ये हरे कीड़े अपने वंश को आगे ले जायेंगे। "हरे रंग के रूप में जो नवीनता कीड़े में प्रगट हुई वह प्रकृति के अनुकूल बैठी।"

(४) अनुकूल नवीनता (परिवर्तन) जो एक जीव में प्रगट हुई थी, वह एक के बाद दूसरी पीढ़ियों में प्रगट एवं विकसित होती रहती है, और शनैः शनैः वह नवीनता इस स्थिति तक बढ़ जाती है कि बाद वाले जीव अपने आदि पूर्वज की अपेक्षा जिसमें यह परिवर्तन उत्पन्न नहीं हुआ था सर्वथा एक भिन्नतर जाति के दिखने लग जाते हैं। इसी

प्रकार एक जीव-जाति से दूसरे प्रकार की जीव-जाति का विकास हो जाता है। इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि यह अनिवार्य है कि यह विकास अविच्छिन्न प्रवाह की भांति धीरे धीरे ही चले; ऐसी भी स्थितियां आती हैं कि विकास एक अविच्छिन्न प्रवाह के फलस्वरूप नहीं, किन्तु एक कुदान के फलस्वरूप हो; अर्थात् यह जरूरी नहीं कि विकास में एक कड़ी के बाद दूसरी कड़ी लगातार जुड़ी हुई मिले, ऐसी भी स्थितियाँ हैं जिनमें कड़ियों का वह तारतम्य न मिले, और ऐसा मालूम हो कि जीव एक स्थिति से दूसरी विकसित स्थिति तक, एक प्रकार के रूप गुण की स्थिति से दूसरे प्रकार के रूप गुण की स्थिति तक एक कुदान-सी भरकर पहुँच गया है। ऊपर जो कुछ विवरण दिया गया है उससे यह बात तो मन में जमी होगी कि प्रजनन-कोष के जात-गुण संस्थान (genetic system) में पित्र सूत्र एवं पित्र्यैकों (वर्णसूत्र एवं वाहकाणुओं, जनि) में सहसा कुछ परिवर्तन हो जाता है और इसीलिये कालान्तर में नई जीव-जातियाँ प्रगट हो जाती हैं। अब प्रश्न यह है कि जनि में यह सहसा परिवर्तन क्यों हो जाता है। इसका कारण ढूंढने में जीव-विज्ञान-वेत्ता बड़े परेशान हुए हैं। उन्हें निश्चयात्मक रूप से अभी तक पता नहीं लग पाया है कि उक्त परिवर्तन का कारण, (१) वातावरण का प्रभाव है, या (२) अन्धी प्रकृति की उद्देश्यहीन अकारण कोई घटना है, या (३) जीव स्वयं की इच्छा शक्ति है।

(१) फ्रेंच वैज्ञानिक लैमार्क और उसके अनुयायियों की यह मान्यता है कि शरीर पर वातावरण के प्रभाव, या जीव स्वयं द्वारा किसी विशेष शारीरिक अभ्यास, या विशेष शारीरिक अवयव के सतत (कई पीढ़ियों तक दीर्घकालीन) प्रयोग-अप्रयोग के फल-स्वरूप संगृहीत गुणों या परिवर्तनों का असर आनुवंशिक हो जाता है। इस मत के अनुसार जीराफ जीव-जाति (अफ्रीका का लम्बी गर्दन वाला एक जानवर) की गर्दन लम्बी इसलिये होगई कि ऊंचे पेड़ों की पत्तियों तक अपना मुंह पहुँचाने के लिये वह सतत अपनी गर्दन को तनाता रहता था। प्रत्येक

पीढ़ी अपनी गर्दन अधिक से अधिक तनाने का प्रयत्न करती और गर्दन की लम्बाई का यह अर्जित गुण अगली पीढ़ियों को प्राप्त होता रहता।

इस प्रकार यह अर्जित गुण आनुवंशिक हो गया। नवीन आनुवंशिक शास्त्र (Genetics) की भाषा में यों कहेंगे कि अर्जित (acquired) गुणों या परिवर्तनों का असर जनि पर पड़ता है, और वह असर जनि में परिवर्तन (mutation: अन्तः परिवर्तन या उत्परिवर्तन) पैदा करके आनुवंशिक हो जाता है। मूल में उत्परिवर्तन का कारण कोई आकस्मिक घटना नहीं किन्तु अभ्यास द्वारा अर्जित गुण है।

(२) डार्विन ने तो ईमानदारी से सीधा-साधा कह दिया कि आनुवंशिक विभिन्नता तो प्रकृति में एक आकस्मिक घटना है, एक चाँस (Chance) की बात है; मानो अकस्मात् सृष्टि के भाग्यवश कुछ हो जाता हो! प्रकृति गतिमान है और गति होते होते सहसा ऐसी कोई घटना हो जाती है। वस्तुतः डार्विन के समय में वंशानुसंक्रमण शास्त्र (Genetics) की अभी तक स्थापना भी नहीं हो पाई थी, अतः वह आनुवंशिक तथ्य की बहुत गहराई तक नहीं गया था, वह तो जीवनभर दृश्य प्रकृति का निमग्न होकर अवलोकन करता रहा था और उसी का अवलोकन कर उसने प्रकृति के एक महान सामान्य (General) सत्य यथा, निर्वाचन द्वारा प्रकृति में विकास की प्रक्रिया का पता लगा लिया था। उस सामान्य प्रक्रिया में जात गुण परिवर्तन की विशेष बात का कारण तो आजतक भी एक रहस्य ही बना हुआ है। जो हो, डार्विन और उसके बाद आज के भी अधिकारी वैज्ञानिक तो यही सोचते हैं कि अन्तः परिवर्तन (पित्र्यैक में मूलभूत परिवर्तन) चाँस से हो जाता है। जीराफ जीव-जाति की गर्दन लम्बी इसलिये होगई कि किसी एक जीराफ के उन पित्र्यैकों (वाहकाणुओं, जनि) में जिन पर गर्दन की लम्बाई आधारित होती है अकस्मात कोई परिवर्तन हो गया था, उस परिवर्तन से उस जीराफ की गर्दन लम्बी उत्पन्न होगई, यह परिवर्तन प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बैठा, अतः लम्बी गर्दन वाली जीराफ जीव-जाति

अस्तित्व में आगई।

(३)इन वर्षों में, पिछले ४०-५० वर्ष से समझिये, कुछेक वैज्ञानिक एवं विचारक यह सोचने लगे हैं कि अन्तःपरिवर्तन (म्यूटेशन) की घटना में कोई मनोवैज्ञानिक तत्व, कोई चेतन भाव भी काम करता है, मानो विकास की प्रक्रिया के पीछे कोई सूझ (बुद्धि, भाव, intelligence, feeling) हो, प्रकृति स्वयं में अन्तर्हित कोई "चाह", कोई "इच्छा" हो। ये विचारक कहते हैं कि जीव-विकास के एक विशेष स्तर के बाद उक्त चेतन भाव का सिद्धान्त माने बिना विकासवाद की समस्त प्रक्रियाओं और उसमें उच्च विकसित मेधावी प्राणियों के अस्तित्व को समझाना कठिन है। प्रसिद्ध जीव-शास्त्री जूलियन हक्सले और मनीषी एच० जी० वैल्स अपनी पुस्तक "साइंस ऑफ़ लाइफ" में लिखते हैं : "यह बात प्रतिपादित की जाती है कि जीव-जातियों में से किन्हीं में, यद्यपि वे अपनी परिस्थितियों और वातावरण में प्रायः अनुकूलता से रह रही थी और यद्यपि वातावरण में उन्होंने किसी प्रकार का परिवर्तन अनुभव नहीं किया तब भी, किसी आंतरिक इच्छा एवं किसी अन्तर्निहित उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा में विकासात्मक परिवर्तन हुआ।"* एक और वैज्ञानिक कहते हैं—जिनी व्यूहाणुओं (gene molecules) का अन्तःपरिवर्तन किसी अंश तक मनस्तत्व द्वारा अवश्य निर्देशित होता है।†

ऊपर समझाया गया वह ढंग है जिसके अनुसार जाति परिवर्तन और जीवों का विकास होता रहता है। जीवधारी प्राणियों के विकास

---

*Julian Huxley and H. G. Wells : *The Science of Life*, page 279.

†D. M. Bose in "Science and Culture" for January, 1953.

Also see, Rameshwar Gupta: *Reshaping Humanity*, Chetnagar, Banasthali.

का इतिहास जानने के पहिले कुछ और बातें हैं जिनको जान लेना विकास का इतिहास समझ लेने में सहायक होगा। प्राणी-शास्त्र की व्याख्या के अनुसार प्रकृति में उच्च तथा निम्नतर के प्राणी कौन होते हैं ? वे ही प्राणी अपेक्षाकृत उच्च होते हैं जिनका अपने चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण पर अधिक नियंत्रण (Control) हो; दूसरे शब्दों में जो चारों ओर की परिस्थितियों और प्राकृतिक वातावरण से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हों,– अर्थात् उन पर अपेक्षाकृत कम निर्भर रहते हों। अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता, एवं वातावरण और परिस्थितियों पर यह नियंत्रण आधारित है–इन बातों पर कि प्राणी की बनावट कैसी है, उसके शरीर के अवयव किस हद तक स्वयं चलित हैं, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं उसका मस्तिष्क बाहरी दुनियां का कितना ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसकी अनुभूतियाँ कितनी गहराई तक पहुँच सकती हैं। जैसे जैसे आप जीवधारियों के विकास का इतिहास पढ़ेंगे, तैसे तैसे आप यह देख पायेंगे कि ज्यों ज्यों प्राणी ने विकास किया त्यों त्यों वह परिस्थितियों और वातावरण पर कम निर्भर होता गया एवं उन पर उसका नियंत्रण बढ़ता गया। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ज्यों ज्यों उच्चतर प्राणियों का विकास होता जाता है त्यों त्यों निम्नतर प्राणियों की जातियाँ खत्म होती जाती हों। विकास का यह अर्थ नहीं। गहन से गहनतर चेतना ही पदार्थ के उच्च से उच्चतर संगठन (Organization) का स्वरूप है। किन्तु साथ ही निम्नतर प्राणियों की स्थिति भी बहुधा बनी रहती है। बात इतनी ही है कि निम्नतर प्राणियों की गति और व्यवहार की परिस्थितियां और क्षेत्र बहुत ही सीमित होते हैं और वे कम से कम इतनी निपुणता तो अपने शरीर के अवयवों के गठन में, एवं बुद्धि में प्राप्त किये हुए होते हैं कि अपने सीमित क्षेत्र में तो वे जीवित रह सकें, इसलिए ऊंचे प्रकार के प्राणियों के साथ निम्न जाति के प्राणी भी बने रहते हैं।

जीवों के विकास का इतिहास

ऐसा माना जाता है कि वास्तविक मनुष्य का आविर्भाव हुए लगभग केवल ५० हजार ही वर्ष हुए हैं—और सभ्यता की वह स्थिति जिसमें इतिहास लिखा जाता था केवल चार या पाँच हजार वर्ष पूर्व की है, तो आज से करोड़ों वर्ष पहिले पृथ्वी की क्या दशा थी और किस प्रकार के प्राणी रहते थे इत्यादि बातों का मनुष्य ने कैसे पता लगा लिया ? इस विषय की चर्चा हम तीसरे अध्याय में कर आये हैं। वहाँ हमने पढ़ा होगा कि पृथ्वी के गर्भ में स्थित चट्टानों की भिन्न भिन्न स्तरों में जीवन का यह इतिहास लिखा हुआ है। चट्टानों की स्तरों में हमें प्राचीन जीवों के चिन्ह उनकी पथराई हुई हड्डियों (Fossils) के रूप में मिलते हैं,—उनके ढाँचे, पैरों के चिन्ह, वनस्पतियों के तने, पत्ते, फल इत्यादि के फोसिल (Fossils) मिलते हैं। इन्हीं के आधार पर अनेक वर्षों तक कड़ा परिश्रम करते हुए प्राणी विकास की कहानी की रूप-रेखा तैयार की गई है, और ज्यों ज्यों नये तथ्यों का उद्घाटन हो रहा है इस रूप-रेखा की कमियों की पूर्ति की जा रही है।

१. अजीव चट्टान युग (Azoic Age)

लगभग दो अरब या इससे अधिक वर्ष तो हुए वाष्पपिंड की सूरत में पृथ्वी की उत्पत्ति हुए। शनैः शनैः पृथ्वी ठण्डी हुई और ठण्डा होने के फलस्वरूप वे सब धातु तथा अन्य उपादान जो गैस रूप में पृथ्वी में विद्यमान थे, धीरे धीरे तरल तथा ठोस रूप में परिवर्तित हुए। आज की पृथ्वी की स्थिति में पृथ्वी के केन्द्र से लेकर पृथ्वी की सतह तक प्रायः ४००० मील से कुछ कम की दूरी है। अनुमान है कि केन्द्र के पास सबसे भीतरी गर्भ जो प्रायः २२०० मील मोटाई का है वह प्रायः लोहा और निकल धातु का बना है—सम्भवतः पृथ्वी के गर्भ में अभी तक बहुत तेज गर्मी होने की वजह से ये धातुएं तथा अन्य उपादान तरल या अर्धतरल

मोटी खोल धातु एवं बसाल्ट की है और इसके ऊपर ६०-७० मील मोटी खोल पत्थर-चट्टानों की है। पत्थर-चट्टानों का यह सबसे ऊपरी खोल कई स्तरों का, कई सतहों का बना है। शनैः शनैः धूलमिट्टी पानी में घुल घुल कर, कीचड़ बन बन कर और सूख सूख कर कठोर होती गई और चट्टानों का एक स्तर बन गई। इस स्तर पर फिर मिट्टी, कीचड़ जमा होने लगा और धीरे-धीरे दूसरी सतह बन गई। इस प्रकार स्तर पर स्तर जमती गई और ऊपरी खोल की वे चट्टानें बनीं जिन्हें हम आज "स्तरीय-पत्थर" (Sedimentary-rock) कहते हैं। इन्हीं स्तरीय चट्टानों में "जीवन का इतिहास" लिखा हुआ मिलता है। वास्तव में चट्टानों के बनने के समय समुद्र के जीव-जन्तु तथा वनस्पतियाँ, उनकी पथरायी हुई हड्डियाँ, अस्थि पिंजर, उनके ढाँचे, पैरों के चिन्ह, तथा पत्ते, टहनियों आदि के अवशेष इनके बीच में दब गये। इन्हीं के अध्ययन से हम चट्टानों में अंकित जीव-विकास का क्रमवार इतिहास जान सकते हैं। इनका परीक्षण करने से पता लगा है कि इनमें सबसे पुरानी चट्टानों की आयु प्रायः १ अरब ६० करोड़ वर्ष की आंकी जा सकती है। इन चट्टानों की आधी या आधी से भी अधिक आयु तक की स्तरों में तो जीवन का कोई भी चिन्ह नहीं मिलता। आज से ८० करोड़ वर्ष पूर्व की चट्टानों की जो स्तरें हैं उनमें भी जीवों के कोई चिन्ह नहीं मिलते—अतएव ऐसी चट्टानों के युग को (Azoic Rocks age) "अजीव चट्टान युग" नाम दिया गया है। सम्भवतः प्राण अभी उदय हुआ ही नहीं था।

२. प्रारम्भिक जीव युग (Paleozoic-Age)

क.—ऐसे सूक्ष्मजीव जिनके अवशेष चिन्ह तो नहीं मिलते किन्तु जिनकी स्थिति का अनुमान लगाया जाता है :—

संभवतः ६० करोड़ वर्ष पूर्व छिछले समुद्रों में अनेक प्रकार के बहुत छोटे छोटे जेलीफिश (Jelly-fish) की तरह अस्थिहीन, अंग-हीन, अनन्त प्राणी पानी की सतह पर तैरते थे, एवं काई की तरह के अनेक

प्रकार के घास-पौधे भी पानी में पाए जाते थे। ऐसे प्राणियों के अस्तित्व का केवल अनुमान लगाया जाता है–उनके किसी भी प्रकार के अवशेष चिन्ह विद्यमान रहने की संभावना हो ही नहीं सकती थी। प्राण का, जीवधारी प्राणियों का यह आरम्भ काल ही था। प्राकृतिक परिस्थितियां बहुत विषम थीं,–समुद्रों का जल शान्त तथा शीतल नहीं था–एवं ऐसी सम्भावना है कि प्राणधारी व्यक्तियों (जीवों) का जीवन-काल कुछ घण्टे तक का ही होता होगा जाति परिवर्तन शीघ्र-शीघ्र होता होगा। उत्तर-काल की तरह नहीं जब अधिक विकसित जीव के जाति-परिवर्तन में लाखों वर्ष लगते थे।

ज्यों ज्यों हम चट्टानों की ऊपरी स्तरों की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों हमें प्राचीन जीवों के चिन्ह अधिकाधिक मिलते जाते हैं। हमें सीपसी खोखले वाली अनेक प्रकार की छोटी छोटी मछलियां, पानी में रेंगने वाले कीड़ों के समान अनेक प्राणी जिन्हें मूंगे का नाम दिया गया है, एवं सामुद्रिक बिच्छु जो ६ फीट तक लम्बे होते थे, एवं अन्य अनेक प्रकार के रीढ़-हीन जल-जीवों के चिन्ह मिलने लगते हैं। वह युग जिसमें ये जल-प्राणी उदय हुए, भयंकर ज्वार-भाटों का युग था, अतएव जब समुद्र के जल में ज्वार आता था तो वे जल प्राणी किनारों तक, जमीन के ऊपर तक बहकर चले जाते थे, और लहरों के वापस समुद्र में लौट आने पर भी अनेक जीव स्थल पर रह जाते थे। वे वहीं सूख जाते थे और मर जाते थे। यह भी संभव है कि भाटे के जोर में बहुत से जीव पानी की गहराई तक बहा लिए जाते थे एवं वहीं सूर्य का प्रकाश न मिलने से तथा सरलता से हवा न मिलने से, वहीं भी मर जाते थे। अतएव जैसी प्राकृतिक परिस्थितियाँ उस समय थीं उनमें यह बहुत संभव था कि जीवित रहने के लिये, सूर्य की तेज किरणों से बचने के लिए उन जीवों पर सीप की तरह सख्त खोखलों का विकास शनैः शनैः हो गया होगा। वह युग जिसमें इन प्रारम्भिक जीवों का उदय एवं विकास हुआ "प्रारम्भिक जीव युग" (Paleozoic-Age) कहलाता है। अब तक

जो कुछ कहा गया है उससे इस बात पर तो आपका ध्यान चला गया होगा कि आदिम जीव-प्राणी का छिछले-समुद्री-जल पर ही उदय हुआ। प्रारम्भिक जीव-युग के पूर्व भाग तक स्थल पर न तो किन्हीं पौधों का जन्म हुआ था न किन्हीं अन्य प्राण-धारियों का। ऐसी भौतिक तथा रासायनिक स्थिति समुद्र के कुछ गर्म एवं खारे जल में ही थी कि वहाँ पर प्राण का उदय एवं विकास हो सका।

उपरोक्त प्रारम्भिक जीवों के अतिरिक्त, ज्यों ज्यों काल बीता त्यों त्यों और नये जीवों का विकास होता गया।

ख. मत्स्य कल्प—इस युग की चट्टानों में पूर्व काल से सर्वथा भिन्न प्रकार के अवशेष चिन्ह मिलते हैं। जिन प्राणियों के ये चिन्ह मिलते हैं उनके दाँत एवं आँख आदि अवयव स्पष्ट रूप से विकसित थे, एवं इनमें रीढ़ की हड्डियों का ढाँचा भली-प्रकार विकास पा चुका था। सृष्टि में रीढ़ की हड्डियों वाले ये सर्व-प्रथम प्राणी थे। ये प्राणी जल में खूब मुक्त रूप से तैरते थे—ये रीढ़ की हड्डियों वाले सर्व प्रथम मत्स्य मछली थे। अनेक भू-शास्त्रियों का मत है कि आज से प्राय: ५० करोड़ वर्ष पहले ये जीव विद्यमान थे। अनन्त ये मछलियाँ इधर-उधर पानी में तैरती थीं, कुदकती थीं, सामुद्रिक घास में फिरती रहती थीं। इनकी लम्बाई प्राय: २ फीट होती थी, किन्तु उनमें कुछ ऐसी जातियों की मछलियाँ भी थीं जो २०-२० फीट तक लम्बी होती थीं। प्रारंभिक-जीव-युग में कौनसे जीव इन मछलियों के निकटतम पूर्वज थे—विकास की यह कड़ी नहीं मिलती, किन्तु इतना ही अनुमान लगाया जाता है कि कोई नरम प्राणी ही जिनमें हड्डी का ढाँचा अभी नहीं बना था किन्तु जिनके मुँह में दाँत इत्यादि सख्त हिस्से बनने लग गये थे, वे ही इनके पूर्वज होंगे। ये मत्स्य इस युग में इतने बहुतायत से पाए जाते हैं कि भू-शास्त्रियों ने इस युग का नाम ही "मत्स्य कल्प" रख दिया है।

ग. 'कार्बन कल्प'—मत्स्ययुग में भूमि पर प्राण के कोई चिन्ह नहीं थे। प्राणधारी प्रजीव अभी जल तक ही सीमित थे। उस काल की

भूमि भी क्या थी—केवल नंगी नंगी चट्टानें खड़ी थीं मिट्टी, रेत का कोई नाम नहीं था। जलवायु के भयंकर परिवर्तन होते रहते थे—कभी तो कुछ लाखों वर्षों तक पृथ्वी बर्फ से ढक जाती थी, फिर कुछ लाखों वर्षों तक साधारण गर्मी का युग आजाता था,–इसका कारण यह था कि पृथ्वी की धुरी के चक्र में परिवर्तन होते रहते थे–महाद्वीपों की शक्ल बदलती रहती थी–(यह कल्पना बिल्कुल नहीं करनी चाहिये कि करोड़ों वर्षों पूर्व या लाखों वर्ष पूर्व तक हमारे महाद्वीपों की शक्ल वही थी जो आज है)। इन करोड़ों, लाखों वर्षों के काल में कल्पनातीत परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन युगों में अनेक भयंकर भूचाल होते थे–कहीं पहाड़ों की श्रेणियां बनती थीं,–कहीं बिगड़ती थीं। स्थल सम्बन्धी ऐसी वे परिस्थितियाँ थीं, जब 'प्राण' ने जल से थल तक प्रयाण किया। यह प्रयाण भी सहसा नहीं हुआ–बहुत धीरे धीरे यह काम हुआ। ऐसा होने में कई प्राकृतिक कठिनाइयाँ थीं। हम जानते हैं कि हम हवा में श्वास लेने पर ही जीवित हैं। किन्तु स्यात् यह नहीं जानते कि पानी में घुली हुई हवा ही से हम श्वास प्रश्वास ले सकते हैं। अर्थात् हवा में जब तक सील (Moisture) न हो, या हमारे श्वास लेने वाले शरीर के अवयव किसी भी प्रकार हवा में सील नहीं लायें, तब तक श्वास लेना बहुत कठिन है। हमारी यह आदत इसीलिए है कि आखिर हमारे शरीर मूलत: तो उन्हीं प्राणियों के ही तो विकसित रूप हैं जो जलवासी थे —जिनका प्रादुर्भाव जल में ही हुआ था। वे आरंभिक जल-प्राणी पानी में घुली हुई हवा में श्वास लेते थे। अत: ये जलजीव यदि जल के बाहर आते हैं और जल से दूर पृथ्वी पर रहने लगते हैं तो उनके अवयवों में कुछ ऐसा परिवर्तन होना चाहिए जो सूखी हवा अन्दर जाने पर उसको सील दे सकें। प्रकृति की इस आवश्यकता के अनुसार शनैः शनैः ऐसे ही अवयवों का विकास प्राणियों में हुआ। पहिले तो जलजीव अपनी जिल (Gill- साँस लेने का अविकसित अवयव) से पानी में घुली हुई हवा ले लेते थे, पीछे इन अवयवों के ऊपर एक खोल का विकास

हुआ,—फिर कई नालियों का विकास हुआ जो हवा में सील देती रहें,—और इस प्रकार धीरे धीरे जाकर फेफड़ों का विकास हुआ, जिन फेफड़ों की सतह को कई प्रकार के तरल पदार्थ शरीर के अन्दर बनकर गीला करते रहते हैं, जिससे कि फेफड़ों की हवा घुलकर प्राणी के खून में बराबर जाती रहे।

वनस्पति के लिए भूतल तक पहुँचने में भी ऐसी ही कठिनाइयाँ थीं। वे ये कि,—वनस्पति यदि भूतल पर चली जाये तो उसको पानी कहाँ से मिले और वह अपने अवयवों को खड़ा किस आधार पर रखे, जिससे कि धूप जो कि वनस्पतियों के लिए आवश्यक है, उसको खूब मिलती रहे। इन दोनों कठिनाइयों को वनस्पति ने शनैः शनैः पार किया, अपने लिये लकड़ी के से तनहे का विकास करके जो पौधे को खड़ा रखने के लिए सहारा भी देता था, एवं अपने अन्दर पानी का समावेश भी रखता था। ऐसा होने पर तो पानी के अनेक घास पौधे, अनेक प्रकार के जंगी जंगी पेड़ पहिले दलदल भूमि में,—और फिर नीची सतह की भूमि तक फैल गये।

दलदल भूमि और नीचे किनारों की भूमि में पहुँचने के बाद ही जीव-प्राणी भूमि की ओर प्रयाण करते हैं। ज्यों ज्यों अनेक प्रकार के पेड़ पौधे दलदल भूमि की ओर फैले, उनके साथ ही साथ अनेक प्रकार के जानवर,—जलबिच्छु, कनखजूरे जैसे जानवर,—कैंकड़े, रीढ़ की हड्डीवाले अनेक जानवर, और धीरे धीरे मेढक, और फिर रेंगने वाले (Newt) प्रकार के जीव, इत्यादि भी दलदल भूमि में फैल गये। यह बात याद रखनी चाहिये कि उपरोक्त समस्त वनस्पतियाँ एवं जीव-प्राणी अर्द्ध-जलचर किस्म के प्राणी थे,—अर्थात् जल में से चूंकि अभी अभी इनका विकास हुआ था—अभी तक इनमें यह क्षमता या विकास की वह स्थिति नहीं आ पाई थी कि वे जल से बहुत दूर सूखी भूमि, पहाड़ या पठारों इत्यादि पर रह सकें। सत्य है कि वे दलदल भूमि और नीची सतह की भूमि में रहने लग गये थे किन्तु

संतानोत्पत्ति के लिए, अंडे देने के लिए (आजकल के मेंढकों की तरह) सरक कर उन्हें जल में ही जाना पड़ता था। वनस्पतियों को अपनी जड़ें जल में ही फैलानी पड़ती थीं, तब कहीं वे उगती थीं।

यह अनुमान लगाया गया है कि पहिले वनस्पति, पेड़, पौधे ही जल में से चलकर थल तक पहुँचे। थल पर उनके अच्छी तरह से जम जाने के बाद ही जीव-प्राणी थल पर गये। इस युग में अनेक विशाल विशाल पेड़ों और वनस्पतियों का बाहुल्य रहा। उन्हीं के अवशेष कोयले के रूप में अब हमें पृथ्वी के गर्भ में मिलते हैं, इसलिये इस युग को "कार्बन कल्प" का नाम दिया गया है।

३. मध्य जीव युग (Mesozoic Age)

सरीसृप कल्प—इस युग का काल आज से लगभग २० करोड़ वर्ष पूर्व से ८ करोड़ वर्ष पूर्व तक का अनुमानित किया जाता है। इस युग के आगमन के पूर्व भी पृथ्वी की शकल सूरत में, जलवायु में, अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। हजारों वर्ष तक तापमान साधारण रहता था फिर हजारों वर्ष तक पृथ्वी के अनेक भाग ठण्ठी बर्फ से ढके रहते थे। तापमान इत्यादि में भयंकर परिवर्तन चलते ही रहते थे। ऐसा अनुमान है कि इस युग के अन्तिमकाल में अनेक लम्बे अर्से तक ठंड का साम्राज्य रहा। ऐसी ही ठंडी जलवायु का जब साम्राज्य होगा तो कार्बन युग के पृथ्वी के विशाल क्षेत्रों में फैले हुए जंगी पेड़-पौधों का बहुत अंश तक अन्त हो गया होगा, और कालान्तर में शनैः शनैः उनपर मिट्टी पत्थर जमते गये होंगे। और वे ही कालान्तर में खनिज रूप में परिवर्तित होकर पृथ्वी के गर्भ में दब गए। उसी युग के उन पेड़ों को आज हम पत्थर के कोयले की खदानों के रूप में पाते हैं।

परिवर्तन के ऐसे युगों में ही प्राणियों में अनेक प्रकार की क्षमताओं का, शक्तियों का विकास होता है और वे प्राणी परिवर्तित वातावरण के अनुकुल अपने में भी परिवर्तन लाते रहते हैं। शीत-काल के उपरान्त

इस युग में जब पृथ्वी का तापमान साधारण अवस्था में आया, तो अनेक प्रकार के पेड़, अनेक नए प्रकार के जीवों, जानवरों का प्रादुर्भाव हुआ–ऐसे जीवों का जिनको सन्तानोत्पत्ति के लिए अपने अण्डे देने को जल में नहीं जाना पड़ता था,–जिनके अण्डों का पेट में रहते हुए ही जीव-रूप में इतना विकास हो जाता था कि जन्म होते ही सीधा हवा में श्वास ले सकें,–यह आवश्यकता न रहे कि वह हवा उनको पानी में घुलकर मिले। ये प्राणी सरीसृप जाति के जीव थे—जैसे बड़े बड़े सर्प, अजगर, मगरमच्छ, कछुए इत्यादि। इनमें से एक जाति के प्राणी वनस्पति खाते थे, दूसरी जाति के प्राणी मांस। एक अन्य प्रकार के भी प्राणी थे जिन्हें प्लिओसारस्त कहते हैं–ये पूंछ से लेकर मुंह तक ८४-८४ फ़ीट तक विशालकाय जानवर होते थे–इतने विशालकाय कि इस पृथ्वी पर इतने बड़े जानवर पहले कभी भी दिखलाई नहीं दिये थे–और न अब तक भूतल पर रहने वाले इतने बड़े जानवर कभी पैदा हुए। इस जाति के जानवर अब लुप्त हो चुके हैं। ऊपर जिस प्रकार के सरीसृप जानवरों का वर्णन किया है–वे भूमि पर ही रहते थे; उनमें से अनेक समुद्र की ओर लौट आए और वहीं समुद्र में रहने लगे।

एक और अन्य प्रकार के भी प्राणी इस मध्य-जीव-युग में रहते थे–वे सरीसृप, रेंगनेवाले जानवर तो होते थे, किन्तु उनके अगले पैर चमगादड़ की तरह के होते थे, चमगादड़ की तरह के कुछ पंख के समान अवयव भी। ये जानवर कुदकते थे, पेड़ पौधों तक थोड़ा थोड़ा उड़ते थे–जंतुओं को पकड़कर खाने के लिये। रीढ की हड्डी रखते हुए ये पहले प्राणी थे जो बड़े थे। प्राणीशास्त्रज्ञों ने इस जाति के जानवरों को टैरोडेक्टील्स (Pterodactyls) नाम दिया है। किन्तु अब इस जाति के प्राणी भी लुप्त हैं।

जानवरों के साथ ही साथ अनेक प्रकार के पेड़ पौधों का विकास हुआ। अब ये पेड़ पौधे बीज देते थे और विकास की ऐसी स्थिति में थे, कि उनके बीज भूमि पर पड़ने पर, एवं वर्षा द्वारा उचित जल मिलने

पर उत्पन्न हो जाते थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "प्राण" ने इस युग में पहुँचते पहुँचते पर्याप्त विकास कर लिया था ।

४. नवजीव युग

आज से लगभग ८ से ४ करोड़ वर्ष पूर्व इस युग का प्रारम्भ हुआ । करोड़ों वर्षों तक मध्य जीवयुग के सरीसृप प्राणियों का इस सृष्टि में अखण्ड राज्य रहा । प्राकृतिक परिवर्तन जारी थे–पहाड़, झील, नदियों, समुद्रों की शकल एवं स्थितियाँ बदल रही थीं–लाखों वर्षों तक कभी गर्मी पड़ती थी, कभी भयंकर भूगर्भिक उत्पात होते थे, फिर लाखों वर्षों तक भयंकर जाड़ा । ऐसे ही भयंकर परिवर्तनों के समय में हम अपने चट्टानों के लिखित इतिहास में देखते हैं कि सहसा सरीसृप प्रकार के प्राणियों का लोप हो जाता है एवं लाखों वर्षों तक किसी भी प्राणी के अवशेष चिन्ह या फोसिल (Fossils) चट्टानों में नहीं मिलते । सम्भवत: ये लाखों वर्ष भयंकर सर्दी के रहे होंगे और ऐसी परिस्थितियों में विशेष प्राणी पनप नहीं पाये होंगे । जीवित रहने के लिये खूब युद्ध (Struggle) चला होगा, एवं जीव-जातियों को प्रकृति के परिवर्तन के अनुरूप अपने आपको बनाने के लिए साधना करनी पड़ी होगी—इसी सिलसिले में अनेक नई प्रकार की जीव-जातियों का विकास हुआ । जब से नव-जीव युग के प्राणियों के चिन्ह हमें चट्टानों के पृष्ठों में दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उस समय की पृथ्वी की प्राकृतिक दशा का इस प्रकार अनुमान लगाया जाता है कि यही काल था जब हिमालय पर्वत, आल्पस पर्वत, रोकी एवं एण्डीज पर्वत भूगर्भ में से धकोये जाकर ऊपर आ रहे थे, और आज के महाद्वीपों एवं महासागरों की रुपरेखा कुछ कुछ बनने लगी थी ।

[दुनियां की सूरत लगभग ६ करोड़ वर्ष पूर्व जब "नवजीवन युग" प्रारम्भ होता है। धीरे धीरे करोड़ों वर्षों में जाकर दुनियां की वह सूरत बनी जो आज है।]
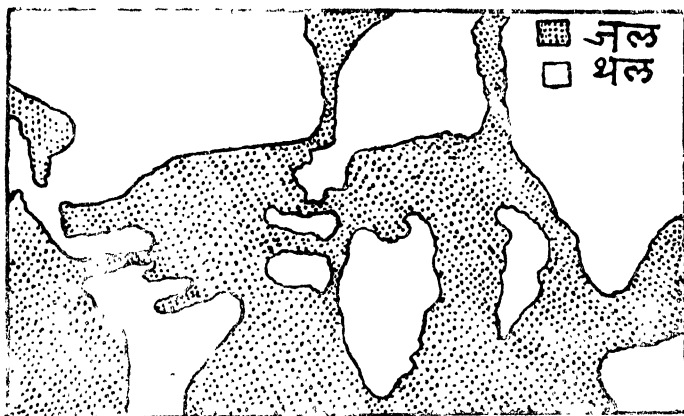
(तुलना कीजिये आज के दुनियां के नक्शे से)

क. जंगलों एवं घास के मैदानों का प्रादुर्भाव होना—उत्तर प्रारम्भिक जीव युग में हम दलदलों में बड़े बड़े पेड़ों का जिक्र कर आए हैं। नव-जीव युग तक आते आते ये पेड़ जमीन पर अनेक स्थलों में फैल गये एवं बड़े बड़े जंगलों का प्रादुर्भाव हुआ—साथ ही साथ इस युग में घास के मैदान बने। इस युग के पहले घास के मैदानों की स्थिति के चिन्ह सर्वथा नहीं मिलते। इसी युग में अनेक प्रकार के पुष्पों वाले पेड़ पौधों का आविर्भाव हुआ और साथ ही हाथ मधुमक्खियों एवं तितलियों का।

ख. पक्षी (उड़ने वाले जानवरों) का आगमन—मध्य जीव युग में हम टैरोडेक्टील्स (Pterodactyls) नामक प्राणियों का-ऐसे प्राणियों का जो कुछ कुदकते थे—एवं कीटों पतंगों को खाने के लिए

कुछ कुछ उड़ते थे, जिक्र कर आये हैं। इन प्राणियों का तो सर्वथा लोप हो गया, किन्तु प्रकृति के परिवर्तनों से परिभूत सरीसृप जाति में से दो शाखाओं का विकास हुआ। एक ने तो सर्दी एवं अन्य जानवरों से अपने बचाव के लिए अपना त्राण इस अवस्था में ढूंढा कि वे किसी प्रकार के पेड़ों एवं पहाड़ों की ऊँचाई तक पहुँच जायें, अतएव शरीर को ढकने के लिए पंख एवं उड़ने के लिए परों का विकास हुआ। इस जाति के प्राणी पक्षी कहयाये। शनैः शनैः छोटे छोटे प्राणियों का आगमन हुआ जिनके शरीरों में पहिले तो एक प्रकार के बड़े पर (Quill) का विकास हुआ, फिर पंख और परों का। आकाश जो अबतक प्राण शून्य था, प्राणों से प्रफुल्लित हो उठा—और अनेक प्रकार की चिड़ियाओं की बोली से गुञ्जरित हो उठा। सरीसृप जाति में से जिस दूसरी शाखा का विकास हुआ वह स्तनधारी जीवों की थी।

ग. स्तनधारी (Mammals) प्राणियों का प्रादुर्भाव—इस युग में स्तनधारी प्राणियों का आगमन ही अबसे अधिक महत्वशाली घटना थी। अब तक तो जितने भी लाखों प्रकार के प्राणी इस सृष्टि में आये थे उनकी यह विशेषता थी कि वे, उनका जन्म होते ही, जन्म देने वाले प्राणियों से पृथक हो जाते थे और व्यक्तिशः अपना जीवन पृथक निर्वाह करने लग जाते थे। जन्म देने वालों को यह भान भी नहीं होता था, उनको यह चेतना भी नहीं होती थी कि उन्होंने अपने ही जैसे प्राणियों को जन्म दिया है। अपने बच्चों से किसी भी प्रकार की संवेदनात्मक, सामाजिक सम्बन्ध की अनुभूति उन्हें नहीं होती थी। अब ऐसे जीवधारियों का आगमन हुआ जिनके बच्चों का गर्भ में ही पूर्णरूपेण विकास हो जाता था, और साथ ही साथ जन्म लेने के बाद भी उन बच्चों को अपने निर्वाह, भोजन के लिए कुछ दिनों तक, महीनों तक अपनी जन्मदात्री पर निर्भर रहना पड़ता था। इस जन्मदात्री के शरीर में स्तनों का विकास हो चुका था—और उसके स्तन वे प्राण-दायक माध्यम

थे जिससे जन्मदात्री एवं उसके बच्चों में एक संवेदनात्मक पारिवारिक-सा सम्बन्ध स्थापित होता था—बच्चे यह महसूस करते थे कि उनके मातायें हैं—मातायें यह महसूस करती थीं कि उनके बच्चे हैं। यह संवेदना केवल मूक संवेदना नहीं होती थी—सर्वप्रथम इन्हीं स्तनधारियों में उस वाणी शक्ति का भी प्रादुर्भाव हुआ—जिससे वे अपना भाव किसी न किसी बोली में, चिल्लाहट में—परस्पर प्रकट कर देते थे। इस चेतना, संवेदना की जागृति के साथ ही साथ मस्तिष्क का भी शनैः शनैः विकास हुआ। नव-जीव युग में मास्तिष्क एवं चेतना का विकास—यही एक बात थी जिससे ये जीव सरीसृप जीवों से बिल्कुल भिन्न जाति के हुए—और उस परम्परा का आरम्भ हुआ जिसमें यह संभव माना जा सकता था कि मानव-प्राणी का भी विकास हो सके। दूसरी विशेषता इस जाति की यह थी कि सर्दी से रक्षा करने के लिए इनके शरीर में बालों का विकास हुआ—सृष्टि में ये सर्वप्रथम बालधारी जीव थे।

ज्यों ज्यों काल बीतता गया, इस युग के प्राणियों में शनैः शनैः विकास होता गया और विकास होते होते फल फूल वनस्पति,—एवं जीव प्राणी इस पृथ्वी पर ऐसे ही दृष्टिगोचर होने लगे जो आज की वनस्पति से, आज के जानवरों से मिलते जुलते थे। आज की दुनियां के घोड़े, ऊँट, हाथी, कुत्ता, चीते, शेर, बघेरे इत्यादि इत्यादि जानवरों के पूर्वज उस युग में दृष्टिगोचर हुए।

स्तनधारी जीवों के अनेक किस्मों के अवशेष चट्टानों में मिलते हैं। कुछ जीवों का विकास एक दिशा की ओर हो रहा था, कुछ का दूसरी दिशा की ओर। कुछ तो घासाहारी चार पैरों वाले जीव अपने शरीर को इसी दिशा में (थलचारिता एवं घास पत्तों पर निर्वाह) पूर्णता की ओर पहुँचा रहे थे, कुछ वापिस समुद्र एवं जल की ओर उन्मुख हो गये थे, एवं कुछ ऐसे प्राणियों का विकास हो रहा था जो पेड़ों में कूदते, फांदते फिरते थे। ये अन्तिम प्रकार के प्राणी ही वे थे जिनको

आज हम बन्दर, लंगूर इत्यादि के नाम से पहिचानते हैं। अनेक प्राणी जो शरीर की पूर्णता की ओर अधिक उन्मुख थे वे हाथी जैसे विशालकाय होगये; जो तेज दौड़ने की कला में विशेषता पाने की ओर उन्मुख होगये वे घोड़ों के समान टांगोंवाले होगये—किन्तु शरीर या किन्हीं विशेष शारीरिक अवयवों की यह पूर्णता हासिल कर लेने पर भी प्रकृति के क्षेत्र में वे लोग पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सके। बुद्धि ही ऐसा कर सकती थी—अतएव कुछ भाग्य-शाली प्राणियों का विकास इस दिशा की ओर विशेष रूप से होने लगा कि उनके मस्तिष्क का अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक विकास हो। ऐसा अनुमान है कि उपर्युक्त प्रारम्भिक प्रकार के बन्दर, लंगूर आदि प्राणियों का आविर्भाव नव-जीव युग के प्रारम्भिक काल में ही—आज से लगभग ४ करोड़ वर्ष पहिले हो चुका था। ऐसी ही बन्दर जाति के प्राणियों में एक ऐसे प्राणी की स्थिति का अनुमान किया जाता है जो कुछ कुछ तो पूंछवाले बन्दर से, कुछ कुछ निपुच्छ बन्दर (Ape) से मिलता जुलता था, जो अपने पिछले पैरों के सहारे जमीन पर खूब दौड़ता था और पेड़ों पर भी बड़ी सरलता से चढ़ता उतरता था, जिसके हाथ बड़े कुशल थे, जो सूखे फलों को जैसे बादाम, अखरोट इत्यादि को पत्थर से तोड़ लेता था और पत्थरों को इधर उधर भी फेंक सकता था,—जिसके मस्तिष्क में "नटखट पन" सूझता रहता था—कल्पना कीजिए ऐसे ही प्राणी अपने पूर्वज थे।

लाखों वर्षों तक शनैः शनैः प्राणी सृष्टि में जब इस प्रकार के परिवर्तन हो रहे थे—इस भूतल पर भी, इसके जल में, थल में, इसके वायुमंडल में, इसके तापमान में, इसकी गति में अनेक प्रकार के उथल पुथल हो रहे थे। प्राण का वसंत एक तो उस समय आया था जब 'प्रारम्भिक जीव युग' में विचित्र विचित्र प्रकार के असंख्य छोटे मोटे जीव जल में अकुलाने लगे थे। प्राण का दूसरा वसंत उस समय आया जब "मध्य जीव-युग" में अनेक प्रकार के सरीसृप इस भूमि पर रेंगने

लगे;—प्राण का तीसरा वसंत उस समय आया जब "नव-जीव" युग में अनेक स्तनधारी जीव जंगलों और पहाड़ों में इधर उधर घूमने फिरने लगे,-रहने लगे—अपने बच्चों के प्रति अपने अन्तर में एक संवेदना लिये हुए। फिर जैसा पूर्व युगों में हुआ था—भयंकर शीतपात हुआ—पृथ्वी के अनेक खंड बर्फ से ढक गये—विशेष क्षमता वाले प्राणी ही अपना जीवन, अपना वंश बना रख पाये। भू-शास्त्रियों ने, एवं जीव-शास्त्रियों ने, इस पृथ्वी पर बार बार जो शीत के आक्रमण होते थे उनकी बड़ी चर्चा की है। वे कहते हैं कि नव-युग के दीर्घकालीन समय में ४ बार हिम प्रकोप हुआ—जिनको वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ हिम-युग के नाम से संबोधित करते है। लाख लाख वर्षों तक स्तनधारी जीवों की, लंगूरों, बंदरों एवं 'मानव-समान' बंदरों की जीव-प्रणाली इस दुनियाँ में चलती रही—फिर आज से लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व प्रथम हिमपात हुआ। बीच बीच में हजारों वर्षों के समशीतोष्ण काल आते रहे,—फिर अंत में आज से केवल ५० हजार वर्ष पूर्व चतुर्थ हिमयुग प्रारम्भ हुआ—बर्फ के तूफान, बर्फ की आँधियाँ, बर्फ की वर्षा ने पृथ्वी को आच्छादित कर दिया-ऐसा काल जब बीत रहा था तब लाखों वर्षों से चलता आता हुआ "नव जीव युग" पदार्पण कर रहा था सृष्टि की उस महत्त्वपूर्ण अवस्था में जब इस धरातल पर "मानव" का प्रादुर्भाव हुआ।

जीव विकास की कहानी का सार

(१) किन उपादानों से और किन रूपों में ?—भूत द्रव्य गतिमय इलेक्ट्रोन प्रोटोन (प्राणु एवं विद्युदणु) के रूप में, भिन्न भिन्न पदार्थ-तत्वों के परमाणु, इनसे तत्त्वों के मोलीक्यूलस (व्यूहाणु), इनसे कारबन कम्पाउण्ड (प्रांगार योग), इससे रासायनिक प्रक्रिया द्वारा प्राण अ-प्राण के बीच की स्थिति वाले पदार्थ जैसे वाइरस, बैक्टेरियाफेज, इनसे जीवाणु, इससे एक जीव-कोष वाले सूक्ष्म प्राणी, इनसे जलचर

अ-रीढ़धारी प्राणी, इनसे रीढ़धारी मत्स्य, इनसे अर्धजलचर प्राणी, इनसे जलचर सरीसृप प्राणी, इनसे स्तनधारी प्राणी, जिन्हीं की एक शाखा मानव-प्राणी हुआ ।
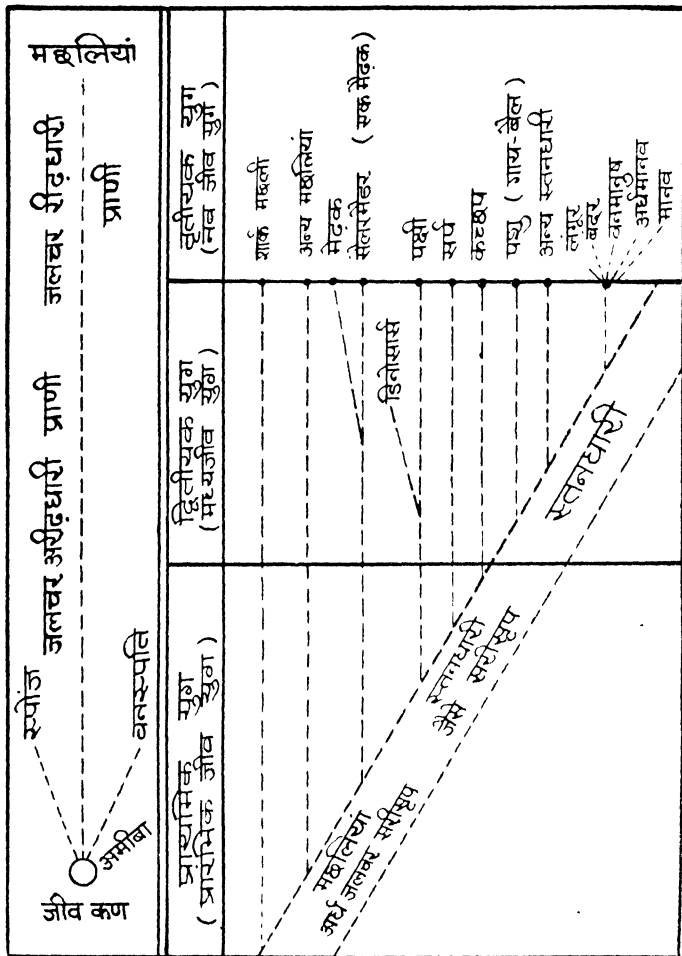
आदि जीव-चिंगारी से प्रारंभिक जीवों के विकास का (अनुमान)

निश्चित रूप से जिन जीवों के पथराये हुए अवशेष पृथ्वी की स्तरीय चट्टानों में मिले हैं, उनके आधार पर जीव-विकास की कहानी।

विकास के ये चरण अपने आप में पूर्ण नहीं हैं, केवल संकेत मात्र हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि ज्यों ज्यों अगले स्तर तक विकास होता गया, पूर्व स्तर की स्थितियाँ सब विलीन नहीं हो गईं। विश्व में छोटे-मोटे, विकसित, अर्ध-विकसित सभी प्रकार के जीवों की स्थिति समानांतर रूप से बनी रहती है।

(२) किस काल क्रम से ?—जीव-विकास क्रम की कहानी पृथ्वी पर चट्टानों के निर्माण की कहानी से गहरी जुड़ी हुई है। नीचे की तालिका में चट्टानीय स्तरों के निर्माण के विभिन्न युग और उन युगों में विकसित होने वाले प्राणियों का कालक्रम से सम्बन्ध दिखलाया गया है:—

जीव–विकास (काल-क्रम)

कल्प		भूगर्भीय कल्प विभाग		आज से लगभग कितने वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ	जीव परम्परा
नव जीव युग (Cainozoic)	चतुर्थक	सर्व नूतन (Holocene)		२० हजार	आधुनिक (मेधावी) मानव की सभ्यता
		प्रतिनूतन (Pleisto-cene)	चतुर्थ हिम युग	५० हजार	आधुनिक (होमोसोपियन) मानव की हलचल
			प्रथम तीन हिम युग	१० लाख	प्राचीन (अर्ध) मानव का आविर्भाव
	तृतीयक	अति नूतन (Pliocene)		१½ करोड़	मानव सम वानर, वनमानुष
		मध्य नूतन (Miocene)		३½ करोड़	बड़े स्तनधारी प्राणी; वानर सम मानव, एप्स
		आदि नूतन (Oligocene)		५ करोड़	स्तनधारी प्राणियों का बाहुल्य, पूर्ववर्ती वानर
		प्रादिनूतन (Eocene)		७ करोड़	स्तनधारी प्राणियों की परम्परा; प्रधान वर्ग प्रारम्भ
मध्य जीव युग (Mesozoic)	द्वितीयक	क्रिटेसियस (Cretaceous)		१२ करोड़	डिनोसार, चिड़ियाँ, फूल,-पौधे, स्तनधारी प्रारम्भ
		जूरैसिक (Jurrasic)		१५ करोड़	सरीसृप, स्थल और जलीय उरंगों का बाहुल्य

	ट्रायसिक (Triassic)	१९ करोड़	भूमि पर रेंगने वाले पशुओं का ह्रास
प्रारम्भिक जीव युग (Paleozoic) प्राथमिक	परमियन (Permian)	२२ करोड़	बड़े अर्ध जलचर (उभयगामी) प्राणियों का उदय
	कारबोनीफरस (Carboniferous)	२८ करोड़	प्रचुर वनस्पति, अर्ध जलचर प्राणियों का आगमन—मेढ़क, टोडपोल
	डैवोनियन (Devonian)	३२ करोड़	मत्स्य कल्प—अनेक रीढ़धारी मछलियाँ
	सिल्यूरियन (Silurian)	३५ करोड़	मूंगा, निरावयव मछली, स्थूल पौधे
	ऑर्डोविसियन (Ordovician)	४० करोड़	समुद्री अपृष्ठ जन्तु, व चूपियां
	कैम्बिन (Cambrian)	५० करोड़	जल वनस्पति, अरीढ़, जन्तुओं का बाहुल्य
		६०-७० करोड़ वर्ष पूर्व	प्राण का उदय
अजीव युग (Eozoic)	पृथ्वी का निर्माण कार्य	१ अरब ७५ करोड़	सब कुछ अप्राण, अचेतन
पृथ्वी की उत्पत्ति		२ अरब वर्ष पूर्व	सब कुछ अप्राण, अचेतन

दूसरा खंड

[आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व से
ई. पू. लगभग ६ हजार वर्ष तक]

मानव का उद्भव

[मानव के प्रारंभिक उद्भव काल से लेकर आधुनिक मेधावी मानव
(Homo sapien) के आगमन और प्रारम्भिक जीवन तक]

स्तनधारी जीव-प्रणाली से मानव का विकास

मानव का उद्भव

(७)

प्रस्तावना—इस पृथ्वी पर मनुष्य सबसे पहले कब उत्पन्न हुआ ? क्या सबसे पहले एक पुरुष स्त्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ और फिर उससे मानव सृष्टि फैली ? या कई स्त्री पुरुष एक साथ उदय हुए ? पृथ्वी का कौनसा वह भाग था जहाँ सबसे पहले मनुष्य की उत्पत्ति हुई ? या कई स्थलों पर एक साथ मनुष्य का उदय हुआ ? इत्यादि, कई ऐसे प्रश्न हैं जो स्वाभाविक रूप से हमारे मन में उठ सकते हैं, जब मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में विचार करने बैठें—यह विचार करने बैठें कि आखिर हमारे आदि माता पिता—पूर्वज कौन थे ?

जिस अध्याय में हम "सृष्टि की उत्पत्ति" पर विवेचन कर आये हैं, उसमें मनुष्य की उत्पत्ति के विषय का, एवं उपरोक्त प्रश्नों का क्या संभावित उत्तर हो सकता है, इसका कुछ तो आभास मिल ही चुका होगा। फिर भी इन प्रश्नों पर यहाँ स्पष्ट विचार किया जायगा, चाहे ऐसा करने में जो कुछ पहिले लिखा जा चुका है उसकी कुछ पुनरावृत्ति करनी पड़े।

विश्व सृष्टि के आदि में "जो कुछ स्थिति",जो कुछ एक वर्णनातीत

परिव्याप्त ज्वलन्त वाष्प-सी वस्तु थी—मानिये वह एक महाज्योति थी। इस महाज्योति में से उद्भूत हुये अनेक नक्षत्रगण। एक नक्षत्र से जो हमारा सूर्य है—उद्भूत हुई यह हमारी पृथ्वी। सूर्य का यह एक खण्ड थी—अतएव थी यह धधकती हुई आग का एक विशाल गोला। करोड़ों वर्षों तक यह पृथ्वी निष्प्राण, शून्य सी पड़ी रही—अनेक प्रकार की घटनायें—अनेक प्रकार के परिवर्तन इस पर हुए—शनैः शनैः यह आग का गोला ठण्डा हुआ,—इस पर समुद्र बने, झीलें एवं नदियाँ बनीं; पहाड़ बने, बर्फ गिरा, आंधियां चलीं;—कल्पना कीजिए कितनी विशाल, कितनी अचिंतनीय ये घटनायें थीं। क्या इन घटनाओं का कुछ अर्थ था ? कौन उस समय वहाँ प्राणयुक्त, मन-एवं चेतनायुक्त जीव था जो उन घटनाओं को देखता और उनका अर्थ लगाता ? मानों ये घटनायें निरर्थकसी, निष्प्रयोजनसी हो रही थीं—उनका कोई द्रष्टा इस पृथ्वी पर नहीं था। फिर आज से करोड़ों वर्ष पहिले, किसी युग में, किसी दिन,—इन अ-प्राण घटनाओं की पृष्ठभूमि पर, निष्प्राण पदार्थ में जागे प्राण। मानों अनन्त अन्धकारमय सृष्टि में ज्वलित हो उठी हों प्रकाश की किरणें—शून्य में जागृत हो उठी हों दो आँखें; एवं भाव-शून्यता में भासित होने लगा हो कुछ अर्थ। किन्तु ये प्राण सर्व प्रथम प्रकट हुए अति सूक्ष्म जीवकोषों में, अति साधारण जीवों में—जिनमें केवल प्राणमात्र थे-अभी चेतना या मन नहीं। जो कुछ हो, जिसका इस पृथ्वी पर कोई द्रष्टा नहीं था ऐसी निष्प्राण, निष्प्रयोजन सृष्टि में आखिर एक प्रणाली तो चल निकली,—ऐसी एक वस्तु तो आविर्भूत हुई जो स्वयं स्पंदित होती थी-जो चलती फिरती थी—जो भोजन खाती थी—जो अपने ही में से अपने जैसे अन्य जीवों का प्रादुर्भाव करके, अपना समय आने पर विलीन हो जाती थी। हम विचार करें तो यह एक कल्पनातीत घटना थी। इन्हीं प्रारम्भिक जीवों के साथ करोड़ों वर्षों तक मानो प्रकृति का प्रयोग चलता रहा। प्रच्छन्न रूप से एक क्रिया चलती रही। अस्थिहीन, रीढ़हीन जीवों में से विकसित हुई मछलियाँ रीढ़युक्त एवं अस्थियुक्त,

फिर बड़े बड़े मगरमच्छ, फिर पृथ्वी पर रेंगनेवाले सर्प एवं अजगर, फिर अनेक पक्षी और फिर पशु, वानर एवं वन-मानुष । जीवों के अनन्त भेद, असंख्य जातियाँ प्रकट हुईं, जिन सब में प्राण अबाधगति से गतिमान था, विकासोन्मुख था, मानो हर घड़ी एक सुन्दर मन्दिर की तलाश में वह था जिसमें सुखद रूप से वह प्रस्थापित हो सके । आखिर घड़ता घड़ाता एक सुन्दर सुखद मन्दिर बना यह मानव-देह, जिसमें प्राण के साथ साथ विकसित हो उठे चेतना या मन । चेतना और मन ! अनन्त काल से व्याप्त वह आदि महाज्योति, असंख्य वर्षों से घूर्णित ये नक्षत्र, सूर्य, गृह और पृथ्वी—सबके सब अपने आदि काल से अचेतन, निस्पृह, गूंगे, मौन । इस जड़भव में जाग उठे प्राण, चेतना, मन । सर्वप्रथम अन्तरिक्ष में गूंज उठी वाणी । मानव-उर स्पंदित हो हँस उठा—रो उठा । "मैं" जागा । मन पूछने लगा "मैं" कौन हूँ ?" इस मानव प्राणी के उद्भव एवं विकास की कहानी कम मनोरंजक नहीं हो सकती ।

मानव के उद्भव के विषय में हिन्दूमत—हिन्दू पौराणिक गाथाओं के अनुसार इस पृथ्वी पर जीव-सृष्टि के विषय में एक कल्पना बनती है—वह यह कि पहले मानव की अपेक्षा बहुत अधूरे विकसित जीव, जैसे:—मत्स्य, फिर उससे अधिक विकसित जीव जैसे वाराह, और फिर नृसिंह (अर्धमानव) और अन्त में वामन (प्रारम्भिक मानव) उद्भूत हुआ । यह कल्पना विकासवाद के आधुनिक सिद्धान्त से मिलती जुलती है किन्तु एक तात्विक भेद है ।

हिन्दू मान्यता है* कि पृथ्वी की अद्भुत उर्वरा शक्ति में से अनेक प्रकार की जीव-जातियां उपयुक्त वातावरण उपस्थित होने पर स्वयं स्फूर्त होती रहती हैं, पृथक पृथक अपनी विशेषता और स्वतन्त्र सत्ता के साथ (स्वयं-प्रगटीकरण का सिद्धान्त); ऐसा नहीं होता कि एक जीव जाति किसी पूर्व-स्थित जीव-जाति में से ही विकसित हो । यह हिन्दू मान्यता

***देखिये—महर्षि दयानन्द : "सत्यार्थ प्रकाश"**

नहीं कि मनुष्य जाति वानर जीव-जाति में से उद्भूत होकर विकसित हुई। पाश्चात्य विकासवाद को तो यह बात मान्य है कि आदि मानव (Original man) किसी बन्दर-सम प्राणी की कोख में से निकला, और फिर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा धीरे धीरे उन्नत एवं विकसित होता गया। यह बन्दरसम प्राणी जिसकी कोख में से मानव निकला, किसी अन्य इतर जीव जाति की कोख में से निकला था, इस प्रकार यह शृंखला आदि निम्नतर प्राणियों तक, प्रारम्भिक एक जीव-कोष (Single cell) वाले प्राणियों तक, चली जाती है। किन्तु हिन्दूमत की मान्यता यह है कि सृष्टि में जितनी भी जातियों के जीव पैदा हुए, उनमें से प्रत्येक जाति के आदि-प्राणी तो स्वतः ही सीधे प्रकृति के तत्वों में से उद्भूत हुए, और फिर उस प्रत्येक जाति के आदि-प्राणी की योनि में से उस जाति के जीवों की परम्परा चली। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अधिक पूर्ण एवं विकास-युक्त जीव, अपेक्षाकृत कम पूर्ण या कम विकासयुक्त जीव के पहले सृष्टि में अवतरित हुआ हो। प्रकृति के आदि तत्वों में से पहले तो सरल, कम विकसित जीव उत्पन्न हुए—फिर सीधे प्रकृति के तत्वों में से ही,—पूर्वज जाति के जीवों में से नहीं,—अधिक विकसित जीव और इस प्रकार फिर अन्त में पूर्णतः विकसित जीव-मानव। इस प्रकार हिन्दू मान्यता के अनुसार मानव अवतरित तो बन्दर या बन्दर-सम किसी जीव की उत्पत्ति के पश्चात हुआ—किन्तु यह नहीं कि वह बन्दर या बन्दर सम किसी प्राणी की कोख में से विकसित हुआ हो।

मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त हिन्दू मत केवल प्राचीन शास्त्रों पर आधारित है—उसका आधार आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं। फिर भी यह जान लेना उचित है कि कुछ वर्षों पूर्व तक अनेक प्राणी-शास्त्र-वेत्ताओं के जीवों की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार बिल्कुल उपर्युक्त हिन्दू विचार के ही समान थे। इन प्राणी-शास्त्रियों का एक सिद्धान्त था जिसे शास्त्रीय भाषा में "स्वप्रगटीकरण का सिद्धान्त"

(Theory of Spontaneous Generation) कहते हैं। इस सिद्धान्त का आशय यही है कि इस पृथ्वी पर अनेक जातियों के जीव पैदा हुए, उन जातियों के आदि प्राणी किसी पूर्वज जाति के जीवों में से विकसित न होकर, सीधे प्रकृति के तत्वों में से ही उद्भूत हुए। यह बात उपर्युक्त हिन्दू-मत से मिलती है। इस सिद्धान्त का सबसे जबरदस्त पोषक आधार यही था कि जीवों के विकास की तारतम्यता(Continuity) में, जीवों के विकास की शृंखला में अनेक कड़ियाँ लुप्त थीं—अब भी नहीं मिल रही है—और इसीलिए यह मान लिया गया कि भिन्न भिन्न जीव-जातियां अपने उत्पत्ति काल में पृथक पृथक स्वतः ही प्रकृति में से उद्भूत होती हैं, उनका परस्पर शृंखला बद्ध कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु पिछले वर्षों में अनेक ऐसे सबूत मिले हैं, जिनके आधार पर विकास की शृंखला में अनेक कड़ियाँ अज्ञात होते हुए भी प्रायः सभी प्राणी-शास्त्र वेत्ताओं में स्वप्रगटीकरण का सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है और यह बात अब सबने स्वीकार करली है कि सब जीव जातियाँ एक दूसरे से मूलभूत रूप से (Organically) सम्बन्धित हैं—एक दूसरे से विकसित हुई हैं,—अपेचीदा जीव से पेचीदा (Complex) जीव, और इस प्रकार होते होते अन्त में मानव।

वैज्ञानिक मत—अब इस आधुनिक "विकासवाद" के वैज्ञानिक मत के अनुसार देखना है कि मनुष्य की उत्पत्ति किस पूर्वज से, कैसे और कब हुई ?—और उसका विकास किस प्रकार हुआ ? इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य के उत्पत्ति काल एवं उसके पूर्वज के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों एवं जीव-शास्त्रियों ने करोड़ों वर्ष पुरानी चट्टानों की भिन्न स्तरों में,एवं गुफाओं इत्यादि में प्राप्त पथराई हुई विभिन्न जीवों की हड्डियों, मानव हड्डियों (फोसिल), पत्थर के औजारों इत्यादि के रूप में जो सामग्री मिली है—उसी के आधार पर अपने अनुमान लगाये हैं। ये अभी केवल अनुमान ही हैं, अभी तक पूर्णतया सिद्ध तथ्य नहीं। इस सम्बन्ध में अभी तक विशेषतया केवल यूरोप की चट्टानों एवं गुफाओं

और उनमें प्राप्त अस्थियों और औजारों का ही कुछ संतोषजनक अनुसंधान हुआ है, और यह अनुसंधान कार्य केवल पिछले १००–१२५ वर्षों का ही है। एशिया और अफ्रीका के विशाल भूखंड अभी प्रायः अनन्वेषित ही हैं, और यह बात असम्भव नहीं कि इन स्थलों का वैज्ञानिक रूप से अनुसंधान होने पर कई अप्रत्याशित परिणाम निकलें और मनुष्य का उत्पत्ति-काल हजारों वर्ष, सम्भव है लाखों वर्ष अपेक्षाकृत और पुराना सिद्ध हो जाय, एवं उसके विकास और सभ्यता में अनेक नई बातें उद्घाटित हों।

विभिन्न जीव जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक की ज्ञातव्य बातों के आधार पर जो अनुमान लगाया गया है, उस पर पूर्व अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। अनुमानतः ५० करोड़ वर्षों से भी अधिक पहिले प्रकृति में इस पृथ्वी पर जिस "प्राण" (Life) का उदय हो चुका था, जो धीरे धीरे विकासमान असंख्य नाना रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ चला जा रहा था—वह करोड़ों वर्षों के परीक्षण, परिश्रम, प्राकृतिक निर्वाचन के बाद "नवजीव युग" काल में इतने एक उच्च विकासमान जीवधारी के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था जो विकास की एक और सीढ़ी तय कर चुकने पर "मनुष्य" बनता है। मनुष्य का निकटतम पूर्वज यह कौन और कैसा जीवधारी था ?

मानव के निकटतम पूर्वज—स्तनधारी प्राणियों की प्रणाली में एक वर्ग कीटभोजी जीव-जाति (प्राचीन जंगली चूहे, छुछुंदर, छुछुंदरी आदि) का था। इसी में से एक शाखा निकली उस वर्ग के प्राणियों की जिसे जीव-शास्त्रियों ने प्रधानवर्ग नाम दिया है। प्रधानवर्ग प्राणियों की परंपरा में लैमूर, बन्दर, लंगूर, मानवसम वानर, एवं वानरसम मानव इत्यादि आते हैं। इस वर्ग का नाम प्रधान वर्ग इसीलिये पड़ा कि इसी वर्ग की प्रणाली में से अंत में मानव का विकास हुआ था। प्रधानवर्ग की एक शाखा में लैमूर जानवर का विकास हुआ (मध्यजीवयुग के अन्तिम वर्षों में); दूसरी शाखा में टर्शियस जानवर का (प्रादिनूतन युग में); तीसरी

एवं चौथी प्रशाखाओं में नई एवं पुरानी दुनियां के वानर विकसित होकर उद्भूत हुए (प्रादिनूतन एवं आदिनूतन युगों में) । आगे चलकर इसी वर्ग में से एक दूसरी प्रशाखा के प्राणियों का विकास हुआ जिन्हें ऐप्स (विपुच्छ कपि) कहा जाता है । इनका विकास आदि नूतन काल में (आज से लगभग ३-४ करोड़ वर्ष पहले) हो चुका था । ऐप्स में मानवसम वानरों या वानरसम मानवों की गिनती होती है । इन प्राणियों को जीव-शास्त्रीय दृष्टि से वानर के निकट अधिक मानने की अपेक्षा मानव के निकट मानना अधिक उचित है । इनको वानरजाति का प्राणी तो यों मान सकते हैं कि इनके चार पैर थे, सिर छोटा था और शरीर पर घने बाल थे। इनका जबड़ा आगे की ओर निकला हुआ था, मनुष्यों की तरह मस्तिष्क की सीध में नहीं और न उतना छोटा और सिकुड़ा हुआ,इनकी भुजायें भी टाँग-सी ही मालूम होती थीं । इनको मानव प्रणाली में इसलिये मान सकते हैं कि इनके दो अगले पैर छोटे थे और पिछले पैर बड़े । पिछले पैरों के सहारे ये खड़े हो जाते थे और आदमी की तरह चल फिर लेते थे । कमर आदमी की तरह प्रायः सीधी होती थी । यह प्राणी पेड़ों पर कूदने फाँदने वाला नहीं बल्कि यों कहिये एक विपुच्छ कपि था जो नवजीव युग में (जिसका प्रारम्भ आज से लगभग ६–७ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ) पृथ्वी पर विचरता था, कन्दराओं और गुफाओं में इधर-उधर छिपता फिरता था, एवं फल-मूल आदि तोड़ने के लिये पत्थरों का भी प्रयोग करता था । समस्त तृतीयक युग में इन्हीं ऐप्स का बाहुल्य रहा । इस प्रशाखा की एक उपशाखा में तो निकले मानव सम दो प्राणी यथा, गिब्बन (आदिनूतन युग के अन्तिम वर्षों में) और ओरांग (मध्यनूतन युग के प्रारम्भ में) । ये प्राणी आजतक मलाया, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा आदि प्रदेशों के जंगलों में मिलते हैं; ये मानव के समान कम किन्तु वानर के समान अधिक दिखते हैं । ऐप्स की दूसरी उपशाखा में विकसित हुए चिम्पैंजी और गुरिल्ला नाम के प्राणी (मध्य नूतन युग में)

जो देखने में और शारीरिक घड़न में वानर की अपेक्षा मानव के अधिक निकट हैं। ये आज भी अफ्रीका के विषुवत रेखीय प्रदेशों के जंगलों में मिलते हैं; इनको देखकर आदमी डर जाते हैं। मध्यनूतन युग में ही इस

गिब्बन ओरंगटान

शिपांजी गोरिल्ला

वर्ग के शिव-वानर का नाम भी उल्लेखनीय है जिसकी उत्पत्ति भारत में हुई थी, यूरोप और अफ्रीका की वानर-जातियों की तरह। भारत में एक और वानर-जाति का भी अवतार हुआ जिसे राम-वानर नाम दिया गया है और जो कई जीव-शास्त्रियों की राय में एक दृष्टि से मानव का निकटतम पूर्वज माना जाता है।

गिब्बन, ओराग, चिम्पैंजी, और गुरिल्ला—इनमें किसी एक से भी विकसित होकर नहीं किन्तु प्राचीन काल से चले आते हुए प्रधान वर्ग की ही किसी एक शाखा में ऐसे प्राणियों का विकास हुआ जिन्हें हम

सचमुच मानव कह सकते हैं यद्यपि अभी पूर्ण मानव या आधुनिक मानव या हम-आप जैसे मेधावी मानव नहीं। इनको हम, विषय को स्पष्ट रखने के लिए, अर्ध मानव की संज्ञा देंगे। ऐसा अनुमान है कि अर्ध मानव की परम्परा शायद हिमयुग के प्रारम्भ में ही चल पड़ी थी। आज से चाहे दस लाख वर्ष पूर्व के न सही जब हिमयुग प्रारम्भ हुआ था किन्तु प्रायः ६ लाख वर्ष पूर्व के पत्थर एवं चकमच के बेढंगी रीति से घड़े कुछ औजार हमें मिलते हैं। ये औजार उक्त अर्ध मानवों के ही थे। इन प्राचीन मनुष्यों के अस्थि-पिंजरों के अवशेष भी विभिन्न स्थानों में मिले हैं जिनका अध्ययन करके विद्वानों ने अर्ध मानव के अस्तित्व का, उसकी चहल-पहल और जीवन का एक इतिहास-सा खड़ा कर दिया है, जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

●

(८)

अर्द्ध-मानव प्राणी

(Ancient Man)

[प्राचीन पाषाण-युग–पूर्वार्द्ध]

(आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व से
५० हजार वर्ष पूर्व तक)

(१) सबसे पुराना मानव (द्विपद) अवशेष सन् १८९१ ई० में जावा द्वीप में सोलो नदी के तट पर बसे हुए ट्रिनिल नगर के पास डॉ० वॉन कूनिग्ज वौल्ड को मिला। इस मानवीय जीव का नाम प्रोफेसर डूबोय्स (Dubois) ने पिथैकन्थ्रोपस (Pithecanthropus or Erect Ape Man) रखा। यह मनुष्य की तरह खड़ा हो सकता

था तथा इसकी हड्डियाँ भी मनुष्य से मिलती जुलती थीं किन्तु अपने मस्तिष्क की बनावट और विस्तार में वह आधुनिक मानव-प्राणी से बहुत पीछे था। इस मानवीय वानर की ये हड्डियाँ (एक अधूरी खोपड़ी, नीचे का जबड़ा और कुछ दाँत) ४५ फुट मोटी चट्टानों की तह में पाई गई थीं। इनके साथ बीस तरह के स्तनपोषित जीव जैसे महागज (Mammoth), बड़े बाल वाला गैंडा, भारी डील वाला दरियाई घोड़ा, कटार जैसे दांत वाला चीता, बारहसींघा आदि की हड्डियाँ भी पाई गईं। जिन चट्टानों और प्रस्तर-विकल्पों में ये अवशेष मिले उनकी आयु विद्वानों ने ५ से १० लाख वर्ष तक कूंती है। अतः जावा मनुष्य (Java Man) पृथ्वी पर १० लाख वर्ष पूर्व विचरण करता था।[1]

(२) उप-मनुष्य की दूसरी सबसे पुरानी जाति के अवशेष सन् १९२७ ई० में डा० एन्डरसन को वर्तमान चीन की राजधानी पेकिंग नगर के निकट पाये गये। इन अवशेषों में कुछ दाँत, कुछ खोपड़ी और जबड़े की हड्डियां मिलीं। इस मानव का नाम 'पेकिंग का मनुष्य' (Peking Man) अथवा साइनैन्थ्रोपस(Sinanthropus) रखा गया। ये सब प्रस्तर विकल्प ११० फीट की गहराई में बहुत से लुप्त पक्षी, हिरन, गैंडा और लकड़बग्घों की हड्डियों के साथ चट्टानों की पर्तों में पाये गए थे जो तृतीय महायुग के सबसे पहले युग की मानी जाती हैं। इनकी आयु ५ से ७॥ लाख वर्ष की कूंती गई है। इस मानव के कुछ लक्षण न तो जावा के वानर-मनुष्य से ही मिलते हैं और न इंगलैंड और जर्मनी में पाए जाने वाले मनुष्य से। इसमें कुछ लक्षण एक उप-जाति के से हैं, कुछ दूसरी के से और कुछ आधुनिक मनुष्य जैसे। कदाचित ये सब जातियां इसी भांति की एक ही जाति से उत्पन्न हुई हों। इसके आविष्कार के बारे में सर आर्थर कीथ का कहना है कि "मनुष्य के आदिम इतिहास के उद्घाटन में इसकी प्राप्ति बहुत महत्व-

---

१. जावा में पाए गए अवशेष भाग हॉलैंड के हार्लेमनगर के टाइलर अजायबघर में सुरक्षित हैं।

पूर्ण घटना है।"[2]

(३) दक्षिणी इंगलैंड के पिल्टडाउन नगर में डा० चार्ल्स आदि को सन १९१२ ई० में मानव अवशेष—खोपड़ी का एक भाग, दाहिना जबड़ा और नाक की हड्डी—मिला। ये हड्डियां एक नए उप-मानव की समझी जाती हैं जिसे इओएन्थ्रोपस डॉसोनाई (Eoanthropus Dawsoni) रखा गया है। इस जीव में मनुष्य और वानरों के लक्षण मिले हुए पाए जाते हैं। श्री थोम्सन के मतानुसार उसका मस्तिष्क तो आदमियों की तरह था किन्तु उसके जबड़े चिम्पैंजी से मिलते जुलते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह खड़ा होकर चल फिर भी सकता था। उसी तह में जहाँ ये प्रस्तर-विकल्प मिले हैं, चकमक पत्थर के कुछ हथियार भी मिले हैं जिनसे पता चलता है कि इस जीव के हाथ अन्य काम करने के लिए स्वतन्त्र रहे होंगे। यह पिल्टडाउन मानव (Piltdown Man) आधुनिक मनुष्य के निकट पहुँच रहा था। पृथ्वी की जिस तह में ये अवशेष मिले हैं वह पृथ्वी के धरातल से केवल ४ फुट नीचे थी। साधारण तौर पर ये वस्तुएं कुछ विद्वानों के मतानुसार प्लायस्टोसीन काल के आरम्भ की और कुछ के अनुसार अन्तिम प्लायोसीन काल की हैं। इससे यह विदित होता है कि चीन और इंगलैंड में पाये गए दोनों उपमनुष्य एक ही समय में जीवित रहे होंगे और जावा में पाये हुए मानवीय-नर कुछ समय बाद के होंगे। इंगलैंड में पाये जाने वाले इन मानवों का अस्तित्व ३ लाख वर्ष पूर्व के होने का माना जाता है।[3]

---

२. इन प्रस्तरों का संग्रह पेकिंग के यूनियन मेडिकल कालेज इंस्टीट्यूट में रखा है।

३. पिल्टडाउन में मिले हुए अवशेष दक्षिणी केनिंगस्टन के प्राकृतिक इतिहास के अजायबघर में रखे हुए हैं। पिल्टडाउन (उप : मानव) के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाये गए थे वे नवीनतम खोज के आधार पर गलत सिद्ध हुए हैं।

(४) जर्मनी के हाइडलबर्ग नामक स्थान से लगभग ६ मील की दूरी पर नदी की घाटी के धरातल के ७९ फीट नीचे सन् १९०७ ई० में ओटो शूटैन्सक महोदय को एक मानव अवशेष–निचला जबड़ा और दांत–मिला। उसके दांत बिल्कुल मनुष्यों जैसे किन्तु जबड़े मनुष्य और वन-मानुष के बीच के हैं। इस मानव को पैलियेनथ्रोपस (Palaeon-tropus) या हाइडलबर्ग मानव (Hiedelburg man) कहते हैं। ये अवशेष बालू के एक ढेर में ८२ फुट की गहराई में दबे हुए पाये गये; इनके साथ गैंडे, हाथी, बिसन, मैमथ, आदि अन्य जीवों की हड्डियां भी पाई गई हैं। इनसे यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य प्लायोस्टोसीन युग के आरम्भ में पृथ्वी पर मौजूद रहा होगा। इसकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष कूंती जाती है।

(५) जर्मनी में पहले पहल १८५६ ई० में डुस्सलडर्फ के निकट निएनडर्थल में कुछ मानव अवशेष मिले अतः उसका नाम निएनडर्थल मानव (Neanderthal man) रखा गया। इस मानव के शरीर-अवशेष यूरोप के और भागों में भी मिले हैं; यह कद में छोटा (५"३") किन्तु शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। चलने में उसका कंधा कुछ झुका हुआ रहता था और शक्ल सूरत में पाशविक भयानकता ज्यादा थी। यह मानव हड्डी, हाथीदांत, पत्थर और लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र बनाना और आग का व्यवहार करना जानता था। संभवतः ये निरामिषभोजी थे। अपने शवों को श्रद्धा सहित मिट्टी में गाड़ देते थे। विश्वास किया जाता है कि तुषार-युग की शीत सहन न कर सकने तथा कंद मूल फल की कमी के कारण ये युगों तक भूमंडल का पर्यटन करके अंत में बिना संतान छोड़े ही पृथ्वी से विलुप्त हो गये। इस मानव की आयु २५ से ५० हजार वर्ष तक की कूंती जाती है।

(६) सन् १९२१ ई० में अफ्रीका में ब्रोकनहिल नामक स्थान पर एक प्राणी की खोपड़ी की हड्डियों के अवशेष मिले। यह प्राणी नींडरथल अर्द्ध-मानव एवं पूर्ण विकसित वास्तविक मानव के बीच की कड़ी सा

मालूम देता है क्योंकि वह वास्तविक मानव के अधिक निकट था। इस मानव को पिरैन्थ्रोपस (Peranthropus) या रोडेशियन-मानुष कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह अनुमान होता है कि इस पृथ्वी पर ६ लाख और संभव है उससे भी कहीं अधिक वर्ष पूर्व से लेकर ५० हजार वर्ष तक कुछ प्रकार के अर्द्ध-मानव प्राणी इस पृथ्वी पर रहते थे जो मामूली बने पत्थर के औजारों का प्रयोग अपने कामों में करते थे। इसीलिए लगभग १० लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक के इस काल को प्राचीन पाषाण-युग (Old Stone Age) कहते हैं।

ये अर्द्धमानव पृथ्वी के किन किन भागों में रहते थे ? क्या खाते पीते थे ? क्या पहिनते थे ? क्या बोलते थे ? इसकी कल्पना कीजिए।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह अर्द्ध मानव तत्कालीन दुनियां में बहुत ही कम संख्या में किन्तु प्रायः सभी जगहों पर फैला हुआ था। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, मध्य और पूर्वीय यूरोप, अफ्रीका, दक्षिणी भारत, चीन और जावा में तो इसके अवशेष मिले ही हैं।

रहन सहन—अर्धमानव, वस्तुतः जंगली जानवर ही था। वह अन्य जानवरों की तरह ही बिल्कुल नग्न इधर उधर खुले में रहा करता था, घूमा-फिरा करता था। इस प्राणी का सिर मोटी हड्डियों का बना होता था अतएव मस्तिष्क धारण करने के लिए सिर में स्थान कम होता था। विशेषकर सिर का अगला भाग जिसे माथा कहते हैं और जिसमें विचार, वाणी एवं स्मरण शक्ति का स्थान है, वह तो आज के मानव के माथे से अपेक्षाकृत बहुत ही कम विकसित था और सिर का पिछला भाग जो स्पर्श, दृष्टि एवं शारीरिक शक्ति से सम्बन्धित हैं, वह अधिक विकसित। इस आदमी के बड़े बड़े नाखून होते होंगे और शरीर पर बड़े बड़े बाल। वह जंगली जानवरों से बहुत डरता था। रींछ,शेर,चीता आदि बड़े बड़े जानवर तो उसे अपना शिकार ही बना लेते थे। जंगली गाय,

भैंस, घोड़ा आदि भी उसे अनेक बार मार डालते थे। इन जानवरों का मुकाबला करने के लिये उसका पहला काम मिट्टी या पत्थर का डला या लकड़ी की छड़ी उठाना था। यही उसका पहिला शस्त्र था। अन्य जानवरों की अपेक्षा उसके शरीर की बनावट ऐसी थी कि अंगूठे और उंगलियों का प्रयोग इस प्रकार कर सके। फिर उसमें चतुराई, चालाकी, साहस का उदय हुआ। शनैः शनैः फिर तो पत्थर, चकमक इत्यादि के हथियार बनने लगे होंगे। अर्द्ध-मानव की इस दशा को जंगली अवस्था ही कह सकते हैं। चेतना, मन, समझ का अधिक विकास अभी तक उसमें नहीं हो पाया था।

ये अर्द्ध मानव-पहिले तो यों ही इधर उधर घूमा फिरा करते होंगे। फिर इन लोगों ने खुले में ही किसी पानी वाले स्थल के निकट (झील, नदी, तालाब के निकट) अपना वास करना आरंभ किया। आग के प्रयोग से इनका परिचय होगया होगा—अतएव खुले में ही अपने बैठने, रहने सोने की जगह के चारों ओर रात्रि को तो आग जला लेते होंगे जिससे जंगली जानवरों को वे दूर रख सकें, दिन में ये लोग आग को राख के नीचे दबाकर रख देते होंगे। बार बार आग को जलाना इन लोगों के लिए कठिन होता होगा। चकमक पत्थरों की रगड़ से, या पत्थर और किसी धातु के टुकड़े की रगड़ से सूखे पत्तों द्वारा ये आग जलाया करते होंगे।

कुछ थोड़े से लोगों का एक छोटा सा समूह एक साथ रहता था। बुड्ढा आदमी जो समूह का पिता होता था वही समूह का मालिक होता था। समूह के सब युवा, स्त्री, बच्चे उससे डरते थे। वह तो बैठा-बैठा पत्थर, चकमक पत्थर तथा हड्डियों के औजार बनाया करता था और उनको तेज किया करता था—बच्चे उसका अनुकरण किया करते थे— स्त्रियाँ जलाने के लिये ईन्धन, एवं औजारों के लिये पत्थर, चकमक बीन कर लाया करती थीं, दिन में युवा लोग भोजन, शिकार की तलाश में निकल जाते थे। बुड्ढा युवाओं को स्त्रियों से स्यात् नहीं मिलने देता था।

बुड्ढा युवाओं को समूह से बाहर कर देता था या मार भी दिया करता था। अवसर आने पर स्त्रियां और युवा लोग भाग जाया करते थे।

जानवरों की खाल से अपने शरीर को ये ढकने लग गये थे। खाल को धोकर, साफ करके एवं सुखाकर काम में लेते थे। स्त्रियां कुछ विशेष प्रकार के खाल के कपड़े बनाकर पहिना करती होंगी। अपने पत्थर एवं चकमक के औजारों से (जैसे छुरा, बर्छी) जानवरों का शिकार किया करते थे—लकड़ी के बल्लम इत्यादि भी प्रयोग में आते थे। बड़े बड़े जानवर जैसे शेर, रींछ इत्यादि का शिकार स्यात् नहीं होता था। खरगोश, लोमड़ी इत्यादि का शिकार करते होंगे। शेर इत्यादि जैसे बड़े जानवर को तो कभी बीमार पाते होंगे या अन्य किसी मुश्किल में पाते होंगे तभी उनका शिकार करते होंगे। ये लोग उनका कच्चा ही माँस खा लेते थे। ये लोग माँसाहारी एवं फलाहारी भी थे—अनेक प्रकार के सूखे फल जैसे अखरोट, गिरियाँ, जंगली मधुमक्खियों का शहद इनको अवश्य मिलते थे। पालतू जानवरों से, खेतों से अभी सर्वथा अपरिचित थे। ये अपने मुर्दों को दफ़नाया करते थे।

इस प्रकार ये अर्द्ध-मानव बसते और रहा करते होंगे। उपरोक्त रहन सहन का चित्र तो विशेषज्ञों द्वारा अनुमानित एक चित्र है, जो कुछ प्राप्त सामग्री (Evidence) के आधार पर तैयार किया गया है। किन्तु हम लोग भी कल्पना कर सकते हैं कि वह अर्द्ध मानव कैसे रहा करता होगा—हम लोगों से लगभग कई लाख, अनेक हजार वर्ष पूर्व। फिर सोचिये—दो अरब वर्ष पुरानी यह पृथ्वी, उसमें १॥ अरब वर्ष तो जल, थल, पहाड़, नदी, झील, बन इत्यादि बनने में ही लग गये,—फिर कहीं प्राण जागे;—और फिर ५० करोड़ वर्ष लगे उस 'प्राण' को मानव रूप में अवतरित होने में। इतने विशाल काल-मान में केवल १० लाख वर्ष पूर्व ही तो मानव अवतरित हुआ और वह भी अभी केवल अर्द्ध मानव। इस अर्द्ध-मानव के अवशेष मिलते रहे ५-६ लाख वर्ष से ५० हजार वर्ष पूर्व तक। और फिर कहीं जाकर आज से अनुमानतः ५०

हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर दिखलाई दिये वे मानव जो हम आप जैसे ही मानव थे, जो पूर्ण मानव प्राणी थे।

•

(९)

वास्तविक मानव-प्राणी

[Homo Sapien : मेधावी मानव]

(प्राचीन पाषाण युग--उत्तर भाग; लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व से १५ हजार वर्ष पूर्व तक)

तो यह वास्तविक मानव जिसे प्राणी-शास्त्रियों ने मेधावी मानव (Homo Sapien) नाम दिया है कैसे पृथ्वी पर अवतरित हुआ ? संक्षेप में यों कहें—

आदिनूतन युग में स्तनधारी कीटभोजी जीव-जाति में से वानर का विकास हुआ। यह सपुच्छ कपि था। इस सपुच्छ कपि में से एक शाखा विपुच्छ कपि (Ape) की उद्भावित हुई। अभी तक आदमी का कोई चिन्ह, कोई आभास भी नहीं था। ये विपुच्छ कपि पहले तो शरीर में छोटे थे किन्तु मध्य नूतन युग के आते आते (आज से लगभग ३ करोड़ वर्ष पूर्व) ये बड़े हो जाते हैं और संख्या में भी खूब अधिक। मध्य नूतन युग में ही इन विपुच्छ वानरों में से कुछ पेड़ पर रहना छोड़ देते हैं, वे भूमि पर विचरने लगते हैं। इनमें विकास की एक अद्भुत शक्ति मालूम होती है—एक अद्भुत जीवन। विकास पाते पाते इनकी एक उपशाखा तो रूप धारण कर लेती है चिम्पैंजी और गोरिल्ला का; दूसरी एक उपशाखा अर्द्ध (प्राचीन) मानव रूप में विकसित होती है; और एक

तीसरी ही स्वतंत्र उपशाखा, जीवशास्त्रियों ने ऐसा अनुमान लगाया है, विकास पाकर वास्तविक मानव रूप में अवतरित होती है। ऐसा अनुमान है कि हिमयुग के मध्यकाल तक न शायद केवल अर्द्ध मानव किन्तु वास्तविक मानव भी इस पृथ्वी पर अवतरित हो चुका था। उसकी विशेष हलचल के प्रमाण तो हमें आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व से मिलने लगते हैं। उस समय की दुनियां की जरा कल्पना तो कीजिए।

आज से ५० हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी की वह शक्ल नहीं थी जो आज है। सम्पूर्ण उत्तरीय यूरोप एवं एशिया हिम से ढका हुआ था। जहां आज सिन्ध, संयुक्त प्रान्त, बिहार और बंगाल है वहां छिछला-सा समुद्र लहलहा रहा था। जहां आज भूमध्य सागर है वहां अनेक भाग स्थल के थे इत्यादि। देखिए मानचित्र।
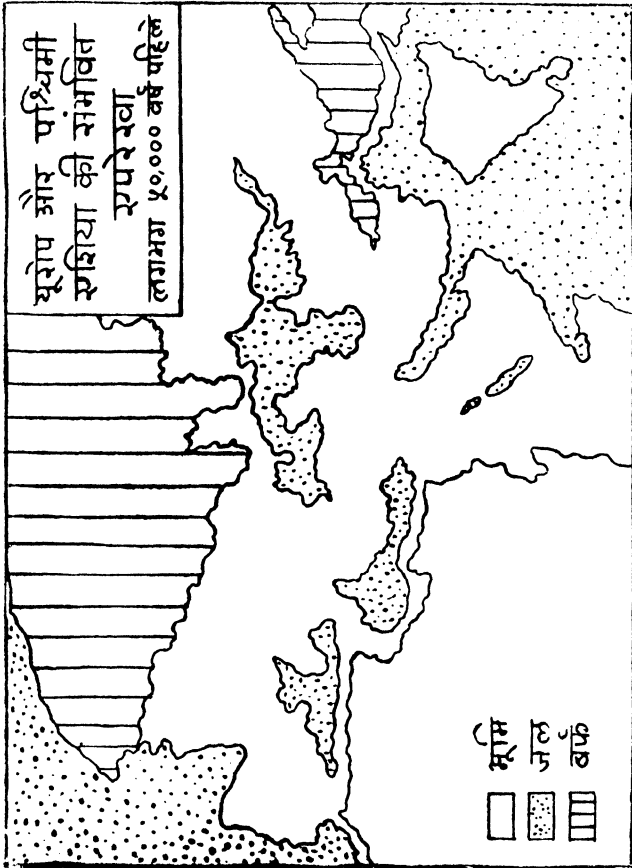
तुलना कीजिये आज की रूपरेखा से

इस पृथ्वी पर उस काल में अनेक प्रकार के विशालकाय जानवर; हाथी, गेंडे, महागज (Mammoth) और तलवार जैसे दांतों वाले शेर मैदानों, जंगलों, और कंदराओं में इधर उधर घूमा करते थे ऐसी वह पृष्ठ भूमि थी जिसमें वास्तविक मानव का उदय हुआ। तो वास्तविक मानव-प्राणी आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आया। तभी से मानव-जति का इतिहास प्रारम्भ होता है। इस वास्तविक मानव की जो परम्परा चली उसके विषय में हम यह जानना चाहेंगे कि आदि आरम्भ में इस परम्परा का चलाने वाला, विकास की श्रृंखला में अन्य किसी प्राणी से विकसित होकर एक ही मानव था—या एक साथ अनेक मानव हुए ? यदि एक ही मानव था तो पृथ्वी के कौन से भाग में उसका आविर्भाव हुआ ? यदि अनेक मानव थे तो वे एक ही भूखण्ड में अवतरित हुए या अनेक भूखण्डों में ? यदि कई भूखण्डों में अलग अलग अवतरित हुए तो एक ही काल में हुए या आगे पीछे कई कालों में ? इन प्रश्नों का सीधा, निश्चित, प्रमाणित उत्तर देना अभी कठिन है। यदि विकासवाद का सिद्धान्त जिसे पूर्व अध्याय में समझाया गया है आप हृदयंगम कर पाये हैं तो उनके आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार बनेगा।

संभवतः ये लोग विकसित हुए थे—पश्चिमी एशिया में (इराक, ईरान के घास के मैदानों में), उत्तरीय अफ्रीका मे, एवं भूमध्यसागर के उन भूमिखंडों में जो किसी जमाने में भूखंड थे किन्तु आज जलमग्न हैं। कई पुरातत्ववेत्ता एवं जीव-विज्ञान शास्त्री इनके मूल उत्पत्ति स्थान के विषय में यह अनुमान लगाते हैं कि लगभग ५० हजार वर्ष पहिले वास्तविक मानव एक ही स्थान मध्य एशिया में उद्भूत हुआ और वहां से दुनिया में चारों ओर फैला और कालांतर में जलवायु तथा अन्य परिस्थितियों के प्रभाव से कई प्रजातियों में विभक्त हो गया। विकास की श्रृंखला में ये मानव किन अर्द्ध-मानव प्राणियों की सीधी (Direct) सन्तान थीं ?—उपरोक्त हिडलबर्ग मानव की, या इओनथ्रोपस की, या नींडरथाल

मानव की या रोहडेशियन मानव की ? जितने अनुसंधान हुए हैं उनसे तो यही पता लगता है कि वास्तविक मानव उपरोक्त किसी भी अर्द्ध-मानव की सन्तान नहीं था। हिडलबर्ग मानव या इम्रोनथ्रोपस प्रकार के मानव तो बहुत पहिले ही लुप्त हो चुके थे—केवल नींडरथाल मानव की परम्परा आज से ५० हजार वर्ष पूर्व तक मिलती है। यह नया पूर्ण (वास्तविक) मानव इस नींडरथाल मानव की भी सन्तान नहीं था। उसकी तो स्वतन्त्र ही एक शाखा चली आ रही थी,—नींडरथाल एवं हिडलबर्ग मानव इस नये प्राणी के काका, ताऊ या चचेरे भाई हो सकते थे, पिता या सगे भाई नहीं। कालांतर में नींडरथाल प्रकार का मानव भी लुप्त हो गया।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जिस जमाने में नींडरथाल मानव इस पृथ्वी पर रह रहा था, उसी जमाने में एक अन्य प्रकार के मानव की परम्परा प्राचीनकाल में किसी "निपुच्छ कपि" प्राणी से उद्‌भूत होकर पहिले से चली आ रही थी जो नींडरथाल मानव से अधिक सौम्य, अधिक सभ्य था, जिसका सिर, जिसके हाथ पैर सम्पूर्णतया उसी भांति के थे जो आज के मानव के हैं। "पूर्ण मानव", वास्तविक मानव की इस शाखा को नृवंश-शास्त्रवेत्ताओं ने "होमो सेपीअनस" 'मेधावी मानव' या "आधुनिक मानव" नाम दिया है। आज इस संसार के सभी मानव प्राणी चाहे उनकी प्रजातियां भिन्न भिन्न हों इस 'होमो सेपीअनस' प्रकार के प्राणी से अवतरित हुए हैं। देशकाल, जलवायु, रहन सहन की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में होमो सेपीअनस कई प्रजातियों में विभक्त हो गया हो, किन्तु जिसे "जाति परिवर्तन"(Species Differentiation) कहते हैं—वह इस जाति में या इसके किसी प्राणी में नहीं हुआ। अर्थात् यह नहीं हुआ कि होमो सेपाइन जाति स्वयं के किन्हीं प्राणियों में भिन्नता आने से वे किसी अन्य प्रकार के जीव (Species) में परिणत हो गये हों।

सर्व प्रथम जिस काल से इस आधुनिक मानव के अस्थि अवशेष

दृष्टिगोचर होते हैं—उसी समय हम उसे दो उप-जातियों में विभक्त हुआ पाते हैं। सम्भव है दो से अधिक उपजातियाँ रही हों किन्तु उस काल के अवशेष चिन्ह तो अभी तक केवल दो जातियों के ही मिले हैं। पहिली क्रोमेगनन जाति, जिसकी हड्डियों के अवशेष फ्रांस के क्रोमेगनन स्थान में सन् १८६८ में मिले। दूसरी ग्रिमाल्डी जाति जिसके अवशेष मेनटोन के नजदीक ग्रिमाल्डी गुफा में मिले।

क्रोमेगनन पुरुष ६ फीट से भी अधिक लम्बे होते थे, स्त्रियाँ आज की स्त्रियों से कुछ अधिक लम्बी। उनके मस्तिष्क—पुरुष एवं स्त्री दोनों के, आज के लोगों के मस्तिष्क से बड़े होते थे। ग्रिमाल्डी जाति के लोग क्रोमेगनन लोगों से बिल्कुल भिन्न थे—वे आजकल के हब्शी जैसे थे और शरीर में भी क्रोमेगनन लोगों की तरह विकसित नहीं। किन्तु इन दोनों जातियों के मस्तिष्क का अग्रभाग जिसमें बुद्धि, वाणी, एवं स्मरण शक्ति का निवास होता है, हमारे ही समान विकसित था, हमारे ही तरह के उनके हाथ थे, एवं हमारी ही तरह की उनकी बुद्धि। इन दोनों जातियों के अस्थि-अवशेष तो एक काल के मिलते हैं, किन्तु जीव-विज्ञान शास्त्री इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत रखते हैं। कोई कहते हैं क्रोमेगनन लोग पहिले थे, कोई कहते हैं ग्रिमाल्डी लोग पहिले थे। किन्तु विशेषतः यूरोपीय देशों में पर्याप्त अनुसंधान होने की वजह से अपेक्षाकृत क्रोमेगनन लोगों के आदि जीवन और रहन सहन के विषय में अधिक ज्ञातव्य बातों का पता लगा है। अन्य देशों के प्रारम्भिक मानवों के विषय में अभी इतनी जानकारी हासिल नहीं हुई है। अतएव यहाँ हम क्रोमेगनन लोगों का ही वर्णन करते हैं—इन लोगों की आदिम-मानव के रूप में कल्पना करके।

रहन-सहन—ये लोग कंदराओं एवं गुफाओं में रहते थे। अभी तक इन लोगों को वनस्पति रोपण और स्यात् पशु पालन का भी ज्ञान नहीं हुआ था। वस्तुतः ये लोग शिकारी अवस्था (Hunting stage) में ही थे और घोड़े, भैंसे (Bison), रेन्डीयर, महागज इत्यादि का शिकार

किया करते थे—और उन्हीं का माँस खाया करते थे। ये लोग मुर्दों को दफनाया करते थे और दफनाते समय मुर्दों के साथ प्रायः भोजन, आभूषण, हथियार भी रख दिया करते थे। काले, भूरे, सफेद, लाल और पीले रंगों से ये परिचित थे और मुर्दा शरीरों को दफनाते समय उनको इन रंगों से रंग दिया करते थे।

इन लोगो के चकमक पत्थर एवं हड्डियों के बने अनेक औजार तथा हथियार मिलते हैं जो पूर्वार्द्ध प्राचीन पाषाण युग के हथियारों से (अर्द्ध-मानव प्राणियों के हथियारों से) बहुत ही अधिक सुन्दर, सुदृढ़, एवं अच्छे बने हुए हैं। इन लोगों के, शंख एवं सीप के बने आभूषण भी मिले हैं। ये लोग चट्टानों पर एवं गुफाओं की दिवारों पर चित्र खोदते थे और रंग भी करते थे। बिसन (जंगली भैंसा), घोड़ा, रींछ, रेन्डियर, महागज इत्यादि जानवरों के ही चित्र विशेषतया खोदते या बनाते थे—मानव शकल सूरत के चित्र बहुत कम। हाथी दांत में खुदी हुई जानवरों की अनेक मूर्तियाँ भी मिलती हैं और कुछ पत्थर की बनाई हुई मूर्तियाँ। इन बातों से इन लोगों के मानसिक विकास का पता लगता है। ये लोग चित्रकार तो निश्चित रूप से बहुत अच्छे थे।

आदि मानव क्या सोचता था?—आज हम आत्मा परमात्मा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वेदान्त, आदर्शवाद, यथार्थवाद अन्तसचेतना आदि सूक्ष्मतम आध्यात्मिक बातों के विषय में सोचते हैं। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, इत्यादि सामूहिक जीवन की समस्याओं को सोचते हैं। प्राण, विद्युदणु (इलेक्ट्रोन, प्रोटोन) सापेक्षतावाद, क्वान्तम सिद्धांत, तारामण्डल, गृह, चन्द्र, सूर्य, आदि की अन्वेषणात्मक बातों की वैज्ञानिक ढंग से जाँच करते हैं। कला, सौन्दर्य, शिव और सुन्दर की परिभाषा करते हैं—इत्यादि। कितनी गहन और पेचीदा ये बातें हैं—और कितना सूक्ष्म और विकसित वह मस्तिष्क जो इन गहनतम एवं गूढ़तम बातों में आत्म-विश्वास के साथ विचरण करता है—किन्तु क्या आदिम मानव भी ऐसा ही सोचा करता था? इस विशाल सृष्टि में वह अभी अभी तो

अवतरित हुआ ही था,—लाखों वर्षों तक पशु तथा अर्द्ध-मानव अवस्था में से गुजरता हुआ अभी अभी तो मानव बना ही था—मानों वह अभी बच्चा ही था। पाशविक जीवन की समृतियाँ अभी ताजा ही थीं—वे सर्वथा तो आजतक भी नहीं भुलाई गई हैं। वह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र अपने ऊपर निरभ्र आकाश में देखता तो होगा, किन्तु पशु समान उनको देखकर रह जाता होगा, उसके दिमाग को अभी ये बातें परेशान नहीं करती थीं कि कहाँ से सूर्य चन्द्र आये और कहां से वह स्वयं आया। पशु में दूसरी वस्तुओं की चेतना होती है किन्तु स्व-चेतना नहीं होती। वह यह नहीं कह पाता, या भान कर पाता कि 'मैं' हूँ,'मैं' सोचता हूँ—मैं जानता हूँ।" इस प्रकार की स्वचेतना तो मनुष्य में ही होती है—और उसका केवल यह गुण ही उसको पशु श्रेणी से पृथक करता है—अन्यथा उसमें और पशु में कोई भेद नहीं। अपनेपन का भान, स्वचेतना, चारों ओर की सृष्टि के प्रति भी विशेष जागृत चेतना—यही मनुष्य की अपनी विशेषताएँ हैं। चेतना—स्वानुभूति की जागृति उसमें अभी अभी हो ही रही थी—सृष्टि को देखकर वह कितना विस्मित हुआ होगा ?—अकेला, अंधेरे में से कैसे अपना रास्ता बना रहा होगा ?—इत्यादि। वह तो उसके सामने आने वाली निकटतम वस्तुओं के विषय में ही कुछ सोचता होगा, जिनसे उसका खाने पीने, मरने मारने, डर भय का संबंध हो। शेर और रींछ के विषय में सोचता होगा, जिनसे डरकर उसको अपना बचाव करना पड़ता था—हिरण, लोमड़ी, खरगोश के विषय में सोचता होगा जिनका शिकार उसे करना पड़ता था अपना पेट भरने के लिये। ये ही जंगली जानवर उसके 'विचार' के विषय होंगे; उन्हीं की स्मृति इन आदिम मानवों द्वारा अंकित किये हुए चित्रों में मिलती है। चट्टानों और पत्थरों पर खुदे हुए एवं अंकित जानवरों के चित्र ही स्यात् मानव की आदि कला है।

अभी तक बोलना, अपनी इच्छा तथा भाव दूसरे तक पहुँचा देने में समर्थ—इतना भाषण करना उसे नहीं आया था; बोली, भाषा धीरे धीरे

विकसित हो रही थी। अपनी आवश्यकता क्या करने से पूरी हो सकती है, क्या करने से नहीं, इस विषय में सोचता जरूर होगा और इसी के फलस्वरूप आदि विज्ञान का जन्म हुआ। वह ऐसे काम करता होगा जिससे वह सोचता होगा कि उनके करने से उसे इच्छित फल मिलेगा। अमुक कार्य का अमुक फल होगा, अमुक कारण से अमुक परिणाम निकलेगा—यही सोचना और पता लगा लेना विज्ञान है—आदि मानव ऐसा सोचता और करता था, किन्तु उसकी विचार शक्ति एवं उसके अनुभव अभी इतने सीमित थे कि उसे अनेक गल्तियाँ करनी पड़ती थीं। वह अंधेरे से, बड़े जानवरों से, बादलों की गर्जना और बिजली से, आँधी तूफान से डरता था और सोचता था कि प्रत्येक वस्तु में कोई शक्ति है और अमुक अमुक कार्य करने से उस शक्ति को प्रसन्न किया जा सकता है। यही उसका अपूर्ण विज्ञान (Fetishism) था। उपरोक्त वस्तुओं से डरना एवं उनको प्रसन्न करने के लिये कुछ अमुक काम करना (जैसे-जानवरों की बलि देना, आदमी की बलि चढ़ाना, नाचना कूदना इत्यादि)। प्रारम्भ में इनमें किसी धर्म की भावना समाहित नहीं थी। कालान्तर में जाकर ही ये बातें धर्म का एक अंग बनीं।

आदिमानव में एक और प्रमुख भाव पाया जाता है, और वह है अपने समूह के "बड़ेरे आदमी" से भय खाना। जिन औजारों, हथियारों का उपयोग "बड़ेरा आदमी" करता था उनको अन्य कोई स्त्री, बच्चा छू नहीं सकता था। जहाँ वह बैठता था उस स्थल पर अन्य कोई बैठ नहीं सकता था—इस प्रकार के अनेक प्रतिबन्धों (Taboos) ने आदि मानव के मन में घर कर लिया था। समूह की बड़ी स्त्री बच्चों की देखभाल करती थी और उनको क्रोधित "बड़ेरे आदमी" के क्रोध से बचाती थी। इसी "बड़ेरे आदमी", बुड्ढे आदमी और बच्चों की रक्षक समूह के स्त्री के "विचार" से धीरे धीरे विकसित होकर देवी देवताओं की कल्पना होने लगी।

आदिमानव को स्वप्न तो आते ही थे—उसकी चेतना बच्चे की तरह कल्पना में भी डूबती थी—किन्तु उसे स्वप्न उन्हीं चीजों के आते थे और उसकी कल्पना उन्हीं चीजों तक सीमित थी जो निकटतम रूप से उसके जीवन से सम्बन्धित थीं।—यथा, समूह का बड़ेरा—मृत या जीवित, पत्थर (जिनके वह हथियार बनाता था); जानवर (जिनका वह शिकार करता था और जिनसे वह डरता था)। और धीरे धीरे ज्यों ज्यों वाणी का विकास होने लगा—ये स्वप्न एवं कल्पनायें कहानी के रूप में कहीं जाने लगीं,—और इस प्रकार अनेक जानवर दुश्मन बने, अनेक मित्र;—मृत-बड़ेरे स्यात् भूत बने; यहां तक कि आजतक हम जानवरों और भूतों की कहानियाँ अनेक लोगों में प्रचलित पाते हैं। धीरे-धीरे 'भय और आश्चर्य की भावना' में उत्पन्न होकर, आदिकालीन (Primitive) कल्पना का सहारा पाकर देवी देवताओं की सृष्टि ये लोग कर रहे थे और इस प्रकार धार्मिक विश्वासों की रूपरेखा बन रही थी। कालान्तर में ये आदि मानव सूर्य एवं सर्प की पूजा करते हुए पाये जाते हैं तथा "स्वस्तिक" चिन्ह को एक धार्मिक चिन्ह मानने लगते हैं।

इस प्रकार अंधेरे में अपना रास्ता ढूंढते हुए के समान, आदि मानव शनैः शनैः प्रकाश और स्वाधीनता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता जा रहा था।

लगभग ४०—५० हजार वर्ष पूर्व से २५ हजार वर्ष पूर्व के काल में (प्राचीन पाषाण-युग की उत्तर कालीन सभ्यता वाले) ये आधुनिक मानव क्रोमेगनन लोग यूरोप में दृष्टिगोचर हुए। ये लोग सम्भवतः दक्षिण-पच्छिम एशिया, उत्तर अफ्रीका एवं भू-मध्यसागर के भूखंडों से उद्भूत होकर यूरोप में फैले। सम्भव है मध्य एशिया में ही उद्भूत होकर वहां से अन्य भागों में फैले हों। उस काल में भारत, अमेरिका, चीन में कौन और कैसे मानव रहते थे? यह जानने के पहिले उस समय की भौगोलिक स्थिति जानना आवश्यक है। आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व उत्तर और दक्षिण भारत के बीच समुद्र था, एशिया महाद्वीप

श्रोर श्रमेरिका भूखंड जहाँ श्राजकल बेहरिंग का मुहाना है वहां से वे जुड़े हुए थे। ऐसा श्रनुमान लगाया जाता है कि श्रमेरिका में प्राचीन पाषाण युग के पूर्वकाल में तो मानव का उदय ही नहीं हुश्रा था। पूर्ण विकसित मानव ही श्राज से लगभग २० हजार वर्ष पहिले उत्तर पूर्वीय एशिया से जाकर वहां बसा। वह उस थल मार्ग से गया जो श्राज बेहरिंग मुहाने के रूप में जल मग्न है। पहिले वह उत्तरीय श्रमेरिका पहुँचा श्रौर फिर वहां से दक्षिण की श्रोर बढ़ता हुश्रा श्रनेक युगों में दक्षिण श्रमेरिका तक पहुँचा। फिर तो बेहरिंग के पास समुद्र फैल गया श्रौर श्रमेरिका का सम्बन्ध पुरानी दुनियां से प्राय: बिल्कुल टूट गया—जब तक कि कोलम्बस ने सन् १४९२ में फिर से उसका पता नहीं लगा लिया।

भारत में मध्यप्रान्त की गुफाश्रों में पुरातन मानव की ठठरियों के रूप में जो सामग्री मिली है उसके श्राधार पर यह श्रनुमान लगाया जाता है कि बहुत कुछ यूरोप में क्रोमेगनन मानव की तरह ही दक्षिण भारत में श्राज से लगभग ४० से २५ हजार वर्ष पूर्व—"वास्तविक मानव" (श्राधुनिक मानव) रहते थे श्रौर उनका रहन सहन ऊपर-वर्णित प्राचीन पाषाण कालीन लोगों की तरह ही होगा। इस काल के पहिले भी नींडरथाल मानव की तरह श्रर्द्ध-मानव प्राणी दक्षिण भारत में रहते होंगे। किन्तु उपरोक्त वास्तविक मानव दक्षिण भारत में ही उद्‌भूत हुए या मध्य एशिया से यहां श्राये—यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। किन्तु उत्तर भारत में जो दक्षिण भारत से समुद्र द्वारा पृथक किया हुश्रा एक श्रलग भूखण्ड था, श्रौर जिसमें इतनी ही भूमि थी जो श्राधुनिक काश्मीर, पंजाब एवं हिमालय में सन्निहित है, उस काल में कौन श्रौर कैसे मनुष्य रहते थे इसका श्रभी तक कुछ श्रनुमान नहीं लगा है। भारत के प्राचीन वैदिक साहित्य के श्राधार पर ही भारतीय विद्वानों ने कुछ श्रनुमान लगाया है (देखिये श्रध्याय २० श्रार्यों की उत्पत्ति)। उन विद्वानों में श्री सम्पूर्णानन्द के मत के श्रनुसार उत्तर भारत में (पंजाब श्रौर काश्मीर जो उस समय सप्त-सिंधव कहलाता था) श्राज से २५ से ३०

हजार वर्ष पूर्व सुसभ्य आर्य रहते थे–जिन्होंने उसी काल में संसार के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना की। इन आर्य लोगों को भी यदि पाषाण-युगीय सभ्यता में से गुजरना पड़ा हो तो सम्भव है विकास की ऐसी स्थिति इन्होंने सुदूर पुरातन काल में यहीं सप्त-सिंधव में ही रहते हुए बिताई हो। सम्भव है ये मध्य एशिया के होमोसेपीअन ("आधुनिक मानव") से पृथक स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हों।

आज से ४० से २५ हजार वर्ष पूर्व जिस समय यूरोप में क्रोमेगनन टाइप के "आधुनिक मानव" रह रहे थे–सम्भव है चीन में भी उस काल में, या उस काल के कुछ पूर्व या बाद में क्रोमेगनन टाइप से भिन्न जाति के किन्तु पूर्ण मानव प्राणी (अर्द्ध-मानव नहीं) रह रहे हों। चीन में भी कुछ मानव अस्थियों के अवशेष मिले हैं। सन् १९३९ ई० में 'पेकिन मानुष' मिला, जिसका समय ढाई लाख वर्ष पुराना बतलाया जाता है। यह मानव "नेअन्डर्थल मानुष" की तरह अर्द्ध-मानव ही था। इससे अनुमान लगता है कि मानव विकास की वे सब कोटियां जिनका जिक्र हम उत्तर अफ्रीका एवं यूरोप के विषय में कर आये हैं, चीन में भी घटित हुई होंगी। सम्भव है यहाँ के सर्वप्रथम वास्तविक मानव यहीं उद्भूत हुए हों और उन्होंने स्वतन्त्र अपनी सभ्यता का विकास किया हो,–या मध्यएशिया से जाकर उधर बसे हों।

४० से २५ हजार वर्ष पूर्व प्राचीन पाषाण युग के उत्तर कालीन जिन "वास्तविक मानव"–आधुनिक प्रकार के लोगों का, उनकी शिकारी एवं जंगली एवं गुफाओं में वास करने वाली स्तर की सभ्यता का जिक्र किया है–उन लोगों को कालान्तर में हम इतिहास के पर्दे पर से विलीन होता हुआ पाते हैं। उन लोगों के बाद एक अन्धकार-मय सा युग आता है, और मनुष्यों के विकास और जातिगत विशेषताओं (Racial Differentiation) की उत्पत्ति के विषय में कुछ भी शृंखला-बद्ध रूप में नहीं मिलता।

केवल आज से १२–१५ हजार वर्ष पूर्व नये प्रकार के लोग दुनिया

के कई भागों में फैलते हुए पाये जाते हैं—ये नये लोग पालतू जानवर रखते थे, खेती करना जानते थे। जीवन में एक नये प्रकार का रहन सहन इनका था, जिसे इतिहासज्ञों ने "नवीन-पाषाण युग का रहन सहन" नाम देकर उल्लेख किया है।

(१०)

नव-पाषाण युग का मानव

(आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व प्रथम प्राचीन सभ्यताओं के उदय होने तक)

आज से ४०—५० हजार वर्ष पूर्व दुनिया का जो नकशा था, वह शनैः शनैः बदलता हुआ जा रहा था, और लगभग १२—१५ हजार वर्ष पूर्व दुनिया के नक्शे की रूपरेखा प्रायः वही हो गई थी जो आज है। महाद्वीपों, नदी, पहाड़, झीलों की स्थिति और सीमा प्रायः वैसी ही बन चुकी थी जैसी आज है, और उसी प्रकार के पेड़ पौधे और जीव-प्राणी पाये जाते थे जो आज पाये जाते हैं। साईबेरिया, उत्तरीय अमेरिका आदि स्थानों पर से बर्फ हट चुकी थी,—स्कैंडिनेविया और रूस देश आदमियों के बसने योग्य स्थल बन रहे थे, एशिया और अमेरिका बेहरिंग मुहाने में समुद्र फैलने से पृथक हो चुके थे, उत्तरीय और दक्षिण भारत के बीच जो समुद्र लहलहा रहा था वह पट चुका था। यूरोप में पूर्वकाल में पाये जाने वाले अनेक जानवर जैसे महागज, तलवार-जैसी दातों वाले शेर, मस्कबैल, इत्यादि सर्वथा विलीन हो चुके थे। मानों यदि आज का मानव उस १२—१५ हजार वर्ष पूर्व की दुनियां का चक्कर लगाता तो, आज की सभ्यता द्वारा अंकित किये गये जो चित्र इस दुनियां के पर्दे पर

हैं उनको छोड़कर, वह दुनियाँ की शकल सूरत, रूपरेखा, पहाड़, पठार, बन, नदी, झील प्रायः वैसी ही पाता जैसी आज हैं। और यह भी बात निश्चित सी है कि नवीन पाषाण युग में मानव प्रजातियों (Human Races) की जो परम्परा विद्यमान थी वह अभी तक चली आ रही है। बीच में बड़ा कोई भेद या विभिन्नता पैदा नहीं हुई यद्यपि विभिन्न समूहों में परस्पर युद्ध, मेल मिलाप, समिश्रण, आदान-प्रदान होता रहा।

ये नव-पाषाण युगीय सभ्यता वाले लोग उस काल में रहने योग्य दुनिया के प्रायः सभी हिस्सों में फैले हुए थे—यथा, उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, ईरान, भारत, चीन, दक्षिण पश्चिम एवं मध्य यूरोप, पूर्वीय द्वीप समूह। उत्तरीय यूरोप एवं उत्तरीय एशिया जो काफी ठण्डे स्थल थे उनमें अभी मानव धीरे धीरे फैलने ही लगा होगा। अमेरिका में वास्तविक मानव प्राचीन पाषाण युग के उत्तरकाल में पुरानी दुनिया से चले गये थे और वहां उनका विकास कुछ अपने ही ढंग का हुआ,-सम्भव है नव-पाषाण काल के आरम्भ में भी जब तक बेहरिंग का मुहाना जमीन ही रहा हो कुछ लोग अमेरिका गये हों।

नव–पाषाण युगीय सभ्यता

इस काल में मानव खुरदरे पत्थरों के अतिरिक्त चिकने पत्थरों के बने औजारों और हथियारों का प्रयोग करने लग गया था—विशेषतः चिकने पत्थरों की बनी चीजों का। प्राचीन पाषाण युग की अपेक्षा खुरदरे पत्थरों के हथियार अधिक सुघड़, सुडोल, तेज और चमकीले होते थे। मुख्य औजार एवं हथियार कुल्हाड़ी था जिसका दस्ता लकड़ी का बना होता था। हड्डियों के आभूषण भी बनाये जाते थे—कालान्तर में जाकर सोने, चाँदी के भी आभूषण बनने लगे।

पहिले पहल तो जंगलों में उत्पन्न प्राकृतिक अन्न (जिसके उत्पन्न करने में मनुष्य का किंचितमात्र भी हाथ न लगा हो) गेहूँ, जौ, मक्का इत्यादि का उपयोग करने लगे—फिर बीज बोना, और पौधे आरोपण करना प्रारम्भ किया—और इस प्रकार खेती होने लगी। साथ ही

साथ पशुपालन भी सीख लिया—गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता, सूअर इत्यादि पालने लगे। केवल शिकार पर निर्वाह करना छूट गया। खेती करना, पशु पालना, ये चीजें हमको बहुत स्वाभाविक एवं साधारण मालूम होती हैं। किन्तु कल्पना कीजिए उस प्रारम्भिक मानव की जो न तो समझता था बीज क्या होता है, कैसे उगाया जाता है, कौनसे मौसम में उगाया जाता है, अन्न उपजाने के लिये किस प्रकार भूमि तैयार की जाती है, इत्यादि। उसको इन सब बातों का अपने आप आविष्कार करने में कितना समय लगा होगा—कैसे उसको प्रथमबार इन बातों की सूझ हुई होगी ? अनेक भूलें, एवं गलत सही तर्क करने के बाद ही शनैः शनैः उसने अपना रास्ता निकाला होगा। इसका कुछ अनुमान इस बात से लगाइये कि आज से १५० वर्ष पहिले रेलगाड़ी का नाम तक नहीं था और आज वह रेलगाड़ी हमारे लिये कितनी स्वाभाविक वस्तु होगई है। जिस प्रकार जार्ज स्टीफनसन ने अनेक भूलों और गलत सही परीक्षणों के वाद सबसे पहिले रेल का इंजन बनाया, उसी प्रकार पशु-पालन और खेती पूर्वकाल के मनुष्यों के लिये सर्वथा एक नई चीज होगी और अनेक परीक्षणों एवं भूलों के बाद ही धीरे धीरे उन्होंने इन कलाओं को सीखा होगा। वास्तव में तो जंगली गेहूँ पहिले स्वयं पैदा होता ही था—उसी जंगली गेहूँ को पीसकर पहिले इन लोगों ने पकाना और खाना सीखा होगा, और फिर कहीं जाकर इस जंगली गेहूँ को बोना और इसकी खेती करना। यह जंगली गेहूँ सबसे पहिले कहाँ से आया ? यह तो वनस्पति क्षेत्र में "प्राकृतिक निर्वाचन" द्वारा स्वयं विकसित एक वस्तु थी। भिन्न भिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ और जीव प्रकृति में विकसित और विलीन होते रहते हैं।

पशु-पालन और खेती के अतिरिक्त चाक का आविष्कार उन लोगों ने कर लिया था। चाक के ऊपर मिट्टी के बर्तन बनाने लगे थे। जानवरों के चित्र और मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनाने लगे थे। सरकंडों और तिनकों के भी बर्तन बनाते थे। आग का जिससे परिचित तो

अर्द्ध-मानव प्राणी भी प्राचीन पाषाण युग में ही हो गये थे, अब अधिक उपयोग होने लगा। माँस पका कर एवं अन्न पीस कर और पका कर ये लोग खाने लगे। पत्तों या खाल से शरीर ढकना बन्द होगया था, अब पौधों के रेशों के कपड़े बुनना प्रारम्भ होगया था और इन बुने हुए कपड़ों से ही मानव अपना शरीर ढाँका करता था। ये लोग घर भी बनाने लग गये थे—विशेषतया कच्चे मकान ही बनते थे और मकानों के आंगनों को मिट्टी से लीप लिया जाया करता था। उस काल के अनेक अवशेष चिन्हों से यह एक और बात देखी जाती है कि जब जब जहाँ जहाँ जिन जिन लोगों में खेती का प्रारम्भ हुआ है—उसी के साथ एक एक विशेष प्रकार की मान्यता भी उन लोगों में पाई जाती है। वह मान्यता है—रक्त भेंट चढ़ाने की, मनुष्य बलि या पशु बलि करके। बीज बोने एवं अनाज पक जाने के समय पर ये लोग किसी विशेष सुन्दर नवयुवक या युवती का बलिदान करते थे—कुछ कालांतर में पशुओं का बलिदान करने लगे होंगे। क्यों ये लोग ऐसा करते थे इसका कारण तो अभी तक मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का एक विषय ही बना हुआ है। अभी तक तो ऐसा ही सोचा जाता है कि इस मान्यता के पीछे उन अर्द्ध सभ्य मानवों में कोई तर्क नहीं था—कोई बुद्धि की प्रेरणा नहीं थी, इस प्रकार की मान्यता तो यों ही बच्चे के से स्वप्न-प्रभावित मन की सी बात होगी। दूसरी बात यह थी कि ये लोग अपने मृतकों को दफनाया करते थे—और उनको दफना कर उस पर मिट्टी धूल का एक बड़ा ढेर बना देते थे, या पत्थर चुन देते थे। इन लोगों को स्यात् अभी तक मौसमों का अच्छा ज्ञान नहीं था—और न तारों का ज्ञान, जिससे ये जान पाते कि कब बीज बोने का ठीक समय आ गया है और कब फसल संग्रह करने का। इन अर्द्ध सभ्य मानवों में जिन किन्हीं कुछ विशेष कुशल व्यक्तियों ने तारों के विषय में, मौसम के विषय में कुछ जान लिया होगा—वे ही मानव-समूह के पूजनीय व्यक्ति, या गुरु पुजारी या जादूगर जादूगरनी बन जाते थे, और उनसे सब लोग डरते थे। इन्हीं गुरु, पुजारी, पंडित लोगों ने शेष

साधारण जनों में स्वच्छता के प्रति रुचि और गन्दगी के प्रति भय के भाव पैदा किये होंगे। ये पुजारी-गुरु-जादूगर-पंडित श्रेणी के लोग वास्तव में कोई धर्म और दर्शन के ज्ञाता नहीं थे। ये लोग तो ऐसे ही थे जिन्होंने प्रकृति और अपने चारों ओर की वस्तुओं को देख कर कुछ प्राकृतिक ज्ञान (विज्ञान) का आधार बना लिया था, ये लोग पहिचानने लग गये थे कि कब चंद्रमा बढ़ता घटता है, कब कौनसे तारे के उदय होने पर विशेष मौसम प्रारम्भ होता है, इत्यादि। इसी ज्ञान की शक्ति के प्रभाव से ये लोग मानव-समूह के गुरु, पुजारी बन गये थे। ये लोग अपने ज्ञान को सर्वथा गुप्त रखते थे, किसी को बताते नहीं थे, मानो यह कोई जादू मन्त्र टोना हो। इस प्रकार आदि मानव के "बड़ेरे आदमी" के भाव में से, पुरुषों के प्रति स्त्रियों और स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अनेक भावनाओं में से, गन्दगी और पवित्रता की भावना में से, फसल पक जाने के समय बलिदान की भावना में से, और मानवों के अपूर्ण विज्ञान, जादू टोना, एवं गुप्त रहस्य में से—वह भावना उदय हो रही थी जिसे 'धर्म' कहते हैं,—और वह भावना अर्ध-सभ्य मानव के मन में शनैः शनैः संस्कारित हो रही थी। इस परम्परा के धर्म ने, अंध संस्कारों ने, अनेक युगों तक मानव बुद्धि को बांधे रक्खा। अब भी अनेक मानव लोगों की बुद्धि उन प्राचीन संस्कारों का गुलाम बनी हुई है। १७ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड, फ्रांस इत्यादि यूरोपीय देशों में शहरों से दूर अनेक गांवों के लोगों का रहन सहन एवं उनका मानसिक संस्कार उसी स्तर का बना हुआ था जो नवीन-पाषाण युग के मानवों का था और पूर्वीय देशों के गांवों में तो आज तक यह दशा है।

जिस प्रकार की रहन सहन एवं मानसिक अवस्था के लोगों का विवरण ऊपर दिया है इनके अवशेष एवं इस प्रकार की सभ्यता के चिन्ह पच्छिम में ठेठ दक्षिण इंगलैंड से लेकर स्पेन, फ्रांस, भू-मध्य सागर के समस्त देश, उत्तर अफ्रीका, एशिया माईनर, पच्छिम, भारत, चीन और फिर अमेरिका के पीरू एवं मेक्सिको तक में मिलते हैं।

उत्तरीय यूरोप, उत्तरीय एशिया एवं दक्षिण अफ्रीका में इसके कोई चिन्ह नहीं मिलते। उपर्युक्त प्रकार की सभ्यता जो इन अनेक देशों में फैली इसका उद्गम स्थान कौन था—किन किन देशों में किस प्रकार और किन शताब्दियों में यह सभ्यता फैली,—यह अभी तक भूत के अंधेरे में ही लुप्त है—इस विषय का निश्चित ज्ञान अभी तक ऐतिहासज्ञों को नहीं हो पाया है। सम्भव है इस सभ्यता का जन्म दक्षिण-पच्छिम एशिया (मेसोपोटेमिया, एशिया माइनर) में हुआ हो, सम्भव है उत्तरीय अफ्रीका (मिस्र) में हुआ हो—और वहां से जगह जगह चारों ओर यह सभ्यता फैली हुई हो। अभी तक तो निश्चित इतना ही है कि लगभग १०—१२ हजार वर्ष पूर्व दक्षिण यूरोप में ऐसे लोग फैले हुए थे और यदि यह सभ्यता यूरोप में पूर्व की ओर से आई थी तो उत्तर अफ्रीका (मिस्र), दक्षिण-पच्छिम एशिया (मेसोपोटेमिया, एशिया माईनर) तथा भारत में, १०-१२ हजार वर्ष से भी काफी पहले, सम्भव है १२-१५ हजार वर्ष पूर्व तक ऐसी सभ्यता फैली हुई होगी। पृथ्वी के उपरोक्त भू-भागों में तो इस नवीन-पाषाण युगीय सभ्यता के लोग फैले हुए थे, किन्तु उत्तरीय एवं मध्य यूरोप, तथा ठेठ उत्तरीय भारत एवं भारत से ऊपर मध्य एशिया और ठेठ उत्तरीय एशिया में मानव-प्राणी बस रहे थे या नहीं ? वहाँ का क्या हाल था ? अभी तक तो इतना ही कहा जा सकता है कि पृथ्वी के इन भागों में भी लोग बसे हुए थे और उनका विकास स्वतंत्र ही अपने ढंग पर हो रहा था। ये लोग मुख्यतः इधर उधर घुमक्कड़ जाति के लोग थे। यूरोप के-पाषाण युग में, अर्थात् १०—१२ हजार वर्ष पूर्व सारी दुनियां पर मानव भिन्न भिन्न शाखाओं (उपजातियों) में विभक्त हो चुका था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग १० लाख वर्ष पूर्व जिस अर्ध-मानव प्राणी का उदय हुआ एवं लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व जिस वास्तविक मानव का—वह शनैः शनैः अनेक परिस्थितियों, कठिनाइयों को पार करता हुआ,—विकास करता हुआ सभ्यता के इस स्तर तक आकर

पहुँचा–आज से केवल १०–१२ हजार वर्ष पूर्व। आज हम अपने विकसित मस्तिष्क से देख सकते हैं कि मानव चेतना में अन्तर्निहित, स्वयंजात एक जीवनेच्छा (Will to Live) है–उसके शरीर के अणु अणु,अंग अंग में व्याप्त अदृश्य एक प्रेरक शक्ति है जो उसे प्रेरित करती रहती है–जीवन धारण किये रखने के लिये, जीवित रहने के लिये, और जीवन को सुखमय बनाने के लिये। क्या यह प्रेरक शक्ति है–क्यों यह सर्वजीवों में व्याप्त है–यह रहस्य तो अभी रहस्य ही है। इतना ही हम कह सकते हैं कि है यह जीवनेच्छा सब में व्याप्त। मानव भिन्न भिन्न युगों में, भिन्न भिन्न देशों में उदय हुआ हो–किन्तु उपरोक्त जीवनेच्छा, एक प्रेरक शक्ति तो सभी में व्याप्त रही–और व्याप्त है–और मानव के मूल में–न केवल मानव के मूल में किन्तु सर्वजीवों के मूल में वही एक आदि जीव कण की चिंगारी है।

●

(११)

मनुष्य की प्रजातियाँ

(Races of Mankind)

आज से लगभग ५०-६० हजार वर्ष पूर्व आधुनिक मानव (मेधावी मानव) की हलचल हम इस पृथ्वी पर मध्य एशिया, दक्षिण पश्चिम एशिया, भारत, चीन, अफ्रीका और भूमध्य सागरीय प्रदेशों में पाते हैं किन्तु उसी काल में हम एक और बात देखते हैं और वह यह कि कुछ मानव तो वर्ण में बिल्कुल काले हैं, उनका माथा आगे को निकला हुआ सा है और उनकी नाक मोटी है; कुछ मानव ऐसे हैं जिनका वर्ण पीत (पीला है) नाक चपटी है, और मुँह और शरीर पर बाल हैं ही नहीं या

हैं तो बहुत कम; एवं कुछ मानव वर्ण में गोरे हैं, उनकी नाक लम्बी है, और शरीर पर काफी बाल हैं—मानो जब से हमें उनकी चहल पहल के हाल मालूम होते हैं उसके पहले से ही वे किन्हीं साफ अलग अलग पहचाने जानेवाली प्रजातियों में विभक्त हों। इन विभिन्नताओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की कि ये विभिन्न वर्ण और डील-डौल के मानव कुछ कुछ विभिन्न-जीव-जातियों से विकसित हुए। जैसे एक तो यह कल्पना बनी कि अफ्रीका के काले वर्ण के लोग गुरिल्ला वनमानुष या रोडेशियन अर्ध मानव से अवतरित हुए हैं,पीत वर्ण के लोग चिम्पैंजी वनमानुष या चीनी अर्धमानव से; गौरवर्ण के लोग भी किसी अन्य वनमानुष एवं नींडरथल या हीडलबर्ग अर्धमानव से, किन्तु यह कल्पना अब बिल्कुल मान्य नहीं। आज के प्राणीशास्त्री और विद्वानों का झुकाव तो इस कल्पना की ओर है कि मेधावी मानव किसी एक मूल स्थान में, चाहे वह भारत (हिमालय प्रदेश) हो, मध्य एशिया या पश्चिमी एशिया या उतरी अफ्रीका हो,—सबसे पहले अवतरित हुआ।

उस समय शायद वह गौर या भूरे (मध्यम गौर) वर्ण का रहा होगा। उसकी संख्या में वृद्धि हुई अतः भोजन की तलाश में वे विभिन्न समूहों में अपने आदि निवास स्थान से चारों ओर फैल गये और विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में बस गये। पृथक पृथक भूभागों में रहते हुए उन समूहों का अपने उद्गम स्थान से और साथ ही साथ एक दूसरे से संबंध समाप्त हो गया। इस प्रकार हजारों वर्षों तक भिन्न भिन्न पर्यावरणों (environments) में एक दूसरे से पृथक रहते हुए वे समूह तथा कथित गौर, पीत और श्याम प्रजातियों एवं उपप्रजातियों में विभक्त हो गये। कुछ वर्ष पूर्व तक यह माना जाता था कि यह प्रजाति भेद केवल वातावरण के प्रभाव से हुआ। जैसे, वे आदि मानव जो अफ्रीका में जाकर बसे, कड़े सूर्य की किरणों में झुलसते झुलसते काले हो गये और उनका यह अर्जित गुण आनुवंशिक हो गया। किन्तु आज की वैज्ञानिक मान्यता यह है कि अफ्रीका के काले वर्ण वाले लोग

थे तो मूल में वे ही गौर या मध्यम गौर वर्ण के लोग जो अपने आदि उत्पत्ति स्थान से वहाँ चले गये थे। अकस्मात किसी एक जन में ऐसा अन्तः परिवर्तन हुआ–उसके पित्र्यैकों (वाहकाणुओं genes) में ऐसी घटना हुई–कि उसका वर्ण काला हो गया। यह परिवर्तन अफ्रीका के प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल पड़ा क्योंकि काला वर्ण सूर्य–रश्मियों को अपने में जज्ब करके शरीर की रक्षा करता था। इस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा गौर वर्ण के लोग तो अस्तित्व में से लुप्त होते रहे और श्याम वर्ण के लोगों का अस्तित्व बढ़ता गया। इसी प्रकार आदि मानव के जो समूह चीन की ह्वांगहो तथा यांगटीसिक्यांग नदियों की घाटी में बस गये थे वे पीत वर्ण के हो गये, एवं जो समूह एशिया के ऊपरी पर्वतीय क्षेत्रों में, या अपेक्षाकृत उत्तरी अक्षांसीय प्रदेशों में बस गये वे गौर वर्ण के हो गये। अन्तः परिवर्तन (mutation) से किसी समूह में जो परिवर्तन उत्पन्न होता था वह अनुकूल वातावरण और अन्य समूहों से पृथकत्व के कारण (जिससे परस्पर यौन सम्बन्ध नहीं हो पाता था) उस समूह में बद्धमूल हो जाता था। इस प्रकार मूलभूत एक मानवजाति में प्रजातिविभेद हो गये। ऐसा होने में हजारों वर्ष लगे होंगे–संभव है कई लाख वर्ष क्योंकि इस पृथ्वी पर यद्यपि आधुनिक मेधावी मानव की चहल पहल के निशान तो केवल ५०-६० हजार वर्ष पूर्व के ही मिलते हैं, किन्तु उस जैसे मानव की विकास प्रणाली वस्तुतः हिमयुग में ही अर्द्ध मानवों के समानान्तर प्रारम्भ हो गई थी। आज मानव जाति के चार मुख्य तथा कुछ गौण प्रजातीय (racial) विभेद किये जाते हैं, जो निम्न तालिका में दिखलाये गये हैं।

मानव प्रजातियां (Races of Mankind)

प्रमुख प्रजाति	प्रमुख शारीरिक विशेषतायें	प्रजाति शाखा	बहुत प्राचीन काल में निवास-स्थान	पर्यटन पथ (अपने प्राचीन निवास स्थान से किधर किधर फैली)
१. श्वेत (काकेश्वॉयड)	श्वेत वर्ण; आंख हल्की नीली से भूरी; बाल भूरेकाले, लहरदार या सीधे; शरीर पर खूब बाल; नाक पतली और ऊंची	१. नॉर्डिक	मध्य एशिया या मास्को की मध्य भूमि	यूनान, सीरिया, लघु एशिया, ईरान, भारत, पश्चिमी यूरोप के सभी देश।
		२. अल्पाइन	कैस्पियन सागर व अल्ताई पर्वत के निकट भूमि	तुर्की, ईरान, सीरिया, मिस्र, पूर्वी रूस, भारत।
		३. भू-मध्य सागरीय	भूमध्य सागर का किनारा	ईराक, भारत, इंगलैण्ड, आइसलैंड।
		४. भारतीय	मध्य एशिया या उत्तर-पच्छिम भारत	समस्त भारत

२. पीत (मंगोलवॉयड)	पीतवर्ण; अधखुली आँखें भूरे रंग की; बाल काले एवं सीधे; शरीर पर बाल का अभाव; दाढ़ी बहुत कम; नाक चपटी	१. एशियाटिक	चीन	मंगोलिया, साइबेरिया, तिब्बत, बर्मा, हिंदेशिया
		२. अमेरिकन इंडियन	,,	अति प्राचीन काल में बेहरिंग के रास्ते उत्तरी अमेरिका, मैक्सिको, पीरू।
		३. प्रशांत-सागरीय	,,	
३. श्याम (नीग्रोवॉयड)	काला या गहरा भूरा वर्ण; आँख काली या भूरी; बाल काले ऊन के समान सख्त; दाढ़ी व शरीर पर बाल कम; नाक चौड़ी	१. अफ्रीकन नीग्रो २. प्रशांत-सागरीय ३. बुशमैन ४. नेग्रीटो	अफ्रीका का उष्ण प्रदेश	अरब, भारत, हिंदेशिया के प्रदेश, आस्ट्रेलिया
४. आस्ट्रेलिया के आदिवासी	गहरा भूरा या काला वर्ण; गहरी भूरी आँखें; काले घुंघराले बाल; बड़ी चौड़ी नाक	×	अरब ? भारत ?	भारत, ब्रह्मा, मलाया प्रायद्वीप होते हुए आस्ट्रेलिया।

प्रजाति विभेद के प्रश्न को लेकर मानव समाज में कई तरह की गलत फहमियां और कई तरह के बहम और अनुदार विचार प्रचलित है जिनका उल्लेख करना यहां आवश्यक प्रतीत होता है—प्रजाति सम्बन्धी सही और वैज्ञानिक स्थिति को समझने के लिये।

(१) यहूदी धर्म की एक कहानी है "नोह का आर्क"। नोह मूल मानव है; उसके तीन संतानें हुईं—श्याम, हाम, और जफेट (Sham, Ham, and Japhet); और इन तीन संतानों की संतानें मनुष्य जाति की तीन—श्वेत, पीत और श्याम—प्रमुख प्रजातियां बनीं।

(२) १९३० ई० के लगभग जर्मनी में यह विश्वास प्रसारित किया गया कि नोर्डिक आर्य जाति ही सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ जाति है; गौरवर्ण, सुडौल शरीर और प्रखर बुद्धि वाली वही एक जाति है; दुनियां की शेष सब जातियां हीन हैं। अतः जर्मनी की नोर्डिक आर्य जाति के लोगों का शेष दुनियां के लोगों का शासक और नेता बनना अनिवार्य आवश्यकता है।

(३) यूरोप की गोरी जातियों में ज्ञात अज्ञात रूप से यह धारणा बनी रही है कि एशिया और अफ्रीका के काले, भूरे, पीले लोग यूरोप की जातियों से बुद्धि और कार्यकुशलता में निम्न कोटि के हैं।

ये सब धारणायें आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रकाश में गलत साबित हुई हैं। प्रजाति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्ष ये हैं:—

(१) मनुष्य मात्र की जाति एक ही है—सब मनुष्य जीव-जाति के किसी एकही वर्ग से उद्भव हुए हैं। प्राणी शास्त्रीय दृष्टि से भी मनुष्यों की एक ही जाति है। रंग, रूप, वर्ण, बुद्धि, विचार में अनेक भेद हों, परन्तु सभी प्रकार के स्त्री पुरुषों में यौन सम्बन्ध हो सकता है और स्थायी वंश परम्परा चलाई जा सकती है। मनुष्य स्वयं अपनी चाहे जितनी ही प्रजातियां-उपजातियां मानले पर प्रकृति को इन भेदों का पता नहीं—उसकी दृष्टि में मनुष्य की एक जाति है।

(२) मनुष्यों के राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और

भाषागत समूह प्रजाति के द्योतक नहीं हैं।

(३) मानव प्रजातियों का वर्गीकरण किया जा सकता है और किया गया है किन्तु उसमें उच्चता और निम्नता का कोई प्रश्न नहीं उठता।

(४) सभी प्रजातियों में बौद्धिक, भावना-गत एवं आध्यात्मिक विकास की शक्ति समान है। सभी प्रजातियों में बुद्धिमान, कलावन्त और आध्यात्मिक विकास वाले व्यक्ति पाये जा सकते हैं।

(५) तथा कचित शुद्ध प्रजातियाँ नहीं पाई जातीं। प्रजाति मिश्रण अतीत काल से चला आ रहा है और ऐसा कोई कारण दिखलाई नहीं देता कि अन्तरप्रजातीय विवाहों को रोका जाय।

(६) प्रकृति, जीवशास्त्र और मानव विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य जाति चाहे एक ही हो किन्तु उस जाति के व्यक्तियों एवं व्यक्ति-समूहों (जैसे राष्ट्र, जाति, धर्म) में स्वभावगत और सांस्कृतिक विभिन्नता होना स्वाभाविक है। ऐसी विभिन्नता समूची मानव जाति के विकास में बाधक नहीं, सहायक होती है।

इन बातों को ध्यान में रखें तभी हम मानव इतिहास की गति और प्रक्रिया को सही रूप में हृदयंगम कर सकते हैं।

आज २० वीं शताब्दी में विश्व के लोगों में, विभिन्न प्रजातियों के लोगों में, सम्मिश्रण, लेनदेन, मेल मिलाप, और आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आदान-प्रदान की ही शक्ति अधिक प्रबल है, और मानव जाति विभिन्नता की ओर उन्मुख नहीं— एकता की ओर उन्मुख है।

•

(१२)

दूसरे खंड का सार

संगठित सभ्यताओं का उदय होने के पूर्व मानव का विकास

मानव का विकास (कालक्रम)

काल—अनुमानतः		मानव की स्थिति	विस्तार
आज से १० लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक।	प्राचीन-पाषाण-युग (पूर्वकाल)	अर्द्ध-मानव-जो अब लुप्त हो चुका है। पत्थर की कुल्हाड़ी और भाले,-वृक्षों की छाल या पत्ते या जानवरों की खाल से शरीर ढकना; खुले में आग जलाकर उसके चारों ओर संध्या के समय इकट्ठे होना—या गुफाओं में रहना।	इनके अवशेषः— जर्मनी—हिडलबर्ग मानुष जर्मनी—नींडरथाल मानुष ब्रिटेन—पिल्टडाउन मानुष अफ्रीका—रोहडेशियन मानुष जावा—जावा मानुष चीन—पेकिंग मानुष
आज से ५० हजार वर्ष पूर्व		वास्तविक मानव (Homo sapiens) का उदय	स्यात् मध्य एशिया (आधुनिक पामीर) या उत्तर भारत में उद्भूत होकर इधर उधर फैला।

आज से ५० हजार वर्ष पूर्व से १५ हजार वर्ष पूर्व तक।	प्राचीन-पाषाण-युग (उत्तर-काल)	पत्थर एवं चकमक के सुडोल, सुघड़, सुन्दर औजार एवं हथियार; गुफाओं में वास; गुफाओं में चित्रांकन; शिकारी अवस्था; खाल के कपड़े; मुर्दों को गाड़ना; समूह में बड़े बूढ़े का भय।	भूमध्यसागर स्थल; उत्तर अफ्रीका, दक्षिण पच्छिम एशिया; दक्षिण भारत, दक्षिण पच्छिम यूरोप; उत्तरीय यूरोप एवं-एशिया से बेहरिंग होकर अमेरिका जाना।
आज से १५ हजार वर्ष पूर्व से ६ हजार वर्ष पूर्व तक (संगठित सभ्यताओं का उदय होने के पहिले)	नव-पाषाण-युग	चकमक पत्थर; तांबा एवं कांसा धातु का प्रयोग; खेती और पशु-पालन; कच्चे घरों एवं गाँवों में रहना; कपड़े बुनना। चाक को चलाकर मिट्टी के बर्तन बनाना। देवी देवताओं की पूजा और बलि-भेंट।	दक्षिण ब्रिटेन से लेकर, स्पेन, फ्रांस, भूमध्य सागरीय प्रदेश; उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, मेसोपोटेमिया; पच्छिम एवं दक्षिण भारत, चीन, अमेरिका में पीरू व मेक्सिको।

उपसंहार—मानव का मन विस्मय से भर जाता है जब प्रकृति में विकास की इस सतत गतिशील प्रक्रिया को वह देखता है, और नतमस्तक हो जाता है उस मनीषी डार्विन के सामने जिसने प्रकृति की इस प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन किया। पृथ्वी और पृथ्वी पर के ये सब जीव प्राकृतिक वातावरण से उत्सूत और एक दूसरे से सम्बद्ध एक ही विकास प्रक्रिया में—सोचिये !

प्राकृतिक परिस्थितियों को भरसक अपने जीवन के अनुकूल बनाता हुआ और बहुत हद तक स्वयं भी अपने आपको उन परिस्थितियों के अनुरूप बदलता हुआ मानव अपने जीवन की यात्रा हजारो वर्षों से तय करता हुआ चला आ रहा है। क्या उसका गन्तव्य है ?—कौनसी उसकी सीधी या टेढ़ी राह ? इन बातों को प्रकृति ने आज तक भी मानव के सामने पूर्णतः खोल कर नहीं रख दिया है; क्योंकि कौन कह सकता है कि प्रकृति की सभी सम्भावनाओं को किसी ने आँक लिया है ? या यदि यह मानकर चलें कि इस जगत प्रपंच का अलग ही कोई कर्ता और नियंता है तब भी कौन कह सकता है कि किसी मानव ने उस नियंता के अभिप्रायों को पूर्णतः और स्पष्टतः समझ लिया है ?

अ-प्राण, अ-चेतन जड़ प्रकृति में से (चाहे अव्यक्त या परोक्ष सम्भावना के रूप में चेतन तत्व कहीं समाहित रहा हो—उससे इतिहासकार की बात में कोई विशेष फरक नहीं पड़ता) सूर्य के इस ग्रह, पृथ्वी पर, धीरे धीरे किसी युग में—और वह युग कोई बहुत पुराना नहीं—पृथ्वी की आयु को देखते हुए मानों कल-परसों की बात है—मानव विकसित हुआ और उसने अपनी चहल-पहल प्रारम्भ की। यह मानव—शेष जीवों की अपेक्षा विशेष सूझबूझ अनुभूति वाला प्राणी—अपनी सूझबूझ और अनुभव के अनुसार व्यक्ति और समाज के लिये प्रत्येक युग में किसी विशेष उद्देश्य और चलने की राह का निर्देशन करता आया है; और उसका और उसके समाज का भाग्य बनता बिगड़ता, खिलता मुर्झाता रहा है प्रकृति,समाज और स्वयं की वृत्ति और चरित्र के संयोग से।

●

तीसरा खंड

मानव की सर्वप्रथम संगठित सभ्यतायें

(जो अब लुप्त हैं)

(अनुमानतः ६००० ई. पू. से २००० ई. पू. तक)

मिश्र बेबीलोन
६००० - २००० ई.पू.
कॉकेसस पर्वत
आर्मीनिया
हिट्टी
प्रदेश
ग्रीस
थीबीज
माईसीन
ट्रॉय
भूमध्य सागर
सीरिया
बेबिलस
सिडोन
टायर
फीनीशिया
दमिश्क
मिलानी
मेसोपोटेमिया
असीरिया
निनेवह
असुर
टाइग्रिस नदी
यूफ्रीटीस नदी
मीडिया
सूसा
बेबीलोन
निपुर
सुमेर
ईरान की खाड़ी
अरब
लाल सागर
मिश्र
हेलिओपोलिस
मेम्फिस
थीबीज
नील नदी

मानव की सर्वप्रथम संगठित सभ्यतायें

(१३)

भूमिका

यहां पर कुछ पुनरावृत्ति आवश्यक है। इतने काल पहले जिसका बिल्कुल सही अनुमान लगाना कठिन है,–इसीलिये साधारण भाषा में कहते हैं अनन्तकाल पहिले—यह सम्पूर्ण सृष्टि एक अद्भुत, अनिर्वचनीय, कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त, मानो भूत-काल-आकाश-गति की बनी वाष्प-पिंडसम धुंधलीसी "कुछ" थी। उस व्यक्ताव्यक्त में से टूटकर घूर्णित होते हुए अनन्त सूर्य निकले। उन्हीं सूर्यों में से एक अपना वह सूर्य था जिसे दिन प्रतिदिन हम देखते हैं। यह सूर्य करोड़ों वर्षों तक अपनी ही कक्षा में घूर्णित होता रहा। इसी सूर्य में कुछ उद्वेग उत्पन्न होने से इस विशालकाय अग्निपिंड में से इसी के अनेक छोटे मोटे टुकड़े टूटकर इससे पृथक हुए और वे इसके चारों ओर तीव्र-गति से चक्कर लगाने लगे। यही टुकड़े जिनमें हमारी पृथ्वी भी एक है, ग्रह कहलाये।

वैज्ञानिक ज्योतिषियों का यह अनुमान है कि हमारी पृथ्वी को इस प्रकार उत्पन्न हुए लगभग २ अरब वर्ष होगये। उस समय यह पृथ्वी

भी सूर्य के समान एक अग्निपिंड थी। ज्यों ज्यों काल बीतने लगा त्यों त्यों यह ठण्डी हुई–जल, पहाड़, चट्टान, मिट्टी की भूमि आदि शनैः शनैः इसमें बने और फिर उपर्युक्त परिस्थितियां आने पर वह अद्भुततम घटना हुई जिसका वर्णन हम यों कह कर करते हैं–"भूत-द्रव्य में से जागे प्राण।" (Emergence of Life from Matter)। यह घटना लगभग ५० करोड़ वर्ष पहिले की है, जब इस पृथ्वी पर अनेक जीव आंखों से टिमटिमाते और अन्तर में अकुलाते सहसा नजर आये। गतिमान, विकासमान द्रव्य आगे की ओर गति करता गया और करोड़ों वर्षों तक अनन्त प्रकार के जीवों की स्थिति को प्राप्त करता हुआ, अनन्त प्रयोगों में तिरोहित और उत्थित होता हुआ आज से लगभग १० लाख वर्ष पूर्व उस जीव की स्थिति को पहुंचा जो दो पैरों पर सीधा तो खड़ा होता था किन्तु घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध को समझता नहीं था–जो अर्द्ध-मानव था। किन्तु आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व उस प्राणी का उदय हुआ जो वाणी का उच्चारण करता था और अपने अन्तर की भावना व्यक्त करने के लिये व्यग्र रहता था। यह था वह "प्राण युक्त चेतना-मय" मानव। ऐसे मनुष्य आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व एक साथ पृथ्वी के कई भागों में इधर उधर टहलते नजर आते हैं। ये वे पहिले मनुष्य थे जो इस अद्भुत अनन्त सृष्टि में इस पृथ्वी पर उद्भवित हुए। यहीं से मनुष्य जाति की प्रगति का इतिहास प्रारम्भ होता है।

प्रारम्भ में यह मानव बिल्कुल जंगली अवस्था में था। अन्य स्तन-धारी जानवरों की तरह बच्चे पैदा होते थे, पैदा होने पर कुछ बड़ा होने तक मां के सहारे पलते थे, और फिर रेवड़ों (Herds=समूह) में रहने लग जाते थे। अभी तक यह मानव जानवरों की तरह नंगा घूमता फिरता था, फल फूल खाता था; फिर पेड़ों के नीचे या कंदराओं और गुफाओं में रहने लगा, वृक्षों की छाल या पत्तों से अपना तन ढकने लगा,–पत्थर के कुल्हाड़े और भाले बनाने लगा, जिससे वह

अपनी रक्षा करता था,—शिकार भी करता था,—मांस को भूनकर खाने लगा था एवं खाल के कपड़े पहिनने लगा था। विकास की यह वह स्थिति थी जब मनुष्य प्रकृति में प्राप्त कंद मूल फल एवं शिकार के रूप में भोजन संग्रह करता था,स्वयं भोजन उत्पादन नहीं करता था। जंगली अवस्था पार करके जब वह अर्धसभ्य अवस्था में आया, तब पत्थर के तेज और चमकीले हथियार बनाता था, ताम्र औजार भी बनाने लगा था, पशुपालन करता था, खेती करता था, कच्चे घर बनाता था और उनमें रहता था; मिट्टी के बर्तन भी बनाता था एवं तन ढकने के लिये कपड़े। अनेक देव देवियों, पुरोहितों एवं जादूगरों से डरता था और उनको प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाता था। यह रहन सहन का वह ढंग था जिसे पुरातत्वधेत्ताओं ने 'नव-पाषाण सभ्यता' नाम देकर उल्लेखित किया है; विकास की यह वह स्थिति थी जब मनुष्य अपने भोजन का स्वयं उत्पादन करने लगा था। संसार का कौनसा वह भूखंड था जहां मनुष्य ने सर्व प्रथम भोजन उत्पादन करना अर्थात् खेती करना प्रारम्भ किया? पुरातत्व-वेत्ताओं के इसमें भी भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मिस्र ही वह प्रदेश था जहाँ सबसे पहिले खेती प्रारम्भ हुई और फिर वहाँ से दुनिया के दूसरे हिस्सों में फैली—यथा प्राचीन सुमेर, असीरीया, ईरान, भारत, चीन इत्यादि। रहन सहन का यह ढंग आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पहिले पच्छिम में उत्तर अफ्रीका से लेकर, भूमध्यसागर-प्रदेशों में यथा स्पेन, फ्रांस, मिस्र, एशिया, माइनर में विस्तारित होता हुआ पूर्व में भारत, पूर्वीय द्वीप समूह, चीन और फिर उससे भी आगे दक्षिण एवं मध्य अमेरिका तक फैला हुआ था। किन्तु इस स्थिति को हम ठीक सभ्यता की स्थिति नहीं कहते।

सभ्य स्थिति—सभ्यता की स्थिति उसी को माना गया है जब मनुष्य की "सामाजिक चेतना" कुछ विशेष जागृत होती है, और वह समाज का संगठन करके सामूहिक रूप से एक स्थान पर टिककर रहने लगता है,और सामाजिक व्यवहार और सहकारिता के भाव को समझने लगता है।

वह यह भी समझने लगता है कि वह अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकता है और उन्हें बदल कर उनको अपने जीवन के लिए बहुत हद तक सुखद भी बना सकता है; वह प्राकृतिक साधनों और समाज का ऐसा संयोजन करने लगता है जिससे उसके जीवन में ऐसी सुविधायें उपलब्ध हों जिनमें वह अपनी चेतना का विकास कर सके, स्वतः अनुभूत सौन्दर्य भावन को मुक्त रूप से अभिव्यक्त कर सके, जीवन को अधिक आनन्दमय बना सके। वस्तुतः सभ्यता (भौतिक साधनों का विकास और उनकी व्यवस्था) और संस्कृति (मन और स्वभाव में दयामया, शिव और सुन्दर का भाव) एक दूसरे के पूरक हैं। यों कहें—जंगली, पशुवत स्थिति से निकल कर मन और स्वभाव की सुसंस्कृत स्थिति पालेना प्रायः तभी सम्भव होता है जबः-(१) जिन प्राकृतिक भौतिक साधनों पर जीवन अवलम्बित है उनको जहाँ तक सम्भव हो सके समाज ऐसा विकसित और व्यवस्थित करता जाय कि व्यक्ति के जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ सरलता से पूरी होती रहें और उसको उन आवश्यकताओं से ऊपर उठकर जगत और जीवन के रहस्य की बातों को कुछ सोच सकने का अवसर मिलता रहे। (२) सामूहिक जीवन का विकास हो, जिसके दो प्रमुख अंग माने गये हैं यथा, परिवार और राज्य-संस्था, एवं (३) भाषा और लिपि का विकास हो। इन तीन बातों के बिना (यथा भौतिक साधन, सामाजिक व्यवस्था और भाषा) जो सभ्यता के तीन प्रमुख आधार हैं जीवन में संस्कृति का— सत्य, शिव और सुन्दर का अनुष्ठान नहीं हो सकता। सभ्यता के उपर्युक्त तीन अंगों का आदिमानव में कैसे प्रारम्भ और विकास हुआ इसकी बहुत ही संक्षिप्त रूपरेखा हम नीचे देते हैं।

(१) **भौतिक साधनः**—आदिमानव का पुरातन पाषाण युग, एवं फिर उतरोत्तर प्राकृतिक अड़चनों पर विजय प्राप्त करते हुए नव-पाषाण युगीय स्थिति तक पहुँचना, फिर पत्थर के हथियारों और औजारों की बर्बर स्थिति से ऊपर उठकर काँसे, ताँबे और कालान्तर में लोहे के औजार

और हथियारों का आविष्कार कर लेना, और ताम्र और लोह युगीय सभ्यताओं की स्थिति में से धीरे धीरे गुजर कर आधुनिक काल में विद्युत् एवं अणुशक्ति के युग तक पहुँच जाना—यह मानव की भौतिक परिस्थितियों पर विजय की एक अद्भुत कहानी है। मानव सभ्यता का इतिहास एक दृष्टि से इस विजय की कहानी का ही इतिहास है।

(२) समाज संगठन का आरम्भः (अ) आदिम साम्यवाद—प्रारम्भ में मानव ऐसे ही रहता होगा जैसे पशु या जंगली जानवर बिना किसी संगठन के रहते हैं। धीरे धीरे वह समूह या यूथ बनाकर रहने लगा। वह समूह या यूथ ऐसा था मानो कई मनुष्य प्राकृतिक विषम परिस्थितियों एवम् जंगली पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए एक साथ समूह बना कर रहने लगे। इस स्थिति को हम आदिम साम्यवाद (Primitive Communism) की स्थिति कह सकते हैं। इस समय में सभी मिलकर एक दूसरे की रक्षा करते थे, साथ मिलकर खाद्य वस्तुओं का (फल, सूखे फलादि) संग्रह करते थे और स्त्री पुरुष सब साथ ही परिश्रम करते थे। दूसरी तो कुछ सम्पत्ति होती नहीं थी, खाद्य सामग्री के रूप में ही थोड़ी बहुत सम्पत्ति एकत्र हो जाती होगी। यह सम्पत्ति वैयक्तिक नहीं किन्तु सामूहिक थी। समूह के व्यक्तियों में किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी स्वतन्त्र था। समूह में कोई भी स्त्री-पुरुष परस्पर मिल सकते थे। किसी भी प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध का अस्तित्व नहीं था।

(ब) मातृ-प्रधान समाज—किन्तु धीरे-धीरे परिवार का भाव आने लगा। इस भाव का प्रारम्भ स्त्री के सम्बन्ध से हुआ। स्त्री का किसी पुरुष से सम्पर्क होता, स्त्री के बच्चे उत्पन्न होते। बच्चे बड़े होते—उन बच्चों का वंशगत सम्बन्ध स्त्री से ही जोड़ा जाता, क्योंकि यह तो पता होता नहीं था कि पिता कौन है, अतएव उस स्त्री और उसके पुत्र पुत्रियों का मिलकर एक पारिवारिक समूह बन जाता था। इस प्रकार सम्बन्ध का निर्णय करने में प्रधानता स्त्री अथवा माता की ही रहती

थी। अतः ऐसे समाज को हम मातृ-प्रधान समाज कहते हैं। आदिम युग में सब जगह मानव इस सामाजिक स्थिति में होकर गुजरा है। ऐसे समाज में अभी संपत्ति सामूहिक थी; एवं जीविका के प्रधान साधन फल संचय, मछली और जानवरों का शिकार थे। फल एकत्र करने में अथवा शिकार करने में अभी स्त्री पुरुष से पीछे न थी। स्त्री और पुरुष के बीच में घर और बाहर के काम का बंटवारा नहीं हुआ था। सारे परिवार को मिलकर एक साथ भोजन एकत्र करना या शत्रुओं से मुकाबला करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कोई भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पारिवारिक समूह के बाहर होता। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध परिवार के भीतर ही होता था। अर्थात् परिवार की मुखिया स्त्री के पुत्र पुत्रियों में ही परस्पर स्त्री पुरुष का सम्बन्ध हो जाता था। आज की पारिवारिक भाषा में हम यों कह सकते हैं कि भाई बहिन में ही स्त्री पुरुष सम्बन्ध मान्य था। ऐसी स्थिति मानव विकास की प्रारम्भिक सभ्य स्थिति थी।

(स) पितृ-प्रधान समाजः—मानव प्रारम्भिक साम्यवाद की स्थिति को पार करता हुआ पशु-पालन और कृषि की स्थिति तक पहुँचा। इसके साथ साथ धीरे धीरे मातृ या स्त्री प्रधानता की जगह पितृ या पुरुष प्रधानता ने ले ली। स्त्री का स्थान अब पुरुष से निम्न हो गया। स्त्री और पुरुष में श्रम का विभाजन हो गया, स्त्री घर के अन्दर का काम करे और पुरुष बाहर का। पहले इस प्रकार का कोई श्रम विभाजन न था। परिवार में और समाज में पुरुष का एकाधिपत्य स्थापित हुआ। पहले समाज में विवाह नाम का कोई नियम न था। पुरुष स्त्री समागम स्वतंत्र था। किसी भी स्त्री का किन्हीं भी पुरुषों से, किसी भी पुरुष का किन्हीं भी स्त्रियों से सहवास मान्य था; किन्तु समाज में जब पुरुष प्रधान हो गया, सम्पत्ति का उत्पादन और स्वामित्व उसके हाथ में चला गया तो स्वामित्व के भाव का आरोप उसने स्त्री पर भी किया और शनैः शनैः "विवाह प्रथा" विवाह संस्था (the institution of

marriage) का प्रचलन हुआ।

विवाह संस्था:—ऐसा अनुमान है कि आदि-मानव में कामवासना उसी प्रकार नियमित थी जैसी आजकल कई जंगली जानवर अथवा पशुओं में देखी जाती है–जिनमें विशेष ऋतु या काल में ही कामवासना का प्रादुर्भाव होता है; किन्तु श्रम विभाजन और पुरुष में सम्पत्ति और स्वामित्व की भावना के साथ साथ आदमी में धीरे धीरे कामवासना भी बढ़ी। अब वह यही प्रयास करने लगा कि सबसे अधिक सुन्दर एवं घर के काम-काज में सबसे अधिक उपयोगी स्त्री पर केवल उसी का स्वामित्व रहा करे। सभी आदमियों का यही प्रयास रहता था अतः एक ही स्त्री के लिए अनेक पुरुषों में लड़ाई झगड़े होने लगे। इस अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए ही धीरे धीरे विविध नियम मान्य हुए। विवाह प्रथा जारी की गई। विवाह का अर्थ था कि सार्वजनिक रूप से किसी विशेष स्त्री का किसी विशेष पुरुष से सहवास-सम्बन्ध स्थिर कर लिया जाता था और यह मान लिया जाता था कि जिस स्त्री का यह सम्बन्ध निश्चित हो गया उससे दूसरे आदमी का यह सम्बन्ध न हो। किन्तु समाज में पुरुष की प्रधानता थी इसलिए यह होने लगा कि पुरुष तो कई विवाह करके कई स्त्रियों को एक साथ रखने का अधिकारी हुआ, किन्तु स्त्री के लिए साधारणतया यह बात सम्भव न हो पाई कि वह कई पुरुषों से विवाह करके एक साथ कई पति रखले, यद्यपि प्रारम्भिक काल में कई जगहों पर यह प्रथा भी रही। तिब्बत एवं हिमालय के कुछ प्रदेशों में वहाँ की विशेष कुछ परिस्थितियों के कारण आज भी बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित है, और उसमें किसी प्रकार की अड़चन नहीं आती।

विवाह संस्था का प्रचलन अति प्राचीन काल में, आदि मानव जब असभ्य जंगली अवस्था को तो पार कर चुका था किन्तु अभी 'अर्द्ध-सभ्य' अवस्था में था, तभी हो गया था। ऐसा मान सकते हैं कि मानव इतिहास का वह काल जिसमें विवाह संस्था का अस्तित्व नहीं

था, उस काल की अपेक्षा जिसमें विवाह एक सामाजिक संस्था के रूप में मान्य रहा है, हजारों वर्ष अधिक लम्बा रहा है। जब से विवाह प्रथा चालू हुई तब से आज तक देश काल के अनुसार विवाह के अनेक भेद रहे हैं और भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से विवाह की भावना में विकास हुआ है। शुरू-शुरू में तो विवाह बलात्कार द्वारा हुआ होगा अर्थात् किसी स्त्री से बलात्कार किया और फिर उसे अपनी स्त्री बना लिया। ऐसा विवाह आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, फिजी आदि द्वीपों के मूल निवासियों में आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न कालों अथवा देशों में हरण,क्रय, सम्बन्धियों द्वारा, और प्रेम भाव द्वारा विवाह निश्चित हुए हैं। धीरे धीरे विवाह-संस्कार के समयानुकूल अनेक विधि-नियम भी बने। पहले विवाह एक गोत्र, वंश या कुल में ही होता था जिसमें भाई बहिन, मामा-भाँजी का कोई भेद नहीं था। फिर सगोत्रक विवाह अमान्य ठहराया गया और गोत्र छोड़कर विवाह होने लगे। फिर भिन्न भिन्न देशों में जिस जिस प्रकार समाज का विकास हुआ उसी के अनुरूप वैवाहिक नियम, मान्यताएं, विधियां भी बनती बिगड़ती रहीं।

परिवार का संगठन मूलत: विवाह के रूप पर आश्रित होता है। जब आदिम साम्यवाद की अवस्था थी उस समय स्त्री-पुरुष समागम बिल्कुल स्वतन्त्र था। उस समय परिवार का यदि कोई अर्थ था तो मां और उसके बच्चे। उस परिवार में पुरुष का कोई स्थान न था। विवाह प्रथा जारी होने पर ही वास्तविक परिवार का रूप हमारे सामने आता है। विवाह प्रथा का प्रचलन होने पर स्त्री, उसका पति, और दोनों की संतानें परिवार में गिनी जाने लगीं। बहुत प्राचीन काल में ही दो तरह के परिवारों का विकास हुआ, एक तो मातृ-सत्ता प्रधान जिसमें वंश माता, नानी आदि के नाम से चलता था, सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का होता था और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी स्त्री की बड़ी पुत्री होती थी। इस प्रकार का परिवार आजकल भी बर्मा एवं मलाबार की कई

जातियों में पाया जाता है किन्तु विशेषकर जिस परिवार का विकास हुआ वह पितृ-सत्ता प्रधान परिवार था जिसकी स्थापना समाज में पुरुष की प्रधानता एवं सम्पत्ति पर उसके एकाधिपत्य अधिकार के साथ साथ हुई। इस प्रकार के परिवार में वंश पिता-पितामह आदि के नाम से चलता है, सम्पत्ति पर अधिकार पुरुष का होता है और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता है, या कहीं कहीं सभी पुत्र बराबर भाग के अधिकारी होते हैं। पुत्री का कोई भी अधिकार मान्य नहीं होता। ऐसा मान सकते हैं कि मानव विकास के नव पाषाण युग तक (ईसा पूर्व आठ-दस हजार वर्ष) जब कृषि और पशुपालन प्रधान धन्धे थे विवाह और पितृ-प्रधान परिवार की स्थापना और उसका प्रचलन हो चुका था।

कुल और कबीलेः—परिवार के बाद मनुष्य के दूसरे सामाजिक संगठन ये कुल (Clan) और कबीला (Tribe)। कुल में कई परिवार होते थे जो उपर्युक्त साम्यवादी आधार पर संगठित गृहस्थी में रहते थे। प्रत्येक कुल में दो अधिकारी होते थे, एक शांतिकाल में कुल की व्यवस्था करने वाला तथा दूसरा युद्धकाल में गतिविधि संचालन करने वाला। कबीले में कई कुल होते थे। यह कई हजार स्त्री पुरुषों का एक जत्था होता था जिसके पास अपना एक निश्चित प्रदेश होता था जिस पर उस कबीले का सामूहिक स्वामित्व माना जाता था। कबीले की व्यवस्था करने के लिये, आपसी झगड़ों को सुलझाने के लिये एक कबीला-परिषद होती थी। यह परिषद ही दूसरे प्रदेशों में स्थित दूसरे कबीलों से युद्ध और शान्ति का निर्णय करती थी। उस समय तक राज्य-संस्था की उत्पत्ति नहीं हुई थी—न कोई राजा था, न मन्त्री, न राजकर्मचारी, और न राजकीय सेना।

राज्य की उत्पत्ति—राज्य की उत्पत्ति के विषय में विचारकों ने वैसे तो कई बातें सोची हैं, जैसे—किसी समूह (सम्भवतः कबीले) के शक्तिशाली नेता ने किसी अन्य समूह से युद्ध में विजय के फलस्वरूप सब

पर अपना अधिकार कायम कर लिया हो और इस प्रकार राज्य संस्था का जन्म हो गया हो (शक्ति-सिद्धान्त); या सभ्यता के आरम्भिक युगों में जनसाधारण में यह विश्वास प्रचलित होगया हो कि मानो राज्य तो एक ईश्वरीय देन है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि (दैवी सिद्धान्त); या, मानो किसी प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों ने स्वेच्छा से समझौता करके राज्य की परम्परा स्थापित करली हो (सामाजिक समझौता-सिद्धांत); किन्तु वस्तुतः तो बात यह है कि किसी भी निश्चित घड़ी या दिन में राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई, मानव समाज में राज्य संस्था का तो धीरे धीरे विकास हुआ। मानव में अन्तर्निहित सामाजिकता की भावना में, ज्ञात अज्ञात इस चाह में कि सामूहिक जीवन सुविधापूर्वक चलता रहे, राज्य संस्था के बीज निहित हैं। भिन्न भिन्न युगों में, विभिन्न प्रदेशों में समाज विकास की धीरे धीरे ऐसी अवस्थाएं आती गईं जिनमें राज्य संस्था स्वतः आविर्भूत और विकसित होती रही (ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त)। कुल, जाति (ट्राइब), और सम्पत्ति की रक्षा; धार्मिक संरक्षण; अधिकार भावना और युद्ध आदि ऐसे कारण बनते गये जिनकी वजह से भिन्न भिन्न समाजों में अपने अलग अलग राज्य स्थापित हो गये। अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल कहीं सैनिक एकतन्त्र स्थापित हुआ, कहीं सैनिक जनतन्त्र, कहीं गणराज्य, कहीं राजतन्त्र; पहले शायद ग्राम राज्य स्थापित हुए, और फिर गणनेता या राजा के आधीन नगर-राज्य।

सर्वप्रथम राज्य-संस्थाओं की स्थापना, कुछ विद्वानों की राय में, आज से लगभग ५–६ हजार वर्ष पूर्व मेसोपोटेमिया में दजला और फरात नदियों की घाटी में हुई थी। उस समय सुमेर, अक्काद, एलाम, नीपर आदि अनेक राज्यों का विकास हुआ। इसी प्रकार मिस्र, भारत, चीन आदि देशों में, और कालान्तर में विश्व के अन्य भागों में भी राज्यों का विकास हुआ। राज्य संस्था की परम्परा चल जाने के बाद तो व्यक्ति की अहंकार और महत्वाकांक्षा की भावना ने, अधिकतम धन और राज्य

पर अधिकार जमा लेने की भावना ने, सभ्यता के उन प्रारम्भिक युगों में ही कई साम्राज्यों को जन्म दिया—जैसे मिस्र में फेरों सम्राटों का साम्राज्य स्थापित हुआ; मेसोपोटेमिया में बेबिलोन और असीरिया नाम के साम्राज्य बने; और उधर सुदूर पूर्व में चीनी सम्राटों का चीन-साम्राज्य।

भाषा—सभ्यता के विकास में भाषा का भी मुख्य स्थान है, यहाँ तक कि यदि भाषा न हो तो सभ्य, सामूहिक जीवन संभव ही नहीं हो सकता। दो मन एक दूसरे को समझलें—इसका प्रमुख साधन भाषा ही तो है। विचारों का विकास भाषा के सहारे ही हुआ है। इसके बिना मनुष्य का जीवन पशु-स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता। जानवर और मनुष्य में एक बड़ा अन्तर यही तो है कि जानवर की वाणी (भाषा—Speech) नहीं होती जबकि मनुष्य की वाणी (भाषा) होती है। एक दृष्टि से वैसे तो पशु-पक्षी भी अपनी अपनी वाणी और भाषा बोलते हैं किन्तु वह इतनी विकास युक्त और सचेतन नहीं होती जितनी मानव भाषा और वाणी। पशु-पक्षी लिखते तो बिल्कुल नहीं। वस्तुतः भाषा, लिपि (लेखन) विचार और धर्म प्रमुखतया मानव की ही क्रियाएं हैं।

जीव-प्राणियों पर बाहरी घटनाओं या परिस्थितियों का घात (क्रिया) होता है, यह होते ही प्राणी का समस्त शरीर (व्यक्तित्व) जाने अनजाने, प्रतिघात (प्रतिक्रिया) करने के लिये स्फुरित हो उठता है। पशु-पक्षी और मनुष्य जैसे विकसित प्राणी में इस स्फुरण का एक रूप होता है—वाणी; प्रतिघात स्वरूप प्राणी कुछ बोल डालना चाहता है। इसी क्रिया-प्रक्रिया में वाणी और भाषा का मूल उद्‌गम निहित। वाणी (भाषा) एक शारीरिक-मानसिक चेष्टा है; सभी जीव-प्राणियों के लिये प्राण रक्षा और प्राण विस्तार (Self preservation and self propagation) का एक साधन है। किन्तु मनुष्य में यह साधन स्वयं अधिक विकसित होकर, साथ ही साथ मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का भी विकास करता है। पशु में केवल इन्सटिंक्टिव उद्वेग

होता है किन्तु मनुष्य में इसके साथ साथ 'विचार' भी होता है। जब पशु में शनैः शनैः परिवर्तन होकर मानव का विकास हुआ तो यह विचार शक्ति ही उसकी एक विशेषता थी—और इसी विचार शक्ति से स्पंदित होकर मानव में भाषा का धीरे धीरे विकास हुआ। आज जो कुछ भी मनुष्य का जीवन है, वह उसके 'विचार' का ही फल है, और विचार की यह धरोहर जो आज के मनुष्य को मिली है, वह भाषा ही के द्वारा संभव हो पाई है। कल्पना कीजिये, यदि हम लोगों में अपने भाव, अपने विचार प्रकट करने के लिये भाषा रूपी माध्यम नहीं होता तो कैसी अपनी स्थिति होती ?

जितना महत्व भाषा बोलने का है उतना ही महत्व उस भाषा को लिपि-बद्ध करने का भी है। यदि हम अपने विचारों, अपने भावों, अपने अनुभवों को केवल बोल ही सकते हैं, लिखकर उनका रिकार्ड नहीं रख सकते, तो उस बोलने का महत्व केवल उसी समय तक के लिये रह जाता है जिस समय हम कोई बात बोलते हैं—और केवल उन्हीं लोगों तक सीमित जो उस बात को सुनते हैं; इस प्रकार एक पीढ़ी अपने ज्ञान और अनुभवों को आने वाली पीढ़ियों के लिए नहीं छोड़ सकती। रट रटा कर ज्ञान की परम्परा को चलाया जा सकता है, किन्तु कुछ ही काल तक और कुछ ही लोगों तक सीमित। आज विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, साहित्य का जो विकास हो पाया है, वह बिल्कुल असंभव होता यदि लिखने की कला का आविष्कार आदमी नहीं कर लेता।

अब सोचिये कि क्या वे मानव प्राणी जो सर्व प्रथम इसी पृथ्वी पर उत्पन्न हुए प्रारम्भ से ही अपनी कोई भाषा लाये थे ? क्या उनके प्रकट होते ही वे संस्कृत या चीनी या ग्रीक या लेटिन भाषा बोलने लग गये थे ? यदि प्रारम्भ से ही वे भाषा ज्ञान के साथ उत्पन्न हुए थे, तो क्या उन सबकी एक ही भाषा थी या भिन्न भिन्न कई भाषायें ? ये जटिल प्रश्न हैं, इनका आज की स्थिति में कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं है। प्रारम्भ में एक भाषा थी या कई, इस प्रश्न का उत्तर तो इसी पर निर्भर

है कि आदि काल में मानव पृथ्वी के एक ही भाग में उत्पन्न हुआ या कई भागों में ? यदि एक ही भाग में उत्पन्न हुआ तो सब भाषाओं का मूल एक ही होना चाहिये—वह मूल भाषा कालान्तर में जाकर ही जब आदि मानव को भिन्न भिन्न भू भागों में भिन्न भिन्न परिस्थितियों में रहते हजारों वर्ष हो गए, कई भाषाओं में रूपांतरित हुई। और यदि मानव एक ही साथ पृथक पृथक कई भू भागों में प्रकट हुआ तो संभव है मूल में ही भाषायें कई हों। आधुनिक भाषाओं के रूपों और संगठनों का जो विस्तृत अध्ययन किया गया है, उसमे तो यही अनुमान लगता है कि सब भाषाओं का मूल एक नहीं है किन्तु विद्वानों ने अधिक गहराई तक जाकर यह भी देखा है कि इन विभिन्न मूलवाली भाषाओं के आदि अवयवों और आधार में एक अद्भुत साम्य मिलता है। जो कुछ हो इतना तो कम से कम निश्चित माना जाता है कि मनुष्य किसी भी विशेष भाषा के ज्ञान के साथ उत्पन्न नहीं होता—और प्रारम्भिक मानव की कोई भी सुगठित भाषा नहीं थी। भाषा का आविर्भाव और उसका विकास तो शनैः शनैः हजारों वर्षो में जाकर हुआ। मूल में भाषा एक रही हो या अनेक, किन्तु बाद में जाकर जब मानव कई प्रजातियों में विभक्त हो चुका था उस समय का तो यही पता लगता है कि पृथ्वी के जिन जिन भू-भागों में ये प्रजातियां बसी हुई थीं, उन भू-भागों के वातावरण एवं जलवायु के अनुकूल भिन्न भिन्न भाषाओं का विकास हुआ।

जिस प्रकार और जीवों में विशेषतः पशु पक्षियों में आवाज करने के अवयवों का विकास उनके शरीर में हो चुका था, वैसे ही मानव-प्राणी भी जब वे प्रारम्भ में अवतरित हुए तो आवाज करने के पूर्णतः विकसित अवयवों के साथ ही अवतरित हुए। अर्थात् वे आवाज तो कर सकते थे, चिल्ला सकते थे—किन्तु अपनी इच्छाओं और उद्वेगों को पृथक पृथक अच्छी तरह समझाने के लिए उनके पास बोली या भाषा नहीं थी। इसका अनुमान लंका के आदिम निवासी वेद्दाज से लगाइये,

जिनकी स्थिति आज भी प्रारम्भिक मानव की तरह ही है। लंका के आदिम निवासी अपनी स्त्रियों तक के नाम का सम्बन्ध अपनी स्त्रियों से नहीं जोड़ सकते जब तक वे स्त्रियां स्वयं उनके सामने न हों। मालूम होता है कि प्रारम्भिक काल में ये प्रारम्भिक मानव हाथ मुंह आदि की हरकतों या इशारों से ही अपना काम निकालते थे। वे आवाज करना तो जानते ही थे अतएव धीरे धीरे कुछ खास खास भावों अथवा दैनिक जीवन की चीजों के लिए खास खास ध्वनियों का व्यवहार होने लगा। ये खास खास ध्वनियाँ ही उन कुछ खास खास भावों या चीजों के लिए शब्द बन गये। ऐसा संभव है कि पशु पक्षियों की, पेड पत्तों की, पानी के चलने या गिरने की, आश्चर्य या खुशी में स्वयमेव निकलने वाले शब्दों की जैसी ध्वनि सुनी वैसे ही शब्द भी बन गये। फिर हृदय के भाव, उद्वेग, चीजों की आवश्यकता एवं विचार आपस में समझने समझाने की ज्यों ज्यों उत्कट आवश्यकता पड़ती त्यों त्यों शनैः शनैः शब्द भी बनते रहते। ज्यों ज्यों सामाजिक संपर्क, परस्पर विनिमय और सभ्यता बढ़ती गई त्यों त्यों भाषा की शब्द संपत्ति भी बढ़ती रही। आज सभ्य लोगों की विकसित भाषाओं में लाखों शब्द हैं, और हम अनुमान लगा सकते हैं कि आज से १०-१२ हजार वर्ष पहिले मानव जब नव-पाषाण युगीय स्थिति में था तो उसकी शब्द सम्पत्ति स्यात् कुछ सैकड़ों तक ही सीमित होगी। इसी काल में मानव को कई प्रजातियों में हम विभक्त प्रायः पाते हैं—और जैसा ऊपर कह आये हैं इन प्रजातियों की भाषाओं का रूप भी भिन्न भिन्न था। जिन जातियों ने जिन भूखंडों में सभ्यता का अधिक विकास किया वहाँ पर उसकी भाषा भी अधिक विकसित हुई।

संसार की अनेक भाषाओं के मूल में ८-९ बीजों की कल्पना की जाती है जिसमें प्रमुख ये हैं:—

१. **आर्य**—जिससे पहले संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, फारसी इत्यादि भाषायें निकलीं और फिर इनसे निकलीं आधुनिक भारतीय भाषायें यथा हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला इत्यादि; एवं आधुनिक यूरोपीय

भाषाय यथा अंग्रेजी, जर्मन, फ्रैंच, इटालियन, रूसी, डच, स्पेनिश, इत्यादि। इससे मालूम होता है कि हमारी भारतीय अनेक भाषाओं एवं यूरोप की अनेक भाषाओं का उद्गम एक ही स्थान में हुआ।

२. **सेमेटिक**—जिससे यहूदी, अरबी, सीरीयन, अबीसीनीयन इत्यादि भाषायें निकलीं।

३. **निग्रो (हब्शी)**—जिसमें आधुनिक निग्रो भाषायें समाहित हैं—किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न भिन्न निग्रो भाषाओं का उद्गम एक ही पूर्वज भाषा से नहीं हुआ।

४. **यूराल अल्ताई**—जिससे आज की मंगोल, मंचू, तुर्की एवं यूरोप की मग्यर भाषायें निकलीं।

५. **चीना**—जिससे चीनी, तिब्बती, बर्मी, एवं स्यामी भाषायें निकलीं। इत्यादि।

लिपि—भाषाओं का विकास तो इस प्रकार हुआ किन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भाषाओं का विकास होने के साथ ही साथ वे लिपिबद्ध भी होगई। भाषाओं का उदय एवं पर्याप्त विकास होने के हजारों वर्ष बाद लिपि का आविष्कार हुआ। हम पूर्व अध्यायों में लिख आये हैं कि पाषाण काल में मनुष्य गुफाओं में अनेक चित्र अंकित किया करता था। ये चित्र मानो उन प्रारम्भिक मनुष्यों की अनुभूतियों एवं उद्गारों एवं भावों की ही अभिव्यक्ति करते थे—उन चित्रों को देखने वाला मानो चित्र अंकित करने वाले के भाव समझ लेता हो। ये चित्र-अंकन ही सर्वप्रथम माध्यम थे जो एक मानव के भावों का मर्म दूसरे मानव को कराते थे। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता गया—मनुष्य को यह जरूरत महसूस होती गई कि उनकी बातों का, उनकी मनशाओं का, उनके इकरारनामों का किसी न किसी रूप में रिकार्ड होना चाहिये। इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर धीरे धीरे चित्रांकन से प्रारम्भ होकर

विकसित लिपि का आविष्कार हुआ। पहिले तो मूल वस्तु को व्यक्त करने के लिये छोटे छोटे चित्र बने, धीरे धीरे इन चित्रों से चीज के बजाय किसी विचार का प्रगटीकरण किया गया, फिर अनेक वर्षों बाद चित्रों का उपयोग ध्वनि को जाहिर करने के लिये होने लगा। तदुपरान्त चित्र से दो या दो से अधिक ध्वनियों वाले शब्दों का उतना अंश ही सूचित किया जाने लगा जितना एक बार में बोला जा सकता है—अर्थात् पहिले तो शब्दों के चित्र, फिर शब्दांशों (Syllables) के चित्र (या विशेष प्रकार की रेखायें) बने, और फिर जाकर वे भिन्न भिन्न चित्र विशेष विशेष ध्वनियों वाले अक्षरों के ही प्रतीक बन गये।

उपर्युक्त सर्वप्रथम लेखन कला का आविष्कार मेसोपोटेमिया (सुमेर) में आज से लगभग ७-८ हजार वर्ष पूर्व हुआ। सुमेरियन लोगों की लिपि एक प्रकार की चित्र लिपि ही थी जिसे वे मिट्टी की पट्टियों (Tablets) पर लिखते थे एवं उसके पश्चात् उन पट्टियों को पका लिया जाता था जिससे वह लिखी हुई वस्तु स्थायी हो जाती थी। भारतवर्ष में सिन्धु सभ्यता के मोहनजोदाड़ो एवं हरप्पा में जो लिखावट खपड़ों पर मिली है, वह भी अनुमानतः आज से ६—७ हजार वर्ष पूर्व की है। कुछ इन्हीं तरीकों से मिस्र में भी आज से ६—७ हजार वर्ष पूर्व पहिले चित्र-लिपि और फिर ध्वनि लिपि का आविष्कार हुआ, जिसे प्राचीन काल के फीनीशियन लोगों ने आगे विकसित किया एवं वर्णमाला का आविष्कार किया। स्यात फीनीशियन लोगों की वर्ण-लिपि से प्रभावित होकर ग्रीक लोगों ने अपनी ग्रीक भाषा की वर्ण-लिपि का आविष्कार किया। इनसे स्वतन्त्र रूप से चीन में भी एक प्रकार की चित्र-लिपि का आविष्कार हुआ—और चीन की लिपि तो अब भी एक प्रकार की चित्र-लिपि ही बनी हुई है। भारतवर्ष में वैदिक और संस्कृत भाषा को लिखने के लिए ब्राह्मी नाम की लिपि का प्रचलन हुआ। पहले कुछ यूरोपीय विद्वानों के मत से यह माना जाता था कि ब्राह्मी लिपि उपरोक्त फिनीशियन या ग्रीक लिपि से बनी थी, किन्तु महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने यह स्थापित किया है कि "ब्राह्मी लिपि के अक्षर न तो फीनीशियन या अन्य किसी लिपि से निकले हैं और न उसकी बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदलकर बनाई गई है। यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका फिनीशियन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।...आर्य भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन करने की अपेक्षा नहीं है।"* ब्राह्मी लिपि का रूप अशोक एवं कुछ पूर्ववर्ती काल के शिला लेखों में मिलता है। इसी लिपि से कालान्तर में—ई० सन् की प्रायः ८ वीं शताब्दि से—भारत की नागरी, शारदा (काश्मीरी), गुरुमुखी, बंगला, उड़िया आदि वर्तमान लिपियों का विकास हुआ।

कई हजारों वर्ष पूर्व लिपि का आविष्कार हो जाने पर भी मानव का वर्षों का अनुभव, ज्ञान, साहित्य, साधारण जन मे अधिक प्रसारित नहीं हो पाया क्योंकि लिखने का आविष्कार होने पर भी लिखने के साधनों की कठिनाई सामने रही। सर्वप्रथम तो स्यात् धातु की पैनी कलम से पत्थरों एवं शिलाओं पर ही मनुष्यों ने लिखा फिर चमड़े पर भी लिखा जाने लगा। भारतवर्ष में ताम्र एवं भोजपत्र पर लिखा जाने लगा,—एवं धातु पत्रों पर भी प्रशस्तियां, धर्म वाक्य इत्यादि लिखे जाने लगे।

प्राचीन मिश्र में तो पेपिरस पौधे की छाल एवं गूंदे को कूटकर एक प्रकार का कागज बनाया जाता था जिस पर लिखा जाता था और प्राचीन सुमेर में मिट्टी की टेबलेट्स पर। ऐसा भी अनुमान है कि मिस्र से बना कागज बेबीलोन और सिंध में भी जाता था। अर्वाचीन शकल में ज्ञात

---

*गो. ही. ओझा: "भारतीय प्राचीन लिपिमाला", पृ. २८-२९

कागज का आविष्कार सर्व प्रथम चीन में हुआ। कागज के आविष्कार के बाद भी साहित्य का सर्व-साधारण में प्रचलित होना सम्भव नहीं था, क्योंकि किसी लेख की हाथों से हजारों प्रतियां नकल करके लोगों में प्रसारित करना कोई बहुत आसान काम नहीं था। यह तो तभी सम्भव हो पाया जब आज से केवल ५०० वर्ष पूर्व सन् १४५० में यूरोप में छापेखाने का आविष्कार हुआ, और छापेखाने में मूल हस्त लिखित लेख की अनेक प्रतियां छपकर लोगों में फैलने लगीं। वैसे यूरोप में छापेखाने के आविष्कार के बहुत पहिले प्राचीन चीन में भी ब्लोक प्रिंटिंग (ब्लोक छपाई) का आविष्कार हो चुका था किन्तु वह ढंग अन्य देशों में प्रचलित नहीं हो पाया था। यूरोप में छापेखाने के आविष्कार के बाद भी, भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न लिपियों के छापेखानों के प्रचलित होने की बात तो केवल पिछले २५०–३०० वर्षों की ही है।* इसके पूर्व तो समस्त प्राचीन साहित्य, ज्ञान विज्ञान एवं दर्शन यत्र यत्र अज्ञात स्थानों में हस्तलिखित पोथियों में ही बद्ध पड़ा था।

कल्पना कीजिए–पृथ्वी के २ अरब वर्ष के इतिहास में–वास्तविक मानव के ५० हज़ार वर्ष के इतिहास में,–मानो कल ही सर्वसाधारण के लिये प्रकाश का द्वार खुला हो। अभी तो सर्वसाधारण को प्रकाश का आभास मात्र मिलने लगा है। कितना ज्ञान अभी सर्व साधारण तक पहुँचाना शेष है। कितना अनन्त प्रकाश "मानव" के लिये आत्मसात करना अभी शेष है।

अद्भुत इस सृष्टि की, अद्भूत इस मानव की कहानी है। यह कहानी तो अभी आरम्भ ही हुई है।

●

---

*सन् १६०० ई० में भीमजी पारिख नामक एक गुजराती व्यापारी ने सूरत की एक कम्पनी की सहायता से इंगलैंड से ८०० रु० मासिक वेतन पर एक अंग्रेज बुलाया। उसने हिन्दी के सभी अक्षरों को ढालकर हिन्दी-प्रेस को जन्म दिया।

(१४)

प्राचीन मेसोपोटेमिया

(सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, केल्डिया की सभ्यता)

ईरान (फारस) की खाड़ी के उत्तर में जो आधुनिक ईराक प्रदेश है, उसको इतिहासकारों ने मेसोपोटेमिया नाम दिया है—मेसोपोटेमिया का अर्थ है नदियों के बीच की भूमि। वास्तव में उत्तर पच्छिम से आती हुई दो नदियां यूफ्रेटीज (दजला) और टाईग्रीस (फरात) फारस की खाड़ी में गिरती हैं और इन दो नदियों के बीच की भूमि को मेसोपोटेमिया कहा गया है। आजकल तो फारस की खाड़ी में जहाँ ये दोनों नदियां गिरती हैं, उनका मुहाना एक ही है, किन्तु प्राचीन काल में आज से लगभग ८-१० हजार वर्ष पूर्व ये दोनों नदियाँ पृथक पृथक गिरती थीं और इन दोनों नदियों के मुहाने के बीच में भी काफी लम्बी चौड़ी भूमि थी। यही मुहानों के बीच की भूमि प्राचीन काल में सुमेर कहलाती थी, जिसमें प्राचीन काल के प्रसिद्ध नगर निपुर, उर, इरीदू, तेलअेल-ओबीद इत्यादि बसे हुए थे। उस समय फारस की खाड़ी का पानी भी आज की अपेक्षा अधिक ऊपर तक फैला हुआ था। इन हजारों वर्षों में दोनों नदियां अपनी मिट्टी से समुद्र को पाटती रहीं और फारस की खाड़ी की सीमा भी बदल गई। सुमेर प्रदेश से आगे उत्तर में प्राचीन काल में अक्काद प्रदेश था जिसकी राजधानी बेबीलोन थी। उससे भी आगे बढ़कर असीरिया प्रदेश था जिसकी राजधानी असुर थी। सुमेर, अक्काद और असीरिया ये तीनों प्रदेश सम्मिलित रूप में मेसोपोटेमिया कहलाते हैं, और तीनों प्रदेशों की प्राचीन सभ्यतायें काल क्रम में सबसे

पहिले सुमेर, सुमेर के बाद बेबीलोन, बेबीलोन के बाद असीरिया और फिर केल्डिया जाति के लोगों का दूसरा बेबीलोन साम्राज्य, इस प्रकार आती हैं। इन सब सभ्यताओं का प्रायः एक ही प्रवाह और तारतम्य था, और ये सब प्राचीन मेसोपोटेमिया की सभ्यता मानी जाती हैं।

इस सभ्यता का विकास कब और कैसे हुआ और किन लोगों ने किया ?—पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व स्पेन के पच्छिमी छोर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक, यथा फ्रांस, इटली, मिस्र, एशिया माइनर, भारत और चीन में नव-पाषाण युगीय स्तर की अर्द्ध-सभ्य अवस्था फैली हुई थी; जिसमें कृषि, पशुपालन, कृषि सम्बन्धी देव देवियों की पूजा और भेंट, मिट्टी के बर्तन बनाना इत्यादि बातें प्रमुख थीं। इसी अवस्था में से विकास पाकर सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित, सुमेर प्रदेश की वह सभ्यता बनी जिसके अवशेष हमें ६-७ हजार वर्ष ई० पू० तक के मिलते हैं। सबसे पहिले मानव के इतिहास में हम इस पृथ्वी पर नगर बसते हुए पाते हैं एवं लोगों को एक सभ्य सुसंगठित समाज बना कर रहता हुआ पाते हैं। सुमेर, बेबीलोन, असीरिया की सभ्यतायें सर्वथा लुप्त प्राय हैं—किन्तु उन लुप्त सभ्यताओं का चित्र एवं इतिहास जो आज हमने बनाया है, वह उन खुदाइयों के फलस्वरूप जो उक्त प्रांत में आज से कई दशक वर्ष पूर्व हुईं। इन खुदाइयों में उस प्राचीनकाल के अद्भुत नगर, महल, सड़कें, कुएं, मन्दिर, देवताओं की मूर्तियाँ, लेखनकला, अनेक लेख, मुद्रायें, मोहर, मिट्टी के बर्तन, चांदी सोने के आभूषण इत्यादि के अवशेष मिले हैं, जिनसे उन प्राचीन सभ्यताओं का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हुआ है। अभी अभी पिछले कुछ वर्षों में पेनसिलवेनिया और शिकागो विश्वविद्यालयों के अमरीकी पुरातत्व-गवेषकों को प्राचीन सुमेर के प्रसिद्ध नगर निपुर के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकतर शिलालेख उस समय के लोगों के निजी "लेखसंग्रहालयों" के हैं। इनमें से कुछ शिलालेख "शिक्ष ग्रंथों" और कुछ "निर्देश ग्रन्थों" के

रूप में प्रयुक्त किये जाते थे। इन शिलालेखों में कुछ में गणित के प्रश्न हैं और कुछ में कानूनी समस्यायें। एक शिलालेख में जनता को विद्याध्ययन के लिए निमन्त्रित किया गया है, और इस प्रकार शिक्षा के लिये लोगों को प्रेरित करने वाला यह सबसे प्राचीन लेख है। इतना असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सुमेरियन जाति उस जमाने की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ चुकी थी और वह धीरे धीरे समाज शासन व्यवस्था और वैयक्तिक उत्तरदायित्व के आदर्श की ओर अग्रसर हो रही थी।

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि सबसे प्राचीन सभ्यता कौनसी है ?–सबसे पहिले सभ्यता का विकास मिस्र में हुआ या सुमेर में,–या इन दोनों सभ्यताओं का विकास संसार में सबसे पहिले लगभग एक ही काल में पृथक पृथक स्वतन्त्र रूप से हुआ, या इन दोनों सभ्यताओं से भी पहिले अपने ही ढंग की (जैसा कि कुछ भारतीय पुरातत्ववेत्ता कहते हैं) भारतीय आर्य संस्कृति का एवं चीन में अपने ही ढंग की चीनी संस्कृति का विकास हुआ। जिस प्रकार आधुनिक काल में तरतीबवार समस्त संसार का इतिहास लिखा जाता है, यह बात उस पुराने जमाने में तो प्राय: थी ही नहीं, फिर भी उस जमाने के अवशिष्ट चिन्हों, मुद्राओं, धातुपत्र एवं शिलालेखों के आधार पर कुछ अनुमान इतिहासकारों ने लगाये ही हैं–एवं अब तक जो कुछ सामग्री अथवा जो कुछ भी तथ्य उस पुराने काल के मिले हैं–उससे कई पाश्चात्य विद्वानों की अब तक तो यही धारणा बनती है कि सुमेर की ही सभ्यता सबसे प्राचीन है। ईसा से पाँच-छः हजार वर्ष पहिले के जो अवशेष सुमेर में मिले हैं उतने पूर्वकाल के अवशेष मिस्र में भी जिसकी सभ्यता अतिपुरातन मानी जाती है, नहीं मिलते। भारत एवं चीन के पुरातन इतिहास के विषय में तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों का ज्ञान अभी अधूरा ही है। जो कुछ भी हो इतना तो हम देखते हैं कि थोड़े से ही पूर्वापर अन्तर से प्राचीन दुनिया में

प्रायः एक ही साथ चार संस्कृतियों का विकास होता है यथा दजला और फरात की नदियों की घाटी में सुमेर और बेबीलोन सभ्यता का, नील नदी की घाटी में मिस्र की सभ्यता का, भारत में सिन्धु नदी की घाटी में सिन्धु सभ्यता का (आर्य-सभ्यता नहीं) एवं ठेठ पूर्वीय चीन में ह्वांगहो और यांगटीसिक्यांग नदी की घाटियों में चीनी सभ्यता का। इतना ही नहीं कि इन नदियों की उपत्यकाओं में भिन्न भिन्न सभ्यतायें विद्यमान थीं, किन्तु अपनी सुविकसित अवस्थाओं में वे समकालीन भी थीं और परस्पर उनमें सांस्कृतिक एवं व्यापारिक विनिमय भी होता रहता था।

यहाँ यह बात देखने की है कि नदी की घाटियों में ही प्राचीन सभ्यताओं का विकास होता है, अन्य जगहों पर नहीं। इसका भौगोलिक कारण है। भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के जीवन एवं उसके विकास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्राचीन काल में मनुष्य स्थिर होकर उसी जगह ठहर सकता था, जहाँ वर्ष में बारहों महीने खेतों की सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध हो सके, पशुओं के लिए चारा मिल सके, और घर बनाने के लिए कुछ सामग्री उपलब्ध हो। ऐसी परिस्थितियाँ उपर्युक्त नदियों की घाटियों में विद्यमान थीं। मिस्र में नील नदी की घाटी में मिट्टी एवं ऐसा पत्थर जो आसानी से इमारतों के काम आ सके बहुतायत से मिलता था। मेसोपोटेमिया में यदि पत्थर नहीं था तो वहाँ एक प्रकार की ऐसी मिट्टी थी जो सूर्य की गर्मी से पककर पक्की ईंट की तरह बन जाती थी। इन नदियों की घाटियों में खूब घास पैदा होती थी, एवं अन्न के उत्पादन के लिए बारहों महीने सिंचाई का साधन था। अतएव ऐसे स्थलों पर मनुष्यों का स्थायीरूप से घर, गांव, नगर बनाकर बस जाना स्वाभाविक ही था। इन उपत्यकाओं में बहुत से लोग स्थायी रूप से बस गए। शनैः शनैः उनकी जनसंख्या में वृद्धि हुई, एवं उन्होंने संगठित सभ्यताओं का विकास किया।

इस सृष्टि में, इस पृथ्वी पर यह पहला ही अवसर था कि मानव स्थिर होकर एक जगह बसने लगा। उसमें सामाजिक चेतना और उत्तर-दायित्व का विकास हुआ, और प्राकृतिक परिस्थितियों को अपने लिये सुखद बनाने का उसने सामूहिक रूप से प्रयास किया।

इन नदियों की घाटियों के अतिरिक्त पृथ्वी पर दूसरी जगहों पर घुमक्कड़ लोग (Nomadic People) भोजन की तलाश में इधर उधर घूमा फिरा करते थे। इन लोगों की वजह से इतिहास का यह एक अपूर्वतम तथ्य बराबर बना रहा है कि शांत स्थिर बसे हुए लोगों में एवं इन घुमक्कड़ लोगों में बारबार संघर्ष चलता रहा है—नये घुमक्कड़ लोग आये हैं, पुराने बसे हुए लोगों को जीता है, या ये उन्हीं में घुल मिलकर वहीं बस गये हैं। एवं फिर नये घुमक्कड़ लोगों का प्रवाह आया है—और इस प्रकार सभ्यताओं का आरोहण अवरोहण, उत्थान पतन होता रहा है और इतिहास गतिमान रहा है।

सुमेर

सुमेर की सभ्यता का विकास सुमेरियन लोगों ने किया जो आज सर्वथा लुप्त है। कौन ये सुमेरियन लोग थे, कहाँ इनका उद्गम था यह सभी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। ये लोग आर्य, सेमेटिक, मंगोल, निग्रो सभ्यताओं के लोगों से अन्य ही लोग थे। इन सभ्यताओं से इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं बैठता। स्यात् ये वे ही भूरे या गहरे बादामी रंग (Brunet) के लोग थे जो नव-पाषाण युग में पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में प्रशांत महासागर तक भूमध्यसागर तटीय प्रदेशों में फैले हुए थे।

हाँ, कुछ विद्वानों की राय है कि सिंधु (भारत) से ही कुछ लोगों ने मेसोपोटेमिया जाकर आज से ७-८ हजार वर्ष पूर्व सुमेरी सभ्यता को जन्म दिया था। मेसोपोटेमिया में पहिले से ही नव-पाषाण युगीन उप-रोक्त भूरे रंग के लोग बसे हुए थे, उन्हीं में सिंधु लोगों के सम्पर्क से

संगठित सभ्यता का विकास हुआ। तो ये सिन्धु लोग कौन थे ? ये वे ही लोग थे जिनमें उस प्राचीन सिंधु (मोहेंजोदाड़ो हरप्पा) सभ्यता का विकास हुआ था जिस के विषय में कुछ विद्वानों द्वारा यह माना जाता है कि वह भारत की प्राचीन द्रविड़ जाति और आर्य जाति दोनों के मेल से बनी थी। इसमें संदेह नहीं कि सिंधु और सुमेर-बेबीलोन की सभ्यता बहुत मिलती जुलती है।

सुमेर के प्राचीन लोगों ने पहिले ग्राम बसाये और फिर ये ही ग्राम विकसित होकर नगर बने। कई नगरों के अवशेष मिले हैं जिनमें निपुर, निनेवेह, उर, लागश, किश और बेबीलोन मुख्य हैं। इन नगरों में पकी हुई चमकदार ईंटों के सुन्दर सुन्दर मकान बने हुए थे। मिट्टी के अनेक प्रकार के सुन्दर सुन्दर बर्तन एवं मूर्तियाँ उस प्राचीन काल की उपलब्ध हुई हैं। आरम्भ में प्रत्येक नगर का शासन अलग अलग था—वास्तव में ये छोटे छोटे नगर राज्य थे। इन नगरों के राजा होते थे। मंदिरों के पुरोहित, पुजारी एवं वैद्य, चिकित्सक, जादू-टोना करने वाले लोग ही राजा होते थे। प्रत्येक नगर का एक मुख्य देवता होता था—उस मुख्य देवता का नगर में एक मुख्य मन्दिर होता था, उस मन्दिर का पुरोहित (पुजारी) ही नगर का राजा होता था। धर्मगुरु एवं नगर का शासक एक ही व्यक्ति होता था।

नदियों में से नहरें निकालकर ये अपने खेतों को सींचते थे। नहरों द्वारा खेतों को सींचने की कला अद्भुत रूप से विकसित थी। गेहूँ, जौ की खेती मुख्यतया होती थी। गाय, बैल, भेड़, बकरी, गदहे इन लोगों के पालतू जानवर थे। घोड़े से ये लोग परिचित नहीं थे, जहाज-रानी उद्यम का भी ये लोग धीरे-धीरे विकास कर रहे थे। इनकी विचित्र एक लेखन कला थी; तत्कालीन मानव सभ्यता के लिये वह एक महान उपलब्धि थी। भावों को चित्रों से सूचित किया जाता था, जो भाव इस प्रकार सूचित नहीं किये जा सकते थे उनके लिये खण्ड शब्द थे, जो चित्र नहीं बल्कि ध्वनि सूचक चिन्ह होते थे। ये चिन्ह वस्तु या

भाव विशेष की सूचना देते थे। इस प्रकार यह पूर्ण चित्र लिपि नहीं किन्तु खंड चित्रलिपि थी। मिट्टी की छोटी छोटी टाइलों अर्थात् पट्टियों पर लकड़ी की नोकदार कलम से, सुमेरियन लोग, ये चित्र या शब्द-खंड कुरेदते थे (जिससे यह लिपि सूच्याकार या कीलाक्षर –Cunei form कहलाई); बाद में वे मिट्टी की टाइलें पकाली जाती थीं और इस प्रकार उनके लेख सुरक्षित रहते थे। यह भाषा और लिपि इतना विकास पा-चुकी थी कि इसमें व्यापार,काव्य और धर्म के जटिल भावों को भी अभि-व्यक्त किया जा सकता था। उक्त लिपि में सबसे पुराने लेख ३६०० ई० पू० तक के मिलते हैं; ३२०० ई० पू० से तो लिखित पट्टियों की एक शृंखला सी मिलने लगती है। २७०० ई० पू० तक सुमेरिया में विशाल पुस्तकालय स्थापित हो चुके थे जिनमें उक्त लिखित पट्टियाँ संगृहीत थीं। प्राप्त अवशेषों से पता लगा है कि इन पट्टियों में व्यापार, ज्योतिष, राज्यादेश, सम्राटों के जीवन सम्बन्धी बातें लिखी हुई थीं; धर्म सम्बन्धी विचार, यहाँ तक कि काव्यात्मक गीत और देव-प्रार्थनायें भी मिली हैं। इस तरह के बहुत से ऐसे लेख मिले हैं जिनसे उन लोगों के रहन-सहन और इतिहास का पता लगता है।

भिन्न भिन्न नगर राज्यों में आपस में लड़ाइयाँ और झगड़े होते रहते थे। अन्त में इरेच नामक नगर राज्य के राजा-पुरोहित ने समस्त सुमेर प्रदेश को मिलाकर एक साम्राज्य स्थापित किया जो फारस की खाड़ी से पच्छिम में भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। इस पृथ्वी पर स्यात् यह पहिला संगठित साम्राज्य था।

बेबीलोन

सुमेर प्रदेश में उपरोक्त नगर राज्य जब स्थित थे, उसी समय अरब रेगिस्तान की सेमेटिक जातियां इधर उधर घुमक्कड़ लोगों की तरह घूमा करती थीं। इन्हीं जातियों की अक्काद जाति के एक सरदार ने जिसका नाम **सार्गन** था, सुमेर पर हमला किया और वहां अपना

राज्य स्थापित किया। सार्गन जिसका ऐतिहासिक काल अनुमान से २७५० ई० पू० माना जाता है, इतिहास का प्रथम सैनिक शासक था। उसका राज्य विस्तार फारस की खाड़ी से भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। उसका साम्राज्य सुमेर-अक्काद साम्राज्य कहलाता है। सुमेरीयन लोगों की ही सभ्यता, लिपि, भाषा, देवपूजा, इत्यादि इन नये विजेताओं ने अपनाली। इस वंश के राजा ज्योंही कमजोर हुए तो सेमेटिक लोगों की एक अन्य जाति ने इस प्रदेश पर हमला किया, बेबीलोन नामका एक सुन्दर नगर बसाया अतएव उनका साम्राज्य भी बेबीलोन साम्राज्य कहलाया। इस जाति का प्रसिद्ध राजा हमुरबी हुआ जिसका काल लगभग २१०० ई० पू० अनुमानित किया जाता है। इसके राज्य काल में व्यापार की बहुत उन्नति हुई, शासन के संगठित नियत एवं कानून इस सम्राट ने बनाये। इतिहास में स्यात् यही सर्व प्रथम राजा था जिसने शासन सम्बन्धी एवं व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी कानून बनाये। इसके शासनकाल में कई बड़े बड़े नगर बसे, जिनके अब तो अवशेष मात्र मिट्टी के नीचे दबे हुए मिलते हैं। किन्तु इन भग्नावशेषों में विद्वानों को राजा हमुरबी द्वारा लिखे गये (जैसा ऊपर कहा गया है मिट्टी की पट्टियों पर खुदे हुए) अनेक पत्र मिले हैं—जो उसने राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अफसरों को लिखे थे और जिनमें उसने शासन संबंधी, तथा मंदिर, धर्म एवं काल गणना संबंधी अनेक आदेश दिये थे। इन पत्रों के अतिरिक्त पत्थर का एक लम्बा टुकड़ा भी मिला है जिस पर हमुरबी के शासन कानून अंकित हैं। उन पत्रों में जो आदेश हैं—उदाहरण स्वरूप वे इस प्रकार हैं—यूफ्रीटीज (दजला) नदी में व्यापारिक विकास एवं आवागमन में जितनी रूकावटें आती हैं उनको साफ कर देना चाहिये। कर समय पर एकत्र हो जाना चाहिये, एवं जो लोग कर अदा नहीं करते हैं उनको सजा मिलनी चाहिये। बेईमान न्यायाधीशों एवं राज कर्मचारियों को भी न्याय के सामने प्रस्तुत होना पड़ेगा, इत्यादि इत्यादि।

उपरोक्त "प्राप्त पत्थर" में जो कानून खुदे हैं उनमें से कुछ इस

प्रकार हैं:—

(१) यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीटे तो उसका हाथ काट दिया जाय। (२) जो किसी की आँख फोड़े तो उसकी आँख फोड़ दी जाय। (३) किसी कारीगर की लापरवाही से यदि मकान गिर जाय तो मकान वाले का जो नुकसान हो वही नुकसान कारीगर का किया जाय। (४) नहरों को खराब करने वाले को कड़ी सजा दी जाय, इत्यादि।

राजा के, उपरोक्त पत्रों में जो आदेश लिखित हैं, एवं पत्थर पर जो कानून खुदे हुए हैं, उनसे उस प्राचीन काल की समाज व्यवस्था के विषय में बहुत कुछ मालूम होता है। यह सामाजिक व्यवस्था काफी संगठित एवं विकसित थी। तीन श्रेणी के लोग समाज में थे—

१. उच्च वर्ग—जिसमें पुरोहित, पुजारी, शासनकर्त्ता, राज्य कर्मचारी लोग थे।

२. मध्यम वर्ग—जिसमें विशेषतः व्यापारी थे।

३. गुलाम—जिसमें विशेषतः खेतीहर मजदूर, नौकर थे।

ऐसा भी अनुमान होता है कि स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊंची थी। स्त्रियां बहुधा व्यापार भी किया करती थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा का प्रचलन था किन्तु स्त्रियों को तलाक का अधिकार था।

व्यापार, बैंकिंग (लेन देन), खेती, सिंचाई के लिये नहरें, एवं नगरों की स्वच्छता के लिये नालियां, इत्यादि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

हमुरबी की मृत्यु के पश्चात साम्राज्य फिर तितर बितर हो गया। १७०० ई०पू० में इसका पतन होना प्रारम्भ हुआ, किन्तु, ८ वीं शती ई० पू० तक किसी प्रकार यह चलता रहा। नये सेमेटिक लोग इस प्रदेश में आगये, जिन्होंने सब व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। बेबीलोन की सभ्यता से वे कुछ भी लाभ नहीं उठा सके। बेबीलोन की प्राचीन भाषा भी समाप्त हो गई एवं उसकी जगह एक प्रकार की सेमेटिक भाषा का जो उस जमाने की यहूदी भाषा से कुछ कुछ मिलती

जुलती थी, प्रचलन हो गया।

बेबीलोन के लोगों ने सुमेरियों की ही लेखन कला को अपनाकर उसे अधिक उन्नत कर लिया था। मिट्टी की पट्टियों पर धातु की कलमों से लिखा जाता था। इस प्रकार पुस्तकें लिखी जाकर मन्दिरों में रक्खी जाती थीं। उस काल का एक महाकाव्य मिला है। जो "गिलगमिश" महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है। अनेक दन्त-कथायें भी उन लोगों में प्रचलित थीं। उन लोगों में सृष्टि रचना और महाप्रलय की एक कहानी प्रचलित थी जो एक चट्टान पर लिखी हुई मिली है। लगभग २००० ई० पू० में इन सबका अस्तित्व होना चाहिये। सृष्टि रचना और प्रलय की इसी कहानी को बाद में यहूदियों ने अपनी बाइबल में अपना लिया, और यहूदियों की बाइबल से मुसलमानों ने अपनी कुरान में।

बेबीलोन में गणित, ज्योतिष, इतिहास, चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण, दर्शन का भी ज्ञान था, जिससे कालांतर में जूडिया, फिलस्तीन, सीरिया, अरब और ग्रीस के लोग भी प्रभावित हुए।

असीरिया

जब बेबीलोन साम्राज्य खत्म प्रायः हो रहा था तो टाईग्रीस, युफ्रीटीज इन दो नदियों की घाटी के उत्तर भाग में एक नये राष्ट्र का उदय हो रहा था। इस नये राष्ट्र का मुख्य नगर असुर था, जिससे इस राज्य का नाम ही असीरिया हुआ। असुर पहले एक छोटासा नगर राज्य ही था। यहाँ के निवासियों ने बेबीलोन की सभ्यता से ही काल-गणना, लेखन कला, मूर्तिकला एवं सभ्यता की अन्य बातें सीखीं। असीरियन लोगों ने सीरिया, इजराइल, जूडिया एवं मिस्र साम्राज्य के भी कई भागों पर कुछ काल के लिए विजय प्राप्त की एवं अपना एक महान असीरीयन साम्राज्य स्थापित किया। इस साम्राज्य का सर्व प्रथम प्रसिद्ध सम्राट सार्गन द्वितीय था जिसका काल ७२२–७०५ ई० पू० माना जाता है। सार्गन के पुत्र सेनाकरीब (७०५–

६८१ ई० पू०) ने प्रसिद्ध बेबीलोन नगर को तो विध्वंस कर दिया किन्तु उसने एक नया शानदार नगर बसाया जिसका नाम निनेवेह था; इसी नगर को सेनाकरीब ने असीरियन साम्राज्य की राजधानी बनाया। इसी नगर में सम्राट ने एक बहुत विशाल महल बनवाया। इस महल में अलबस्टर पत्थर पर चित्रित अनेक चित्र मिले हैं। इन चित्रों में सम्राट की विजयों का चित्रण है एवं सिंह और अन्य जंगली जानवरों के शिकार के भी चित्र हैं। ये सब चित्र कलापूर्ण ढंग के हैं। इस महल से लगे हुए अनेक सुन्दर सुन्दर उद्यान भी थे। सेनाकरीब सम्राट का पौत्र असुरबनीपाल बड़ा विद्या प्रेमी था। अपने राज्यकाल में उसने एक विशाल पुस्तकालय बनवाया और जितने भी मिट्टी की पट्टियों पर प्राचीन लिखित लेख अथवा पत्र(Documents)उसको मिले वे सब उसने अपने पुस्तकालय में संगृहीत किये। उपरोक्त सेनाकरीब द्वारा निर्मित महलों में लगभग ३ लाख मिट्टी की पट्टियों पर लिखित उस काल के धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक लेख मिले हैं। ये पट्टियाँ अब ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में सुरक्षित हैं। उस काल की ऐतिहासिक बातें इन्हीं रिकार्डों से उद्घाटित हुई हैं। इस प्रकार असुरबनीपाल का राज्य 'ज्ञानोदय' का राज्य था।

किन्तु सम्राट को अनेक जाति के लोगों को दबाकर अपने आधीन रखना पड़ता था, और यह काम सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के बल पर कर सकता था। इस दृष्टि से असीरीयन राज्य एक सैनिक साम्राज्य ही था। असीरीयन राज्य के विरुद्ध विद्रोह चलते ही रहते थे। इसी प्रकार ६०६ ई० पू० में असीरीयन लोगों के साम्राज्य का दक्षिण की ओर से बढकर आती हुई सेमेटिक लोगों की केल्डिया (खाल्दी) नामक एक जाति द्वारा अन्त किया गया—निनेवीह नगर पर कब्जा कर लिया गया और मेसोपोटेमिया की भूमि पर केल्डियन साम्राज्य की स्थापना हुई। असीरीयन लोगों की इस हार पर उन प्रदेशों की कई छोटी छोटी जाति के लोगों को जैसे जूड़िया के यहूदी, फिलसतीन के फिलसतीन लोग एवं

सीरीया के सीरीयन लोगों को बहुत ही खुशी हुई, ऐसा एक विवरण यहूदी लोगों की प्राचीन धर्म पुस्तक "प्राचीन बाइबिल"(Old Testament) में आता है।

केल्डिया (खल्द)

इस साम्राज्य का सबसे महान् सम्राट नेबूकाड्रेजार (Nebuchadrazzar) था–जिसने असीरीयन साम्राज्यकाल में विध्वंस्त पुराने बेबीलोन नगर को फिर से बनवाया और उसे अपने साम्राज्य की राजधानी चुना। इस सम्राट का शासन काल ६०४–५६१ ई० पू० था। पड़ोस की सब छोटी छोटी जातियों को जीतकर इस सम्राट ने अपने आधीन किया। जूडिया के यहूदी लोगों को वहाँ से हटाकर वह अपनी राजधानी बेबीलोन में लेगया और वहीं उनको बसाया। सम्राट ने बेबीलोन नगर को बहुत सुन्दर एवं समृद्ध किया। नगर में एक बहुत विशाल और सुन्दर महल बनवाया– इतना सुन्दर कि जितना मेसोपोटेमिया में किसी सम्राट के राज्यकाल में नहीं बना था। अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिये उसने संसार प्रसिद्ध झूलते बाग (Hanging Gardens) भी बनवाये।

झूलते बाग—प्राचीन बेबीलोन के लोग अनेक देवी देवताओं को पूजते थे। देवताओं के सुन्दर सुन्दर विशाल मन्दिर बनवाये जाया करते थे–जिनमें बड़े बड़े पुजारी पुरोहित लोग रहते थे। बहुधा शासक या सम्राट ही प्रधान पुरोहित भी होता था। बेबीलोन के सम्राट नेबूकाड्रेजार ने एक बहुत विशाल, स्तम्भशैली (Towerlike) का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर बहुत ऊंचा था और इसके अनेक खंड थे। प्रत्येक खंड के बारजों (Balconies) में सुन्दर सुन्दर पुष्पित पौधे, वृक्ष एवं उद्यान लगाये गये थे–मानों मुख्य भवन के भिन्न भिन्न खंडों के बाहर की ओर झरोखों में ये घने पुष्पित पौधे और उद्यान ऐसे लग रहे हों जैसे आकाश में लटक रहे हैं। आश्चर्यजनक इंजीनियरिंग ढंग से

इस प्रकार एक नहर बनाई गई थी जो कि मन्दिर के चारों ओर शिखर से ऐड़ी तक बहती रहती थी, झरोखों पर लगे उद्यानों को सींचती रहती थी और मन्दिर के समस्त भवन को ठण्डा और खुशनुमा बनाये रखती थी। ये झूलते बाग प्राचीन काल की दुनिया की सात आश्चर्यजनक चीजों में से एक हैं। इनकी प्रसिद्धि उस काल के सभी प्रदेशों में फैली हुई थी। पिछले कुछ वर्षों में जब ऐतिहासिक खुदाइयां ईराक में हो रही थीं—तब इन झूलते उद्यानों के अवशेष मिले थे।

केल्डियन साम्राज्य काल में कला कौशल एवं व्यापार की बहुत उन्नति हुई। बेबीलोन उस प्राचीन कालीन दुनिया का एक बहुत ही धनिक और समृद्धिवान नगर माना जाता था। केल्डियन लोगों ने विशेषतया नक्षत्र विद्या में उन्नति की। इन लोगों को १२ राशियों का ज्ञान था—एवं जूपीटर, मार्स वीनस, मर्करी, एवं शनि आदि ५ ग्रहों का भी इनको ज्ञान था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन सुमेरियन लोगों के काल (लगभग ६ हजार वर्ष ईसा पूर्व) से प्रारम्भ होकर यूफ्रिटीज और टाईग्रीस (दजला, फरात) नदियों की मेसोपोटेमिया उपत्यका में एक प्राचीन समृद्धिवान सभ्यता का उदय और विकास हुआ। कुछ इतिहासज्ञों की राय में यही सभ्यता संसार की सर्व प्रथम सभ्यता थी, और मिश्र, ईरान, सिंध आदि देश के लोगों ने सभ्यता का पाठ यहीं से पढ़ा। केल्डीयन लोगों का राज्य जब इस प्रदेश पर था—उनके अंतिम समय में उत्तर में ईरान के आर्य्य लोगों के यहाँ अनेक हमले हुए—और ५३८ ई० पू० में मीडीया और इरान के आर्य्य लोगों ने इस साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। इन आर्य्य लोगों के बाद आधुनिक काल तक मेसोपोटेमिया में पहिले ग्रीक, फिर रोमन, फिर अरब और तुर्क लोगों के साम्राज्य क्रमशः स्थापित हुए। प्राचीन नगरों का विध्वंस हुआ—नये नगर स्थापित हुए आज के प्रसिद्ध नगर हैं बगदाद, बसरा इत्यादि,—

इस प्रदेश का नाम है ईराक और वहां के रहने वाले हैं अधिकतर अरब जाति के मुसलमान। आज (१९५०) ईराक में अरब जाति के सुल्तान का राज्य है।

प्राचीन मेसोपोटेमिया सभ्यता की विशेषतायें

मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरीया, केल्डिया) सभ्यता के प्रारम्भिक काल में कुछ छोटे छोटे नगर राज्य थे। इन नगर राज्यों के शासक पुरोहित होते थे, जो मन्दिर के पुजारी होते थे। इन प्राचीन सभ्यताओं का आरम्भ ही मानों मन्दिरों के साथ साथ हुआ। मन्दिरों में अद्भूत शकल सूरत वाले देवताओं की मूर्तियाँ होती थीं। ये मूर्तियाँ या तो स्वयं देवता मानी जाती थीं या लोगबाग इन मूर्तियों को देवताओं के प्रतीक समझते थे। कृषि से सभ्यता का आरम्भ हुआ था एवं कृषि की उपज से सम्बन्ध रखने वाले इनके देवता थे—सूर्य देवता, प्रकृतिदेवी, वृषभदेव। इन देवताओं के नाम इनकी अपनी भाषा में दूसरे ही थे। लोगों का समस्त धार्मिक जीवन इन देवताओं, पुरोहितों और मन्दिरों में ही सीमित था। देवताओं की कृपा दृष्टि से ही अच्छी फसल पैदा होती थी, बीमारियां दूर होती थीं और युद्ध में शत्रुओं की हार होती थी, एवं उनकी कोप दृष्टि से ही समस्त विपरीत बातें होती थीं। इसीलिये पुरोहित और पुजारी लोग ही शासक होते थे। मन्दिर ही उस काल के ज्ञान विज्ञान, शिक्षा और कला के केन्द्र थे जहाँ पुजारी लोग सर्वसाधारण को बतलाते थे कि अमुक समय में बीज बोने चाहिए,—अमुक समय में धान काटना चाहिए, इत्यादि। मन्दिरों में ही जादू टोना और दवाइयों से बीमारियां ठीक की जाती थीं। मन्दिरों में ही उस काल में लिखाई पढ़ाई का काम होता था। उस काल में बड़े बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बने हुए थे। प्रत्येक नगर का अपना मुख्य देवता और उसका मुख्य मन्दिर होता था; प्रत्येक व्यक्ति भी किसी इष्ट देव या इष्ट देवी में मान्यता रखता था। उस काल में बेबीलोन

का मुख्य देवता "बाल मार्दूक" था, इस देवता का नगर में एक विशाल मन्दिर था। "इष्टर" प्रमुख देवी थी, जो सौन्दर्य, प्रेम और सृष्टि की मातृदेवी मानी जाती थी। धीरे धीरे ज्यों ज्यों समाज बढ़ने लगा; भिन्न भिन्न नगर राज्य सम्पर्क में आने लगे, परस्पर व्यापार बढ़ने लगा, त्यों त्यों भिन्न भिन्न नगर राज्यों एवं जातियों में झगड़े एवं युद्ध होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में एक केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होने लगी जो युद्धों का संचालन कर सके और शासन कार्य भी चला सके। इस प्रकार धीरे धीरे पुरोहित-पुजारी वर्ग से पृथक ही शासक वर्ग का उत्थान हुआ। शासक वर्ग में से सम्राट पैदा हुए, उनके नीचे प्रभावशाली कर्मचारियों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ। धीरे धीरे मन्दिरों की अपेक्षा राजाओं के दरबार (कोर्ट) अधिक महत्वशाली होगये और उनके बनाये हुए नियमों और आज्ञाओं से समाज का परिचालन होने लगा। यद्यपि शासक, राजा और सम्राट, पुरोहितों से अब पृथक वर्ग के लोग हो चुके थे तथापि समाज के साधारण लोगों के मानस पर पुरोहितों का साम्राज्य बना हुआ था। ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आती थीं जब सम्राटों को, पुरोहितों को अपना पोषक और सहायक मानकर चलना पड़ता था। यहाँ तक कि असीरीयन जाति का राज्य जब बेबीलोन पर हुआ तब उस विदेशी जाति को बेबीलोन के देवता "बाल मार्दूक" को मान्यता देनी पड़ी, उसकी पूजा करनी पड़ी, और तभी प्रजा का सहयोग उसे प्राप्त हो सका।

मेसोपोटेमिया की सभ्यता और संगठित राज्य की स्थिति प्रायः ६००० ई० पू० से प्रारम्भ होकर ५०० ई० पू० तक, इस प्रकार लगभग ५-६ हजार वर्षों तक,बनी रही। इसमें साम्राज्य काल तो पिछले ढ़ाई तीन हजार वर्षों का रहा। हमने देखा है कि इस लम्बे अरसे में मेसोपोटेमिया में सुमेर, अक्काद असीरिया और केल्डिया इत्यादि प्रदेशों की जातियों के शासक और सम्राट एक के बाद दूसरे आये। इन लोगों ने अनेक बड़े बड़े महल, मन्दिर, उद्यान सड़कें इत्यादि बनवाईं, व्यापार बढ़ाया,

कला-कौशल, नक्षत्र-विद्या, साहित्य की उन्नति की। एक के बाद दूसरे शासक आये, इस प्रकार कई हजार वर्षों तक समाज-शासन चलता रहा; जन साधारण के जीवन का प्रवाह वही था—खेती करना, गरीबी में रहना और शासक को अपना लगान चुका देना;—पुरोहित से अपनी भलाई बुराई पूछ लेना और मन्दिर में उत्सव के समय सेवा भेंट में अन्न चढ़ा देना। जो कारीगर, शिल्पी लोग थे वे सम्राटों, पुरोहितों और अन्य धनिकों के लिये मकान, महल और मन्दिर बनाने में लगे रहते थे—उनको सजाने के लिये लकड़ी, धातु, हाथी दांत, मिट्टी इत्यादि की कलापूर्ण वस्तुयें बनाते रहते थे। जुलाहे, रंगरेज, खाती, सुनार, कुम्हार, लोहार, मूर्ति-कार, आदि अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख बेबीलोन के साहित्य में मिलता है। व्यापारी लोगों का बाजारों में व्यापार चलता रहता था। बेबीलोन और निनेवेह के प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में मिस्र, अरब, भारत, चीन की चीजों का व्यापारियों में परस्पर लेन देन होता रहता था।

गेहूँ, जौ, मक्का की खेती होती थी। अनाज हाथ से पीसा जाया करता था और ईंट के चूल्हों पर रोटियाँ पकाई जाती थीं। खजूर एवं अन्य फल भी पैदा होते थे। भेड़, बकरी एवं चौपायों का पालन होता था। ऊन के सुन्दर वस्त्र बनते थे। रुई के कपड़े भारत से, एवं रेशम के कपड़े चीन से आते थे। इन लोगों की सबसे अधिक समृद्ध एवं सुन्दर कला मिट्टी के बर्तनों की थी—जिन पर सुन्दर पोलिश होती थी और उस पर चित्रकारी। मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला का इतना विकास नहीं होपाया था जितना मिस्र में हुआ—क्योंकि इस प्रदेश में पत्थर सरलता से उपलब्ध नहीं होता था। खेती, ऊन, खजूर, और मिट्टी के बर्तन ये ही वस्तुयें यहाँ समृद्धि की आधार थीं।

स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान था, उन्हें धन और सम्पत्ति पर भी निजी अधिकार प्राप्त था। पहिले तलाक का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था—किन्तु सभ्यता की पिछली शताब्दियों में यह अधिकार उन्हें नहीं रहा।

मेसोपोटेमिया की इस दीर्घकालीन सभ्यता और साम्राज्य की तुलना कीजिए आधुनिक ऐतिहासिक काल से। कहाँ उनका ५-६ हजारों वर्षों का लम्बा जीवन, कहां आधुनिक ऐतिहासिक काल का कुछ ही शताब्दियों का जीवन। ऐसा प्रतीत होता है उस समय जीवन, और समाज और इतिहास मानों बहुत धीरे धीरे सरकता था। आज के पिछले १५० वर्ष में तो समाज और इतिहास की चाल बहुत ही तीव्रगामी रही है।

●

(१५)

प्राचीन मिस्र की सभ्यता

जब सुमेर में सुमेरियन सभ्यता का विकास हो रहा था, प्रायः उसी समय नील नदी की घाटी मिस्र में मिस्र की प्राचीन सभ्यता का विकास हो रहा था। जैसा पहिले उल्लेख कर आये हैं यह निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सुमेर और मिस्र की सभ्यता में कौनसी सभ्यता अपेक्षाकृत पुरानी है और न यही कहा जा सकता कि इन दोनों का उद्गम एक ही था या भिन्न भिन्न। कौन ये लोग थे जिन्होंने इस प्राचीन मिस्र की सभ्यता का विकास किया। इन प्राचीन मिस्र के लोगों का सम्बन्ध किसी भी आधुनिक प्रजाति के साथ तो नहीं जोड़ा जा सकता। मिस्र में प्राचीन पाषाण काल के चिन्ह मिलते हैं, तदुपरान्त नव-पाषाण कालीन खेती पशुपालन इत्यादि के अवशेष भी। किन्तु फिर एक व्यवधान सा पड़ जाता है, और ५७०० ई० पू० में फिर जब मिस्र के इतिहास पर से परदा उठता है तो हमें वहां पाषाण युगीय लोगों से सर्वथा भिन्न प्रकार के लोग दृष्टिगोचर होते हैं, जो काफी

सभ्य हैं और शनैः शनैः अपनी सभ्यता का विकास करते जाते हैं। कहां से मिस्र में नये लोगों का आगमन हुआ, या मिस्र में ही इनका उदय हुआ यह निश्चित नहीं। इस संबंध में लंदन विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध मानव-विकास शास्त्रवेत्ता श्री पेरी महाशय का तो यह मत है कि इस पृथ्वी पर मिस्र में ही सर्व प्रथम सभ्यता का विकास हुआ और यहीं से दुनिया के अन्य लोगों ने सभ्यता सीखी। अपनी पुस्तक "सभ्यता का विकास"*में बहुत ही पांडित्यपूर्ण ढंग से वे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि प्राचीन पाषाण काल के मानव की स्थिति से नव-पाषाण काल के मानव की स्थिति तक क्रमवार विकास केवल मिस्र में ही हुआ। मिस्र में ही ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक सुविधायें थीं कि वहाँ के लोगों ने सर्व प्रथम खेती का आविष्कार कर लिया और वहीं से फिर खेती की कला पहिले समीपस्थ देशों में यथा मेसोपोटेमिया, फारस में फैली और फिर भारत, चीन एवं यूरोप के पच्छिमी भागों में। इस खेतिहर स्थिति से ही विकासमान होकर मिस्र के लोगों ने सुसंगठित समाज की सर्वप्रथम स्थापना की, एवं स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, लेखनकला, ज्योतिष इत्यादि का सुविकसित रूप प्राप्त किया। कुछ पौर्वात्य विद्वानों का यह मत है कि वे लोग जिन्होंने मिस्र सभ्यता का विकास किया उसी नस्ल के थे जिसके, उनके मतानुसार, सुमेरियन लोग थे। सुमेरियन लोगों को ये विद्वान प्राचीन द्रविड़ एवं आर्य जाति के सम्मिश्रण से बना मानते हैं। सिन्ध से या भारत के पच्छिमी किनारे से जहाजों में ये लोग अफ्रीका पहुंचे होंगे।

प्राचीन मिस्र के इन लोगों की सभ्यता और वे लोग स्वयं कई हजार वर्षों तक इतिहास में पनपकर, अपना नाटक खेलकर अन्त में लुप्त हो गये। आज तो उस प्राचीन सभ्यता के केवल अवशेष मिलते हैं जिनसे अवश्य यह ज्ञात होता है कि यह सभ्यता थी बहुत विकसित।

---

*W.J. Perry : *The Growth of Civilization, 1928.*

ये ही वे लोग थे जिन्होंने संसार प्रसिद्ध 'पिरेमिड' (समाधियां, स्तूप) बनाये थे जो आज भी हम लोगों के लिए एक अद्भुत आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं।

मिस्र और सुमेर का परस्पर सम्पर्क था। मिस्र के लोगों के रहन सहन का ढंग, इनके देवता और पूजा का ढंग एवं इनकी लेखन विधि और भाषा सुमेर से प्रायः भिन्न थी यद्यपि सभ्यता और संस्कृति के आधार तत्व साधारणतया एक से थे। ये लोग भी लिखते तो थे एक प्रकार की चित्रलिपि किन्तु सुमेरियन चित्र लिपि से भिन्न एवं सुमेरियनों की तरह मिट्टी की टाइल पर नहीं किन्तु पेपीरस रीड पर। पेपीरस एक छालदार वृक्ष होता था जो नील नदी की घाटी में बहुतायत से उत्पन्न होता था। वह वृक्ष आजकल मिस्र के केवल उत्तरी भाग में कहीं कहीं पैदा होता है। इन्हीं पेपीरस रीड पर लिखे हुए लेखों से मिस्र के लोगों के इतिहास, धर्म, रहन-सहन, इत्यादि का पता लगता है। मिस्र के राजा सुमेरियन राजाओं की तरह "पुरोहित-राजा" नहीं होते थे किन्तु राजा स्वयं देवता की ही प्रतिमूर्ति या देवताओं के ही वंशज माने जाते थे। ये शासक "फेरो" (Pharaoh) कहलाते थे। मिश्र के इतिहास का कालक्रम वहां के फेरों की वंश परम्पराओं की संख्या से निर्देशित किया जाता है—जैसे प्रथम वंश, द्वितीय वंश इत्यादि। जिस काल में मिस्र के राजाओं का प्रथम राज्यवंश प्रारम्भ होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस काल से भी पूर्व कुछ शासक लोग वहां शासन कर चुके थे। ऐसा मान सकते हैं कि प्रायः ५००० ई० पू० से सामाजिक जीवन संगठित होने लगा—और इस प्रकार धीरे धीरे ३४०० ई० पू० में प्रथम राज्य वंश की वहां स्थापना हुई। फेरों के शासन काल को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

१. प्राचीन राज्य काल (३४०० से २७०० ई० पू० तक)—
   इसे पिरेमिडों का युग भी कहा जाता है।
२. मध्य राज काल (२७०० से १८०० ई० पू० तक) इसे

सामन्तवादी युग भी कहा जाता है।

३. साम्राज्य काल (१६०० से १००० ई० पू० तक)

प्राचीन राज्य काल—३४०० ई० पू० में दक्षिणी मिस्र के सम्राट मीने (Menes) ने उत्तरी मिस्र के राज्य को जीतकर एक बृहत् संयुक्त राज्य की एवं प्रथम ऐतिहासिक राजवंश की स्थापना की। एक नया नगर मैमफिस अपनी राज्यधानी बनाया। इस काल में दस वंशों ने राज्य किया। राजा जोसेर (३१५० ई० पू०) के राज्यकाल में शायद सर्वप्रथम सुज्ञात ऐतिहासिक पुरुष हुआ जिसका नाम इम होतेप था। इम होतेप महान् औषध एवं चिकित्सा शास्त्री, वास्तुकार एवं अनेक कलाओं और विज्ञानों का संस्थापक था। उसी ने वास्तु (भवन निर्माण) कला की परम्परा स्थापित की जिसके आधार पर ही मिस्र के अद्भुत पिरेमिडों का निर्माण हुआ, एवं अनेक विशाल प्रस्तर मूर्तियों का भी। चतुर्थ राजवंश के सबसे पहले सम्राट खुफु (ग्रीक नाम चिपोस) ने गिजेह नगर में सबसे पहला महान् पिरेमिड बनवाया। उसी के उत्तराधिकारी सम्राट खफरे ने दूसरा विशाल पिरेमिड बनवाया। इसी काल में मिस्र का प्रसिद्ध स्फिन्कस् बना। छठे राजवंश के आते आते फेराओं (सम्राटों) का राज्य ढीला पड़ गया, स्थानीय जमींदार और सामन्त स्वतन्त्र होने लगे और मिस्र कई छोटे छोटे राज्यों का समूह बन गया।

मध्य राज काल (सामन्ती युग)—लगभग तीन सौ वर्ष तक मिस्र का इतिहास अशान्ति और अन्धकार पूर्ण रहा। पिरेमिड युग के बाद कई दुर्बल राजा सिंहासन पर आये। सम्राट का अधिकार केवल नाम मात्र का रह गया। पुरोहित वर्ग ने अपनी शक्ति काफी बढ़ाली तथा सामन्तशाही व्यवस्था देश में प्रचलित हो गई। ये छोटे छोटे राज्य आपस में लड़ा करते थे। इसी समय उत्तर से हिकासों तथा दक्षिण से नुबियनों के आक्रमण हुए जिन्होंने कुछ समय तक मिस्र पर अपना अधिकार भी कर लिया। किन्तु इस राजनैतिक अशान्ति ने मिस्र के सांस्कृतिक विकास में विशेष बाधा न डाली। इस काल का सब से

प्रतापी राजा आमेन होतप तृतीय हुआ जिसने अनेक किले तथा बाँध बनवाये। फैय्यूम में उसने प्रसिद्ध भूल भुलैया तथा स्फीन्कस बनवाया। उसकी मृत्यु के बाद राज्य छिन्न भिन्न हो गया तथा हिकासों का मिस्र पर अधिकार हो गया।

नया साम्राज्य काल–ई० पू० १६०० के लगभग मिस्र के नगर थीब्ज के निवासियों ने आहमीज नामक फरोआ के नेतृत्व में हिकासों आदि विदेशियों को मिस्र के बाहर निकाल दिया। इसने दक्षिण के विद्रोहियों और नुबियनों का दमन करके मिस्र को एकता के सूत्र में बाँध दिया। इसके समय में सामन्तों का अन्त हो गया और सारी भूमि राज शासन में आ गई। इसने एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण कर, सीरिया, फिलिस्तीन, साइप्रेस आदि पर चढ़ाई की। इस काल में मिस्र में घोड़े, रथों और नये शस्त्रों से सुसज्जित एक नये ढंग की स्थायी सेना का निर्माण भी हुआ। आन्तरिक सुव्यवस्था, आर्थिक समृद्धि तथा कला और विद्या की अभूत पूर्व उन्नति होने के कारण आहमीज का शासन काल मिस्र के इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से विख्यात है। इसके उत्तराधिकारियों में थुतमस प्रथम (१५४५ ई० पू० से १५१४) एक महान् विजेता हुआ जिसने मिस्र के साम्राज्य को नील के चौथे प्रपात तक पहुँचा दिया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पुत्री 'हेतशेप्सुत' रानी बनी। वह बड़ी पराक्रमी और तेजस्वी थी। यह संसार की प्रथम महान् स्त्री-शासक कही जा सकती है। इसके राजकाल में चित्रकारी और वास्तु कला ने विशेष उन्नति की। उसने अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण किया। हेतशेप्सुत की मृत्यु के बाद १४७९ ई० पू० में उसका पति थुतमस तृतीय मिश्र के सिंहान पर बैठा। यह बड़ा पराक्रमी और विजेता था जिसने सूडान, फिलीस्तीन, सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों पर अपना अधिकार कर लिया। अपनी इन्हीं विजयों के कारण वह मिश्र का 'नैपोलियन' कहलाता है। कारनाक के प्रसिद्ध मन्दिर की दीवारों पर इसी सम्राट के वीर कृत्यों को चित्रों में अंकित किया गया

है। इसका तीसरा उत्तराधिकारी आमेनहोतप चतुर्थ (१३७५ ई० पू० से १३५८ ई० पू०) शान्ति और धर्म का प्रेमी था। उसके विचार क्रान्तिकारी थे। मन्दिर की अगणित देवदासियों को वह निन्दनीय समझता था। उसने मिस्र में एकश्वरवाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया। वह आतोन का उपासक था। उसने इखनातोन नामक नवीन नगर बसाया और स्वयं भी इखनातोन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसने मन्दिरों और पुजारियों को कोई महत्व नहीं दिया। इसकी मृत्यु के बाद योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में मिस्र की शक्ति का ह्रास होने लगा। इस प्रकार मिस्र में लगभग चार हजार वर्ष या इससे भी अधिक समय तक 'राज्य वंश' स्थापना के पूर्व के राजा एवं भिन्न भिन्न "राज्य वंशों" के राजा शासन करते रहे। इन चार हजार वर्षों में उत्तर में मेसोपोटेमिया के बेबीलोन एवं असीरीयन राजाओं से मिस्र के फेरों के युद्ध हुए, अनेक इनकी संधियाँ हुईं। कभी मिस्र के फेरों का साम्राज्य विस्तार हुआ, कभी बेबीलोन साम्राज्य का विस्तार। एक बार मिस्र पर अरब के अर्द्ध-सभ्य बद्दुओं के घोर आक्रमण भी हुए, यहाँ तक कि उन्होंने १८०० ई० पू० के आसपास समस्त मिस्र पर अधिकार जमा लिया और कई शताब्दियों तक वे वहाँ राज्य करते रहे। इन्होंने जिस राज्य कुल की स्थापना की वह 'हिक्सो (Hyksos) कुल' कहलाया। कई शताब्दियों तक मिस्री लोग इनके आधीन रह कर अन्त में उठे, हिक्सो राजाओं को मिस्र से निकाल बाहर किया और फिर प्राचीन मिस्री फेरो शासक बने। इन अरबों के अतिरिक्त मिस्री लोगों और शासकों का संबंध तत्कालीन अन्य जातियों से भी रहा। कहते हैं कि लगभग २००० ई० पू० में बेबीलोन साम्राज्य के एक प्रसिद्ध नगर 'उर' के वासी संत अबराहम (जो यहूदियों की बाइबल के ही अबराहम हैं और मुसलमानों की कुरान के इब्राहिम) अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण, एवं तत्कालीन अनेक देवी-देवताओं एवं मंदिरों में विश्वास के विरुद्ध केवल एक ईश्वर में आस्था रखने के कारण अपने नगर से

निकाल दिये गये और उन्होंने मिस्र में जाकर शरण ली। वे वहां कुछ वर्ष रहे, एक मिस्री स्त्री से शादी की; और अन्त में अरब लौट कर आगये, जहाँ उनके इस्माइल नामक संतान पैदा हुई। ऐसी मान्यता है कि यहूदी जाति इन्हीं अबराहम की नस्ल से है। ये ही यहूदी अरब से फैलकर उत्तर में जूडिया और इजराइल प्रदेशों में जाकर बस गये थे और वहां अपना राज्य कायम कर लिया था। इन्हीं यहूदी लोगों से, भिन्न जाति के सीरीयन लोगों से, एवं फारस के आर्य्य लोगों से मिस्री फेरों के अनेक युद्ध हुए। चार हजार वर्षों तक एक विकसित समाज और सभ्यता का इतिहास चलता रहा। अनेक विशाल नगर, मन्दिर, भवन, महल, अद्भुत स्तूप बने; कला कौशल, पठन पाठन साहित्य, चिकित्सा, गणित की प्रतिष्ठा हुई; शासकों ने अनेक शासन नियम बनाये, अनेक संधियाँ कीं जिनके रेकार्ड इनके लेखों में मिलते हैं। लगभग १००० ई० पू० में मिस्री साम्राज्य और सभ्यता का ह्रास होने लगा, अन्त में अलक्षेन्द्र महान् के नेतृत्व में ग्रीक लोग यहाँ ३३२ ई० पू० में आये, उन्होंने मिस्र के ३१ वें राज्यवंश का जो उस समय वहाँ शासन कर रहा था अन्त किया और ग्रीक राज्य स्थापित किया। सैकड़ों वर्षों तक ग्रीक टोलमी राजाओं का राज्य रहा, फिर रोमन लोग आये और फिर ७ वीं शती में अरब लोग। इस उथल पुथल में प्राचीन मिस्र जाति और मिस्र सभ्यता लुप्त हो गई। आज (१९५८ ई०) मिस्र एक गणराज्य है। निर्वाचित राष्ट्रपति एक राष्ट्र सभा द्वारा शासन करता है। अरबी वहाँ की भाषा है और इस्लाम वहां के लोगों का धर्म।

मिस्री लोगों द्वारा आविष्कृत चीजें—प्राचीन मिस्र में जो कुछ था, और आधुनिक मिस्र में जो कुछ है वह सब वहाँ की नील नदी की बदौलत। नील नदी मिश्र का जीवन है। नील नदी में प्रतिवर्ष बाढ़ें आया करती हैं। प्राचीन मिस्र के लोगों ने नील नदी में प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ों का धीरे धीरे निरीक्षण करके, नहरों एवं बांधों द्वारा खेतों

की सिंचाई का आविष्कार किया। वे लोग लकड़ी का काम, पत्थर की घड़ाई का काम एवं स्थापत्य कला को अच्छी तरह से समझते थे। वे लोग सूत कातना एवं कपड़ा बुनना भी जानते थे। सोना, ताँबा कांसा, आदि धातुओं के उपयोग से परिचित थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं लोगों ने कुर्सियों, गद्दे दार कुर्सियों, कई प्रकार के वाद्ययंत्रों, सुन्दर आभूषणों एवं आभूषणों को रखने के लिये सुन्दर सन्दूकों, एवं कई प्रकार के प्रकाशदानों का आविष्कार किया। एक अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार था लिखने की स्याही का। सौंदर्य वृद्धि के प्रसाधन भी इन लोगों ने बना लिये थे, जैसे चेहरे की क्रीम, ओठ और नाखून रंगने को एक प्रकार का पेंट, बाल और शरीर में मलने के लिये तेल–इन सबका प्रयोग वहाँ के युवा पुरुष और स्त्रियाँ किया करती थीं। स्यात उस्तरे से हजामत करने का आविष्कार भी इन्हीं लोगों ने किया था। औषधि और शल्य (सर्जरी) शास्त्र की भी स्वतंत्र रूप से स्थापना और उनका विकास इन्होंने किया था, यद्यपि बहुजन समुदाय का विश्वास औषधि की गोलियों की अपेक्षा ताबीज और गंडों में अधिक था। समुद्रों के ऊपर चलने वाली बड़ी बड़ी जहाजों का आविष्कर्त्ता भी इन्हीं प्राचीन मिस्र के लोगों को माना जाता है। इन चीजों के जो अवशेष मिलते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र के लोग हाथ के काम में बहुत ही दक्ष थे। जिस किसी चीज को भी बनाते थे उसे बहुत ही सुन्दर और पूर्ण बनाते थे।

चार महान् उपलब्धियों का श्रेय तो प्राचीन मिस्रियों को ही जाता है। (१) भाषा की वर्णमाला, (२) सौर गणना के अनुसार सर्व प्रथम कैलेंडर बनाना, (३) राजाओं की समाधियों पर विशाल विशाल विचक्षण मस्तब या स्तूपों का निर्माण करना (४) मृत शरीरों की ममी बनाकर उनको हजारों वर्षों तक कायम रखना।

१. वर्णमाला और लेखन विधि—कुछ विद्वानों की राय में लेखन कला का आविष्कार संसार में सर्व प्रथम मिस्र में ही हुआ।

प्रारम्भ में मिस्रवासी चित्रलिपि का प्रयोग करते थे। कुछ काल बाद यह चित्रलिपि विचार लिपि में बदल गई। चित्र अब पदार्थ प्रगट न कर 'विचार' प्रगट करने लगे। इस प्रकार शनैः शनैः शब्द खण्ड, संकेत लिपि और अन्त में वर्णमाला का विकास हुआ। ई० पूर्व २००० के लगभग उन्होंने अपनी भाषा के २४ व्यंजन स्थापित कर लिये थे। किन्तु मिस्रवासियों ने स्वयं शुद्ध वर्णमाला का प्रयोग कभी नहीं किया, वे तो अपने लेखों में चित्र संकेत और वर्ण के मिश्रण से बनी हुई लिपि का ही प्रयोग करते रहे। लिखने में वे पेपिरस रीड से बना एक प्रकार का कागद, कलम और स्याही प्रयोग में लाते थे।

२. कैलैंडर—पुरातत्ववेत्ताओं ने पता लगाया है कि ४२४१ ई० पू० में मिस्रवासियों ने सौर गणना के अनुसार सर्वप्रथम कैलैंडर बना लिया था। ३६५ दिन का वर्ष माना गया, इसको उन्होंने १२ महीनों में विभक्त किया, ३० दिन का एक महीना माना गया और शेष ५ दिन वर्ष के अन्त में छुट्टी के माने गये। आकाश मंडल के तारों को इन लोगों ने विभिन्न नक्षत्र-पुंजों में विभक्त किया एवं १२ राशियां स्थापित कीं।

३. स्तूप—(पिरेमिड : प्राचीन काल की सात अद्भुत वस्तुओं में से एक) : मिस्र के लोगों का मृत्यु के विषय में अपना ही एक विश्वास बना हुआ था। वे सोचते थे कि मृत्यु के पश्चात् भी प्राणी को उसकी गहरी नींद से जगाया जा सकता है, और फिर से उसका जीवन चेतनामय बन सकता है। यह मरा हुआ जीव चेतनयुक्त होकर देव-लोगों के द्वीप में आनंद से अमर जीवन का उपभोग करता है। मृत्यु के विषय में यह विश्वास मेसोपोटेमिया, बेबीलोन, एवं क्रीट द्वीप के माईनोअन लोगों के इस विश्वास से भिन्न था, कि मृत्यु के बाद जीव नीचे अन्धेरी दुनियां में चले जाते थे और वहाँ एक छायामय जीवन व्यतीत करते थे। मिस्र के लोगों का मृत्यु के संबन्ध में उपर्युक्त विचार होने की वजह से ही वहाँ पर सुन्दर सुन्दर कब्र, कब्रों के अन्दर मृत शरीर की ममी रखी

जाना, एवं कब्रों के ऊपर बड़े बड़े विशाल स्तूप बनाना जिससे मृत शरीर को कोई छू छा न सके, उन्हें बिगाड़ न सके—यह प्रथा चली। इन स्तूपों के अवशेष अब भी मिलते हैं, इनमें से कुछ स्तूप तो सर्वथा अपनी प्रारंभिक हालत में हजारों वर्षों के बाद आज भी विद्यमान हैं। एक आदिकालीन धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर मनुष्य ने भी अपने मृत शरीर को कायम रखने का क्या अनुपम ढंग निकाला। ये ममी, कब्र और कब्रों पर स्तूप केवल राजाओं और रानियों के लिए ही बनते थे। साधारण लोग तो मामूली कब्रों में भी दफना दिये जाते थे। बड़े बड़े स्तूपों (पिरामिड) की प्रथा तो मिस्र के तीसरे राज्य वंश से चली। चौथे राज्यवंश के प्रमुख तीन शासकों ने यथा–चिपोस, चिफ्रेन एवं माईसरनीयस ने, जिनके राज्य काल में मिस्र ने अभूतपूर्व उन्नति की और देश धन धान्य एवं ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहा, अपने अपने लिये एक एक इस प्रकार तीन बहुत ही महान् स्तूप बनवाये। ई० पू० २७ वीं शताब्दी की ये बातें हैं। उपर्युक्त तीन स्तूपों में से एक "स्तूप महान" कहलाता है। ये तीन प्रमुख स्तूप जिनके नीचे प्राचीन मिस्र के शासकों के मृत देह की ममी समाधियों में रक्खी हुई हैं, मिस्र आधुनिक नगर काहिरा से कुछ मील दूर गिजे नामक स्थान पर है। इन स्तूपों तक पहुँचने के लिए पहिले पत्थर की एक विशाल मूर्ति आती है जिसका शरीर 'शेर' का है, एवं "मुँह" मानव का। यह स्फीन्क्स (Sphinx) कहलाती है। यह मूर्ति २४० फीट लम्बी एवं ६६ फीट ऊंची है–और दूर से ही पथिक की ओर मानो ऐसे देखती,और कहती हुई प्रतीत होती है कि तुम्हारा पिरेमिड तक जाना उचित नहीं। पिछले लगभग ४७०० वर्षों से यह अद्भुत मूर्ति दिन प्रति दिन उदय होते हुए सूर्य को देख रही है–कवियों ने कल्पना की है–क्या ऐसा करते करते यह थक नहीं गई होगी ? यह मूर्ति क्या है–किसका यह प्रतीक है, और क्यों एक टक देख रही है–यह भी हजारों वर्षों तक एक रहस्य ही बना रहा। कुछ ही वर्ष पहिले यह बात विदित हुई कि इस स्फिक्स की मूर्ति का मुंह फेरो

जिफ्रेन का है—और फेरो जिफ्रेन ने ही इसे बनवाया था। इस विशाल मूर्ति को पार करके ही स्तूपों तक पहुँचना पड़ता है। "स्तूप महान" का आधार चबूतरा ७०० फीट लम्बा, ७०० फीट चौड़ा है—इस आधार चबूतरे के ऊपर दूसरा चबूतरा, अपेक्षाकृत पहिले से छोटा—और इस प्रकार एक के ऊपर दूसरा लघु से लघुतर;—और इस प्रकार बढ़ते बढ़ते इसकी ऊँचाई ४८० फीट तक चली गई है। २५ लाख पत्थरों का जिनमें प्रत्येक पत्थर का वजन ५६ मरण हो, यह स्तूप बना है। कल्पना कीजिये इस पर्वतसम विशालकाय स्तूप की। इस स्तूप के अन्दर ही दो बहुत ही सुन्दर 'कमरे' बने हुए हैं—ये, एक राजा की कब्र है, और दूसरी उसकी रानी की। वैसे तो ये स्तूप ठोस बने हुए हैं, किन्तु नीचे कब्रों तक पहुँचने के लिये उन स्तूपों में रास्ते कटे हुए हैं—और प्रकाश और वायु के लिये अद्भुत इंजीनीयरिंग कुशलता से टनल बनी हुई है—यहाँ तक कि कब्रों के पास से नील नदी की एक धारा प्रवाहित होती है। कब्रों तक जो रास्ते जाते हैं उनकी दीवारें बहुत ही सुन्दर चिकने पत्थरों की बनी हैं जिन पर अनेक चित्र चित्रित हैं। इन रास्तों में, मानों छत को आधार देते हुए अनेक सुन्दर सुन्दर स्तम्भ बने हुए हैं। ये रास्ते सीधे सपाट नहीं, किन्तु चक्करदार हैं, मानों वे भूलभुलैया हों। इसी आशय से ऐसा किया गया है कि कोई प्राणी फेरों की कब्रों तक न पहुँच सके और किसी प्रकार की चोरी न कर सके। वे कमरे जो कि कब्रें हैं, और भी अधिक सुन्दर हैं—दीवारें अनेक चित्रों से चित्रित हैं। एक कमरे में एक बहुत ही सुन्दर बने कफन में राजा के शव की ममी रखी हुई है, दूसरे कमरे में रानी की। कमरों में अनेक बहुमूल्यवान आभूषण, सुन्दर कलापूर्ण बर्तन, हथियार, कपड़े, घड़ों में खाद्य-पदार्थ रक्खे हुए हैं जिससे कि राजा या रानी को अपनी मृत्यु के उपरान्त स्वर्गिक जीवन में किसी भी चीज की कमी न रहे। कमरे में वाद्ययन्त्रों के बनाने वालों की, संगीतज्ञों की, तथा अन्य सहचारियों की मूर्तियाँ भी हैं जिससे स्वर्गिक जीवन में राजा को आनन्द के सब साधन उपलब्ध हों। प्रत्येक पिरामिड

के पास ही उस फेरो का मन्दिर है जिस फेरो का वह पिरामिड है। ये मन्दिर "स्तम्भों के आधार पर स्थित छत"–इस शैली के बने हुए हैं। स्थापत्य कला की इस शैली में से ही वह शैली विकसित हुई जिसके अनुसार बाद में ग्रीस के मन्दिर बने।

ममी (Mummies)—मृत शरीर को कई भागों में से चीरकर उसके हृदय, मस्तिष्क, तथा अन्य कई अवयवों को सूक्ष्म यन्त्रों से निकाल लिया जाता था, एवं उस शरीर के आन्तरिक भागों को कई दवाइयों एवं सुगन्धित पदार्थों से साफ किया जाता था एवं धोया जाता था। फिर उसमें स्वर्ण धातु, एवं अनेक सुगन्धित पदार्थ भरकर उसे ठोस बना दिया जाता था और फिर एक स्वच्छ महीन लम्बे कपड़े में उस शरीर को खूब लपेट दिया जाता था। चेहरा पेंट कर दिया जाता था और ऊपर से इस प्रकार चित्रित कर दिया जाता था मानो वह राजा की ही प्रतिमूर्ति हो। इस प्रकार मृत शरीर की ममी बनाकर श्रेष्ठ लकड़ी या धातु के बने हुए कफन (सन्दूक) में वह ममी रखदी जाती थी। कफन पर चारों ओर राजा के जीवन के महत्वपूर्ण कार्य एवं उसकी जीवनी उनकी भाषा में अंकित कर दी जाती थी।

हजारों वर्षों के पुराने राजाओं की उन प्रतिमूर्तियों को, एवं उस काल के इतिहास को सुरक्षित रखे हुए मिस्र के ये विशाल पिरामिड वास्तव में अद्‌भूत हैं। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि विलियम मोरिस की कविता "दी राईटिंग ओन दी इमेज" में पिरामिडों के अन्तर भाग में रक्खी हुई मूर्तियों, चित्रों एवं धन वैभव का ही कल्पना-चित्र मालूम होता है।

धर्म, मन्दिर और देवता—प्राचीन मिस्र के लोगों की आरंभ में कई स्वतंत्र जातियाँ थीं। प्रत्येक जाति का अपना अपना एक भिन्न देवता होता था। लोगों की ऐसी कल्पना थी कि इन देवताओं का धड़ मानव शरीर जैसा होता था, किन्तु ऊपरी भाग अथवा सिर-मुँह किसी जानवर का सा होता था–जैसे किसी देवता का मुँह बन्दर का होता था, किसी का हिप्पोपोटेमस का, किसी का बाज का, किसी का बिल्ली एवं

किसी का गीदड़ का। इन देवताओं की खुशी और नाराजगी पर ही लोगों का सुख दु:ख निर्भर करता था—अतएव उनको खुश करने के लिये उनकी पूजा होती थी और उनको भेंट चढ़ाई जाती थी। उस जमाने के लोगों का कुछ ऐसा ही विश्वास बना हुआ था। इन देवताओं के सब मानवीय सम्बन्धों की भी कल्पना की जाती थी; देवताओं की स्त्रियाँ होती थीं, बच्चे होते थे—इत्यादि। इन जातियों में परस्पर युद्ध होता रहता था और विजित जाति को विजेता जाति के देवता को मान्यता देनी पड़ती थी। भिन्न भिन्न जातियों में लड़ाई होते होते, ऐसा अनुमान है कि सन् ४३०० ई० पू० तक मिस्र में केवल दो जातियाँ रह गई थीं, शेष सब इन्हीं दो जातियों में घुल-मिल गई थीं, और समस्त मिस्र प्रदेश केवल दो राज्यों में विभक्त था—उत्तरी मिस्र एवं दक्षिणी मिस्र। उत्तरी मिस्र में उस जाति का राज्य था जिसका देवता सर्प था; दक्षिण मिस्र में शासन करने वाली जाति का देवता होरस था। अन्त में उत्तर एवं दक्षिण मिस्र के दोनों राज्य भी मिलकर एक संयुक्त राज्य बन गये। इस प्रकार के लेख मिलते हैं कि उत्तर और दक्षिण मिस्र के संयुक्त राज्य का प्रथम शासक मेनी था। इस प्रकार शासन क्षेत्र में परिवर्तन के साथ साथ और समस्त मिस्र का एक फेरो (शासक) स्थापित होने के साथ साथ राज धर्म में भी परिवर्तन हुआ—और एक राज्य की स्थापना होते ही केवल एक देवता का आधिपत्य हो गया। इस देवता का नाम 'रे' देवता (सूर्य्य देवता) था—इसी 'रे' देवता को सर्वोपरि देवता माना जाता था। इस रे देवता के अन्य भी कई नाम थे—जैसे आतन, ओसिरिस ताह, आमन इत्यादि। यही देवता मिस्र को धन धान्य एवं समृद्धि देने वाला था। आइसिस प्रमुख देवी थी। आइसिस बेबीलोन की देवी इष्टर की तरह सृष्टि की मातृशक्ति मानी जाती थी—भारत में 'काली मां', ग्रीस में 'दीमीटर और रोम में 'सीरीज', देवी की तरह। यद्यपि मिस्र के शासकों में इन सर्वोपरि देवी देवता की मान्यता बढ़ गई, किन्तु साधारण जन, साधारण

किसान का विश्वास तो उन पुराने भिन्न भिन्न देवताओं में ही बना रहा जिनको वे मिस्र में एक एकाधिपत्य राज्य स्थापित होने के पूर्व, अपना सखा, स्वामी और भाग्य-विधाता मानते आये थे। मिस्र के फेरो अपने आपको उपर्युक्त 'रे' (सूर्य्य) देवता की ही संतान मानते थे—और वे सूर्यवंशी कहलाते थे। दक्षिण मिस्र का एक प्रमुख देवता चंद्र (?) था—एवं अनेक शासक अपने आपको चंद्रवंशी मानते थे। इसी एक बात को आधार बनाकर प्रसिद्ध "मानव-विकास" शास्त्रवेता पेरी महाशय ने यह अनुमान लगाया है कि यहीं मिस्र से ही चीन, भारत एवं समस्त अन्य प्राचीन सभ्यताओं के शासकों में अपने आपको सूर्य या चन्द्रवंशी राजा कहने की प्रथा चली।

इन भिन्न भिन्न विचित्र विचित्र देवताओं की मूर्तियों की स्थापना के लिये—जिनको खुश करने से, जिनकी पूजा करने से, जिनको भेंट चढ़ाने से वे प्रसन्न होते थे और लोगों को सुख समृद्धि देते थे—जिनके नाराज होने से लोगों को आफत और दुःख का सामना करना पड़ता था—बड़े बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बनाये जाते थे। इन मन्दिरों में यह एक विशेष बात देखी गई है कि मन्दिर के अंतरिम भाग जिसमें मूर्ति होती थी, उसका द्वार ज्योतिष गणना के अनुसार किसी निश्चित दिशा की ओर बना होता था, जिससे कि वर्ष के निश्चित दिनों में (यथा २१ मार्च एवं २१ सितम्बर जिस रोज दिन और रात बराबर होते हैं) सूर्य की किरणें द्वार में से होती हुई सीधी मूर्ति के ऊपर पड़ें। किसी किसी मन्दिर का द्वार किसी निश्चित नक्षत्र की ओर अभिमुख करके बनाया जाता था। मन्दिर के आंतरिक भाग में मूर्ति की स्थापना होती थी—मूर्ति के सामने एक वेदी होती थी, जिस पर भेंट या बलि चढ़ाई जाती थी। सभ्यता के प्रारम्भ के साथ ही साथ इन मन्दिरों का भी प्रारम्भ हुआ। मन्दिरों में ये मूर्तियां पत्थरों या धातुओं की बनी होती थीं—इन मूर्तियों को या तो स्वयं देवता समझ लिया जाता था या देवताओं का प्रतीक। मन्दिरों से सम्बन्धित एवं देवताओं की पूजा से

सम्बन्धित अनेक पुजारी, मन्दिरों के कर्मचारी इत्यादि होते थे। इन पुजारी लोगों की अपनी पृथक ही एक स्वतंत्र जाति होती थी जिसका समाज में बहुत ऊंचा स्थान था। इन पुजारी लोगों का मुख्य काम मन्दिरों में देवताओं की पूजा तथा भेंट चढ़ाना ही होता था। विशेष-विशेष अवसरों पर– जैसे बीज बोने के समय या धान पक जाने के बाद धान काटने के समय, विशेष सामूहिक पूजा और भेंट अर्पण का समारोह होता था। इन पूजाओं के निश्चित दिनों के आसरे से ही सर्व साधारण लोग जानते थे कि अब तो बीज बोने का समय आगया–अब धान काटने का–इत्यादि। किन्तु उस जमाने में मन्दिरों और पुजारियों का महत्व उक्त बातों के अतिरिक्त और भी कई बातों में होता था। इन्हीं मन्दिरों में राजाओं का तथा जमाने की महत्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तान्त सुरक्षित रक्खा जाता था–मन्दिरों में ही दीवारों पर चित्र अंकित किये जाते थे, जो उस काल की कला और इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। दीवारों पर ऐसे अनेक चित्र अंकित हैं जिनमें किसी राजा को विजय यात्रा करके लौटता हुआ दिखाया गया है,और कहीं देवता राजा को आशीर्वाद दे रहे हैं। इन्हीं मन्दिरों में लेखन कला का प्रारम्भ हुआ एवं सूर्य और नक्षत्रों की चाल और काल गणना के विज्ञान का आरम्भ हुआ। पुजारी लोग केवल पूजा कर देना और भेंट चढ़ा देने का ही काम नहीं करते थे– किन्तु वे बीमारों का इलाज भी करते थे एवं जादू टोने के द्वारा व्यक्तियों को सुख समृद्धि दिलवाने का प्रयत्न भी करते थे। प्राचीन काल में मन्दिर ही ज्ञान, विद्या, साहित्य एवं इतिहास के केन्द्र थे। साधारण जनता तो भोली, अशिक्षित, एवं अज्ञानाधंकार में ही अपना जीवन बिताती थी।

मिस्र के एक प्रसिद्ध फेरो (इखनातन या अमेनोफिस चतुर्थ) ने जिसका शासन काल १३७५ ई० पू० से प्रारम्भ हुआ माना जाता है, लोगों के धार्मिक विश्वास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का प्रयास किया। उसने यह घोषित किया कि फेरो देवताओं के वंशज नहीं किन्तु साधारण लोगों की तरह मानवी लोग ही हैं। इससे अपने पूर्वजों की

प्राचीन राजधानी थीबीज (मिश्र में) को छोड़ दिया और एक नई राजधानी बसाई जिसका नाम तलअलअमरना था। इसका साम्राज्य ठेठ मिश्र में सुदूर दक्षिण भाग से लेकर मेसोपोटेमिया में यूफ्रीटीज नदी तक फैला हुआ था। इसने इन सब राज्यों के भिन्न भिन्न देवताओं के मन्दिरों को बंद करवा कर, केवल एक देवता आतन की पूजा का प्रचलन करना चाहा। 'आतन' (Aton) सूर्य का ही दूसरा नाम था। राजाओं, पुजारियों और लोगों का यही विश्वास था कि भिन्न भिन्न देवता जिनकी शकल सूरत मूर्तियों में अंकित थी—वैसी शकल सूरत वाले देवता वास्तव में ऊपर देवलोक में रहते थे। किन्तु प्रसिद्ध शासक इखनातन ने उस प्राचीन काल में सबसे पहिले यह विचार रक्खा कि आतन (सूर्य देवता) साकार रूप में विद्यमान नहीं (अर्थात् उस रूप में, जिस रूप में उस देवता की मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित थीं)—यह तो सूर्य की शक्ति का नाम मात्र है, यह शक्ति सर्व सम्पन्न है—यह देवता सर्वशक्तिमान है—और यही शक्ति इस पृथ्वी और इसके जीवों का संचालन कर रही है। इन भावों को व्यक्त करते हुए इखनातन ने अनेक संगीतमय पद भी बनाये थे जो आज भी प्राचीन मिश्री भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। इखनातन के एक भजन-गीत का*—जिसकी उसने आतन देव की प्रशस्ति में रचना की थी, वह आतन देव जिसने उसके हृदय को आनंद-विभोर किया था—भावानुवाद नीचे दिया जाता है, केवल एक अंश का। गीत आतन (सूर्य, रे) देव को संबोधित है।

'आकाश के क्षितिज में तेरा आगमन सुन्दर है;
ए प्राणवंत आतन, जीवन के स्रोत !
पूरब के क्षितिज में जब उगता है तू
तो आप्लावित अपनी सुषमा से कर देता है प्रत्येक भूमि को।'

***प्राचीन मिस्री भाषा में लिखा गीत का अवशेष ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में सुरक्षित है। हिन्दी अनुवाद मूल गीत के अंग्रेजी अनुवाद (विल डूरान्ट : अवर ओरियंटल हैरीटेज में प्राप्त) के आधार पर है।**

एक दूसरा अंश है :

'उगते हुए, चमकते हुए, दूर जाते और लौटते हुए,
तू बनाता है असंख्य रूप
अपने में से ही आविर्भूत कर।'

इखनातन की गणना हम संसार के बुद्ध और ईसा जैसे महान् व्यक्तियों में कर सकते हैं। उसके अनेक पदों के भावों की छाया ईसाइयों की बाइबल और मुसलमानों की कुरान में मिलती है। अनेक वाक्य यों के यों बाइबल और कुरान में मिलते हैं। इस्लाम के कलमे के वाक्य "एक अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है और मोहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल है," ज्यों के त्यों इखनातन के भजनों में मिलते हैं; केवल अल्लाह की जगह आतन (सूर्य देव) शब्द है और मोहम्मद की जगह इखनातन। किन्तु इखनातन के उदात्त भावों को सर्व साधारण बिल्कुल भी नहीं समझ सके, ग्रहण करना तो दूर रहा। वास्तव में देखा जाय तो आज भी सर्व साधारण का मानसिक विकास प्रायः उसी स्तर का है जिस स्तर का आज से ८-६ हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भिक सभ्यता काल के मानव का था।

शिक्षा और साहित्य—मिश्र वासियों ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में आश्चर्य जनक उन्नति की। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य लिखना-पढ़ना तथा व्यापारिक और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करना था। मन्दिरों में शिक्षा समाप्त कर विद्यार्थी कचहरियों में काम सीखते थे। लेखक का पद पा लेना शिक्षा का विशेष लाभ माना जाता था। विविध विषयों के अध्ययन में मिश्र ने काफी तरक्की की। उस काल के बहुत से लेख विज्ञान, गणित, इतिहास, वनस्पति तथा धातुओं पर थे। उनका अधिकांश साहित्य धार्मिक था जिसमें आतोन और फराओं की स्तुतियां आदि सम्मिलित थीं। यह प्राचीन साहित्य बहुत कुछ अंश में फराओं की कब्र से प्राप्त हुआ है। तैल-ए-

अमारा नामक स्थान से तीन सौ पत्र प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मिश्र तथा बेबीलोन का पारस्परिक सम्पर्क था। शिक्षा के लिए राजकीय पाठशालायें बनी हुई थीं। पिरेमिडों से ईसा से २००० वर्ष पूर्व के पेपाइरी (कागज) पर लिखे हुए लेखों के पुलन्दे प्राप्त हुए हैं, जिनमें किस्से, कहानियां, धार्मिक विषय, प्रेम गीत, रण-गान, कविताएँ, पत्र, मन्त्र-तन्त्र, स्तुतियाँ, एतिहासिक वार्तायें, वंशावलियां, नीति के उपदेश आदि लिखे हैं। नाटक तथा पद्य-कथाओं को छोड़कर मिश्र वालों ने साहित्य के सभी मुख्य अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

कला—पिरेमिडों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पिरेमिडों के अतिरिक्त मिश्र वासियों को भव्य मन्दिर बनाने का भी शौक था। कला की सृष्टि से कारनाक का मन्दिर अत्यन्त सुन्दर है। इस मन्दिर की एक विशाल सुरंग इंजीनियरी का एक अद्भुत नमूना है। इस सुरंग में १३६ पत्थर के चित्रित स्तम्भ हैं जो १६ पंक्तियों में खड़े हैं। यह सुरंग एक हॉल के रूप में है। मन्दिरों की दीवारों पर सुन्दर चित्र अंकित हैं जो उस काल की कला और इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। थीबीज तथा हैलियोपोलिस नामक स्थानों पर उस काल के अनेक मन्दिरों के चिन्ह प्राप्त हुए हैं। उन्नीसवें वंश के राजा रमीसस द्वितीय ने अम्बूसिम्बेल नामक स्थान पर १८५ फीट लम्बा और ९० फीट ऊँचा मन्दिर वनवाया जिसमें उदय होते सूर्य की प्रतिमा स्थापित कराई।

मूर्ति कला में भी मिश्र ने आश्चर्य्यजनक तरक्की की। मिश्र के शासकों (फराओं) की ८० से ९० फीट तक ऊँची ठोस पत्थर को काट कर बनाई गई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। गिजे के पिरेमिड तक पहुंचने के पहिले पत्थर की एक विशाल मूर्ति आती है जिसका शरीर शेर का है और मुख मानव का। यह स्फीन्क्स् कहलाती है। यह मूर्ति २४० फीट लम्बी तथा ६६ फीट ऊँची है। यह स्फीन्क्स किसका प्रतीक है यह एक रहस्य ही बना हुआ है।

मिश्र की चित्र कला एक अत्यन्त सजीव और भावपूर्ण होती थी।

कारनाक के मन्दिर के स्तम्भों और दीवारों पर अनेक चित्र अंकित हैं। भीत्ति-चित्र बनाने में वे बड़े चतुर थे। कई प्रकार के रंगों का वे चित्रों में प्रयोग करते थे। चीन को छोड़ कर कोई भी प्राचीन देश मिश्र की इस कला में समता नहीं कर सकता था। रानी हेतशेप्सुत को चित्रकारी का बड़ा शौक था। उस काल का एक चित्र मिला है जिसमें तीन जहाजों का अद्वितीय चित्रण है। पशु प्रेमी होने के नाते मकानों पर बाज तथा अन्य पालतू पशुओं के चित्र भी बनाये जाते थे। चित्रों से प्रगट होता है कि लोगों को प्रकृति सौन्दर्य्य से प्रेम था। चित्रकार चित्र के सौन्दर्य्य के स्थान पर भाव और विषय वस्तु पर अधिक जोर देते थे।

सामाजिक संगठन---समाज में सर्वोपरि तो फेरो (शासक) होता ही था। मिश्र में फेरो का पद केवल एक शासक या पुजारी के ही समान नहीं होता था, जैसा कि सुमेर और असीरिया में था। मिश्र में तो फेरो स्वयं एक देवता या देवता वंशज माना जाता था और इसीलिये राजघराने में ही राजा का विवाह हो सकता था--क्योंकि साधारण लोग तो देवताओं के वंशज थे नहीं। किस प्रकार मिश्र के राजा इस असाधारण मान्यता तक पहुँचे कुछ कहा नहीं जा सकता था। इन फेरों की शक्ति निरंकुश होती थी। कोई भी उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकता था। तभी तो यह सम्भव हो सका कि अनेक शासक लोग लाखों आदमियों को वर्षों तक काम में लगाकर वे महा-विशाल स्तूप (पिरामिड) बनवा सके। फेरों के नीचे उन्हीं के वंशज राजकुमार होते थे जो फेरों के आधीन रह कर भिन्न भिन्न प्रान्त या प्रदेशों का राज्य करते थे, या केन्द्रीय शासन व्यवस्था में ही उच्च पदाधिकारी होते थे। शासन चलाने के लिये अनेक प्रकार के करों की व्यवस्था थी एवं अनेक नियम बने हुए थे। कर न देने वालों को या नियम भंग करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी।

पहिले तो शासक लोग ही मन्दिरों के पुजारी होते थे किन्तु शासन व्यवस्था जटिल होने से और शासकों के राजकीय कामों में अधिक व्यस्त

होने से, पुजारी पुरोहित लोगों की एक जाति ही अलग बन गई थी। इन पुजारी लोगों का धार्मिक मामलों में लोगों से सीधा सम्पर्क था, और इसी की वजह से बड़े बड़े मन्दिरों के पुजारियों की लोक-शक्ति भी कम नहीं थी—कभी कभी इन पुजारियों की मदद और सहयोग के बिना शासन चलाना कठिन हो जाता था। ऐसे भी विवरण मिलते हैं कि पुजारियों के मन्तव्य के अनुकूल चलने वाले राज्यघराने के किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में शासकों के विरुद्ध षड़यन्त्र भी चलते थे। किन्तु मिश्र के फेरों में एवं वहां के मन्दिर के पुजारियों में प्रायः किसी प्रकार का विरोध या द्वन्द नहीं हुआ।

फेरो, पुजारी, एवं राज्य कर्मचारी लोग उच्च वर्ग के लोग थे। ये लोग बहुत ही अमीरी ढंग से रहते थे। अनेक लोग इनके नौकर एवं गुलाम होते थे। इन लोगों के रहने के लिए सुन्दर सुन्दर महल और मकान बने हुए थे जिनमें ऐहिक जीवन के सुख और आनन्द की सभी सामग्रियां संग्रहीत रहती थीं। मकानों में अलग-अलग पाखाने, स्नानघर होते थे। स्त्रियों के शृङ्गार के लिये अनेक सुगन्धपूर्ण साधन विद्यमान थे। महीन सुन्दर सुन्दर कपड़े पहिने जाते थे एवं स्वर्ण और मोतियों के आभूषण धारण किये जाते थे। ऐशो-आराम से जिन्दगी बीतती थी।

इस उच्चवर्ग के उपरान्त, व्यापारी, उद्यम उद्योग करने वाले एवं खेतीहर लोग थे। सीरीया, जूड़िया, फारस, भारतीय समुद्र तट, मेसोपोटेमिया, अरब आदि देशों से सूखे और सामुद्रिक रास्तों से व्यापार होता था। सोना, मोती, हाथी दांत, तांबा, लकड़ी इत्यादि का आयात होता था एवं गेहूँ, जौ का निर्यात होता था। शिल्पी लोग सुन्दर सुन्दर मिट्टी के बर्तन, घड़े, इत्यादि बनाते थे, उन पर पोलिश एवं रंग किया जाता था, रुई के कपड़े बुने जाते थे, खदानों में काम किया जाता था एवं धातुओं के बर्तन बनाये जाया करते थे। मिश्र में विशेष काम कांच का होता था—यहां की कांच की बनी चीजें बेबीलोन के बाजार में खूब

बिकती थीं। इन शिल्पी लोगों का समुदाय राजाओं एवं अन्य बड़े बड़े घरानों के चारों ओर इकट्ठा हो जाता था और उन्हीं उच्चवर्ग के लोगों के लिये और सर्वथा उन्हीं के आधीन इन लोगों का काम चलता रहता था।

समाज का सबसे बड़ा वर्ग तो किसान लोगों का ही था—जो खेती करते रहते थे, देवताओं में भोला विश्वास रखते थे, राजाओं या प्रान्तीय शासकों को कर देते थे, और अशिक्षित और गरीब बने रहते थे। इन्हीं किसानों में से या दक्षिण अफ्रीका की कुछ विजित जातियों में से जैसे नेबूआ के लोग, या युद्धों में पकड़े हुए कैदी, गुलाम वर्ग के लोग होते थे, जिनमें से शासकों के लिये सेना बनती थी, तथा वे और निम्न काम भी करते थे।

उच्चवर्ग के लोगों में स्त्री का बहुत सम्मान होता था, इनकी स्वतन्त्र सम्पत्ति होती थी। धनीवर्ग में बहु पत्नीत्व का प्रचलन था किन्तु स्त्री को तलाक का अधिकार था। मिस में कई स्त्री शासक एवं विजेता भी हुई हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध जो शासक हुई उसका नाम था हेतशेपसुत। इस स्त्री के राज्य काल में मिश्र बहुत ही समृद्धिशाली रहा और राज्य भर में सुख और शान्ति रही।

इस प्रकार ईसा के प्राय: ५ हजार वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होकर लगभग ४५०० वर्षों के अरसे तक यह प्राचीन सभ्यता, यह एक प्राचीन जाति उदय होकर, खिलकर, एवं विकसित होकर अन्त में समय के गर्त में विलीन हो गई। उन ४-५ हजार वर्ष के विशाल काल की तुलना में तो अपना आधुनिक मशीन युग जो अभी १५० वर्ष ही पुराना है नहीं के बराबर है। जो आधुनिक युग की गति है उससे तो कौन जाने ४-५ हजार वर्षों में मानव कहां तक पहुँच जाएगा।

(१६)

प्राचीन सिंधु सभ्यता

(मोहेंजोदाड़ो–हरप्पा)

भारत में सिन्धु प्रान्त के लरकाना नामक स्थान पर, सिन्धु नदी से हटकर पच्छिम में कुछ रेतीले टीले हैं। इन टीलों का नाम आसपास के सिन्धु निवासियों में "मोहेंजोदाड़ो" प्रचलित है–जिसका अर्थ है "मुर्दों का टीला"। इन टीलों पर स्थित एक बौद्ध विहार तथा स्तूप के संबंध में भारतीय पुरातत्व विभाग के द्वारा सन् १६२२ ई० में कुछ खुदवाई हो रही थी। खुदाई होते होते अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्रायें मिलीं। ऐसी ही अनेक मुद्रायें पंजाब में मोंटगोमेरी जिले के हरप्पा नामक गाँव में कुछ वर्ष पूर्व मिली थीं। इन बातों से प्रभावित होकर मोहेंजोदाड़ो में विशेष खुदाई के लिए पुरातत्व विभाग द्वारा एक विशेष योजना बनाई गई एवं सन् १६२२ से लेकर कुछ वर्षों तक मोहें-जोदाड़ो एवं सिन्ध के कई अन्य स्थानों पर, पंजाब में हरप्पा एवं बलूचि-स्तान के कई स्थानों पर खुदाई की गई, और उसके फलस्वरूप प्राचीन सभ्यता का निश्चित रूप से पता लगा। पुरातत्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता का नाम "मोहेंजोदाड़ो तथा हरप्पा" की सभ्यता अथवा "प्राचीन सिन्धु सभ्यता" रक्खा। खोजों के आधार पर यह निर्धारित हुआ कि उन स्थानों में जहां आजकल सिन्ध, बलूचिस्तान, तथा दक्षिण पश्चिमी पंजाब स्थित हैं, प्राचीन काल में एक बहुत ही विकसित अवस्था की सभ्यता विद्यमान थी। मोहेंजोदाड़ो एवं हरप्पा उस प्राचीन काल में उन प्रदेशों के बहुत ही सुन्दर ढंग से बने हुए समृद्धिशाली नगर थे, जो संभव है उन प्रदेशों की राजधानियाँ रहे हों। मोहेंजोदाड़ो में प्राप्त अवशिष्ट

चिन्हों से यह धारणा बनाई गई है कि मोहेंजोदाड़ो नगर का प्रारम्भिक काल ३२५० ई० पू० था—इसी काल में वह नगर पूर्ण विकसित रूप में था। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा के प्रायः ४-५ हजार वर्ष पूर्व इस सभ्यता का आरम्भ वहाँ होगया होगा। इन नगरों के विकास और सभ्यता के अवशेष प्रायः २७५० ई० पू० तक के मिले हैं। प्रायः कुछ वर्ष इधर उधर इसी काल तक के अवशेष चिन्ह हरप्पा तथा दूसरे स्थानों पर मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रायः २५०० ई० पू० में ये नगर ध्वस्त और विलीन होगये थे—इनके अचानक ध्वस्त और विलीन होने के कई कारण हो सकते हैं—सिन्धु नदी में भयंकर बाढ़ों का आना; जलवायु में असाधारण परिवर्तन, विशेषतः मौसमी हवाओं के रुख बदलने से, उसके फलस्वरूप वर्षा कम होने से एवं शनैः शनैः बालुओं के टीलों द्वारा भूमि ढक जाने से। प्राचीन मेसोपोटेमिया एवं मिश्र की सभ्यताओं का लोप तो उत्तर से सेमेटिक तथा आर्यजाति के लोगों के आक्रमण द्वारा हुआ, किन्तु सिन्धु प्रदेश में भी ऐसे कई आक्रमण हुए हों इसके कोई भी चिन्ह नहीं मिलते हैं। इसका लोप तो स्यात प्रकृति के हाथों द्वारा ही हुआ। किन्तु इतना अवश्य है कि सिंधु सभ्यता के प्रदेशों में कालांतर में आर्य लोग और उनकी सभ्यता प्रसारित हो गये।

कौन ये लोग थे जिन्होंने सिन्धु सभ्यता का विकास आज से ५-६ हजार वर्ष पूर्व किया और कैसी यह सभ्यता थी ? यद्यपि इस सभ्यता का विकास भारत में सिन्धु नदी की उपत्यका में हुआ, किन्तु यह भारतीय आर्य सभ्यता नहीं थी। यह सभ्यता मिश्र और सुमेर सभ्यता की समकालीन थी और बहुत सी बातों में यहाँ का रहन सहन, मंदिर, पूजा आदि का ढंग सुमेर की सभ्यता से मिलता है। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि उस काल में पच्छिम में भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों से लेकर, यथा मिश्र, एशिया माइनर, सीरिया से लेकर इलम (प्राचीन ईरान), मेसोपोटेमिया और फिर मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा एवं दक्षिण

भारत,—और फिर सुदूरपूर्व में चीन के तटवर्ती प्रदेशों तक जिस नव-पाषाण युगीय (खेती, पशुपालन, मन्दिर, पुजारी और पूजा) सभ्यता का प्रसार था—और जिसके तदनन्तर मिश्र में मिश्र सभ्यता का विकास हुआ, मेसोपोटेमिया में सुमेर, बेबीलोन, असीरिया सभ्यता का विकास हुआ, उसी प्रकार सिन्धु प्रान्त में सिन्धु नदी की उपत्यका में मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा (सिन्धु सभ्यता) का विकास हुआ। यह भी निश्चित है कि इन सब देशों का परस्पर संपर्क था और इनमें व्यापार एवं सांस्कृतिक विनिमय होता रहता था। ये सब सभ्यतायें नगर प्रधान एवं व्यापार प्रधान थीं। इन्हीं बातों से अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु सभ्यता वाले उसी जाति के लोग थे, जिस जाति के सुमेरियन लोग थे। आज इसी मत की अधिक मान्यता है कि भूमध्य सागरीय प्रजाति के लोगों (द्राविड़ों) ने ही सिन्धु सभ्यता का विकास किया। इन सभी लोगों का कद मध्यम, शरीर पुष्ट और वर्ण भूरा सा (काला गोरा मिश्रित या गहरा बादामी) था। कुछ भारतीय विद्वानों का यह भी मत है कि सप्त-सिन्धव से जो आर्य दस्यु एवं वृत लोग अपने आदि घर को छोड़कर इधर उधर फैले, उन्होंने सिन्धु सभ्यता का विकास किया। जो कुछ हो जिस प्रकार प्राचीन मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं चीन के लोगों की आदि उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता वैसे ही मोहेंजोदाड़ो हरप्पा के लोगों की उत्पत्ति (Origin) के विषय में अभी सर्वथा निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता।

जीवन तथा रीति रस्म—सिन्धु प्रान्त में गेहूँ, जौ और सम्भवतः चावल की भी खेती होती थी। दूध, घी से लोग परिचित थे। पालतू पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊंट तथा जंगली पशुओं में हरिण, नीलगाय, बन्दर, भालू, खरगोश, आदि के अवशेष चिन्ह मिले हैं। हरी तरकारी, शाक भाजी, मिठाई, मछली, अंडे, मांस, इत्यादि भी लोगों के भोजन का अंग था। इन सब बातों का पता खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर मिला है।

खुदाई में बड़े बड़े पोलिश किये मिट्टी के घड़े जिनमें अनाज रक्खा जाया करता होगा, एवं तश्तरियाँ, प्याले, थाली, चम्मच, आदि बर्तन बड़ी संख्या में मिले हैं, जिससे यह भी अनुमान किया जाता है कि त्यौहार, विवाह इत्यादि के अवसर पर दावतें भी होती होंगी। कताई, बुनाई की कला में ये लोग बहुत ही प्रवीण मालूम होते थे। कपास, रेशम, और ऊनी कपड़ों का प्रचलन था। पुरुष लोग तो केवल एक शाल की तरह का कपड़ा शरीर पर लपेट लेते थे—गरीब लोग साधारण कपड़े पहिनते थे, एवं धनी लोग सुन्दर कला-पूर्ण कपड़े। तरह तरह से केश-रचना करने का इन लोगों में बड़ा शौक था। पुरुष सुमेरियन लोगों की तरह छोटी छोटी दाढ़ी रखते थे—ओंठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ रहता था—दोनों ओर से चलनेवाले अनेक उस्तरे मिले हैं। इन लोगों के कला प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषण हैं। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। सब देवी देवताओं की मूर्तियाँ आभूषणों से लदी हुई रहती थीं। ये आभूषण स्वर्ण के होते थे, किन्तु गरीब लोग लाल पकी हुई, पोलिश की हुई मिट्टी के आभूषण पहिनते थे। कुछ आभूषण हाथी दांत के भी होते थे। स्त्रियों के शृंगार के लिये अनेक प्रसाधन विद्यमान थे—लकड़ी और हाथी दांत के कंघे, लाल चमकीले रंग की अनेक डिब्बियां जिनमें चेहरे पर श्वेत तथा गुलाबी आभा लाने के लिये कुछ पाउडर से रक्खे होते थे,—इत्यादि अनेक वस्तुयें खुदाई में मिली हैं। शृङ्गार के ऐसे ही प्रसाधन सुमेर तथा मिश्र के लोगों में भी प्रचलित थे। बच्चों के खेल के लिये अनेक खिलौनों के अवशेष भी मिले हैं। अनेक प्रकार के लैम्प तथा मिट्टी के दीपकों का प्रयोग होता था।

गाड़ी तथा रथों का प्रचलन था। ये लकड़ी, तांबे, इत्यादि की बनी हुई होती थीं। स्यात् गदहे एवं बैल इनको खींचते थे—घोड़ों से ये लोग अभी अनभिज्ञ थे। गाड़ी और रथों का प्रचलन मिश्र और सुमेर में भी था। ये लोग पशु पक्षियों का शिकार भी करते थे—धनुष इन लोगों का प्रमुख अस्त्र था। पत्थर की गोलियों और गुलेल का प्रयोग भी ये

लोग करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य औजार तथा हथियार जैसे तलवार, आरियां, दरातियां, हंसिये इत्यादि भी मिले हैं। पशु पक्षियों को लड़ाना, उनके अनेक प्रकार के खेल, फलके, पासों तथा गिट्टियों से खेले जाने वाले खेल,—ये उन लोगों के प्रमोद के मुख्य साधन थे।

स्थापत्य तथा नगर निर्माण कला—मोहेंजोदाड़ो की नगर निर्माण प्रणाली वास्तव में बहुत सुविकसित एवं प्रौढ़ थी। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। नगर में चौड़ी चौड़ी सड़कें थीं, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार गलियां तथा मकान बने थे, सफाई के लिये नाली-प्रणाली थी। मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का अच्छा प्रबन्ध था, किन्तु मिश्र के नगरों की नालियाँ इतनी वैज्ञानिक और सुन्दर नहीं थीं। नगर में बड़े बड़े स्नानगृह तथा शौचगृह भी सुनिश्चित स्थानों पर सर्वसाधारण के लिये बने हुए थे। कूड़ा करकट इत्यादि डालने के लिये स्थान स्थान पर कूड़ेखाने रक्खे हुए थे। सुमेर और मिश्र में धनिकों के घरों पर तो स्नानागृह बने हुए थे, किन्तु नगरों में सर्व साधारण के लिये कोई स्नानागृह नहीं बने हुए थे। इससे अनुमान होता है कि सिन्धु सभ्यता में नागरिकता का भाव अधिक विकसित था।

मोहेंजोदाड़ों और हरप्पा नगरों की इमारतें प्रायः दो खंड की हैं। इन मकानों में पकाई हुई ईंटें प्रयोग में लाई गई हैं। मिश्र की तरह पत्थर का प्रयोग नहीं है। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिये प्रयुक्त होती थीं। वहां केवल स्नानगृहों और शौचगृहों में पकाई हुई ईटों का प्रयोग हुआ है। दीवारों पर पलस्तर प्रायः मिट्टी का ही होता था। मकानों की छत पीटी हुई मिट्टी, अथवा कच्ची या पकी हुई ईटों की होती थी। छतों में कड़ियों का प्रयोग बहुत होता था। पानी के लिये कुएं बने थे—इन कुओं की दीवारें मजबूत ईंटों की बनी हैं। ईंटें इतनी सफाई के साथ चुनी गई हैं कि खुदाई में प्राप्त कुएं साफ किये जाने पर आज भी खूब काम दे रहे हैं। नगरों, एवं

मकानों के इस सुन्दर प्रबन्ध को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कोई उच्च संस्था नगर का प्रबन्ध करती होगी।

कला कौशल—सिन्धु प्रान्त में सैंकड़ों मृण्मूर्तियाँ (मिट्टी की मूर्तियां) प्राप्त हुई हैं। अनेक मुद्रायें तथा ताबीज प्राप्त हुए हैं, एवं असंख्य मिट्टी के बर्तन जिन पर सुन्दर पोलिश किया हुआ है। ये मिट्टी की मूर्तियां विशेषतः बच्चों के खिलौने, और मंदिरों और देवताओं को भेंट की जाने वाली, तथा पूजा की ही मूर्तियाँ हैं। देवताओं की मूर्तियों में अधिकतर "मातृ देवी" की मूर्ति मिली है। मिट्टी के बर्तनों की कला बहुत ही सुन्दर तथा विकसित थी। मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे—एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल रंग की पोलिश होती थी। इन पर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की हुई है। दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के होते थे। बर्तनों पर चित्रकारी बहुत ही सुन्दर है। चित्रकारी में विशेषतः बेल बूँटे, पशु पक्षी, पेड़ पत्तियों की आकृतियां चित्रित की गई हैं। मिश्र तथा सूसा तथा सुमेर के मिट्टी के बर्तनों पर विशेषतः मनुष्य आकृति का चित्रण हुआ है। मिट्टी के बर्तनों की यह कला जितनी उस काल में सुन्दर थी वैसी तो आजकल भी बहुत कम देखने को मिलती है।

मोहेंजोदाड़ो में एक पत्थर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है—जिसे कुछ पुरातत्ववेत्ता तो पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं,एवं कुछ अन्य पुरातत्व-वेत्ता किसी योगी की मूर्ति। इस पुजारी या योगी की मूर्ति की शकल बेबीलोन के पुरोहितों से मिलती है। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियाँ हरप्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक लाल और दूसरी नीले-काले पत्थर की है। इन मूर्तियों का शरीर सौष्ठव यूनान की मूर्तियों से कम आकर्षक नहीं। यहाँ की खुदाइयों में कुछ पीतल की नर्तकियों की भी मूर्तियाँ मिली हैं—जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगों में नृत्य कला का भी प्रचलन था—और यह नृत्य-कला काफी विकसित थी। किन्तु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय

था, यह ज्ञात नहीं। मोहेंजोदाड़ों में थोड़ी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। यहाँ पीतल की भी कुछ वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। सिन्धु प्रान्त की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिन्धु कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इन मुद्राओं पर बैल, भैंस, तथा नीलगाय के चित्रण बहुत ही यथार्थ और सुन्दर हैं।

रुई के कपड़े—उस काल के सभ्य देशों में स्यात् मिश्र को छोड़कर अकेले सिन्धु प्रान्त में ही रुई के कपड़े बुने जाते थे। रुई के सूत के बहुत ही सुन्दर ढंग के कई डिजाइनों के कपड़े बुने जाते थे और मिश्र तथा बेबीलोन के बाजारों में बिकते थे। अन्य देशों में तो विशेषतः ऊन या हैम्प, या रेशम के ही कपड़े बुने जाते थे।

भाषा और लिपि—सुमेर के लोगों की तरह इन लोगों की भी भाषा पर्याप्त विकसित थी। लिपि, जिसमें वह भाषा लिखी जाती थी, सुमेर की लिपि से मिलती जुलती स्यात् एक प्रकार की चित्र लिपि ही थी। विद्वानों ने सुमेर की भाषा और लिपि का तो अध्ययन कर लिया है, किन्तु सिन्धु सभ्यता की भाषा और लिपि पढ़ने में वे अभी सफल नहीं हुए हैं। उनकी लिपि का रहस्य खुलने पर तो अनेक नई बातें इस सभ्यता के विषय में मालूम होंगी, और संभवतः सुमेर और मिश्र की सभ्यताओं पर भी नया प्रकाश पड़े।

धार्मिक-विश्वास—सिंधु प्रांत के लोगों के धर्म का स्वरूप निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। इतना अनुमान लगाया जाता है कि इन लोगों ने भी मिश्र एवं मेसोपोटेमिया की तरह विशाल-विशाल मंदिर-भवन बनवाये थे। ये लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों में भी किसी विशेष कमरे में करते रहे होंगे। उस काल की ज्यादातर मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजीयन से सिंधुप्रान्त के बीच के सभी देशों में जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमिया, मिश्र तथा सीरिया में प्रचलित थी। मातृ-देवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से ही हुई है। धरती-माता,

प्रकृति ही मनुष्यों का पालन-पोषण करती है। मेसोपोटेमिया के कई लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी। यूफ्रीटीज, टाईग्रीस, नील और सिन्धु नदी के तटों पर रहने वाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी, फिर यह स्वाभाविक ही है कि वे धरतीमाता, प्रकृतिदेवी,—मातृदेवी की पूजा विशेषतः करते। मातृदेवी की मूर्ति के अतिरिक्त शिव तथा शिवलिङ्ग की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं–एवं शिवजी की त्रिमुखों वाली आकृति कई मुद्राओं एवं ताम्र-पटों पर अंकित मिली है। इससे अनुमान है कि सिंधु प्रान्त के लोग शिवजी की पूजा करते थे और स्यात् योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त फैलिक (लिङ्ग) की पूजा भी होती थी। लिंगों की अनेक प्रकार की मूर्तियां मिली हैं। प्राचीन मिश्र, यूनान, रोम में भी बालपीट की पूजा होती थी–बालपीट लिंग सम्प्रदाय से संबंध रखने वाला देवता था। सिंधु-प्रान्त में स्यात् शक्ति उपासना भी प्रचलित थी, एवं पशु पूजा भी होती थी। कुछ सभ्यताओं के लोगों का विश्वास था कि मनुष्य रूप में आने से पहिले देवता पशु रूप में ही पूजे जाते थे। पशुओं में जिनकी पूजा होती थी उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तो था बैल, किन्तु हाथी, गैंडा, नीलगाय की भी पूजा होती थी। बैल स्यात् सिंधु प्रान्त में शिवजी का वाहन माना जाता था। बैल का सिन्धु प्रान्त में ही नहीं किन्तु संसार के सभी प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक महत्व था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रान्त निवासी वृक्ष-पूजा में भी विश्वास रखते थे। नाग, जल तथा तुलसी की पूजा का भी प्रचलन था। स्वस्तिक तथा यूनानी क्रूश का चित्रण भी मुद्राओं तथा धातु की पट्टियों पर दीख पड़ता है। इन चिन्हों का धार्मिक महत्व माना जाता था। स्वस्तिक तथा चक्र के चिन्हों का सम्बन्ध सूर्य और अग्नि से माना जाता है और सूर्य और अग्नि देवताओं के रूप में पूजित रहे हैं। सिंधु प्रान्त के निवासियों की ताबीजों एवं जादूटोनों पर भी विशेष श्रद्धा थी। इन तमाम बातों से यही अनुमान लगा सकते हैं कि इन लोगों का

बुद्धि का विकास, मनन एवं चिन्तन का विकास अभी विशेष नहीं हुआ था तथा बुद्धि, तर्क, विज्ञान एवं दर्शन की गहराइयों को ये प्रारम्भिक मानव स्यात् छू भी नहीं पाये थे। नवीन-पाषाण युगीय पुजारी, पुरोहितों एवं शनैः शनैः बनते हुए आदिकालीन धार्मिक संस्कारों पर ही इन लोगों की धार्मिक भावना आधारित थी। इन लोगों का जीवन विशेषकर ऐहिक था। ऐहिक जीवन का सुख उच्चवर्ग के लोग–यथा शासक,पुजारी, पुरोहित तथा अन्य धनिक लोग भोगते थे–किन्तु उस सुख में भी "चेतना" अधिक जागृत नहीं थी, चेतन अनुभूति गहरी नहीं थी।

"सिन्धु सभ्यता" आज से लगभग ६–७ हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आकर, मिश्र, बेबीलोन सभ्यताओं की भाँति नटी का सा कुछ क्षणों तक अपना नृत्य करके विलीन होगई, किन्तु उस नटी के नृत्य की कुछ तरंगें आज भी मानो प्रवाहमान हैं–उनका प्रभाव आज भी भारत में विद्यमान है। मातृदेवी की पूजा, शक्ति पूजा, शिव और शिवलिंग की पूजा; देवता रूप में पत्थर, वृक्ष, तुलसी और बैल की पूजा; जादू-टोणा, मन्त्र-तन्त्र, योग; धूप-दीप-नैवेद्य से मूर्ति की पूजा इत्यादि बातें हिन्दू संस्कृति में सिन्धु सभ्यता से ही आईं; मानो ये बातें भारतीय संस्कृति में उस अतीव प्राचीन काल से "आगम" रूप में चली आरही हों। कई पौराणिक हिन्दू देवता सिन्धु सभ्यता के देवताओं के ही तो विकसित रूप हैं, जैसेः—

सिंधु सभ्यता का देवता	पौराणिक हिन्दू देवता
लाल वर्ण देवता पशुपति	रूद्र, शिव
मां देवी	उमा (शक्ति)
नील वर्ण आकाश देवता	विष्णु
शौर्य और युद्ध का देवता	मुरूकुण (शिव का पुत्र स्कन्द)
यौवन और सौन्दर्य का देवता	कनन्न : कृष्ण
गणेश	गणेश

●

(१७)

क्रीट की माईनोअन सभ्यता एवं हिट्टी, सीरिया और फीनीशिया के लोग

माईनोअन सभ्यता

कुछ वर्ष पूर्व भू-मध्यसागर में स्थित क्रीट द्वीप में सर आर्थरइवान्स कुछ ऐतिहासिक खुदाइयां कर रहे थे। उन खुदाइयों को करते करते वहाँ पर एक अति प्राचीन सभ्यता के चिन्हों का पता लगा। अब यह माना जाता है कि लगभग उसी काल में जबकि मिश्र की प्राचीन सभ्यता का विकास होरहा था, क्रीट द्वीप में भी एक सभ्यता का उदय होरहा था। इस सभ्यता को इतिहासकार माईनोअन या इजीयन सभ्यता कहते हैं। वे लोग जिन्होंने इस सभ्यता का विकास किया, उसी प्रकार की काले-गोरे मिश्रित जाति के लोग थे जो नवीन पाषाण युग के उत्तरकाल में भू-मध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में फैले हुए थे, और इन लोगों ने जिस सभ्यता का विकास किया वह स्थानीय भेदों को छोड़कर ऐसी ही थी जिस प्रकार की सभ्यता का विकास मिश्र या मेसोपोटेमिया में हुआ। इस जाति के लोग जिन्होंने इस इजीयन सभ्यता का विकास किया केवल क्रीट द्वीप में ही नहीं रहते थे किन्तु ये लोग दक्षिण इटली, सिसिली, साइप्रस द्वीप, एशिया माइनर तथा यूनान में भी फैले हुए थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि नवीन पाषाण युगीय सभ्यता जिसमें खेती करना, पशु-पालन, देव-पूजा, मन्दिर, पुरोहित इत्यादि बातें विशेष थीं और जो पच्छिमी स्पेन से लेकर पूर्व में चीन तक फैली हुई थीं, उसके

आधार पर जिस प्रकार मिश्र, मेसोपोटेमिया और सिन्धु प्रान्त में ऐहिकतापरक नगर सभ्यता का विकास हुआ उसी प्रकार क्रीट द्वीप के क्नोसस (Knosos) नगर में भी एक उच्च, सुन्दर नगर सभ्यता का विकास हुआ। क्रीट में यह सभ्यता वैसे तो लगभग ४००० ई० पू० से चली आती होगी, किन्तु इसका सबसे अधिक विकसित रूप २००५ ई० पू० से १४०० ई० पू० तक माना जाता है। इस सभ्यता का केन्द्र "माईनोस का महल" था, जो क्नोसस नगर में बना हुआ था। यह महल २००० ई० पू० में बनाया गया था। इसके अलावा वहुत से अन्य महल 'फेइस्टस' पर बने। इन लोगों ने थियेटर्स (खेल तमाशों को देखने के लिये हजारों दर्शकों के बैठने के लिये स्थाई प्रबन्ध) भी बनाये। यहां के शासक लोग माइनोस कहलाते थे, जिस प्रकार मिश्र के शासक लोग फेरो कहलाते थे। इनके महल बहुत ही ठाठ बाट के, सुन्दर किन्तु जटिल ढंग से बने हुए थे—मानो वे भूलभलैया हों। इन महलों में प्रत्येक प्रकार के सुख और आराम का प्रबन्ध था। अलग अलग शौचगृह, स्नानगृह, शृंगारगृह, भोजनगृह, शयनगृह इत्यादि बने हुए थे, एवं उनमें पानी के नलों का भी प्रबन्ध था। इन महलों में वे सभी सुख और आराम और वे सभी सजावटें थीं जो बिजली के काम को छोड़कर आधुनिक महलों में पाई जा सकती हैं। ये लोग मिट्टी के बर्तन बनाना, कपड़े बुनना, प्रत्येक प्रकार के जवाहरात का काम करना, हाथी दांत और धातुओं की खुदाई का काम करना, चित्रकला एवं मूर्तिकला, इत्यादि कामों में बड़े निपुण थे। खूब मौज बहार करते थे, खेल तमाशों का इन्हें बहुत शौक था—विशेषकर सांडों को लड़ाना और जिमनेशियम की कसरतें करना। इन लोगों की कला-कुशलता और हस्त कौशल इतना विकसित था कि वर्तमान युग के लोगों को भी उनकी कला-कृतियों को देखकर आश्चर्य होता है। ग्रीक साहित्य की एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि क्रीट के एक व्यक्ति डिडालस ने सर्वप्रथम एक वायुयान बनाकर उसमें उड़ने का प्रयत्न किया था।

ये लोग भी अपनी सम-कालीन अन्य सभ्यताओं के लोगों की तरह अनेक देवी देवताओं की पूजा किया करते थे। मुख्यत: "प्रकृति देवी" की जो "पशुओं की स्वामिनी" कहलाती थी। इन देवी देवताओं के लिये सुन्दर सुन्दर मन्दिर बने हुये होते थे जिनमें लोग इनकी पूजा करते थे। इनकी कला कृतियों में पूजा के अनेक दृश्य मिलते हैं।

इन इजीयन लोगों का उस काल के सभी सभ्य देशों से यथा मिश्र, बेबीलोन इत्यादि से समृद्धशाली व्यापार चलता था। इन लोगों की एक भाषा भी थी जो अभी तक पढ़ी नहीं गई है। इस प्रकार ईसा के लगभग ४००० वर्ष पूर्व से लेकर सुख,शांति और चैन में इस सभ्यता का विकास १४०० ई० पू० तक होता रहा। फिर पता नहीं कि क्या परिवर्तन इन लोगों में हुआ, या क्या कमजोरी इनमें आई कि इस कला-कौशल पूर्ण सभ्यता का बिल्कुल लोप होगया। ग्रीक साहित्य में इस सम्बन्धी एक कहानी मिलती है कि थिसियस नामक एक ग्रीक-हीरो क्रीट द्वीप में उतरा, क्नोसस के शासक माइनोस के भूलभुलैया जैसे सुन्दर महल में वह माईनोस की पुत्री एरीएडनी की सहायता से गया और वहाँ पर मिनोटौर नामक राक्षस का संहार किया; जिसको खाने के लिये प्रति-दिन ग्रीक नव जवान पकड़कर लाये जाया करते थे। इस कहानी का संकेत यही है कि आर्य्यन शाखा के ग्रीक जाति के लोग जिनका शरीर बहुत सुन्दर और सुडौल होता था क्रीट, साइप्रस,एशिया माईनर इत्यादि देशों में बढ़े, क्रीटन लोगों को पराजित किया, क्नोसस के महल का विध्वंस किया, उन प्राचीन सभ्यताओं को उखाड़ फेंका और उन सभ्यताओं के खंडहरों पर अपनी ही सभ्यता का प्रस्थापन किया। क्रीट में क्नोसस के वे सुन्दर सुन्दर आश्चर्यजनक महल जिनके अवशेष चिह्न अभी अभी ऐतिहासिक खुदाइयों में मिले हैं, उस प्राचीन माइनोअन सभ्यता के स्मृति मात्र हैं।

पश्चिम एशिया की छोटी छोटी जातियां

जिस काल में मिश्र, बेबीलोन, मोहेंजोदाड़ो एवं क्रीट की सभ्यतायें

अपने उच्चतम शिखर पर थीं और उनके बड़े बड़े राज्य थे, उसी काल में सेमेटिक लोगों की छोटी छोटी जातियाँ मिश्र, मेसोपोटेमिया के मध्यवर्ती प्रदेशों में यथा सीरिया, जूडिया,इजराइल हिट्टी इत्यादि स्थानों में अपने छोटे छोटे राज्यों की स्थापना कर रहे थे। इन मध्यवर्ती प्रदेशों में बड़े बड़े नगर बसे जिनमें सीरिया प्रदेश का दमिश्क नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। इन छोटे छोटे प्रदेशों में से ही होकर मिस्र, मेसोपोटेमिया का व्यापार चलता था। दमिश्क नगर में उस युग के सभी प्रसिद्ध देशों के व्यापारी एकत्र होते थे। ये छोटे छोटे प्रदेश कभी तो मिस्र साम्राज्य के आधीन होजाते थे, कभी बेबीलोन साम्राज्य के आधीन, कभी कभी इनका स्वतंत्र अस्तित्व भी बना रहता था। इन्हीं छोटी जातियों या राज्यों में जूडिया की यहूदी जाति थी—जिस पर बेबीलोन के सम्राट नेबूस्केन्डैजर ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था और जूडिया से सभी यहूदी आबादी को जबरदस्ती हटाकर बेबीलोन भेज दिया था। यही यहूदी जाति भविष्य में जाकर इतिहास में एक महत्व-पूर्ण धार्मिक कहानी की रचना करने वाली थी।

फीनीशियन लोग

ईसा के ५-६ हजार वर्ष पहिले सभ्यता और मानव-जीवन की जो चहल पहल भूमध्यसागर के निकटवर्ती देशों में—यथा मिश्र,मेसोपोटेमिया, क्रीट, एशिया माइनर, सीरिया आदि प्रदेशों में चली, उन सब में जहाजों द्वारा यातायात का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो झीलों एवं नदियों के आसपास रहने वाले मानव नव पाषाण युग में ही बहुत सादी सी नाव बनाकर झीलों और नदियों के जल पर भ्रमण करने लग गये होंगे। स्यात् पहिली नावें, पानी में बहनेवाले लकड़ी के गट्ठड़ मात्र होंगे। तब पत्थरों के औजारों में सुधार के साथ साथ लकड़ी की साधारण नाव भी बनने लगी होगी। पहले ये नावें डांडों से चलाई जाती रहीं—फिर शनैः शनैः ये ही डांड, नाव की साइड में हुक बनाकर

उसमें स्थित किये जाकर, पतवार की तरह काम में आने लगे होंगे। और इस प्रकार धीरे धीरे जहाज बनने लगे, तदुपरान्त सबसे पहिले खाल या हेम्प के पाल भी जहाजों में काम में आने लगे। और इस प्रकार धीरे धीरे बड़े बड़े जहाज बनने लगे जो भूमध्यसागर, फारस की खाड़ी, और लाल सागर की ही यात्रा नहीं करते थे किन्तु हिन्दमहासागर में भी चल कर सिन्ध और दक्षिण भारत के बन्दरगाहों तक जाते थे। सामुद्रिक जहाजों की कला वैसे तो सुमेर, मिश्र आदि देशों के लोग जानते थे। ६००० ई० पू० में सुमेर की नावें और जहाजें यूफ्रीटीज और टाइग्रीस नदियों में चलती थीं—मिश्र में नावों और जहाजों के चित्र मिले हैं जो लगभग ढाई तीन हजार वर्ष ई० पू० के हैं। वे चित्र बड़ी बड़ी जहाजों के हैं जो नील नदी के अतिरिक्त भू-मध्यसागर में भी चलते होंगे। किन्तु सामुद्रिक बड़ी बड़ी यात्रायें करने वाले ५. तो क्रीट के माईनोअन लोग थे, या उनसे भी अधिक साहसी सामुद्रिक लोग, सेमेटिक उपजाति के कुछ लोग थे जो फीनीशियन कहलाते हैं और जो एशिया माइनर के उत्तर-पच्छिम तट पर फीनीशिया नामक प्रांत में ईसा के २-३ हजार वर्ष पूर्व बसे हुये थे। वे लोग वहां स्यात् लाल समुद्र के निकटवर्ती प्रदेश से आकर बसे थे। इन फीनीशियन लोगों के अधिकार में भूमि का टुकड़ा छोटा होने से, इन्होंने भिन्न भिन्न द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाना शुरू किया, एवं उन दिनों में बसनेवाली अन्य जातियों के निवास स्थान से बहुत दूर समुद्र के किनारों पर बसना शुरू किया। इस प्रकार एशिया माइनर के पच्छिमी तट पर इन्होंने टायर, सीडन, बेबिलस और अराइस नामक बस्तियां बसाईं और बाद में जाकर दूर उत्तरी अफ्रीका के किनारे पर प्रसिद्ध नगर कार्थेज बसाया। ये लोग व्यापार भी करते थे और सभ्य देशों के सामुद्रिक नगरों में लूटमार भी। जब लूटमार का अवसर मिलता, तब तो लूटमार करके जहाजों में बैठकर अपनी बस्तियों में चले जाते थे—जब ऐसा सम्भव नहीं हो पाता था तो व्यापार में संलग्न रहते थे। धीरे धीरे

इन लोगों का सामुद्रिक यातायात में इतना प्रभाव हो गया कि उस प्राचीन काल का प्रायः बहुतसा सामुद्रिक व्यापार इन्हीं लोगों की जहाजों में होता था। ये लोग साईप्रेस द्वीप का तांबा, ग्रेट ब्रिटेन के कार्नवाल प्रांत का टिन (कलई), मिश्र का कांच का सामान, बेबीलोन के मिट्टी के बर्तन, भारत की चंदन की लकड़ी, मोती और रुई के कपड़े, एक दूसरे देशों में पहुँचाते थे। साहसी और होशियार मल्लाहों की हैसियत से ये लोग उस काल के सभी सभ्य देशों में प्रसिद्ध होगये थे। ऐसा भी पता लगा है कि इन्हीं लोगों ने उस काल में दो महान् सामुद्रिक यात्रायें की थीं। एक तो, ५२० ई० पू० में हन्नोन नामक एक फीनीशियन ने जिब्राल्टर से लेकर अफ्रीका के किनारे ठेठ दक्षिण तक और फिर उसके भी आगे काफी दूर पूर्वीय किनारे तक। हन्नोन के पास ६० बड़ी बड़ी जहाजें थीं और अनेक दूसरे फीनीशियन साहसी मल्लाह। अफ्रीका के किनारे किनारे ये लोग चलते जाते थे, और साथ ही साथ अफ्रीका के भिन्न भिन्न भागों का ज्ञान भी प्राप्त करते जाते थे। अफ्रीका के लोगों और दावानलों के रोचक वर्णन इन्होंने छोड़े हैं—उस काल में दक्षिण अफ्रीका सर्वथा एक अनजान देश था। खाद्यान्न समाप्त होने पर उचित स्थल देखकर वहां खेती भी करते जाते थे—और इस प्रकार अपनी यात्रा में आगे चढ़ते रहते थे। कई स्थलों पर इन्होंने अपने मान्य देवताओं के मन्दिर भी बनाये। इनके धार्मिक विश्वास ऐसे ही थे जैसे अन्य तत्कालीन जातियों के। इनका मुख्य देवता "बाल" था—जो सूर्य का प्रतीक था, और मुख्य देवी "आशाटोरथ" जो कि उपज की देवी मानी जाती थी।

फीनीशियन लोगों की एक दूसरी यात्रा का वर्णन ग्रीक इतिहासकार हीरोडोटस के इतिहास में मिलता है। ऐसा माना जाने लगा है कि इस यात्रा में फीनीशियन लोगों ने पूरे अफ्रीका का चक्कर लगाया। यह यात्रा मिश्र के शासकों के २६ वें राज्यवंश के प्रसिद्ध फेरो निशो ने करवाई थी। ये लोग स्वेज खाड़ी से रवाना हुए, फिर पूर्वी तट के सहारे

सहारे चलते हुए दक्षिण अफ्रीका तक पहुंचे,–वहां से पच्छिमी तट की ओर मुड़कर–पूरे अफ्रीका का चक्कर काट कर, नील नदी के मुहाने पर आकर उतरे। इस यात्रा में प्राय: ३ वर्ष लगे। आजकल जब हमारे विशालकाय जहाज प्रशान्त महासागर जैसे बड़े बड़े तूफानी महासागरों को रात दिन चलते हुए सरलता पूर्वक पार कर जाते हैं तो हमें लगता होगा कि फीनीशीयन लोनों ने अफ्रीका का जो चक्कर लगाया, उसमें कौनसी ऐसी बड़ी बात की। किन्तु हमें यह कल्पना करनी चाहिये कि वह काल जिसमें फीनीशियन लोगों ने इतनी बड़ी सामुद्रिक यात्रा की—मानव का समुद्रों पर चलने का एक प्रकार से प्रारम्भिक काल ही था। इतिहास में फीनीशियन लोगों का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि वे लोग प्राचीन काल में सर्वप्रथम साहसी मल्लाह थे, बड़ी बड़ी जहाजें बनाते थे और उन्होंने उस युग के सभ्य देशों को व्यापारिक सम्बन्धों में जोड़ा था, किन्तु उनका महत्व इस बात में भी है कि उन्होंने एक देश की सभ्यता का दूसरे देशों तक प्रचार करने में, एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान में बहुत योग दिया। मिश्र के अद्भुत पिरामिड और स्फिक्स का परिचय दूसरे देशों को इन्हीं लोगों ने कराया। कुछ भारतीय पुरातत्व-वेत्ताओं और वैदिक साहित्यकों का ऐसा भी अनुमान है कि जिस प्रकार अफ्रीका के ठेठ उत्तर में कार्थेज नगर बनाकर उन्होंने अपनी अपनी बस्ती बसाई थी, इसी प्रकार इन लोगों की कुछ बस्तियां "भारती" सिंधु तट पर भी बसी हुई थीं और वहां पर भारतीय आर्य्यों में ये लोग पण्व जाति के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं पण्व लोगों के द्वारा आर्य सभ्यता की अनेक बातों का परिचय पश्चिमी देशों को हुआ। ऐसा भी अनुमान है कि फीनीशियन लोगों ने ही सर्वप्रथम मिश्र की चित्राङ्कन भाषा से अक्षरों का आविष्कार किया और उन्होंने मिश्र से पेपिरस वृक्ष की छाल लाकर उन अक्षरों को पेपिरस रीड (पेपीरस वृक्ष की छाल से बनाई हुई लिखने के लिए एक विशेष वस्तु) पर जमाया और इस प्रकार एक सुविकसित वर्णमाला का सर्व प्रथम आविष्कार किया। फीनीशियन

लोगों का कोई विशेष साहित्य नहीं मिलता है क्योंकि ये लोग मुख्यतः व्यापारी थे—अतः इनके द्वारा लिखे गये अधिकतर हिसाब किताब के ही रिकार्ड मिलते हैं। इतना अवश्य है कि ग्रीक लोगों ने इन्हीं की वर्णमाला से अपनी लिखित भाषा (लिपि) का विकास किया।

उस काल में इन फीनीशियन लोगों और मिश्र तथा बेबीलोन के सम्राटों में झगड़े रहा करते थे। इसके फलस्वरूप फीनीशियन लोगों की वे बस्तियां जो एशिया माइनर के सामुद्रिक तट पर बसी हुई थीं, बेबीलोन के सम्राटों द्वारा विध्वंस कर दी गईं। इनकी केवल एक प्रमुख बस्ती कार्थेज बची रही जो मिश्र से दूर अफ्रीका के उत्तरी तट पर थी, और जो उस काल का प्रसिद्ध नगर और व्यापारिक केन्द्र था। इस नगर को छोड़कर जिसका अन्त रोमन लोगों के जमाने में हुआ—शेष सब फीनीशियन बस्तियां और फीनीशियन लोग ग्रीस और फारस के आर्यन लोगों के आक्रमण के सामने समाप्त होगये—उसी प्रकार जिस प्रकार प्राचीन मिश्र और बेबीलोन के लोग और उनकी सभ्यतायें समाप्त हो गई थीं।

(१८)

अमेरिका की प्राचीन सभ्यतायें

(माया-सभ्यता)

इतिहास

प्राचीन पाषाण युग के उत्तर काल में या नव-पाषाण युग के आरम्भिक काल में उत्तर-पूर्वीय एशिया से कुछ लोग (ये लोग सम्भवतः मंगालोइड उपजाति के होंगे) बेहरिंग और अलास्का के रास्ते से होकर अमेरिका पहुंच गये। इन लोगों के पहुंचने के पूर्व तो अमरीका विशाल

मानव-हीन भूखंड था-और वहाँ जंगली भैंस, विशाल शरीर वाले मेगाये-रयन और ग्लिपटोडन नाम के जानवर इधर उधर घूमा करते थे। उस समय एशिया और अमरीका महाद्वीप बेहरिंग और अलास्का के पास जुड़े हुए होंगे। तदुपरान्त दोनों महाद्वीप बेहरिंग स्ट्रेट द्वारा पृथक होगये होंगे अतएव एशिया और अमरीका में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रहा। फिर तो उस समय तक जब कोलम्बस ने १४६२ में अमरीका का पता नहीं लगा लिया, एशिया और यूरोप वासियों के लिये अमरीका बिल्कुल लुप्त रहा। वे प्राचीन पाषाण कालीन लोग जो अमरीका पहुंचे धीरे धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये और उन्होंने स्वतन्त्र, खेती और पशु पालन के आधार पर अपने राज्यों और अपनी सभ्यताओं का विकास किया। अमरीका में केवल ३ ऐसे केन्द्र मिले हैं जहां सभ्यताओं का विकास हुआ था, यथा—मध्य अमरीका, मैक्सिको और पीरू।

(१) **माया सभ्यता**—मध्य अमरीका में जो सभ्यता थी उसको इतिहासकारों ने माया सभ्यता नाम दिया है। मध्य अमरीका के कई राज्य मिलकर एक विशाल राज्य बन गये थे जिसे 'मायापन' नाम मिला। अनुमान है कि माया सभ्यता ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। आधुनिक खोजों से पता लगा है कि लगभग ई० पू० १५०० में वहाँ एक सुन्दर विशाल नगरी बसी थी जिसका नाम पेलेक्वी था। मायापन राज्य में पेलेक्वी के अतिरिक्त अन्य भी कई सुन्दर नगर थे। इस सभ्यता की परम्परा ई० सन् की नवीं दसवीं शताब्दी तक चलती रही, जब पड़ौसी अजटैक्स जाति के लोगों ने मायापन राज्य पर हमला किया, वहाँ के नगरों को तहश नहश कर डाला, अनेक लोगों को कैद कर लिया, और अंत में धीरे धीरे न जाने कैसे, माया सभ्यता बिल्कुल विलुप्त हो गई। इसका संक्षिप्त विवरण आगे देखिये।

(२) **अजटैक्स सभ्यता**—मैक्सिको में माया सभ्यता से मिलती जुलती अजटैक्स जाति के लोगों की एक अन्य सभ्यता विद्यमान थी। मूलतः इसमें माया संस्कृति के ही तत्व प्रचलित थे किन्तु उतने उदात्त

रूप में नहीं। इन लोगों में भी राजा और पुरोहित होते थे। इन्होंने भी माया सभ्यता की तरह विशाल भवन और मन्दिर बनवाये, एवं सुन्दर नगरियां बसाई थीं। इन लोगों ने मायापन राज्य की भूमि पर, जहाँ इनका ६ वीं–१० वीं शताब्दी में हमला हुआ था, एक विशाल एवं भव्य नगर बसाया था जिसका नाम टिलोचिल्टन था। इस सभ्यता की परम्परा प्रायः ई० पू० की एक-दो शताब्दी से ई० सन् की १५ वीं शताब्दी तक रही। सन् १४६२ ई० में कोलम्बस ने अमरीका ढूंढ निकाला, उसके बाद १५१६ ई० में स्पेन के कुछ लोग साहसी नाविक कोर्टेज के नेतृत्व में जहाजों में बैठकर मैक्सिको आये, साथ में घोड़े और बन्दूक लाये, अजटैक्स लोगों पर क्रूरता से हमला किया, उनकी नगरियों को तहश-नहश कर डाला,उनके पुरोहित और राजाओं को मार डाला और इस प्रकार एक प्राचीन सभ्यता विलुप्त होगई। विशाल नगर टिलोचिल्टन भी जिसके समान सुन्दर और वैभवशाली नगर उस काल में (१५ वीं शती में) समस्त यूरोप में कहीं नहीं था, बरबाद होगया। जहाँ पहिले नगर बसे हुए थे और अच्छी खेती होती थी, वहाँ गहन बनों का साम्राज्य छा गया।

(३) **इन्का सभ्यता**—अमरीका के पीरू प्रदेश में इन्का जाति के लोगों की सभ्यता विद्यमान थी। इन लोगों में प्रचलित परम्परा के अनुसार तो इनका राज्य और इनकी सभ्यता भी काफी प्राचीन मानी जानी चाहिये। पुरातत्ववेत्ताओं ने इतना तो निश्चित रूप से पता लगा लिया है कि इन्का लोगों का विशेष उत्थान ई० सन् की ११ वीं शती में प्रारम्भ हुआ, और अपने समृद्धि काल में इनका साम्राज्य रोमन साम्राज्य से भी विशालतर था। सम्राट जातीय देवता सूर्य का प्रतिनिधि माना जाता था। समस्त साम्राज्य चार प्रांतों में विभक्त था जिनमें सम्राट द्वारा नियुक्त अफसर राज कार्य का संचालन करते थे। एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक राजकीय आदेश-और समाचार वाहन का काम हरकारा लोग करते थे। सड़कें बनी हुई थीं, जिनके अवशेष अब भी मिलते हैं।

आर्थिक संगठन एक प्रकार से समाजवादी ढंग का था। समस्त कृषि भूमि राजकीय स्वामित्व के अन्तर्गत थी, किन्तु वह खेती करने के लिए साधारण लोगों में बंटी हुई थी। कुझको नगरी साम्राज्य की राजधानी थी, जहाँ जातीय देवता 'सूर्य' का विशाल मन्दिर था, और मन्दिर के आसपास सम्राट के महल। कुझको नगरी के विशाल मन्दिर के अवशेष अब भी मिलते हैं, जो इन्का लोगों के भवन-निर्माण कौशल का परिचय देते है। सन् १५३० ई० में पिजारो के नेतृत्व में अनेक स्पेनवासी अटलाण्टिक महासागर पार करके पीरू आये। उस समय इन्का सम्राट हुआयना के देहान्त के बाद राज्य गद्दी के लिए दो राजकुमारों में झगड़ा चल रहा था। स्पेनवासी पिजारो ने इस स्थिति का लाभ उठाया; उसने गृह युद्ध भड़कवा दिया और अन्त में स्वयं ने जीर्णशीर्ण राज्य कुटुम्ब को ध्वस्त कर दिया। जिस प्रकार कोर्टेज ने अजटैक्स साम्राज्य को खतम करके मैक्सिको में स्पेनिश प्रभुत्व स्थापित किया था, उसी प्रकार पीरू में 'इन्का' साम्राज्य ध्वस्त कर पिजारो ने स्पेनिश प्रभुत्व कायम किया। इन्का लोगों को दूर पहाड़ों और जंगलों में जाकर शरण लेनी पड़ी और उनकी भव्य सभ्यता प्राय: विनिष्ट होगई।

कोलम्बस, कोर्टेज और पिजारो के बाद तो १७ वीं-१८ वीं शतियों में अनेक यूरोपवासी अमरीका में धीरे धीरे आ बसे। उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग कनाडा में ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई, उसके मध्य भाग में संयुक्त राज्य अमरीका की, और दक्षिण अमरीका में कई स्पेनिश राज्य कायम हुए। तभी से अमरीका का आधुनिक इतिहास प्रारम्भ होता है। अमरीका का प्राचीन इतिहास तो अमरीका के आदिवासी (तथा कथित रैड इन्डियन) लोगों की माया, अजटैक्स और इन्का सभ्यताओं का इतिहास है।

पिछले ४०-५० वर्ष की ऐतिहासिक गवेषणाओं ने अमरीका के मूल निवासियों की भव्य सभ्यता को प्रकाश में लाकर मानव की कहानी

को रोचक बना दिया है।

अमरीका की प्राचीन सभ्यताओं का वर्णन—अमरीका की प्राचीन सभ्यताओं में माया सभ्यता सबसे अधिक विकसित तथा प्राचीन थी; अन्य सभ्यतायें तो मानो इसी का रूपांतर थीं। माया सभ्यता जिसके आज केवल भग्नावशेष ही रह गये हैं, अभी हाल की खोजों से पता लगा है कि ईसा के लगभग १५-१६ शताब्दियों पूर्व गोटीमाला के उत्तरी भाग में जो मैक्सिको की सरहद में मिलता है और आज पर्णतया बनों से आच्छादित है, उदय हुई थी। इस सभ्यता का विनाश ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ। इस सभ्यता का विनाश का कारण आज भी ऐतिहासिकों के समक्ष एक पहेली बनी हुई है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वहां सहसा ऋतु परिवर्तन हो गया, प्रदेश बनों से आच्छादित होगया, महामारी फैली और लोगों को वहाँ से हट जाना पड़ा, वे लोग युकाटन प्रदेशों में चले गये। टोयनबी महाशय का कहना है कि यहां पर जैसा और स्थानों पर पाया जाता है सभ्यता का अंत, किसी आंतरिक मानवीय असफलता के कारण हुआ।

कला कौशल—माया संस्कृति एक उच्च संस्कृति थी। उसकी शिल्पकला, लकड़ी और पत्थर पर नक्कासी तथा कपड़ा बनाने की कुशलता अनुपम थी। उनको लोहे का ज्ञान नहीं था, न वे कुम्हार के चाक से ही परिचित थे। उनका मुख्य ज्ञान उनकी विकसित चित्रलिपि तथा पंचाङ्ग का ज्ञान है। मूर्तिकला का भी पर्याप्त विकास हुआ था। ये मूर्तियां धर्म से संबंधित हैं। उनको स्वर्ण और जवाहरात का भी परिचय था। अनेक जवाहरात ये दांतों में जड़वाया करते थे। पत्थर के काम से भी बहुत ही सुन्दर कला का परिचय मिलता है। पत्थर द्वारा निर्मित भवनों में पिरेमिड की ढङ्ग की बनावट मिलती है–ये पिरेमिड मन्दिर थे जबकि मिश्र के पिरेमिड समाधि।

माया धर्म—माया धर्म, सभ्यता और साहित्य से आधुनिक काल (१५ वीं–१६ वीं शताब्दी) में जब सबसे पहिले परिचय प्राप्त हुआ और

कालांतर में जब उनकी भाषा का रहस्य समझ लिया गया तब तत्संबंधी साहित्य के अन्वेषकों का यह मत बना कि प्राचीन माया लोगों का धर्म दुनिया के तथाकथित अर्ध सभ्य आदिनिवासी लोगों के धर्म-जैसा एक धर्म था, उसमें गहराई नहीं थी, कोई उदात्त जीवन-दर्शन नहीं था। वह धर्म अंध और असंस्कृत विश्वासों पर आधारित मानो केवल स्थूल प्रकृति-पूजा का धर्म था। किन्तु ज्यों ज्यों उनके साहित्य का विशेष अध्ययन हुआ है त्यों त्यों यह बात प्रकाश में आने लगी है कि उनके धर्म का मूलभूत और आंतरिक आधार उच्च रहस्यवादी अनुभव है जिनकी अभिव्यक्ति सुन्दर प्रतीकात्मक ढंग से उनके धार्मिक साहित्य में हुई है, जिसकी तुलना कई अंशों तक चीनी लोगों के प्राचीनतम ग्रंथ 'परिवर्तन की पुस्तक," हिन्दुओं के आदि ग्रंथ 'वेद', एवं ईसाई रहस्यवादियों की प्रतीकात्मक उक्तियों से की जा सकती है। इसका आभास हमें माया सभ्यता के परवर्ती अजटैक्स लोगों के साहित्य से मिलता है। यह साहित्य अजटैक्स लोगों की ही प्राचीन नाहुअत्ल (Nahutal) भाषा में लिखा हुआ है,जिसका यूरोपीय विद्वानों ने अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत किया है। नाहुअत्ल काव्य के अंग्रेजी अनुवाद से एक दो पद हिन्दी में उल्था करके नीचे दिये जाते हैं। पहला एक उषा गीत है:—

"उस स्थल से जहां से फूल उठे हैं मैं आया हूँ,
मैं प्राणदायक वायु हूँ, लाल अंतरिक्ष का स्वामी,
जैसे तुम, ऐ मां, ऐ प्रच्छन्न देवी,
उषा रानी दो, वैसे ही
मैं हूँ प्राणदायक वायु, लाल अंतरिक्ष का स्वामी।"

यहां मैक्विल क्सोटल (Macuilxochitl), पृथ्वी पुत्र, मक्का का पौधा (देवता) उद्बोधन कर रहा है आदि जन्मदात्री उषा को। और यह है प्रतीक प्रकृति में पुनः पुनः नव प्राण और चेतना के जन्म का। स्थल रूप में मैक्विलक्सोटल (मक्के का पौधा) जो अजटैक्स लोगों का

मुख्य भोजन था आदिकालीन प्रकृति धर्म का प्रत्यक्ष देवता है।

एक दूसरा गीत है:—

"चलो गायें, ओ कुमार,
चलो उसकी पूजा करें जो हमको देता है जीवन।
अमूल्य और बहुरंगी है हमारा पुष्पमय गीत।
देखो फूल खिल आये हैं •वसन्त के फूल।
सूर्य के प्रकाश में स्नात हैं अनेक फूल।
ऐ प्राणदात्रे वे हैं तुम्हारा मन और शरीर,
कौन नहीं चाहता तुम्हारे फूल,
ऐ प्राण दाता ?
वे हैं उसी के हाथ में जो देता है शरण मृतकों को भी।
फूल उगते हैं, अपनी पत्तियाँ खोलते हैं,
फूल मुर्झाजाते हैं
सूर्य की रश्मियों में स्नात हैं अनेक फूल।
वे हैं तुम्हारे मन और शरीर,
ए जीवन दाता।"

स्थूल अर्थ में प्राणदाता तो है सूर्य, और फूल हैं वे ही साधारण फूल जो खेतों में उगते हैं। किन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ है कि एक परमात्मा सत्ता है जिसकी बाह्य अभिव्यक्ति सूर्य है, जब कि फूल आत्मा के प्रतीक हैं। नाहुअत्ल साहित्य में अधिष्ठित धर्म का मूल सारांश इसी विश्वास में निहित है कि मनुष्य के स्वभाव, मन या अन्तर में जो नैसर्गिक द्वन्द्व बना रहता है उससे मानव, प्रकाशमान शरीर की उपलब्धि करके, मुक्ति पा सकता है।* यह इस अनुभव का संकेत है कि मानव स्वस्थ, निर्द्वन्द्व

* नाहुअत्ल साहित्य को देखिये:—

1. Angel Maria Garibay : "*Historia de la Literature Nahuatl*"
2. Maxico and Sejourne : "*Burning Water*"
   अंग्रेजी अनुवादकर्त्ता—Irene Nicholson, प्रकाशक: Thames and Hudson, LONDON.

और आनन्दमय स्थिति प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक जीवन—प्राप्त अवशेष चिन्हों के आधार पर हम उनके सामाजिक जीवन के विषय में केवल कुछ अनुमान ही लगा सकते हैं। मुख्य पेशा कृषि था। जंगलों को काटकर या जलाकर, इस प्रकार भूमि साफ करके वह प्रदेश बसने योग्य बनाया गया था। अनेक निवास स्थानों तथा भवनों का निर्माण हुआ था। इससे प्रकट होता है कि वहां के निवासी स्थिर तथा शांत जीवन व्यतीत करते थे। समाज में धनिक, पुरोहित और साधारण वर्ग के लोग होते थे। शासन करने वाला पुरोहित और राजा दोनों ही होता था। कई यूरोपियन विद्वानों का ऐसा मत है कि इन लोगों में परम्परागत कानूनों का प्रचार था। ये हिंसा तथा युद्ध से घृणा करते थे, पशु बलि के स्थान पर अपने देवताओं को पुष्प, जवाहरात इत्याति भेंट चढ़ाते थे। ऐसा भी अनुमान है कि इस सभ्यता पर भारत का काफी प्रभाव पड़ा था और उस काल में भारत और अमेरिका में यातायात होता था।

अभी हाल माया सभ्यता के विषय में मैक्सिको सरकार के प्रयत्नों की वजह से हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई है। इस सभ्यता के प्राचीन नगर पेलनक्वे में अनेक अन्वेषण हुए हैं। इन खोजों के अनुसार पेलेनक्वे की स्थापना १५०० ई० पू० में हुई थी। ये माया के सभ्यों और पुरोहितों का नगर था, जिसमें अनेक भव्य इमारतें और मन्दिर बनाये गये थे। विधियों के मन्दिर (Temple of Laws) में सुन्दर कला के नमूने मिले हैं। इन नमूनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी कला का ढंग (Technique) बहुत ही विकसित था। इन कला-कृतियों में जीवन के अनेक चित्र मिले हैं—सिपाही युद्ध करते हुए,—समुद्र जिसमें अनेक जानवर तैर रहे हैं, स्त्रियां घरेलू काम में व्यस्त हैं—इत्यादि। दीवारों पर जो चित्रकारी है उनमें धार्मिक चित्र अंकित हैं—जैसे धार्मिक उत्सव इत्यादि। किन्तु इससे भी बढ़कर उनकी स्थापत्य कला थी जिसका प्रमाण हमें उनके मन्दिरों और महलों की भव्य बनावट में

मिलता है। उन भवनों के स्तम्भों में खोदे हुए अनेक सजावट के काम हैं—उनमें ज्योतिष सम्बन्धी एवं पत्रा सम्बन्धी गणनायें भी खुदी हुई हैं—अनेक देवताओं की मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं।

यह तो अब सिद्ध होता है कि अमेरिका की इन प्राचीन सभ्यताओं में और प्राचीन मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यताओं में अद्भुत समानतायें हैं।

•

(१९)

प्राचीन लुप्त सभ्यताओं पर एक दृष्टि

भूमिका

आज से अनुमानतः ५० हजार वर्ष पूर्व मेधावी मानव के इस पृथ्वी के रंगमंच पर प्रगट होने के बाद से ई० पू० पांचवी छठी शताब्दी तक हमने परिवर्तन और विकास की कहानी की रूपरेखा अंकित करने का प्रयत्न किया। हमने देखा किस प्रकार दो पैरों पर खड़े होने वाले एक जानवर की स्थिति में मनुष्य का सर्व प्रथम आविर्भाव हुआ, अन्य जानवरों की अपेक्षा केवल एक मस्तिष्क शक्ति कुछ अधिक लेकर; किस प्रकार हजारों वर्षों तक उसने एक जंगली जानवर के मानिन्द गुफाओं, जङ्गलों एवं पेड़ों के नीचे ही नंगे रहते हुए अपना जीवन व्यतीत किया, प्राकृत रूप में मिलने वाले फलों, एवं मांस पर अपना निर्वाह किया एवं अपनी रक्षा के लिये पत्थर के हथियार बनाये। फिर किस प्रकार धीरे धीरे वह नव-पाषाण युगीय सभ्यता की स्थिति तक पहुंचा—जब वह खाल से अपने शरीर को ढकता था, समूह बनाकर मिट्टी के कच्चे घरों

में रहने लगा था, प्राकृत रूप में मिलने वाले जंगली गेहूँ तथा अन्य दानों को पीसकर, पकाकर खाने लगा था, एवं पत्थरों के अच्छे अच्छे हथियार और औजार बनाता था; एवं शिकार करता था—फिर इस स्थिति को पार करता हुआ किस प्रकार वह खेती करने लगा था, पशु-पालन करने लगा था, तांबे कांसे के औजार बनाने लगा था, एवं गांव में रहने लगा था। फिर किस प्रकार इस स्थिति को पार करता हुआ मनुष्य, भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों में नील नदी की घाटी में, युफ्रेटीज और टाइग्रेस नदियों की घाटी में, सिन्धु नदी की घाटी में, एवं सुदूर-पूर्व में व्हांगहो और यांगटीसिक्यांग नदियों की घाटी में आज से प्राय: ७–८ हजार वर्ष पूर्व उस सभ्य स्थिति को पहुंचा जब बड़े बड़े नगर बसे, मन्दिर बने, पुरोहित-सम्राट हुए, जादू-टोने, देवी-देवताओं में विश्वास के संस्कार बने, राज्यों का संगठन हुआ, रेशम, ऊन एवं सूत के कपड़े बने, अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों का प्रचलन हुआ एवं देश विदेशों में परस्पर व्यापार होने लगा। हम देख सकते है कि आज से ७–८ हजार वर्ष पहिले से ही मनुष्य की गति, जीवन-चर्या उसका रहन-सहन, धीरे धीरे लगभग उसी प्रकार का होने लगा था जैसा साधारणतया आज हमारा है। मशीन युग, भाप, रेल, बिजली, हवाई-जहाज, रेडियो ने हमारे जीवन के रहन सहन में जो अभूतपूर्व परिवर्तन किया वह तो केवल पिछले सौ सवा सौ वर्ष की बात है।

कल्पना कीजिये देश-काल के क्षितिज पर मनुष्यों के चलते हुए उस लम्बे जलूस की—नंगा मनुष्य आया, फिर पत्तों एवं खाल से ढका हुआ मनुष्य आया, फिर वस्त्राभूषणों से परिवेष्ठित मनुष्य आया, जलूस का आयतन बढ़ता गया, भिन्न भिन्न प्रकार के नाच, रंग, युद्ध, पूजा, गान आने लगे, जलूस आगे बढ़ता गया, आगे जाने वाले दृष्टि से ओझल होते गये किन्तु कुछ कुछ अपने अवशेष चिन्ह पृथ्वी पर छोड़ते गये जिनके सहारे उनके चित्र इतिहास में अंकित हो सके। ईसा के बाद हमारा सुपरिचित और अपेक्षाकृत सुज्ञात ऐतिहासिक

काल तो केवल दो हजार वर्ष का है किन्तु इसके पूर्व इन प्रारम्भिक सभ्य मानवों का एक जलूस पांच छः हजार वर्षों के लम्बे अर्से तक चलता रहा था। मिश्र, सुमेर, बेबीलोन-असीरिया, मोहेंजोदाड़ो-हरप्पा, क्रीट और फीनीशिया, इन देशों में नगर सभ्यतायें उद्भूत हुईं, विकसित हुईं, ४-५ हजार वर्ष तक गतिमान रहीं और फिर विलीन हो गईं। बीच में एक व्यवधान सा आ जाता है और फिर आज हम हैं और हमारी सभ्यता। हमें सचमुच आश्चर्य होता है जब हम सुनते हैं उस अतीत प्राचीन काल के मानव की हलचल की बातें—सुनते हैं बेबीलोन के झूलते बागों की बात, मिश्र के पिरामिडों की बात, उनकी भाषा, धर्म और देवी-देवताओं की बात। उन लोगों की सामान्य बातों को हम अपनी बातों से मिलायें तो सही।

प्राचीन लुप्त सभ्यताओं के सामान्य तत्व

(मिस्र, सुमेर-बेबीलोन-असीरिया, क्रीट, माया, सिन्धु-सभ्यता)

१. **काल**—इन प्रारम्भिक प्राचीन सभ्यताओं का काल अनुमानतः ई० पू० ५-६ हजार वर्ष से ई० पू० ५-६ सौ वर्ष तक माना जाता है। अर्थात् इन सभ्यताओं में से कोई कोई तो जैसे मिश्र और सुमेर ईसा के ५-६ हजार वर्ष पहिले आरम्भ हुई, कोई कोई सभ्यता इसके १-२ हजार वर्ष पीछे। इस प्रकार प्रारम्भ होकर ईसा के ५-६ सौ वर्ष पहिले तक इनकी परम्परा चलती रही और फिर ये विलीन होगईं।

२. **देश**—ये प्राचीन सभ्यतायें दुनिया के निम्न भागों में प्रसारित थीं एवं दुनियां के इन निम्न भागों के सभ्य लोगों में परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध था। (क) भूमध्यसागर निकटवर्ती देश यथा मिश्र, क्रीट द्वीप, एशिया माइनर, उत्तर अफ्रीका (ख) अरब (ग) ईरान (घ) ईराक-मेसोपोटेमिया (ङ) भारत (च) चीन।

ईसा के लगभग ५—६ हजार वर्ष पूर्व संसार के इसी भाग में यथा—भूमध्यसागर के निकटवर्ती देश, मिश्र, मेसोपोटेमिया, एशिया-माइनर, एवं

पूर्व में बलूचिस्तान एवं सिन्ध देश के मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा, और चीन में–मानवी हलचल मालूम होती है। इन भूभाग में जीवन और सभ्यता की जो चहलपहल चली उसकी अपनी ही एक विशिष्टता थी। इन भूभागों में असभ्य और अर्द्धसभ्य स्थिति को पार करके मानव-जाति संगठित सभ्यता की स्थिति में पहुंचती है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि मानव भी किन किन परिस्थितियों में होकर गुजरा है और किस किस तरह से वह आगे बढ़ा है।

मानव सभ्यता की प्रथम
हलचल
५-६ हजार वर्ष ई.पू.
सभ्यता की हलचल
वाले प्रदेश
१ मिश्र २ मेसोपोटेमिया
३ सिंधु ४ चीन ५ क्रीट
६ मेक्सिको (माया) ७ पीरू ८ दक्षिणभारत (द्राविड़)
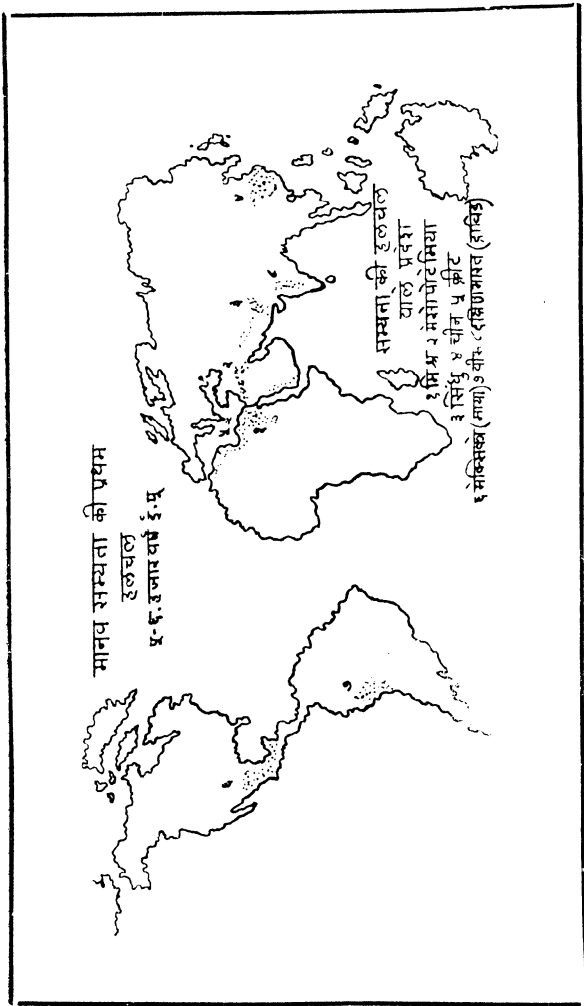
इस काल में जब कि उपरोक्त भूभागों में तो सभ्यता का विकास हो रहा था तो प्रश्न उठता है कि शेष दुनियां में क्या हो रहा था। भूमध्य सागर और मेसोपोटेमिया आदि सभ्यताओं के केन्द्र के उत्तर में यथा—यूरोप में राइन नदी के उत्तर में गौर वर्ण के नोर्डिक लोग इधर उधर घूम रहे थे, उधर एशिया में भारत से उत्तर और चीन से पच्छिम के भू-भागों में असभ्य मंगलोइड लोग इधर उधर घूम रहे थे। सभ्यता के उपरोक्त केन्द्र से दक्षिण की तरफ के भू-भागों में यथा मध्य और दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो लोग धीरे धीरे कृषि करना और धातुओं का प्रयोग करना सीख रहे थे। पूर्वी द्वीप समूह एवं आस्ट्रेलिया में प्राचीन पाषाण युगीय आस्ट्रोलाइड उपजाति के लोग जो अति प्राचीन काल में इन देशों में पहुंच गये होंगे अपनी जिन्दगी बिता रहे थे। इन आदिम जातियों के लोग कुछ कुछ अब भी वहां मिलते हैं। मैडागास्कर और न्यूजीलैंड देशों में तो उस काल तक शायद लोग पहुंचे ही नहीं होंगे। ईसा के लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व मंगलोइड जाति के कुछ लोग एशिया के उत्तर पूर्वीय भाग बेहरिंग से होकर जो कि उस समय अमेरिका से जुड़ा हुआ होगा, अमेरिका पहुंच गये होंगे। धीरे धीरे यही लोग दक्षिण की ओर प्रस्थान करते गये और मैक्सिको व पीरु एवं मध्य अमेरिका इत्यादि भाग में बस गये। पीछे एशिया से इनका संबंध शायद बिल्कुल टूट गया। स्वतन्त्र इन लोगों ने मैक्सिको में अलग और पीरु में अलग सौर-पाषाणी सभ्यता का अपने ढङ्ग से विकास किया।

जैसे आजकल प्राय: सर्व साधारण अनेक देशों की सही सही बातों को जानता है ऐसा उस जमाने में नहीं था। व्यापारियों, सामुद्रिक यात्रियों, भिन्न भिन्न देशों के शासक एवं सम्राट लोगों के संदेशवाहकों को छोड़कर प्राय: सभी सर्व साधारण भिन्न भिन्न देशों की बातो से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

३—ये लोग कौन थे?—जिन लोगों ने इन सभ्यताओं का विकास किया उनके उद्गम के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इतना तो कम से कम माना जाता है कि उनका संबंध आजकल की ज्ञात किसी भी सांस्कृतिक उपजाति यथा आर्यन या मंगोल, या सेमेटिक या नीग्रो लोगों की संस्कृतियों से नहीं जुड़ता। ऐसा अनुमान लगता है कि ये सभी लोग काले-गोरे मिश्रित वर्ण के मानव थे जो नव पाषाण युग के उत्तर काल में (ई० पू० १०००० वर्ष से लेकर प्रायः ५-६ हजार वर्ष तक) भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में फैले हुये थे। इन लोगों की सभ्यता का विकास सौर पाषाणी सभ्यता (Heliolithic Culture) की स्थिति में से हुआ। सभ्यता की सौरपाषाणी स्थिति वह थी जब मानव ने कृषि एवं पशुपालन करना सीख लिया था, कच्चे घर बनाकर एक जगह टिक कर रहने लग गया था, एवं अनेक स्वकल्पित देवी-देवताओं की शक्ति में विश्वास करने लग गया था। कुछ पौर्वात्य पुरातत्ववेत्ताओं का ऐसा अनुमान अवश्य बनने लगा है कि उपरोक्त प्रदेशों में सभ्यता का विकास भारतीय आर्यों के सम्पर्क से हुआ। इतना तो स्पस्ट है कि मिश्र, बेबीलोन, सुमेर, सिंधु प्रदेशों के लोगों में निकट संपर्क था, यद्यपि इनका आदि उद्‌गम हमें स्पष्ट मालूम नहीं हो सका है।

४–तत्कालीन व्यापार एवं यातायात के साधन--उस समय यातायात एवं पर्यटन के साधन बैलगाड़ी, रथ, गधे, बैल एवं ऊँटों के काफिले थे। मिश्र, बेबीलोन, इलम (ईरान), अरब में ऊँटों के काफिले चलते थे। शुरू में तो ये लोग घोड़ों से परिचित नहीं थे किन्तु बाद में जाकर इनसे भी इनका परिचय हो गया। समुद्र तट के सहारे बड़े बड़े जहाजों द्वारा भी यातायात और व्यापार होता था। उस काल की सामुद्रिक जहाजें विशेषकर पतवार से चलाई जाती थीं। बाद में पल्ले-दार जहाज भी चलने लगी थीं। भारत, अरब, मिश्र, उत्तर-पच्छिमी अफ्रीका, ईजीयन द्वीपों में परस्पर सामुद्रिक रास्ते से व्यापार होता था। सड़कें भी बनाई गई थीं और नदियों पर पुल। पहिले तो व्यापार वस्तुओं के हेरफेर से ही होता था, मुद्रा का प्रयोग नहीं होता था। एशिया माइनर में लीडीया के वासियों ने लगभग ६०० ई० पू० में

मुद्राओं का आविष्कार किया था, और तभी से इन प्राचीन सभ्यताओं के प्रदेशों में मुद्राओं का परिचलन होगया। मुद्रायें विशेषकर सोने या चांदी की बनती थीं। गेहूँ, ऊन, चमड़ा, सोना, चाँदी, मोती, जवाहरात, चन्दन एवं अन्य प्रकार की लकड़ी, ऊन, रेशम, रूई के बने सुन्दर कपड़े पीतल, तांबा एवं पीतल, तांबे के बने हुए बर्तन इत्यादि वस्तुओं का इन देशों में परस्पर व्यापार होता था। जिस प्रकार आधुनिक काल में कलकत्ता, वम्बई, लन्दन इत्यादि बड़े बड़े व्यापारिक नगर हैं उसी प्रकार उस प्राचीन काल में मिश्र में थीबीज, मेमफिस, और मेसोपोटेमिया में उर और बेबीलोन, सिंधु में मोहेंजोदाड़ो, उत्तरी अफ्रीका में कारथेज एवं क्रीट में नोसस बड़े बड़े व्यापारिक नगर थे। मिश्र, बेबीलोन, और मोहेंजोदाड़ो में चीन से रेशम, मध्य अफ्रीका से हाथी दांत, मिश्र से कांच की वस्तुयें आती थीं। रेशम और रुई के सुन्दर सुन्दर महीन कपड़े बुने जाते थे, उनकी धुलाई और रंगाई भी होती थी। मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तन बनते थे जिन पर पालिश और चित्रकारी भी होती थी।

५–धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन

उस काल में इन देशों में केवल व्यापारिक सम्पर्क ही नहीं था किन्तु सांस्कृतिक सम्पर्क भी। उस समय के लोगों का धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन, मन्दिर, देवी-देवता, पुरोहित एवं जादूगर इत्यादि की भावनाओं तक ही सीमित था। भिन्न भिन्न नगरों में अनेक प्रकार के देवी-देवताओं के मन्दिर होते थे। प्रायः सभी देशों में मातृ-देवी प्रमुख थीं। मिश्र में इन देवताओं के अतिरिक्त फेरो (राजा) भी देवता माने जाते थे। अनेक प्रकार के देवताओं की कल्पना उन लोगों ने कर रखी थी जिनकी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। सूर्य, नाग, पेड़, पत्थर इत्यादि की भी देवी-देवताओं के रूप में पूजा की जाती थी। कोई देवता कौटुम्बिक सुख देता था, कोई देवता धन देता था, कोई देवता खेतीबाड़ी अच्छी करता था, कोई देवता बीमारी दूर करता था, कोई देवता युद्ध में विजय दिलाता था–इत्यादि इस प्रकार की लोगों की मनोकामनायें थीं।

इन देवी-देवताओं के प्रति लोगों का प्रेम या सहानुभूति या एकात्मता का सम्बन्ध नहीं था; लोग इनसे डरते थे और डर के मारे इनको बलि चढ़ाते थे, बलि चढ़ाकर उनको खुश करने का प्रयत्न करते थे। पुरोहितों में, दवाई जादू-टोना करने वालों में उनका विश्वास था। उस काल में किसी सुसंगठित अध्यात्म-परक धर्म का विश्वास नहीं हो पाया था। बौद्ध, ईसाई, तथा इस्लाम धर्मों का आविर्भाव तो उस प्राचीन काल के अनेक शताब्दियों बाद हुआ। मिश्र के फेरो (राजा) इखनातन को छोड़कर जिसने कुछ धार्मिक-सुधार करना चाहा था, न तो, जहाँ तक हमें ज्ञात है, उन लोगों में एकेश्वरवाद के विचार का उदय हुआ था और न आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक विचारों तक उनकी बुद्धि और मानस का विकास हो पाया था। निम्न कोटि के मानसिक और बौद्धिक स्तर तक ही उनकी चेतना सीमित थी। इन लोगों का जीवन एहिकता-परक विशेष था, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक कम। मृत्यु के सम्बन्ध में इनके कोई सुनिश्चित विचार नहीं बने हुए थे। धुंधला सा कुछ कुछ ऐसा विश्वास बना हुआ था कि मृत्यु के उपरान्त मृत शरीर में फिर कभी प्राण का आगमन होता है, और उसके बाद वह प्राणी या तो ऊपर लोक में देवताओं के पास पहुंचता है या नीचे लोक में दुख पाने को, अपने अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार। मृत शरीर में फिर से प्राण आते हैं इसी विचार से मृत शरीर को गाड़ा जाया करता था, उसको जला नहीं दिया जाता था। राजाओं और धनिकों के लिये तो बड़ी बड़ी कबरें (समाधियां) बनती थीं।

इन लोगों के नैतिक गुण सम्बन्धी विचार भी अधिक विकसित नहीं हो पाये थे। सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम इत्यादि नैतिक गुणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के गहन विचारों या इन गुणों सम्बन्धी किन्हीं प्रकार के आदर्शों की विवेचना ये लोग कम ही कर पाये थे। ऐसा ही अनुमान लगता है कि बुद्धिवाद, वैज्ञानिक-विचारधारा; कला में आत्मानुभूति, अथवा रसानुभूति, इन गहरी अनुभूतियों तक पहुंचने के लिये इन लोगों

का पर्याप्त बौद्धिक विकास अभी तक नहीं हो पाया था—चेतना की गहन मुक्त अनुभूति इन्हें नहीं हो पाई थी। ऐहिक आवश्यकताओं की दृष्टि से ही कुछ गणित का ज्ञान, कुछ ज्योतिष का ज्ञान, कुछ दवाइयों और चीरा-फाड़ी का ज्ञान एवं सुख और ऐशो आराम के लिए कुछ कलाओं का (स्थापत्यकला, चित्रकारी, कई प्रकार के हस्त कला-कौशल इत्यादि का) ज्ञान इन लोगों ने प्राप्त कर लिया था। स्थापत्य यानी भवन-निर्माण कला एवं छोटी छोटी दस्तकारियों में तो ये लोग बहुत निपुण थे, इतने निपुण थे कि आधुनिक इंजीनियर और शिल्पकार भी तत्कालीन भवनों एवं दस्तकारी की कृतियों को देखकर चकित होते हैं। किन्तु ये बातें जीवन के मध्यस्तर की ही थीं। ऐसा कुछ भी अनुमान नहीं लगता कि उन प्राचीन सभ्यताओं में किसी ऐसी प्रतिभा का जन्म हुआ हो जिसकी तुलना हम भारतीय ऋषियों से कर सकें या ग्रीक सभ्यता के प्लेटो और आरिस्टोटल, (अरस्तु) से कर सकें, या चीन के कनफ्यूसियस और लाओत्से से कर सकें। प्राचीन भारत या चीन या ग्रीस ने तो ऐसे प्रतिभा-वान व्यक्ति पैदा किये, इतने उच्च मानसिक, बौद्धिक,आध्यात्मिक विकास वाले मनीषी पैदा किये जिनकी तुलना के मनीषी आधुनिक काल में भी न मिलें। किन्तु मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं सिन्धु सभ्यताओं में मानव की बुद्धि का विकास मध्यम स्तर तक ही हो पाया था। मानव को बुद्धि-स्वतन्त्रता, भाव-स्वतन्त्रता की अनुभूति अभी तक नहीं हो पाई थी। देवी-देवताओं के भय से त्रस्त, पुरोहितों और जादू-टोना करने वालों के भय से त्रस्त,—तत्कालीन लोगों की चेतना थी। तथापि, उनके अनेक संस्कार आज भी मानव को विरासत रूप में मिले हुए मालूम होते हैं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में पाई जाने वाली सृष्टि रचना की कथा, इनकी कई पौराणिक कथायें एवं कई वचन ज्यों के त्यों मिश्र-और बेबीलोन के प्राचीन लेखों से अथवा उस काल में प्रचलित दंत-कथाओं से लिये हुए मालूम होते हैं। यहूदी लोगों का तो २०००–५०० ई० पू० में मिश्र और बेबीलोन से सीधा

सम्पर्क ही था। भारत में भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा, वृक्ष एवं नाग पूजा, शिव एवं शक्ति की पूजा का प्रचलन सिन्धु सभ्यता से विरासत में मिला हुआ मालूम होता है।

६—सामाजिक संगठन

इन प्राचीन सभ्यताओं के काल में ही मानव कई श्रेणियों में विभक्त हो गया था। सर्वोपरि तो थे शासक-सम्राट, एवं शासक-सम्राटों से ही संबंधित उच्च-वर्गीय लोग जो प्रान्तों या अन्य छोटे भागों के शासक होते थे या उच्च राज्य-कर्मचारी होते थे। इन्हीं के साथ साथ मन्दिरों के पुजारी, पुरोहित, जादू-टोना-दवाई करने वाले उच्च-वर्गीय मनुष्य होते थे जिनका शासकों पर बड़ा प्रभाव होता था। मन्दिरों में पुजारी-पुरोहित की अतुल सम्पत्ति होती थी—यहां तक कि शासकों और इन पुरोहितों में परस्पर शक्ति की टक्कर भी होती थी। शासकों को अनेक बार इन पुरोहितों की मर्जी पर ही चलना होता था। शासकों और पुरोहितों का यह द्वन्द्व इतिहास में प्रायः सभी देशों में अनेक युगों तक चला था। इन उच्च वर्गीय लोगों की कक्षा में कुछ और लोग भी आते थे जिन्हें हम भूमिदार अथवा जमींदार कह सकते हैं। ये लोग शासकों के रिश्तेदार या भूमिकर एकत्र करने वाले अन्य अफसर होते थे जो किसान लोगों से भूमिकर एकत्र करके उसमें से अपना हिस्सा रखकर बाकी का शासक के खजाने में पहुंचा देते थे। ऊपर वर्णित सब लोग उच्च वर्ग के लोग थे। इन्हीं लोगों के महलों या मन्दिरों में उस जमाने के कलाकौशल, विद्या, धन, ऐश व आराम एवं आमोद प्रमोद सब बसते थे। इस उच्च-वर्ग के लोगों के नीचे दस्तकारी का काम करने वाले, युद्ध में लड़ने वाले सिपाही, किसान, छोटे छोटे व्यापारी एवं युद्धों में जीते हुए गुलाम इत्यादि निम्न वर्ग के लोग होते थे। ये लोग बहुत गरीब और पीड़ित होते थे। इन बहु-संख्यक साधारण लोगों के जीवन का प्रवाह प्रायः ऐसा ही था जैसा लगभग आज के गरीब साधारण जन का हो। वही सुबह उठना,खेती-बाड़ी का काम करना, दिन भर काम

में संलग्न रहना, समय पर सरकार का कर्ज चुका देना, विवाह शादी करना, देवताओं, जादू-टोने तथा पुरोहितों से डरते रहना और इस प्रकार एक मानसिक परतन्त्रता, अन्ध विश्वास और अविकसित चेतना को लिये हुए अपना जीवन बिता देना।

७—भाषा, साहित्य एवं लिपि

इन प्राचीन सभ्यताओं में मिस्र, मेसोपोटेमिया, सिन्धु-प्रांत में अपनी अपनी प्रकार की प्राचीन भाषाओं का एवं लिपियों का विकास हो चुका था। वे प्राचीन भाषायें तथा लिपियां,आधुनिक भाषा परिवारों की किसी भी शाखा में नहीं आतीं। उन भाषाओं का कोई बहुत उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ,यद्यपि मिश्र और बेबीलोन की कई गाथायें यहूदी और ईसाई लोगों द्वारा अपनाई गईं, एवं मिस्र के सन्त फेरो इखनातन के कई भजन कुरान और बाइबल में आये। उनके साहित्य में विज्ञान, दर्शन, विचार, काव्य आदि उपलब्ध हैं, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह बहुत उदात्त है, या विशाल और महान् है। ऐसा अनुमान अवश्य लगता है कि उच्च वर्ग के लोग पढ़ा करते थे और उनके लिये नगरों में पाठशालाएँ थीं। एक ऐसी पाठशाला के खण्डहर प्राचीन मेसोपोटेमिया के निपुर नामक नगर में मिले हैं।

८—उत्थान और पतन

इन प्राचीन सभ्यताओं के काल में शासकों के बड़े बड़े महल होते थे। साथ ही में देवताओं के बड़े बड़े मन्दिर भी होते थे। इन्हीं मंदिरों तथा महलों के इर्द-गिर्द उच्च कर्मचारी लोगों के मकान बन जाते थे और इन लोगों की आवश्यकता पूरी करने के लिये उन्हीं महलों और मंदिरों के चारों ओर बाजार बस जाते थे एवं धनिक व्यापारियों और जमींदारों के घर बन जाते थे; इस प्रकार नगरों की बसावट हो जाती थी। धनिकों के मकान पक्के पत्थरों या ईंटों के (पत्थरों के मिस्र में तथा ईंटों के मेसोपोटेमिया और सिन्ध में) बने होते थे, और गरीब लोगों के मकान कच्चे होते थे या घास फूस के बने होते थे। खेतीहर लोग

गाँवों ही में कच्चे मकान बनाकर बसते थे। खेतीहर लोगों को धीरे धीरे यह भान होने लगा था कि जमीन जिसे वे जोतते हैं, वह उनकी नहीं है, वह या तो भूमिदार या जमींदार की है, या शासक-सम्राट् की। उस जमाने में मिस्र, मेसोपोटेमिया इत्यादि शासकों के बड़े बड़े साम्राज्य भी बन गये थे किन्तु अपने काल के अन्तिम दिनों में शासक या उच्च वर्ग के लोग बहुत ही शौकीन, आरामतलब, तथा ऐयाशी और शराबी हो गये थे। वे लोग उत्तर-पूर्व से आने वाली सेमेटिक और आर्यन जाति के लोगों के हमलों का मुकाबला नहीं कर सके, उन नोमेडिक लोगों के सामने ये लोग नहीं ठहर सके और वे स्वयं और उनकी सभ्यतायें धीरे धीरे नष्ट होकर लुप्त हो गईं।

६—इन सभ्यताओं के विषय में हमारी जानकारी के साधन

इन सभ्यताओं के विषय में अभी तो हमारा ज्ञान अधूरा ही है, और कई अंशों तक अनुमान पर आधारित। अब तक जो कुछ भी ज्ञात हो पाया है वह इन सभ्यताओं के प्राप्त अवशेषों—नगर, महल, मंदिर, मूर्ति, चित्र, मुद्रा एवं साहित्य के अवशेषों के आधार पर। ज्यों ज्यों इन प्राचीन सभ्यताओं की भूमि में पुरातत्व सम्बन्धी अधिक खुदाई होगी और ऐतिहासिक अन्वेषण होंगे त्यों त्यों इन सभ्यताओं के विषय में विशेष बातें हमें ज्ञात होंगी और इस तरह सम्भव है कि इन सभ्यताओं की हमें धीरे धीरे पूर्ण जानकारी हो जाय।

इन प्राचीन सभ्यताओं का कुछ कुछ विवरणात्मक परिचय हमें ग्रीस के प्रथम इतिहासकार हिरोडोटस द्वारा लिखित इतिहास से मिलता है। हिरोडोटस का जन्म एशिया माइनर में स्थित हेलीकार्नसस नामक एक ग्रीक शासित नगर में ४८४ ई० पू० में हुआ था। उस समय मिस्र, मेसोपोटेमिया तथा एशिया माइनर में ईरानी आर्य जाति के लोगों का साम्राज्य था। हिरोडोटस संसार का सर्वप्रथम इतिहासकार माना जाता है, जिसने किसी देश या जाति की कहानी को क्रमवार इतिहास-बद्ध करने का प्रयत्न किया हो। हिरोडोटस एक स्वतन्त्र बुद्धि और

विचारों का व्यक्ति था। उसने उस समय में उपलब्ध समस्त ग्रीक साहित्य का अध्ययन किया और तदुपरान्त समस्त फारस, ग्रीस, मिस्र, मेसोपोटेमिया, एशिया माइनर, जूड़िया, फिलीस्तीन आदि सब देशों का भ्रमण किया, उन देशों में स्थित मन्दिरों, महलों, पिरामिड-समाधियों, चित्रकला एवं स्थापत्य कला के अवशेषों का खूब अध्ययन किया। इन सब बातों के फलस्वरूप उसके मन में एक इतिहास लिखने की उत्कण्ठा हुई। वास्तव में तो वह इस कहानी को लिखना चाहता था कि किस प्रकार ईरान के लोगों ने ग्रीक लोगों को हराया और उनको दबाये रखने का प्रयत्न किया, किन्तु इस बात की पृष्ठभूमि स्वरूप उसने मिस्र, बेबीलोन, असीरिया, फारस और ग्रीस का समस्त प्राचीन इतिहास लिख डाला। यह निश्चित नहीं कि उसके इतिहास में सभी वर्णित बातें सही तथ्य हैं किन्तु उन सब वर्णित बातों का आधार अवश्य किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं में निहित है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यही है कि स्वतंत्र विकसित बुद्धि का एक मानव उस काल में आविर्भूत हुआ जिसने मनुष्य और उसकी सभ्यताओं की क्रमबद्ध कहानी लिखने का विचार किया और इस प्रकार की कहानी लिखी भी। जो कुछ मालूम हुआ है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त हिरोडोटस द्वारा लिखित इतिहास संसार में सर्व प्रथम लिखित इतिहास है। वैसे हिरोडोटस से भी पूर्व हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक वेद-पुराणों में और यहूदियों की धार्मिक पुस्तक बाइबल में अनेक ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तान्त मिलते हैं जो केवल काल्पनिक नहीं हैं,—उनमें भी कुछ तथ्य अवश्य हैं और उनके आधार से प्राचीन ऐतिहासिक बातों पर कुछ कुछ प्रकाश पड़ने लगा है।

सिंहावलोकन—हमारी आज की दुनिया की परम्परा—प्राचीन मिस्र, सुमेर, वेबीलोन, सिन्धु, क्रीट, माया सभ्यताओं से प्रायः विलग है। इन प्राचीन सभ्यताओं की दुनियां ही मानो अलग थी, भिन्न थी, वह आज लुप्त हो चुकी। मानो हमारी आज की दुनिया का प्रारम्भ प्राचीन भारतीय एवं चीनी संस्कृति, ग्रीक और रोमन संस्कृति, यहूदी, ईसाई

और इस्लामिक सेमेटिक संस्कृति की परम्पराओं से होता है। किन्तु फिर भी उन लुप्त प्राचीन सभ्यताओं की विरासत एक न एक रूप में हमारे पास है। उन प्राचीन लोगों ने सभ्यता की प्रायः वे सभी आधारभूत बातें जिन पर हमारी आज की सभ्यता भी टिकी है, उपलब्ध कर ली थीं—जैसे, कृषि करना, पशु पालन करना, गृह निर्माण करना, भवन और मन्दिर बनाना, ग्राम और नगर बसाना, पाठशाला और पुस्तकालय बनाना, आमोद प्रमोद के साधन उपलब्ध करना;

सामाजिक संगठन करना, परिवार में रहना, विवाह के नियम बनाना, सामाजिक आचरण के नियम स्थापित करना, राज्य का संगठन करना और राज्य परिचालन के लिये नियम बनाना; व्यापार और विनिमय करना और यातायात के साधन गाड़ी और जहाज का आविष्कार कर लेना और बैल, घोड़ा और ऊँट का उपयोग सीख लेना;

सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति पहचान लेना, दिन, रात, वर्ष और महीनों की गणना कर लेना; शरीर प्रक्रिया को समझ लेना, औषध विज्ञान की स्थापना कर लेना; धातुओं एवं अनेक वस्तुओं के गुण समझ लेना, और यह भी जान लेना कि इनका भी एक शास्त्र बन सकता है;

अनेक कलात्मक वस्तुओं का निर्माण कर लेना—बर्तन, आभूषण, मूर्तियाँ और चित्र; और फिर संगीत के अनेक वाद्ययंत्र बना लेना और सर्वोपरि काव्य की रचना कर लेना।

किन्तु फिर भी तब और आज में एक बुनियादी-सा फरक मालूम होता है। मानव तब से आजतक बहुत आगे बढ़ चुका है,—प्रकृति के अनेक छिपे रहस्यों का उद्‌घाटन कर लेने में, घटनाओं का परोक्ष सत्ता से निरपेक्ष कारण समझ लेने में, आकाश और पृथ्वी को द्रुतगति से पार कर लेने में,एवं सब तरह का काम कर डालने वाले मशीन का मानव निर्मित कर लेने में।—और फिर भी शायद उसकी इन्सानियत,उसके दिल की अच्छाई उतनी ही रही हो जितनी लुप्त सभ्यताओं के मानव की थी।

●

चौथा खंड

मानव इतिहास का प्राचीन युग

(ई. पू. २००० से ५०० ई. पू. तक)

मानव इतिहास का प्राचीन युग

(२०)

भारत के आर्य-उत्पत्ति और काल निर्णय

पृथ्वी के मानव प्राणियों में कौन वे आर्य लोग थे जिनके विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने भारत में रहते हुए सत्य-ज्ञान वेद के दर्शन किये (वह वेद जिसको आज संसार अपना एक अति प्राचीन ग्रन्थ मानता है), और सृष्टि के आदि सत्य आत्मा और परमात्मा के निगूढ़ रहस्य को खोज निकाला ?

कैसे ये आर्य थे, कब भारत में बसे थे, कब इन्होंने वेदों की रचना की ? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने उठते हैं और इनका उत्तर हमें वैज्ञानिक आधार पर ढूंढना है—अन्धविश्वास या मताग्रह के आधार पर नहीं—जिससे हमको मानव इतिहास का सही ज्ञान हो।

आर्यों की उत्पत्ति

आर्यों की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं, अर्थात् इस विषय में कि आर्यों का आदि निवास-स्थान कहां था, कब वे सबसे पहले अपने उस आदिम निवास स्थान में रहने लगे थे, उनकी स्वतन्त्र ही एक पृथक उपजाति थी या किसी पूर्व स्थित अन्य उपजाति की एक शाखा के लोग थे,—इन विषयों में कई मत हैं। ये सब मत अपने अपने ढङ्ग से बनाए तो अवश्य गए हैं अध्ययन एवं अनुसंधान द्वारा उद्घाटित तथ्यों के आधार पर, किन्तु अभी तक पूर्णतया सिद्ध नहीं हुए हैं। इतनी बात तो सर्व मान्य है कि आर्यों की अपनी ही एक स्वतन्त्र उपजाति थी, दूसरी

उपजातियों से जैसे भूमध्यसागरीय, निग्रोइड, मंगोलियन आदि से भिन्न। ये सभी उपजातियां मनुष्य नाम के एक ही पूर्वज की संतान थीं या भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न देशों में परिस्थितियों के अनुकूल स्वतन्त्र पृथक पृथक उत्पन्न हुई, इस बात पर पूर्व अध्याय में विचार हो चुका है।

आर्य लोगों के निवास स्थान एवं काल के विषय में पहला मत यह है कि ये लोग सबसे पहले मध्य यूरोप में, यूराल पहाड़ से लेकर पच्छिम अटलांटिक महासागर तक जो लम्बा मैदान है उसी में रहते थे और वह भाषा बोलते थे जिसका नाम आधुनिक विशेषज्ञों ने "इण्डो-यूरोपियन" (भारोपीय) भाषा रक्खा है। वहां से ये लोग दक्षिण पच्छिम की ओर फैले जिनकी सन्तान आज जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेज, इटालियन, स्केन्डिनेवियन, डच इत्यादि हैं। उन्हीं में से कुछ लोग पूर्व की ओर फैले जो ईरान में बसे। वहां से कुछ लोग और आगे दक्षिण पूर्व की ओर बढ़े और ईसा के लगभग डेढ-दो हजार वर्ष पहले भारत में जाकर बसे। यही लोग भारतीय आर्य थे जिन्होंने आदिम इण्डो-यूरोपियन भाषा के एक रूप संस्कृत का विकास किया। ये आर्य लोग जो मध्य यूरोप से इधर उधर फैले उन्हीं गोरे और लम्बे नोर्डिक लोगों की प्रशाखा थी जिनके विषय में हम पूर्व अध्याय में यह जिक्र कर आये हैं कि वे ईसा के लगभग १०–१२ हजार वर्ष पूर्व मध्य तथा उत्तरी यूरोप में रहते थे और जिनके पूर्वज सम्भवत: क्रोमैगनर्ड टाइप के वे आदिम मनुष्य थे जो लगभग ४० हजार वर्ष पहिले पच्छिमी यूरोप में बसे हुए मिलते थे। इस मत के प्रवर्त्तक एवं समर्थक विशेषतया कई यूरोपीय विद्वान ही हैं।

दूसरा मत* यह है कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान मध्य एशिया था, विशेषतया वह भाग जो बैकट्रिया कहलाता था। इस भू-भाग में ईसा के कई हजार वर्ष पहिले ये गोरे और लम्बे लोग रहते थे और इण्डो-यूरोपियन (आर्यन) भाषा बोलते थे। वहीं से ये लोग पच्छिम की ओर

---

*श्री रोड एवं श्री मैक्समूलर का मत (१८५९ ई०)

यूरोप में गए जिनकी सन्तान प्रायः सभी यूरोपियन जातियाँ हैं और जो उनकी आदिम भाषा इण्डो-यूरोपियन (आर्यन) में से ही निकली हुई अनेक भाषायें जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च, इटालियन, रूसी इत्यादि बोलते हैं। इन्हीं मध्य एशिया में रहने वाले आर्यों की एक शाखा दक्षिण की ओर ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पहिले भारत में गई। उसी शाखा के लोग भारतीय आर्य कहलाये जिन्होंने भारतीय आर्य संस्कृति और अपनी आदिम भाषा "इण्डो-यूरोपियन" से संस्कृत भाषा का विकास किया। इस मत के भी प्रवर्तक एवं समर्थक कई प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान हैं जैसे क्यूनो, रहोड महाशय, मैक्सम्यूलर प्रभृति। यही मत आज बहु मान्य है–जिसे भारतीय इतिहासज्ञों ने भी प्रायः मान ही सा लिया है।

इस सम्बन्ध में आजकल कुछ भारतीय विद्वानों ने भी अनेक अन्वेषण एवं अध्ययन के बाद अपने स्वतन्त्र मत बनाये हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। इसके पूर्व उपरोक्त दो मतों के अर्थ को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

आज से लगभग १५० वर्ष पहिले पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत का अध्ययन होने लगा, और अध्ययन करते करते उन्हें यह लगा कि संस्कृत में एवं ईरान, अफगानिस्तान, और यूरोप की भाषाओं जैसे फारसी, पश्तो, बलूची, ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, डच, रूसी इत्यादि में एक अद्भुत साम्य है, इतना अधिक साम्य कि यह बात निःसंदेह रूप से सिद्ध हो चुकी है कि इन सब भाषाओं की जन्मदात्री प्राचीन काल में कोई एक ही भाषा होनी चाहिये, जिसमें से ये सब भाषायें निकलीं। और चूंकि भारत, ईरान और यूरोप निवासियों की पूर्वज भाषा एक ही है,–इसी तथ्य से यह बात भी अनुमानित करली गई कि भारत, ईरान, अफगानिस्तान, यूरोप के निवासी भी सब एक ही पूर्वजों की सन्तान होने चाहियें। जर्मनी के प्रकाण्ड भाषाशास्त्री एवं संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पंडित प्रोफेसर मैक्सम्यूलर ने तो यहां तक अनुमान किया कि "एक

समय ऐसा था जब कि भारतवासियों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों और जर्मनों के पूर्वज एक ही बाड़े में नहीं वरन् एक ही छत के नीचे रहते थे। इसके पूर्व कि भारतवासियों और ईरानियों के पूर्वज दक्षिण की ओर रवाना हुए एवं ग्रीक, रोमन, केल्टिक, जर्मन और रूसी लोगों के पूर्वज यूरोप की ओर रवाना हुए, आर्यों की एक छोटी सी जाति थी जो मध्य एशिया के सबसे ऊंचे पठार बैकट्रिया पर बसी हुई थी और एक ऐसी भाषा बोलती थी जो अभी न तो संस्कृत थी, न ग्रीक और न जर्मन किन्तु जिसमें इन सब भाषाओं के धातु-स्वरूप (Roots) विद्यमान थे"। भाषा विशेषज्ञों ने अनेक भाषाओं की जन्मदात्री इस एक पुरानी भाषा का नाम "इन्डो-यूरोपियन" रक्खा,—और भाषा ही के नाम पर इन अनेक देशों के निवासियों के पूर्वजों की एक उपजाति का नाम भी "इन्डो-यूरोपियन" पड़ा—किन्तु बाद में जाकर सब विद्वानों में उस पुरानी भाषा एवं उपजाति का नाम "आर्यन" प्रचलित हुआ। इस धारणा के अनुसार आज यूरोप (अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका के सभी गोरे निवासी), भारत, अफगानिस्तान, ईरान के निवासी आर्य हैं। इनकी धमनियों में एक ही पूर्वजों का रक्त बहता है, और इन सब की भाषायें एक आर्यन कुटुम्ब की भाषायें हैं। हां कालान्तर में जब ये आदि आर्य अपने आदिम निवास स्थान से दूसरे देशों में फैले तो काल के प्रभाव से, जलवायु के प्रभाव से तथा दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने के कारण इनकी एक आदि भाषा भिन्न भिन्न रूप लेने लगी, और उनकी सभ्यता और संस्कृति भी भिन्न भिन्न रास्तों और आदर्शों पर विकसित हुई,—यद्यपि इन आर्यों की आदिम भाषा एक थी, आदिम निवासी स्थान एक था, आदिम सभ्यता एक थी।

रहन-सहन

भाषा एवं निवास स्थान की बात तो यहाँ तक हो चुकी, अब देखना है कि इनकी आदिम सभ्यता कैसी थी। इस विषय में भी यह बात

ध्यान में रखने की है कि इन आदिम आर्यों की तत्कालीन सभ्यता की जो तस्वीर खड़ी की गई है वह भी केवल अनुमान के आधार पर है, और यह अनुमान मुख्यतया भाषा की सहायता से लगाया गया है। जिन शब्दों का अस्तित्व मिलते जुलते रूपों में एक ही अर्थ लिये हुए सभी भाषाओं में मिलता है, उन शब्दों के आधार पर आर्यों की रहन-सहन सम्बन्धी बातें गढ़ली गईं। उदाहरणस्वरूप गऊ के लिये इन सब भाषाओं में एक मिलता जुलता रूप पाया जाता है यथा—संस्कृत में "गौ", ईरानी में "गाव" और अंग्रेजी में 'काऊ"। इस पर यह बात मान ली गई कि आर्य लोग गऊ पाला करते थे। ऐसे अनेकों शब्द हैं। हम यहाँ महान् दो यूरोपीय विद्वानों के लेखों में से उद्धरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं। मैक्समूलर महाशय के लेखों में एक स्थान पर आता है—"यदि हम भाषा के सभी अवशेषों की परीक्षा करने बैठें तो पूरी एक किताब बन जाये, गो कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक शब्द से हमारा मत पुष्ट होगा और प्रत्येक शब्द मानो एक कड़ी होगी जिससे हम इस प्राचीन एवं आदरणीय आर्य जाति के मानस की तस्वीर बना सकें।" डा० सेसी लिखते हैं—"इस आदिम आर्य भाषा में बस्ती का हमें कोई लिखित उल्लेख नहीं मिला है। किन्तु इस जाति के रहन सहन एवं विचारों का विवरण किसी भी लिखित विवरण में जितना मिल सकता था उससे कहीं अधिक पूरा और सच्चा विवरण तो हमें इनकी भाषा के अभिलेखों में मिल जाता है"। विद्वानों द्वारा ऐसे आधारों पर बनाई गई तत्कालीन आर्यों के रहन सहन की रूप रेखा कुछ इस प्रकार है:—ये प्रारम्भिक आर्य विकसित सभ्य लोग थे। साफ किये हुए खुले बनों एवं उपवनों में रहते थे। इनके घर मिट्टी एवं लकड़ी के बने साफ सुथरे होते थे। घरों के बीच में पत्थर का भी एक पक्का दालान सा बना हुआ होता था। कालान्तर में गाँव भी बस गये थे। गांव में कई पैतृक कुटुम्ब बसे हुए होते थे, और उन पैतृक कुटुम्बों के स्वामी ही गाँव के बड़ेरे

एवं नेता होते थे। कुटुम्ब का संगठन अनुशासन एवं मर्यादा युक्त होता था। ये लोग गेहूँ की खेती करते थे, गऊ पालते थे, दूध पीते थे। पशुओं को चराने के लिए बड़े बड़े चरागाह होते थे। कुटुम्ब की दुहितृ गाय का दूध दूहा करती थी। एक प्रकार का नशीला रस भी पीया जाया करता था जो मधु एवं जौं से बनाया जाता था। लोग ऊन और सूत के बुने हुए कपड़े पहिनते थे, जिनको स्यात् स्त्रियाँ घर पर बनाती थीं। हलों में बैल जोते जाते थे और अनाज एवं घरेलू सामान बैलगाड़ियों में इधर उधर ले जाया जाता था। ये लोग काँसी, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग भी जान गये थे। कुछ विशेष कौटुम्बिक सम्पत्ति को छोड़कर सब खेत एवं चरागाह सारे गांव की या सब लोगों की मिली जुली सम्पत्ति मानी जाती थी—एक प्रकार का प्रारम्भिक साम्यवाद था। कुटुम्ब का स्वामी धनिक या गरीब इसी आधार पर माना जाता था कि उसके पास कितने पशु हैं।

इन लोगों के सामूहिक जीवन के केन्द्र गांव के वयोवृद्ध जन होते थे और वे ही धार्मिक, सामाजिक मामलों में लोगों का नेतृत्व किया करते थे। इनके धर्म में उपासना का भाव होता था किन्तु मूर्ति-पूजा नहीं। जिस प्रकार इस जाति से पहिले की तथा कुछ तत्कालीन जातियों में मन्दिरों की प्रतिष्ठा होती थी, उन मन्दिरों में देवताओं की अनोखी अनोखी मूर्तियों की पूजा होती थी, उनमें नरमेध होता था और मंदिर का पुजारी ही देवता के प्रतिनिधि रूप में सम्पूर्ण जाति का संचालक एवं मालिक होता था,—इस प्रकार की कोई भी बातें इस आर्य जाति में प्रचलित नहीं थीं। ये लोग अपने मृतकों को जलाते थे, दूसरी कई जातियों की तरह गाड़ते नहीं थे।

इस जाति की एक मुख्य विशेषता यह पाई जाती है कि इसके लोग वाणी-प्रवर बहुत होते थे। इनमें बड़े बड़े गायक-कवि होते थे जो उच्च, मधुर, संगीतमय वाणी में गाथाऐं गाया करते थे जिनमें पूर्वजों की पुरानी स्मृति होती थी, देवों की उपासना होती थी। ये गायक

कवि मानो जीवित ग्रन्थ थे, मानो मनुष्य का प्रारम्भिक उच्चारण, मनुष्य की प्रारम्भिक बोली इन लोगों में सुघड़,सुन्दर एवं सुसंस्कृत बनकर अवतरित हुई हो। वाणी और श्रवण के ये सर्व-प्रथम कलाकार थे। इन लोगों को अभी स्यात् लिखने की कला का ज्ञान नहीं था, अतएव गाथाएं वंश परम्परा से कंठस्थ की जाती थीं, और गाई जाती थीं, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहता था और इस प्रकार यह परम्परा चलती रहती थी। इस जाति की ग्रीक उपशाखा के दो महाकाव्य "इलियड" और "ओडेसी" अब भी मिलते हैं। ईरानी उपशाखा का "जिन्देवस्ता"ग्रंथ मिलता है और भारतीय उपशाखा के "वेद" मिलते हैं। ये लोग मानव बुद्धि के एक विशेष विकसित स्तर तक पहुँच चुके थे और सोचते रहते थे कि दृश्य सृष्टि और मानव मन के परे भी 'कुछ" है।

यूरोपीय विद्वानों ने आर्यों के काल एवं निवास स्थान के विषय में जो उपरोक्त निर्णय बनाये हैं उसके अनुसार प्राचीन सभ्यताओं का पूर्वापर कालक्रम इस प्रकार बन सकता है:

सभ्यता	लगभग प्रारम्भकाल	लगभग किस काल तक परम्परा चली
मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरिया)	५०००से ४००० वर्ष ई०पू०	५०० ई० पू०
मिश्र	५०००से ४००० ,, ,,	५०० ई० पू०
सिन्धु (मोहेंजोदाड़ो हरप्पा	४५०० से ३५०० ,, ,,	१५०० ,,
भारत द्राविड़	३००० से २००० ,, ,,	१००० ,,
क्रीट द्वीप	३००० से २००० ,, ,,	१००० ,,
अमरीका (माया सभ्यता)	२००० से १५०० ,, ,,	७००-८०० ई० सन्
ग्रीक	१००० ई० पू०	ई० सन् के प्रारम्भ तक
रोमन	१००० से ८०० ई०पू०	४०० ई० सन् तक
चीन	४००० ई० पू० से	अब तक चल रही है
भारत की आर्य	२००० से १५०० ,, ,,	अब तक चल रही है

प्राचीन सुमेर, मिश्र, बेबीलोन, क्रीट, द्राविड़ सभ्यताओं के खंडहरों पर या इनको जीतती हुई ऊपर वर्णित आर्य सभ्यता ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व से फैलने लगी। मेसोपोटेमिया (सुमेर एवं बेबीलोन) में आर्य लोगों की ईरानी शाखा आई, मिस्र में भी कुछ काल के लिये फैली, क्रीट में आर्य लोगों की ग्रीक प्रशाखा फैली, मोहेंजोदाड़ो, हरप्पा एवं द्राविड़ सभ्यता वाले प्रदेशों में आर्यों की भारतीय शाखा फैली। हां चीन में चीन की सभ्यता का स्वतन्त्र विकास होता रहा। आर्य उपजाति से उनका विशेष सम्पर्क नहीं हो पाया।

किन्तु यह सब बात पढ़ते हुए हमें यह नहीं भूलजाना चाहिए कि आर्यों का अपने से पूर्व प्राचीन सभ्यताओं पर विजय पाना, या उनका उन प्राचीन सभ्यता वाले देशों में फैल जाना—इसका यह अर्थ कभी नहीं कि आर्यों की जाति या उनकी सभ्यता शुद्ध रूप में बनी रही; जातियों और संस्कृतियों में बराबर सम्मिश्रण होता रहा।

भारतीय आर्यों के विषय में भारतीय मत—परम्परा से भारतीय हिन्दू तो यही मानते आये हैं और अब भी मानते हैं कि उनके पूर्वज आर्य तो अनादि काल से यहीं भारत में ही बसते थे और यहीं उनको मानवसृष्टि के आदि में वेद (ज्ञान) के दर्शन हुए। भारत ही में आर्य संस्कृति का उदय हुआ और यही देश उस संस्कृति के विकास का क्षेत्र है। उनका यह केवल विश्वास मात्र था और विश्वास मात्र है और इसका आधार है श्रद्धा। भारतीय हिन्दुओं को कभी यह कल्पना भी नहीं हुई कि आर्य कहीं बाहर से आकर इस देश में बसे। जब यूरोपीय विद्वानों ने अनेक अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुसंधान करके यह मत प्रकट किया कि आर्य भारत के आदि निवासी नहीं थे और उनका प्राचीनतम धर्म-ग्रंथ ऋग्वेद ईसा के लगभग केवल २००० वर्ष पहिले ही बना, तब भी पुराने परिपाटी के भारतीय विद्वानों पर उस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे अपने पुराने ही विचार से चलते रहे। किन्तु जो नवशिक्षित भारतीय विद्वान

थे उनको यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि किसी भी बात के प्रतिपादन में पाश्चात्य वैज्ञानिक ढंग अपनाना चाहिये। इसी से प्रेरित होकर प्रसिद्ध भारतीय विद्वान श्री बालगंगाधर तिलक ने जिन्होंने आर्यों के आदि निवासस्थान और ऋग्वेद के रचना काल के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया। उन्होंने न तो परम्परागत भारतीय मत की पुष्टि की और न प्रचलित पाश्चात्य मत का समर्थन। ऋग्वेद में से ज्योतिष सम्बन्धी एवं ऋतुकाल सम्बन्धी अनेक मन्त्रों का उपयोग करके अन्तः साक्ष्य प्रणाली द्वारा उन्होंने अपना जो मत प्रतिपादित किया वह संक्षेप में इस प्रकार है :—किसी समय पृथ्वी का वह भाग जो उत्तरीय ध्रुव के पास है प्राणियों के बसने योग्य था। यह उत्तरीय ध्रुव प्रदेश ही आर्यों का आदि देश था। यहाँ पर ये लोग ईसा के लगभग ८००० वर्ष पहले बसे हुए थे। कालांतर में किन्हीं प्राकृतिक कारणों से जब वहाँ अधिक सर्दी पड़ने लगी तो आर्यों को यह देश छोड़ना पड़ा। कुछ लोग यूरोप में जाकर बसे, कुछ ईरान में और कुछ भारत में आये। यहीं भारत में ही वेदों की रचना हुई। इस रचना काल को तिलक महाशय चार काल-खण्डों में विभक्त करते हैं।

(१) ६००० से ४००० ई० पू०—जब कि केवल कुछ खंडमंत्रों का देवता की उपासना में प्रयोग होता था। पूर्णसूक्त अभी तक स्यात् नहीं बने थे।

(२) ४००० से २५०० ई० पू०—जब ऋग्वेद के अनेक सूक्त रचे गये। वैदिक सभ्यता का यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण काल है।

(३) २५०० से १४०० ई० पू०—जब तैत्तिरीय संहिता एवं कई ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। इसी काल में वेदसंहिता का स्यात् उचित ढंग से संकलन हुआ।

(४) १४०० से ५०० ई० पू०—जब सूत्र एवं दर्शन शास्त्रों का प्रणयन हुआ।

एक दूसरे विद्वान हैं श्री धीरेन्द्रनाथपाल जिन्होंने अपनी पुस्तक

"हिन्दू धर्म का अध्ययन" (A Comprehensive History of the religion of the Hindus) में आर्यों की उत्पत्ति एवं उनके आदि देश के विषय में इस मत का प्रतिपादन किया है कि :— आर्य लोगों का उदय भारत में ही हुआ—भारत के उस भाग में जो यहां का स्वर्ग कहलाता है, यथा रमणीक काश्मीर। यही काश्मीर ऋग्वेद में वर्णित सप्त सिंधव है, जहां पर वेद (ज्ञान) का सर्वप्रथम दर्शन हुआ और आर्य सभ्यता का विकास हुआ। वैदिक सभ्यता ही सबसे प्राचीन सभ्यता है। अन्य जिन प्राचीन सभ्यताओं का उल्लेख आता है जैसे मिश्र, सीरिया, बेबीलोन, क्रीट की सभ्यतायें—उनका विकास तद्देशीय लोगों का आर्य लोगों के साथ सम्पर्क में आने के बाद हुआ।

पाल महाशय अपनी इस मान्यता के पक्ष में कि काश्मीर ही आर्यों का आदि देश था अनेक यूरोपीय विद्वानों के मतों का भी उद्धरण देते हैं, जैसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रवर्तक विद्वान अेदलंग (Adelung), महान प्राणीशास्त्रवेत्ता महाशय ब्रोका (Broca)।

कई भारतीय विद्वान हैं जिन्होंने इस सम्बन्ध में काफी अनुसंधान के बाद अपने मत प्रकट किये हैं, जैसे:—डॉ० प्रधान, डॉ० अविनाश चन्द्र दास इत्यादि। इस सम्बन्ध में एक अर्वाचीन मत श्री सम्पूर्णानन्द का भी है। इन्होंने अपने विचार काफी अन्वेषणात्मक अध्ययन के बाद अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" में प्रगट किये हैं। उनका मत संक्षेप में यह है:—

१. "आर्य लोग भारत में कहीं बाहर से नहीं आये, यही देश उनका आदि निवास स्थान है। भारत ही आर्य संस्कृति के विकास का क्षेत्र है, यहीं उस संस्कृति का उदय हुआ।"

२. संस्कृति का यह उदय और विकास भारत के उस भू-भाग में हुआ जिसका वर्णन ऋग्वेद में सप्त सिंधव नाम से आता है। सप्त सिंधव प्रायः वही प्रदेश है जो आज कल पंजाब काश्मीर से सूचित होता है। सप्त सिंधव का जो वर्णन ऋग्वेद में आता है, उसकी भौगोलिक

रूपरेखा का अनुमान इस प्रकार बनता है:—सप्त सिंधव भूमि के तीन ओर समुद्र था। तब भारत के प्राय: उस भाग का पता नहीं था जहां आज गंगा बहती है क्योंकि वहां समुद्र था। दक्षिण भारत सप्त सिंधव से बिल्कुल पृथक था। इन दोनों के बीच में जहां आजकल राजस्थान, संयुक्त प्रान्त और बंगाल हैं, समुद्र लहलहा रहा था। सप्त सिंधव प्रदेश में सात नदियां बहती थीं,यथा—सिन्धु,विपाशा (ब्यास),शतद्रु,(सतलज), वितस्ता (झेलम), असिकी (चिनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्त सिंधव पड़ा था। ऋग्वेद में गंगा यमुना का नाम भी आया है पर ये सप्त सिंधव प्रदेश के बाहर थीं और थोड़ी सी दूर बहकर ही पूर्वी समुद्र में गिर जाती थीं। वैदिक काल में सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियाँ थीं और ऋषियों के तपोवन थे। सिन्धु और सरस्वती ही ऐहिक तथा आमुश्मिक उन्नति की सोपान थीं।

यह प्रदेश सुन्दर और सौरभमय था, सम शीतोष्ण था, ६ ऋतुओं का इस भूमि पर आवागमन होता था। इसी प्रदेश में आर्यों का अभ्युदय हुआ और यहीं उनको निःश्रेयश की शिक्षा मिली।

इस वर्णन से तत्कालीन भारत का जो मानचित्र श्रीसम्पूर्णानन्द ने अनुमानित किया है वह इस प्रकार है—यह मानचित्र उन्हींकी पुस्तक के आधार पर है। सप्त सिंधव का जो मानचित्र दिया गया है वह न्यूनाधिक उस परिस्थिति का है जो आज से ४०-५० हजार वर्ष रही होगी। ४०-५० हजार वर्ष पूर्व भारत की भौगोलिक स्थिति यही थी इसके पुष्ट प्रमाण भूगर्भशास्त्र से मिलते हैं।
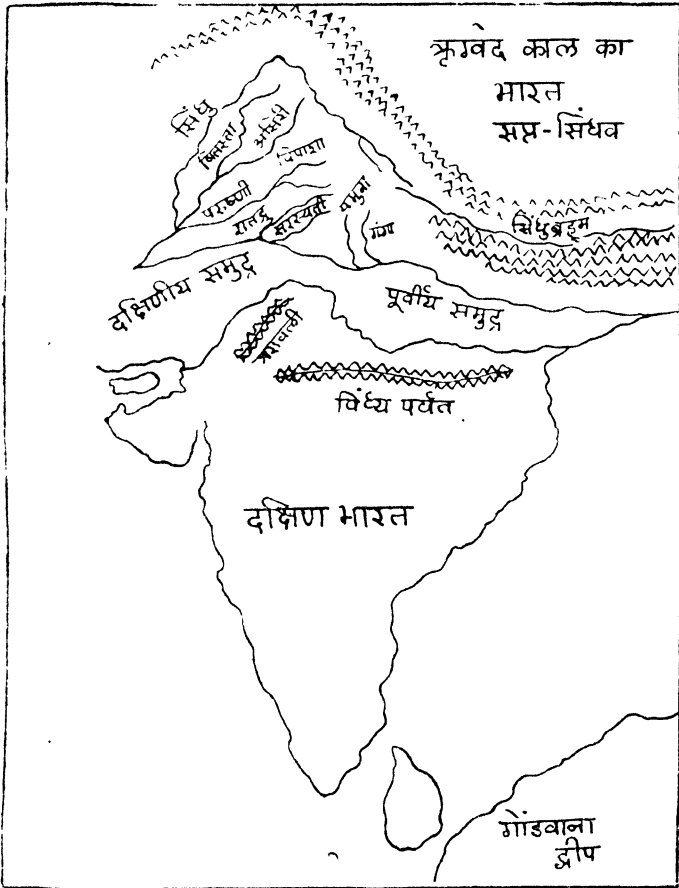
३. आज से २५ हजार वर्ष से भी पूर्व आर्य लोग इसी सप्त सिंधव में बसे हुए थे, ऋग्वेद में उस समय की स्मृति और झलक है। ऋग्वेद काल तभी से आरम्भ हुआ और आर्य-संस्कृति का विकास सप्त सिंधव में तब से ही शुरू हुआ।

४. भारतीय आर्य और यूरोप के निवासी एक ही उपजाति के नहीं हैं। यदि भारतीय आर्यों और यूरोप-निवासियों की एक ही उपजाति नहीं है तो यूरोपीय भाषाओं एवं वैदिक भाषा में जो साम्य मिलता है और जिसके आधार पर विद्वानों ने यह राय बनाई कि भारतीय आर्य एवं यूरोपियन लोग एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं—यह राय कैसे असिद्ध हुई ?

श्री सम्पूर्णानन्द के मत के अनुसार भारतीय आर्यों का घर तो सप्त सिन्धव ही था और यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गई। इस संस्कृति के वाहक सामुद्रिक व्यापार करने वाली प्राचीन फीनीशियन (पाण्व) जाति के लोग थे जिनका दक्षिण भारत में द्रविड़ों से, एवं सप्त सिंधव में पच्छिमी समुद्र द्वारा आर्यो से संपर्क था। इसके अतिरिक्त भारतीय आर्यों में जो दस्यु लोग थे (दस्यु या दास जो अर्द्ध सभ्य आर्य थे) एवं जो व्रात्य लोग थे (जो आर्यों में गरहित गिने जाते थे), इन लोगों के झुण्ड भारत से बाहर गये और ये लोग आर्य संस्कृति और भाषा को अपने साथ ले गये जिसका प्रभाव उन देशों की जातियों पर हुआ जहां ये जाकर बसते रहे। मेसोपोटेमिया (सुमेर-बेबीलोन), मोहेंजोदाड़ो-हरप्पा, मिश्र इत्यादि सभ्यतायें सप्त सिंधव में स्वतन्त्र रूप से विकसित आर्य सभ्यता से बहुत पीछे की हैं—और इन सभ्यताओं पर आर्य सभ्यता का बहुत प्रभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकतर भारतीय विद्वान अनुसन्धान का पाश्चात्य ढंग अपनाते हुए भी अपने प्राचीन ग्रन्थों एवं अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की गवेषणा करके प्रायः इसी परिणाम और मत की ओर पहुंचते दिखते हैं जो मत भारत में परम्परा से चला आ रहा है,—जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं; यथा—आर्य मानव सृष्टि के आदि में ही भारत में उद्भव हुए, तभी ऋषियों को वेदों के (ज्ञान के) दर्शन हुए। अब प्रश्न केवल यही है कि 'मानव सृष्टि' का आदिकाल आखिर कौनसा है ? वह कौनसा काल है जब इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम

मनुष्य का आविर्भाव हुआ ? हिन्दुओं के हिसाब से अब सृष्टि सम्वत् १,९७,२९,४९,०५० (अर्थात् लगभग १ अरब ९७ करोड़ वर्ष) है। इसी को आर्य सम्वत् या वैदिक सम्वत् कहते हैं। आधुनिक विज्ञान का भी यही अनुमान है कि पृथ्वी को उत्पन्न हुए लगभग २ अरब वर्ष हुए। यह तो पृथ्वी की उत्पत्ति की बात हुई; इसके बाद हिन्दुओं की परम्परा के अनुसार मानव-सृष्टि का आदिकाल अनुमानित लाखों वर्ष पुराना है। एक हिन्दू परम्परा के अनुसार अभी कलियुग चल रहा है—इसके पूर्व द्वापर था, फिर इसके पूर्व त्रेता, और फिर आदि युग सतयुग। एक युग लगभग ४,३२,००० वर्ष का माना जाता है। इसमें भी द्वापर का काल परिमाण कलियुग से दूना (अर्थात् २×४३२०००); त्रेता का तिगुना और सतयुग का चौगुना। ऐसा माना जाता है कि कलियुग का आरम्भ हुए प्राय: ५००० वर्ष हुए, अत: मानव सृष्टि का आदिकाल उपरोक्त हिसाब से इस प्रकार हुआ :—

सतयुग	४३२०००×४=	१७२८०००	वर्ष
त्रेता	४३२०००×३=	१२९६०००	,,
द्वापर	४३२०००×२	८६४०००	,,
कलियुग प्रारम्भ हुए············		५०००	,,
मानव सृष्टि को आरम्भ हुए कुल=		३८९३०००	,,

अर्थात् मानव सृष्टि को आरम्भ हुए ३८ लाख ९३ हजार वर्ष हुए। जो कुछ भी हो, आधुनिक वैज्ञानिक इतना तो मानते हैं कि इस पृथ्वी पर आदि द्विपद (दो पैरो वाला अर्द्ध-मानव, अभी तक पूर्ण विकसित नहीं) का आविर्भाव हुए लगभग १० लाख वर्ष हुए। तभी या कुछ काल के बाद आधुनिक मेधावी मानव की भी परम्परा शायद प्रारम्भ हो गई होगी। उसकी सभ्यतागत हलचल के अवशेष तो आज से ५० हजार वर्ष पूर्व के मिलते हैं। यह आदि मेधावी मानव जिसका आविर्भाव सप्त सिन्धव में भी हुआ होगा, सभ्यता की अनेक स्थितियों को पार करता हुआ (श्री सम्पूर्णानन्द की राय में) आज से २५ हजार वर्ष पहिले इस

स्थिति में पहुंचा कि वह ऋग्वेद जैसे 'अपूर्व ज्ञान' ग्रन्थ की सृष्टि कर सका।

•

(२१)

भारतीय आर्यों की सभ्यता (वैदिक-हिन्दू-धर्म)

वैदिक साहित्य

भारतीय आर्य कौन थे, कब भारत में रहते थे, कब उनके आदि ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना हुई, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। इन आर्यों के जीवन, मन, आत्मा की कहानी, इनकी अन्तर्दृष्टि, इनकी अन्तस्तम अनुभूतियां सन्निहित हैं उस साहित्य में जिसे वैदिक साहित्य कहते हैं, जो विशाल है और जिसका मूल है ऋग्वेद तथा अन्य तीन वेद। इस विशाल साहित्य की भाषा वैदिक (संस्कृत का पूर्व रूप) है। कालान्तर में इस विशाल साहित्य से आविर्भूत हुआ वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण साहित्य जो वैदिक भाषा के ही संस्कारित रूप "संस्कृत भाषा" में है। पहिले बहुत संक्षेप में इस साहित्य के शरीर की चर्चा करेंगे। वैदिक साहित्य को पंडितों ने ३ भागों में विभक्त किया है—संहिता, ब्राह्मण, एवं आरण्यक-उपनिषद।

१ वेद-संहिता—(मन्त्रों या ऋचाओं का संग्रह)। संहितायें (अर्थात् संगृहीत मन्त्र, ऋचायें) चार वेदों की मिलती हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। सब ऋचाओं की भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह हैं और कहीं कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनता के। ये वेद हैं क्या ? वेद का सामान्य अर्थ है "सत्य ज्ञान"। इस अर्थ

को मानकर चलें तो आर्यों के इस विश्वास में कि 'वेद' तो अनादिकाल से चले आते हुए ईश्वरीय ज्ञान हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में ज्ञान, अर्थात् वस्तु एवं सृष्टि का सत्य क्या है, यह तो तभी से स्थित अर्थात् विद्यमान है जब से सृष्टि है। पर वेद शब्द का विशेष अर्थ चार प्रसिद्ध वेदों (मन्त्र-संहिताओं) से है। इन वेदों में जो ऋचायें या मन्त्र हैं, और उन मन्त्रों में जो तथ्य, जो ज्ञान, जो सत्य समाहित है, उस ज्ञान अथवा सत्य के दर्शन अर्थात् उसकी अन्तरानुभूति समय समय पर कुछ विशिष्ट शुद्ध मन वाले पुरुषों (ऋषियों) को हुई, और उसकी अन्तरानुभूति होते ही, उस ज्ञान का दर्शन होते ही, वह प्रवाहित हो निकला ऋषि की छन्दबद्ध वाणी में। प्रथम बार मानव में आध्यात्मिक चेतना का उद्भव हुआ था—प्रथम बार उषा के समान लोकोत्तर प्रकाश से उसका मन उद्भासित हो उठा था। यह वाणी लोगों के लिए उपदेशात्मक उक्ति नहीं थी, किन्तु सृष्टि की अनन्तता और जीवन के अगाध रहस्य से पराभूत हृदय की सहज कविता थी। ऋषि द्वारा दृष्ट शब्द-बद्ध "ज्ञान" या "सत्य" या "तथ्य" कहलाया ऋचा या मंत्र— ऐसे मन्त्रों का संग्रह कहलाया वेद। मूलवेद ऋग्वेद में इस तरह १०५८० ऋचायें हैं, अन्य वेदों में अपेक्षाकृत बहुत कम, जैसे, सामवेद में १८७५, यजुर्वेद में २०८६,एवं अथर्ववेद में ५९८७। वास्तव में,ऋग्वेद में छन्दोबद्ध प्रार्थनायें तथा मन्त्र हैं; सामवेद में ऋग्वेद के ही अनेक मन्त्रों को गीतबद्ध किया हुआ है; यजुर्वेद में ऋग्वेद के ही अनेक मन्त्रों को यज्ञ और कर्म कांडकी दृष्टि से गद्य-सूत्रों में लिखा गया है, अथर्ववेद भिन्न कोटि का एक मन्त्र-टोणों का वेद है। इस प्रकार हम देखेंगे कि वेदों को हम किसी एक प्राणी, कवि या ऋषि की रचना नहीं मान सकते। समय समय पर भिन्न भिन्न ऋषियों ने तथ्यों का अनुभव किया, और मन्त्रों की रचना की। (किन्हीं विद्वानों की राय में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों की रचना ईसा से लगभग २५००० वर्ष पूर्व हुई, किन्हीं दूसरे विद्वानों की राय में इनकी रचना ईसा से लगभग १५००—२००० वर्ष

पहिले हुई)। इन मन्त्रों की रचना के पश्चात मन्त्रों के पठन पाठन की शैली का प्रचार हुआ। उस समय कागज तो थे नहीं जो कहीं मन्त्रों को लिखा जाता; भोज एवं ताड़ पत्रों का प्रचार भी स्यात् अनेक वर्षों पीछे ही हुआ होगा; अतएव वेद मंत्र वेदाचार्यों द्वारा शिष्यों को कंठस्थ कराये जाते थे। उनके कंठ कराने की विधि और प्रणाली इतनी विलक्षण थी कि भिन्न भिन्न वेदों के आचार्यों के शिष्यों तथा प्रशिष्यों की परम्परा में वेदों के मन्त्र यथावत् प्रचलित रहे। मैक्सम्यूलर ने अपने लेख "India what it can teach us" "भारत हमें क्या सिखा सकता है"में दिखलाया है कि इतने बड़े साहित्य को स्मृति के आधार पर चलाना कम कठिन नहीं था। कालांतर में भोज या ताड़पत्र का प्रचलन होने पर वेद लिखे गये एवं संगृहीत किये गये होंगे। सबसे प्राचीन ताड़ की पुस्तक ई० सन् की दूसरी शताब्दी की उपलब्ध है। भोजपत्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो अब तक मिला है वह ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी का है; यह ग्रन्थ पाली भाषा का "धम्मपद" है। कागज पर लिखी गई सबसे प्राचीन पुस्तक ई० सन् की १३वीं शताब्दी की बतलाई जाती है, पर पण्डितों का ख्याल है कि मध्य एशिया में गड़ी हुई संस्कृत की अनेक पुस्तकें जो कागज पर लिखी प्राप्त हुई हैं उनका काल ई० सन् की चौथी शताब्दी होना चाहिये।

इसी प्रकार श्रुति परम्परा से चलते चलते किसी काल में वेद भी लिखे गये—पहिले सम्भव है ताड़ या भोज पत्रों पर लिखे गये हों, फिर कागज पर। आज जो वेदों के भाष्य मिलते हैं वे तो अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। वेदों पर सायण और मध्व (मध्ययुग के दो महान् पंडित) के भाष्य १४वीं सदी में लिखे गये थे। बंगाल में प्राप्त नगुद भाष्य १०वीं सदी की रचना है। प्राय: इन्हीं भाष्यों के आधार पर छपे हुए वेद आज प्रचलित हैं। सायण के ही भाष्य के आधार पर मैक्सम्यूलर ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के पाठ सन् १८५०-७२ ई० में छपवाये; फिर अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य वेदों के पाठ छपवाये। उन्हीं के आधार पर, एवं कुछ

और विशेष अन्वेषणों के साथ २०वीं शताब्दी में वेदों के पाठ छपे। महर्षि दयानन्द का वेद भाष्य भी प्रसिद्ध है।

२. **ब्राह्मण**—वैदिक साहित्य का दूसरा भाग है–ब्राह्मण ग्रन्थ। ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं और इनमें कर्मकाण्ड की प्रधानता है। वेदों (संहिताओं) में चर्चित यज्ञों के लिए, कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए, कुश किधर और क्यों रखना चाहिये आदि यज्ञ संबंधी अनेक छोटी मोटी बातों का विवेचन किया गया है, तथा जगह जगह ऐतिहासिक और परंपरा प्राप्त कहानियां हैं जो बाद में चलकर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। असल में ब्राह्मणों में से बहुत से लुप्त होगये हैं और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणों ने जिस दृष्टि से संहिता को देखा है, वह यद्यपि कर्मकांड प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि का स्पष्ट परिचय विद्यमान है।

आरण्यक और उपनिषद्:—ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गंभीर विवेचन किया गया है। ये "वेदान्त" भी कहलाते हैं, क्योंकि ये वेदों के ही अन्तिम भाग हैं। उपनिषदों के ब्रह्म संबंधी सभी वाक्य ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त पर आश्रित हैं। उपनिषदों को रहस्यानुभूति एवं अध्यात्म या ब्रह्मविद्या का आदि स्रोत समझा जाता है। उपनिषद् साहित्य प्रेरणामूलक है, उसके अनुशीलन से मानव चेतना कभी कभी तो सचमुच प्रकृति और अस्तित्व के गहनतम तल को छू लेती है। प्रमुख उपनिषदों के नाम ये हैं:—बृहदारण्यक, तैत्तीरीय, ऐतरेय, केन, काठक, ईशा, श्वेताश्वतर, मुण्डक, महानारायण, प्रश्न, मैत्रायणीय, तथा माण्डूक्य। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इन उपनिषदों में ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य की रचना के बाद (जिसे हम आर्यों का आधारभूत साहित्य कह सकते हैं) और अनेक प्रकार के साहित्य की

रचना हुई, जिसका उल्लेख आर्य जाति की संस्कृति और सभ्यता की आज तक अबाध गति से चली आती हुई धारा को समझने के लिये आवश्यक है। इस साहित्य की रचनाकाल के विषय में कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, सम्भव है कि ईसा के अनेक शताब्दियों पूर्व से ईसा के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक इसकी रचना हुई हो। इस साहित्य के ५ प्रमुख अंग माने जा सकते हैं, यथा, (१) वेदांग साहित्य, (२) धर्म-पुराण-इतिहास, (३) महाभारत-गीता, (४) रामायण, (५) दर्शनशास्त्र।

१. **वेदाङ्ग साहित्य**—वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद) काफी बड़ा हो चुका था। वह जटिल भी हो गया था। उसको समझने में सहायता देने के लिये और उसका रूप और अर्थ स्थिर कर देने के लिये भाषागत वैज्ञानिक छानबीन के बाद नया साहित्य तैयार किया गया जो वेदाङ्ग कहलाया। वेदाङ्ग ६ हैं:—(१) शिक्षा ग्रन्थ—इनमें वर्ण और उनके उच्चारण सम्बन्धी नियम दिये गए हैं। (२) छन्द—इसमें वेदों में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन किया गया है। (३) व्याकरण—इन ग्रन्थों में वैदिक पदों के सही पाठ और उच्चारण सम्बन्धी नियमों का निरूपण किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। (४) निरुक्त—यास्क मुनि कृत निरुक्त ग्रन्थ सबसे प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ वस्तुतः वेदों का भाष्य है। वेदों का सही सही अर्थ समझने में निरुक्त ग्रन्थ से ही सबसे अधिक सहायता मिलती है। (५) कल्प—कल्प साहित्य का दूसरा नाम सूत्र साहित्य है। सूत्र का मतलब है कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ भर देना। विशाल वैदिक साहित्य के धार्मिक विचार, रीति एवं नियम सब लोग ध्यान में रख सकें, इसी उद्देश्य से सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ। सूत्र साहित्य को प्रायः तीन विभागों में विभाजित किया जाता है; यथा श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र एवं धर्म-सूत्र। श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, गृह्य सूत्रों में गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि, यथा धर्म सूत्रों में

सामाजिक नियमों आदि का विवेचन है। (६) ज्योतिष—काल गणना एवं निरूपण संबंधी ज्ञान की यज्ञ के समय उपयोगिता होती थी। ऋग्वेद पर आश्रित ज्योतिष का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'लगध-ज्योतिष' है।

२. धर्म—पुराण—इतिहास—हिन्दुओं के व्यक्तिगत, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को नियमन करने वाले वेदों के आधार पर बनाये गये नियम जिन ग्रन्थों में मिलते हैं, उनको धर्म या स्मृति ग्रन्थ कहते हैं। सबसे प्रसिद्ध और सर्वमान्य स्मृतिग्रंथ मनु ऋषि कृत मनुस्मृति है। हिन्दुओं का समस्त धार्मिक, सामाजिक जीवन मनुस्मृति के आदेशों के अनुसार ही परिचालित होता आया है।

पुराणों से मतलब उन ग्रंथों से है जो प्राचीन काल से लोकप्रिय रूप में चले आ रहे हैं और जिनमें लोक-धर्म-भावना समाविष्ट है। पुराणों में विशेषतया चार प्रकार के विषयों का वर्णन पाया गया है, यथा, प्राचीन राजाओं तथा ऋषियों की वंशावलियां तथा उनके आख्यान; जाति के इतिहास से संबन्धित प्राचीन घटनायें; सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध, दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी विवरण; और शिव, विष्णु, आदि की भक्ति तथा तीर्थ, व्रत आदि के माहात्म्य आदि का वर्णन। पुराणों की संख्या १८ है, जिनके नाम हैं:—ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, लिङ्ग पुराण, वराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड पुराण, एवं ब्रह्माण्ड पुराण। इन पुराणों में कहीं कहीं वैदिक काल से भी पहिले के इतिहास की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। भारतीय पुरातत्वविद और संस्कृत के विद्वान पुराणों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य खोजकर निकाल रहे हैं। जहां तक पुराणों की धार्मिक गाथाओं का प्रश्न है, वे अधिकतर प्रतीकात्मक हैं, मानो जातीय अवचेतन मन, लोक-इच्छा, और लोक-कल्पना उन प्रतीकों में समाहित होगई हो। यहूदी और इसाई लोगों की धर्मपुस्तक बाइबल, और चीनी लोगों की प्राचीन धर्म-

गाथाओं में भी ऐसा ही हुआ है। पुराणों में अनेक बातें असंगत हैं— कपोल कल्पित, किन्तु फिर भी उनका आधार तत्वतः वे अनुभूतियां और सत्य हैं जो वेद और उपनिषदों में प्रकाशित हुए। इन आधारभूत मानवीय अनुभूतियों पर कथा और काव्य के जिस विशाल और रंगीन भवन का निर्माण पुराणों के रूप में हुआ—वह है सचमुच अद्‌भुत। पुराण-साहित्य में यह बात स्वयं सिद्ध है कि उसके रचेताओं में—वे ऋषि, मुनि, पंडित जो कोई भी हों—उदात्त कल्पना शक्ति थी, वे मानवीय इच्छाओं-अभिलाषाओं और गहन अन्तस्तल की अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्तियों को खूब समझते थे; लोक कल्याण और लोक रंजन की भावना उनके काव्य की मूल प्रेरणा थी। जातीय जीवन का अस्तित्व बनाये रखने के लिये, उसे सुखी और मंगलमय रखने के लिये, निराशा से बचाने के लिये, ऐसे प्रयत्न प्रायः सभी प्राचीन जातियों में हुए। यह उस समय के मानव का प्रयत्न था—अपने चारों ओर की सृष्टि को समझने का, एवं जीवन में निष्प्रयोजनता और सूखापन नहीं आने देने का।

३. **महाभारत—गीता**—महाभारत अपने आपमें एक संपूर्ण समग्र साहित्य है। यह लोक प्रवाद बहुत अंश तक सही है कि जो विषय महाभारत में नहीं हैं वह भारत में कहीं भी नहीं हैं। पण्डितों ने महाभारत का अर्थ किया है—भारववंश वालों की युद्ध कथा। ऋग्वेद में इन भारतवंश वालों का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भरत को दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र बतलाया गया है। इन्हीं भरत के वंश में कुरु हुए जिनकी सन्तानों में आपसी झगड़े के कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। महाभारत में इसी युद्ध का वर्णन है। किन्तु महाभारत केवल इस युद्ध की ही कहानी नहीं है। असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्ववाद सम्बन्धी कथाओं का विशाल विश्व-कोष है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पांचवा वेद है, इतिहास है, स्मृति है, शास्त्र है, और साथ ही काव्य है। अनेक काल

तक यह ग्रंथ बनता और संग्रहीत होता रहा। समूचे महाभारत की रचना का एक काल नहीं है। आज का महाभारत एक लाख श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है। इसी महाभारत के अन्तर्गत है–विश्व प्रसिद्ध "गीता" जिसमें समाहित है हिन्दू दर्शन का निचोड़–कि मानव ज्ञानोत्पन्न अनासक्त भाव से स्वधर्मानुकूल (अर्थात् अन्तःस्थित स्वभाव के अनुकूल) कर्म करते हुए, सब कुछ अपने भगवान को समर्पित करदे। ज्ञान, कर्म भक्ति (Knowing, Willing, Feeling) का यह अपूर्व सामंजस्य है–जिस सामंजस्य के बिना जीवन एकांगी रह जाता है। इतना विशाल महाकाव्य जिसमें व्यक्ति और समाज के जीवन का इतना सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन मिलता हो और जो साथ ही साथ मानव भावों के गहनतम तल को छूता हो संसार में और कोई दूसरा नहीं है।

४. रामायण–विश्वास किया जाता है कि "रामायण" वैदिक साहित्य के बाद मानव कवि का लिखा हुआ पहिला काव्य है। इसलिए इसको आदि काव्य और इसके रचियता वाल्मिकि को आदि कवि माना जाता है। विद्वानों की परीक्षा से भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य जाति के ग्रन्थों में सबसे पहला है। यह काव्य अखिल संसार के महाकाव्यों की तुलना में अद्वितीय है। ग्रीक महाकवि होमर के "इलियड" और "ओडेसी", इटली के महाकवि दान्ते का "दिवाइना कोमेडिया" श्रेष्ठ महाकाव्य हैं, किन्तु उनमें रामायण के भावों जैसी सूक्ष्मता और उदात्तता नहीं है। यदि हमें संसार के तीन महानतम कवियों का नाम लेना पड़े तो हम कहेंगे कि वे वाल्मीकि (भारत), होमर (ग्रीस) और शेक्सपीयर (इंगलैंड) हैं। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य भारतीय संस्कृति की अनुपम देन हैं। विद्वानों द्वारा ऐसा भी मालूम किया गया है कि ६०० ई० सन् के आसपास कम्बोडिया (हिंद-चीन का एक प्रांत) में रामायण का धार्मिक ग्रन्थ के रूप में प्रचार था।

५. दर्शन—दर्शन ६ हैं। यथा–(१) गौतम का न्याय, (२) कणाद का वैशेषिक, (३) कपिल का सांख्य, (४) पतंजलि का योग, (५)

जैमिनि का पूर्व मीमांसा (६) व्यास का उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। इन सब दर्शन शास्त्रों के मूल में वेद, और उपनिषद हैं। ये दर्शन सूत्र रूप में लिखे गये थे, अतएव इनको समझने के लिए भाष्यों की रचना हुई। जैसे उत्तर मीमांसा (मीमांसा का अर्थ है वेद वाक्यों के वास्तविक भावों को समझना) पर शंकराचार्य,रामानुज,माध्व और विष्णु स्वामी ने भाष्य लिखे, जो अपने अपने मत के अनुसार अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

उक्त दर्शन शास्त्रों का वर्गीकरण चाहे ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में हुआ हो किन्तु सिद्धांत और विचार रूप से उनकी परम्परा ई० पू० की कई शताब्दियों तक जाती है। यहां तक माना जा सकता है कि उन विचारों का सार उपनिषदों में है, और कुछ का आदि-स्रोत ऋग्वेद में। जैसे, ऋग्वेद के नासदीय सूक्त को वेदांत दर्शन का आधार माना जाता है।

हिन्दू-धर्म

उपर्युक्त वैदिक साहित्य (वेद, ब्रह्माण, उपनिषद) तथा उत्तर वैदिक साहित्य (वेदांग, धर्म-पुराण-इतिहास, महाभारत, रामायण दर्शन) ही हिंदू धर्म, हिंदू मान्यता, हिन्दू दर्शन, हिन्दू ज्ञान-विज्ञान के आधार स्तंभ हैं। आधुनिक हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक धर्म का ही नामान्तर है। इस धर्म के प्रवर्तक, ईसाई या मुसलमान या बुद्ध धर्मों के समान कोई एक नबी या प्रोफेट या गुरु नहीं हुए;—न इसका प्रवर्तन किसी एक विशेष काल में हुआ। यह धर्म तो प्राचीन ऋग्वेदिक काल से—(वह ऋग्वेद जो मानव जाति का आदि ग्रन्थ है) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा की तरह बहता हुआ चला आया है—और चला जा रहा है; आज के भारतीयों में उसी प्राचीन ऋग्वेदिक संस्कृति एवं सभ्यता के, उसी प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के संस्कार हैं। इतिहास के इस दीर्घकालीन समय में, इस हजारों वर्षों के समय में, वे संस्कार कभी अवरुद्ध नहीं हुए, भारतीय संस्कारों से मूलतः कभी भी दूर जाकर

नहीं पड़े। हजारों वर्षों के इस काल में अनेक अन्य सभ्यताओं, जातियों एवं धर्मों से इस भारतीय (वैदिक, हिन्दू) धर्म और सभ्यता का सम्पर्क हुआ—परस्पर लेन देन, मेलजोल हुआ; बहुतसी नई चीजें मूलरूप में या रूपान्तरित होकर इसमें समा गईं, किन्तु उस आदि मूल धारा का प्रवाह रुका नहीं, मूल धारा के प्रवाह की दिशा भी आधारभूत रूप से बदली नहीं। इसीलिये कहते हैं—प्राचीन काल में संसार में अनेक महान् सभ्यताओं का जैसे मिश्र और बेबीलोन की सभ्यता, ग्रीस एवं रोम की सभ्यता का उदय हुआ, उत्थान हुआ, किन्तु काल के गहन गर्त में उनका रूप विलीन हो गया; इसके विपरीत भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की धारा टूट कर कभी विलीन नहीं हुई, यद्यपि उसमें नये रूप रंग आये। आज भी इस भूमि की संस्कृति और सभ्यता के वातावरण में उद्भवित हुए हैं, मानव मात्र की कल्याण भावना अन्तर में लिये हुए शीलवान् पुरुष गांधी, महाकवि रवीन्द्र और योगिराज अरविन्द।

आखिर क्या इस संस्कृति में है?

●

(२२)

भारतीय आर्य संस्कृति की आत्मा

हम भारतीय आर्य संस्कृति के बाहरी रूप को छोड़कर उसकी आत्मा को समझने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने "इण्डियन फिलोसफी" नामक ग्रन्थ में कहा है कि हिन्दूधर्म सिद्धान्तों का स्थिर संग्रह नहीं है, वह सतत विकासशील प्रक्रिया है। अपने "हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ" में इसी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है—"विश्वास अथवा व्यवहार में एक रस, स्थिर, अपरिवर्तनीय, हिन्दूधर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रही है। हिन्दूधर्म प्रगति है, स्थिति नहीं, प्रक्रिया है, परिणाम

नहीं, प्रवर्धमान परमात्मा है, निश्चित (सीमित) ईश्वरीय ज्ञान नहीं।"

वास्तव में इस धर्म अथवा संस्कृति के तत्व एकदेशीय, एकजातीय अथवा एककालिक नहीं हैं। ये तत्व सार्वभौम हैं। यदि मानव मानव है तो ये तत्व बने रहेंगे। 'आर्य' नाम विलीन हो सकता है, "भारतीय" नाम विलीन हो सकता है,–किन्तु मानव जब तक एक प्राण और चेतना-धारी जीव है, तब तक ये तत्व विलीन नहीं हो सकते–बने रहेंगे। ये तत्व 'सत्य' पर आधारित हैं; यदि 'सत्य' 'विज्ञान' का पर्याय है तो हम कह सकते हैं कि ये तत्व विज्ञान पर आधारित हैं भौतिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान। ये तत्व किन्हीं अर्द्ध-विकसित असभ्य स्थिति की कल्पनाओं या किन्हीं पुरातन अन्धविश्वासों में निहित नहीं हैं। यह धारणा कि आर्य लोग तो अनेक स्थूल देवताओं की पूजा करते थे, गलत है। इस संबंध में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का मत उल्लेखनीय है। वे अपनी पुस्तक "हिन्दू संस्कृति" में लिखते हैं कि "आर्यों के कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का पर्यवसान उस गहन दर्शन के रूप में हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा कुछ अन्य सूक्तों में पाई जाती है। वहां बहुदेवतावाद को खुले तौर पर और साहस के साथ चुनौती दी गई है और विश्व की मूलभूत एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे एक अद्वितीय ब्रह्म की रचना कहा गया है,–जिसके विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा अदिति (सर्वोपरि अग्रिम मातृ शक्ति) इत्यादि अनेक नाम दिये गये हैं। सृष्टि को विराट पुरुष (सर्वोपरि आत्मतत्व) के आत्म-यज्ञ का परिणाम बताया गया है; अथवा असत् तत्व के अग्नि या जलीय रूप में विकसित होने पर सृष्टि रचना मानी गई। एक ऋग्वैदिक मंत्र (१/१६४) में बड़ी स्पष्टता से उस "एक तत्व (एकंसत्)" का उल्लेख है जिसे ज्ञानी लोग अनेक भांति से पुकारते हैं विप्राः बहुधा वदन्ति।"*

---

*राधाकुमुद मुकर्जी—"हिन्दू संस्कृति", अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रकाशक—राजकमल, दिल्ली।

आर्य ऋषि प्रकृति के रूप में ईश्वरीय शक्ति का जो आभास मिलता था उसी के साथ आत्मसात् होते थे। "वरुण" देवता की प्रार्थना करते हुए उन्होंने गाया था "वे तारे जो रात में दिखलाई देते हैं, दिन में कहाँ छिप जाते हैं ? वरुण की रीति अविनाशी है; चन्द्र रात भर चमकता रहता है।" वे समस्त "प्राकृतिक नियम" (Natural Laws) जिनसे सृष्टि में व्यवस्था (Order) स्थित है, जिन नियमों का देवता भी उल्लंघन नहीं कर सकते, यही वरुण देवता की "रीति" (व्रत–Cosmic Order) है जिसकी वरुण रक्षा करता है। उन लोगों की जीवन सम्बंधी धारणा–इन प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध, इन वैज्ञानिक सत्यों के विरुद्ध नहीं हो सकती थी। उनके जीवन में, उनके चिंतन में ऐसी कोई भी धारणा, ऐसा कोई भी विश्वास नहीं ठहर सकता था जो सत्य न हो, जो वैज्ञानिक न हो। उन लोगों की ज्ञान एवं विज्ञान की व्यवस्था से ही यह बात हमको मालूम हो जाती है। गीता में जिसे वेदों उपनिषदों का सार मानते हैं, यह व्याख्या इस प्रकार की गई है–"विश्व सृष्टि के व्यक्त पदार्थ में जो अद्वितीय अव्यक्त मूलद्रव्य है, वह जिससे जाना जा सकता है वह है ज्ञान; तथा उस अद्वितीय मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न भिन्न एवं अनेक पदार्थों की उत्पत्ति कैसे हुई यह जिसके द्वारा जाना जा सकता है वह है विज्ञान।" विज्ञान (Science) की इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा मिलना कठिन है; आज के सब विज्ञान (भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, ज्योतिष इत्यादि) केवल इसी बात के जानने के प्रयासमात्र ही तो हैं कि एक अव्यक्त द्रव्य से किस प्रकार यह सृष्टि और इस सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों एवं नियमों का जिनका उद्‌घाटन विज्ञान आज शनैः शनैः कर रहा है–वे अनेक रहस्य अन्तर्दृष्टि (Intuition) द्वारा, शुद्ध निर्मल बुद्धि द्वारा एवं प्रकृति के साथ मधुर आत्मसात् होने के फलस्वरूप–वैदिक ऋषियों के मानस पटल पर कभी कभी सहसा अपने आप आकर अंकित हो जाते थे,–जो मन्त्रों द्वारा

अभिव्यक्त होते थे। माना, इस नानाविध प्रकृति की सभी छोटी मोटी बातों के अध्ययन की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए—किन्तु जिन जिन भी आधारभूत तथ्यों को उन्होंने आत्मसात् किया—वे थे प्रकृति के सत्य। इसका यह अर्थ भी नहीं समझ लेना चाहिये कि उन्होंने प्रकृति के सब ही आधारभूत तथ्यों को आत्मसात् कर लिया था। इस प्रकृति की, इस विराट् की विशाल अनेक रूपता—इसके रहस्यों की अनंतता को देखकर तो वे आश्चर्यविभोर थे—इस विराट् के रहस्यों का उद्घाटन करते करते, इसकी व्याख्या करते करते अंत में वे यही कहते थे "यह भी नहीं, यह भी नहीं"—नेति नेति। आज के वैज्ञानिक भी प्रकृति पर प्रबल विजय प्राप्त करते हुए उसके गूढ़ से गूढ़तर रहस्यों में प्रवेश करते हैं। यथा-वस्तु की स्थिति वे इसके सूक्ष्मतम भाग परमाणु से भी सूक्ष्मतर भाग इल्कट्रोन (विद्युदणु) के रूप में पाते हैं, और पाते हैं उन विद्युदणुओं की अप्रतिहत गति से अपने नाभिकण के चारों ओर घूर्णित होते। फिर महान वैज्ञानिक आइनस्टाइन की आंखों में से वे इस सृष्टि को देखते हैं और एक विरोधाभास कह उठते हैं—यह सृष्टि "सांत है किन्तु असीम" (A Finite but Unbounded universe)। जब वे ऐसा विरोधाभास कहते हैं, जब वे इल्कट्रोन प्रोटोन (विद्युदणु प्राणु) की, अलौकिक दुनिया में प्रवेश करते हैं, तब वे भी मानो प्राचीन आर्य द्रष्टाओं की तरह अवश्य अनुभव करने लगते हैं—"यह भी नहीं, यह भी नहीं।" मालूम होता है आज के कई वैज्ञानिक तथ्य कई वेद मन्त्रों की व्याख्यामात्र हैं। फिर आज के वैज्ञानिक पहिचानने लगे हैं कि प्रकृति में ज्यों ज्यों वे विशाल से सूक्ष्म, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों वे उसे अधिक शक्तिशाली पाते हैं। कोयले में शक्ति है किन्तु उससे कई लाख गुणा शक्ति है उस कोयले के परमाणु में। "परमाणु शक्ति" आज एक कितनी विलक्षण वस्तु उद्घटित हुई है। एक परमाणु में एक सोर मण्डल समाया हुआ है, मानो एक पिंड में ब्रह्मांड का अस्तित्व हो। परमाणु शक्ति में विशाल

तेज (अग्नि) है, विशाल प्रकाश है, विशाल गति है,–किन्तु परमाणु से भी सूक्ष्मतर एक वस्तु है–इसका दर्शन ऋषियों ने किया था। वह वस्तु है आत्मा, आत्मा से सूक्ष्मतर वस्तु कौन है ? अतएव आत्मा से अधिक शक्तिशाली, अधिक विशाल, अधिक प्रकाशमान और गतिमान् और कौनसी दूसरी वस्तु संभव है ? ऋषि ने सिद्ध किया था कि 'भूमा' बाहर के आयतन में नहीं है, परिमाण में भी नहीं है, कहीं है तो वह अन्तर की परिपूर्णता में है"–(रवीन्द्र)। इसका दर्शन ऋषियों ने प्रकृति को पैरों नीचे रौंदते हुए नहीं किया–इसका दर्शन किया था प्रकृति के साथ विनीत तादात्म्य स्थापित करके। प्रकृति के वाह्य रूप से वे प्रकृति की "आत्मा" तक पहुंचे, और फिर उस आत्मा की आत्मा तक–उस एक ज्ञानातीत महान् "सत्ता" तक।

प्रातः काल ऋषि ने जब 'उषा' की सौन्दर्यमयी आभा के दर्शन किये, उसने उस आभा को रंजित देखा अपने अन्तस (आत्मा) में; फिर जब उसने जाज्वल्यमान 'सूर्य' के दर्शन किये उसके भी अनन्त तेज को देदीप्यमान पाया अपनी आत्मा में; फिर जब उसने देखा आकाश को आच्छादित करते हुए और भयंकर रूप से गर्जना करते हुए 'इन्द्र' को, उसकी शक्ति को भी समाया हुआ पाया उसने अपनी आत्मा में; फिर जब उसने देखा "अदिति" (अनन्त अन्तरिक्ष) को, उसकी अनन्तता को भी परिव्याप्त पाया उसने अपनी आत्मा में। उषा में दर्शन किए उसने आत्मा की सुषमा के, सूर्य में आत्मा के प्रकाश और तेज के, इन्द्र में आत्मा की शक्ति के, अदिति में आत्मा की अनन्तता के; उस 'आत्मा' की एकात्मा की उसने अनुभूति की "उससे" जो एक सर्वस्व है,–एक महान है,–जो सबमें व्याप्त है, जिसमें सब व्याप्त हैं। इस अनुभूति के क्षण में अनन्त अदितियाँ उसमें परिव्याप्त थीं, अनन्त सूर्य प्रकाशमान थे, अनन्त इन्द्र उसके पैर चूम रहे थे–और अनन्त दिशाओं में प्रस्तुत थीं अनन्त उषायें सौम्य सुषमा का थाल सिजोये हुए। वह मुक्त था,–निर्भीक मुक्त कण्ठ से चिल्ला उठा :—

उज्वल सोम पिया है हमने,
और हम होगये हैं अमर।
प्रकाश में प्रवेश पा चुके हम हैं,
और सब देवों को जान लिया है।
कौन कर सकता है हानि हमारी–
कौन करे वैरी आतंकित ?
अब हम हे अमरदेव हैं तुम से,
अनुप्राणित हो उत्थित होते–
निर्भय हो, हे देव, अमर हो।"

(अथर्ववेद ८-४८-३)

उसने चाहा मानव की इस अन्तश्चेतना को–जो डरी हुई रहती है, जो प्रताड़ित रहती है और दुःखित रहती है–इस निर्भीकता की, मुक्ति की अनुभूति हो। इस निर्भीक मुक्ति की अनुभूति वैदिक ऋषि ने की थी, और तब मानो सृष्टि आनंद विभोर हो उठी थी। "मानव तू अपनी चेतना को बन्धन मुक्त कर सकता है, तेरे अन्तस में अबाध आनंद का स्रोत प्रवाहित है।" ऋषि की ज्ञानानुभूति के प्रकाश से उद्भूत यही एक स्वर्णिम रेखा है जो मानव मानस के भारी, धुंधले अन्तरिक्ष में झलकती रहती है। यह परलोक की बात नहीं है–यह किसी कल्पित भविष्य जीवन की बात नहीं है, यह इसी जीवन की, इसी लोक की बात है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जिस प्रकार यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूक्ष्मतम परमाणु में विशाल शक्ति छिपी हुई है उसी प्रकार यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इस 'मानव चेतना' में अनन्त मधुरिमामय आनन्द है। चारों ओर निर्बलता की छाया होते हुए भी, इस शरीर रूपी मन्दिर की ढहती हुई स्थिति होते हुए भी, चारों ओर विनाश और चीत्कार होते हुए भी, अन्तर में वह आनन्द का दीपक मधुर मधुर प्रकाशित होता रहता है। "वह प्रकाश, वह मधुरिमा, वह संगीत" प्राप्य है–उससे साक्षात्कार हो सकता है,–केवल 'चेतना' को अधिक विस्तृत और गहन चेतनता की

ओर जाग्रत और उन्मुख होने की आवश्यकता है। निर्जीव वस्तु में चेतना लुप्त है-या सर्वथा सुषुप्त है,—जानवर में यह 'चेतना' केवल इन्द्रियगोचर ज्ञान के स्तर तक जागृत है, मानव में (यदि मानव जानवर के स्तर पर ही जीवन व्यतीत नहीं कर रहा है तो) यह चेतना अधिक गहन एवं विस्तृत स्तर पर जागृत है,–उस चेतना को उस "परम चेतन सत्-आनन्द" तक पहुंचने के लिए गहनतर एवं उच्चतर स्तरों में आरोहण अवरोहण करना पड़ता है। वैदिक ऋषि की चेतना सरल, शुद्ध, निर्मल थी, उस चेतना के उत्थान और विकास का आलम्बन था यह समस्त उद्भूत अनन्त विश्व–इस विश्व का अन्तरिक्ष (वरुण), इसका प्रकाशमान तेजोमय 'सूर्य', जाज्वल्यमान 'अग्नि', एवं ललित उषा। इन सब में व्याप्त और इन सब के परे उसकी चेतना को ज्ञान हुआ। उस परमतत्व का "जो समस्त सृष्टि पर राज्य करता है जिसमें समस्त प्राणी स्थित हैं, जो जीवन है उन सबका जो स्थिर और जङ्गम है।" इस ज्ञान की अनुभूति से उसकी चेतना उदात्त बनी। उदात्तता से उत्पन्न हुई उसके हृदय में उपासना। और उपासना की तन्मयता में उसे अनुभूति हुई उस 'परमचेतन सत् आनन्द' की–ब्रह्मानन्द की। मानो वह स्वयं उसकी चेतना थी, स्वयं वह "सत्चिदानन्द" था।

इस अमर आनन्द अनन्त प्रकाश के लोक में पहुंचने के लिए वे सोम देवता से प्रार्थना करते थे।–"जहां अनन्त प्रकाश है, उस लोक में जहां सूर्य स्थित है, उस अमर अमृत लोक में मुझे पहुंचाओ, ओ सोम।" (ऋग्वेद ९–११३)। "जहां आनन्द और सुख है, जहां हमारी इच्छाओं की इच्छायें पूर्ण होती हैं वहां मुझे अमर बनाओ,–ओ सोम।" यह 'सोम' देवता कौन था? यह दिव्य ज्ञान का प्रतीक मधुरस का प्याला था जिसे पीकर वे मस्ती में झूमते थे। कौन दिव्य ज्ञान का रस पीकर मस्ती में नहीं झूमने लग जाता?

यह तो एक बात हुई। दूसरी एक और बात है, वह यह कि सृष्टि को समग्र दृष्टि से आर्यों ने देखा है। उससे डर कर वे विरत कभी नहीं

हुए। उनके लिए केवल आत्म-तत्व, केवल अव्यक्त ब्रह्म सत्य नहीं। उनके लिये मृदुल सर्जन एवं हाहाकार मचाता हुआ संहार, रुंडमुंड माला–नवनीत बालक, महाकाल रात्रि–रंगमयी उषा, खड्ग एवं कमल सब बराबर सत्य थे। यह अखिल सृष्टि, दृश्य अदृश्य, व्यक्त अव्यक्त, इसके सत्य असत्य, इसका संहार सर्जन, इसकी शांति अशांति, इसका आनन्द विषाद, सबके सब उस परमतत्व, उस ब्रह्म में स्थित हैं। यह ब्रह्म–यह ईश्वर केवल कृपालु प्रेममय नहीं, केवल शिव नहीं, यह महारुद्र भी है। सृष्टि के इस आदि सत्य की निर्भय एवं निःशंक होकर आर्य ऋषि ने घोषणा की थी–"सृष्टि को सीधा देखना मानो ईश्वर को साक्षात् देखना है–ईश्वर एवं सृष्टि (ब्रह्म एवं सृष्टि) पृथक नहीं।" इस सृष्टि का नियम संहार एवं सर्जन दोनों है, मानो अनादिकाल से वेद यह कहता चला आ रहा हो–"संहार के द्वारा सर्जन एवं पालन–सृष्टि का यही प्रथम नियम मैंने बनाया है।" सृष्टि शिव के ताण्डव नृत्य एवं मग्न-समाधि दोनो में स्थित है। मानव शिव के ताण्डव नृत्य को आत्मसात् करता हुआ मग्न समाधि में भी स्थिर रह सकता है। धूंआ-धार इस सृष्टि के कर्म में प्रवृत रहता हुआ भी आनन्दमय लोक में विचरण कर सकता है। ईशोपनिषद में कहा है:"जो सर्जन और संहार दोनों को साथ साथ देखता है, वह मृत्यु पर संहार के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, एवं सर्जन द्वारा अमरत्व का उपभोग करता है।" यही विचार अभिव्यक्त हुआ है रवीन्द्र में:—

"ओगो नटी ! चंचल अप्सरी
तव नृत्य मंदाकिनी
नित्य झरि झरि
तुलितेछे शुचि करि
मृत्युस्नाने विश्वेर जीवन।"

अर्थात्

प्रखर प्राणमयी चिर चेतने !
मरण सागर में नित स्नान कर
जगत जी नवजीवन पारहा
झरत झृंतव झृं पदताल में, ।"

इसी की कल्पना हिन्दू कलाकारों ने "नटराज की प्रतिमा"—शिव के ताण्डव नृत्य में की है। शिव के ताण्डव नृत्य में मानो वह शक्ति मूर्तिमती हो उठी हो जिस शक्ति का आभास आज का वैज्ञानिक प्रकृति के प्रत्येक व्यापार के पीछे देख रहा है। महा अन्धकार में अचेतन निष्प्राण प्रकृति सो रही थी, शिव जागे, पद ताल दी और उनकी पदताल लगते ही सुषुप्त निष्प्राण द्रव्य-पदार्थ प्राणों से सचेतन हो उठा, मौन "द्रव्य-पदार्थ" स्वर से गुन्जरित हो उठा। शिव के नृत्य के साथ ही साथ प्रकृति भी शिव के चारों ओर नाचने लगी। शिव अपने तालमय नृत्य में अखिल सृष्टि की गति को समाये हुए हैं। देश काल की ताल और लय में अनेक नाम-रूप पदार्थ लय होते रहते हैं,अनेक नये नाम-रूप पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। शिव नृत्य की यह कल्पना कविता भी है—विज्ञान भी।

इस जग और जगती में जूझता हुआ मानव कभी यह न भूले कि जीवन सर्वोपरि है। जीवन की पुकार है—आनन्द। मानो जीवन आनन्द का समानार्थक है, प्रेम एवं मुक्ति का पर्याय है। मानो जीवन स्वयं प्रेम है, स्वयं मुक्ति है, स्वयं आनन्द है। किसी भी दशा में जीवन की इस पुकार को नहीं दबने देना,—यही वास्तविक जीवन है। मानो स्वयं परमात्मा मानव देह में स्थित होकर,मानव देह के भोग भोगता हुआ अपनी आदि मुक्ति एवं आनन्द की अनुभूति की खोज में आगे बढ़ रहा है। वह परमात्मा प्रकृति के आधार के बिना—मनुष्य देह के बिना आनन्द की अनुभूति भी आखिर कैसे कर सकता था। परमात्मा प्राण में अपना प्रसार करता है, आनन्द की अनुभूति करता है,—या यों कहें मानो प्राण स्वयं अपना प्रसार करता है—आनन्द की अनुभूति करता है। इस प्रकार में, इस विकास की गति में, इस आनन्द में जब बाधा आती है, चेतनता

जब जड़ता बनने लगती है, अंधियारा छाने लगता है, जीवन चलता चलता रुकने लगता है, तब सहसा एक प्रकम्पन सा उठता है,—जीवन की महाकाली जागृत होती है—खड्ग और खप्पर का आह्वान होता है, दुष्टता का संहार होता है। महाकाली के बाद फिर से कल्याणमयी दुर्गा के दर्शन होते हैं—आनन्द, विश्व-प्रेम, मानव-कल्याण की आभा उद्दीप्त हो उठती है। यही 'आभा'आर्यत्व है। इसी आभा से जग एवं जीवन आलोकित रहे, दुष्टता इसको दबा न ले। मानस में आनन्द हिलोरित होता रहे, मंगलदीप जगमगाता रहे।

●

(२३)

चीन का प्राचीन इतिहास

(प्रारम्भ काल से लेकर ६६० ई० तक)

भूमिका

मिश्र, मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरीया), भारत और चीन की सभ्यतायें संसार की चार सबसे प्राचीन सभ्यतायें मानी जाती हैं। मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यतायें आज लुप्त हैं—वे केवल ऐतिहासिक स्मृतियां मात्र रह गई हैं। भारत और चीन की सभ्यतायें अभी तक जीवित हैं और इनमें पुरातन हजारों वर्षों की परम्परायें एवं ज्ञान विज्ञान की धारा अब भी प्रवाहमान है। चीनी सभ्यता के विषय में, चीन भारती शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध प्रो. तानयुनशान का मत है कि "पाश्चात्य विद्वान मिश्र और बेबीलोन की सभ्यता को काल के हिसाब से सबसे पुरानी मान लेने में गलती करते हैं। उनकी यह गलती इसीलिये होती है कि उन लोगों का चीन के इतिहास का ज्ञान प्रायः नहीं

के बराबर है एवं चीनी संस्कृति को वे हृदयंगम नहीं कर पाये हैं।" प्रो. तानयुनशान की राय में चीनी सभ्यता मिश्र और बेबीलोन की सभ्यताओं से भी पुरानी है। चीन के प्राचीन महात्माओं की शिक्षाओं एवं कथित वाणी के आधार पर चीनी लोगों का ऐसा विश्वास है कि चीनी सभ्यता का उद्भव करने वाला "पान-कू" देवता था। उसी ने सृष्टि को रचा था और वही इस संसार का शासनकर्त्ता था। उसके सात हाथ और आठ पैर थे। "पान-कू" के बाद तीन पौराणिक सम्राटों का उद्भव हुआ। १. टीन हुआंग–स्वर्ग का सम्राट २. टी हुआंग–पृथ्वी का सम्राट ३. जेन हुआंग–मनुष्य का सम्राट। इन तीनों पौराणिक सम्राटों के बाद "शीह-ची" अर्थात् दस युगों का काल आता है। प्रत्येक युग का पृथक पृथक वर्णन करती हुई पृथक पृथक पुस्तकें हैं, जिनमें प्रत्येक युग का विशद वर्णन है; किंतु ये सब पौराणिक, सम्भवतः कल्पित गाथायें हैं।

चीनी विद्वान प्रो० तानयुनशान ने चीनी सभ्यता के काल को–आदि प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के विकास-क्रम को–७ काल विभागों में विभक्त किया है :—

प्राचीन युग—

१. प्रारंभिक एवं अन्वेषण काल	अनिश्चित पुरातन काल से २६९७ ई० पू० तक।
२. स्थापना	–हवांगटी-"पीत सम्राट" से तांगयाओ और यू शून तक २६९७–२२०६ ई. पू.
३. विकास एवं विस्तार	–सुई, शाँग और चाऊ, तीन काल खंड २२०६–२५५ ई. पू.
४. भारत से संपर्क	–चिन वंश, हान वंश, तांग वंश ई. पू. २५५ से ९६० ई. सन्

मध्य युग—

५. उत्थान	–सुंग वंश, युआंग वंश, मिंग वंश ९६०–१६४३ ई.

आधुनिक युग—

६. यूरोप से संपर्क	–चिन (मंचू) वंश १६४४–१९११ ई.
७. नव-उत्थान	–१९११ में प्रजातंत्र की स्थापना से १९४९ ई. तक

अब एक आठवां काल विभाग हो सकता है। सन् १९४९ ई० में कोम्यूनिस्ट व्यवस्था की स्थापना से आज तक।

१. **प्रारम्भिक एवं अन्वेषण काल**—चीन में अति प्राचीन अनिश्चित पुरातन काल से सभ्यता का विकास हुआ। पुरातन चीनी ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार चीनी विद्वान यूसाओ ने गृह-निर्माण कला का आविष्कार किया; स्वीजेन ने अग्नि का आविष्कार किया; फूसी ने मछली के शिकार एवं जाल बनाने की कला का आविष्कार किया; एवं उसी ने मनुष्यों को सितार पर गायन विद्या सिखाई। फूसी ने ही विवाह के नियम बनाये, एवं आठ चित्रों का आविष्कार किया जिनके बाद लेखन कला का विकास हुआ; उसी ने काल-गणना का हिसाब लोगों को सिखाया। फिर शेननुंग आये जिन्होंने लोगों को कृषि विद्या सिखाई, एवं व्यापार विनिमय और औषधि विज्ञान का प्रारम्भ किया। उन्होंने काल गणना विज्ञान में सुधार किया। ये सब अन्वेषण अथवा आविष्कार आज से प्राय: १० हजार वर्ष पूर्व हो चुके थे, और इस प्रकार सभ्यता की नींव डल चुकी थी।

चीन की कहानी की यहां तक तो बात हुई चीनी पुरातन साहित्य एवं चीन परम्परागत विश्वासों के आधार पर। अब हम आलोचनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से चीन की सभ्यता का इतिहास जानने का प्रयत्न करेंगे। कुछ वर्ष पूर्व तक तो पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि चीन का इतिहास जानने की ओर गई ही नहीं थी। किंतु शनैः शनैः यह बात महसूस की गई की मानव जाति एवं मानव सभ्यता के विकास में चीनी लोगों का भी एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, चीन सभ्यता में मानव अनुभव

का एक विशिष्ट अंश समाहित है, एवं इस संस्कृति में मानवीय दृष्टि से अनेक आकर्षक एवं स्थायी तत्व विद्यमान हैं। शनैः शनैः चीन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक खोज होने लगी, एवं पुरातत्ववेत्ताओं एवं आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन चीन के इतिहास का एक ढांचा बनाया। चीन में इस सम्बन्ध में बहुत सामग्री उपलब्ध है—वहां का प्राचीन साहित्य, लोक कथायें, गीत, चित्र इत्यादि।

चीनी लोगों की उत्पत्ति—चीनी लोगों की परम्परागत मान्यता तो यह है कि उनका उद्भव चीन में ही हुआ और उनकी सभ्यता अनादि-काल से चली आती है; उसकी प्राचीनता के विषय में अनेक लोक गाथायें जिनका कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, बनी हुई हैं। किंतु इन विश्वासों और गाथाओं को वैज्ञानिक इतिहास का आधार नहीं माना जा सकता। आधुनिक अनुसंधानात्मक ढंग से प्राचीन चीन का इतिहास जानने एवं लिखने के प्रयास किये गये हैं—गोकि अभी वे सबके सब पूर्ण एवं सिद्ध नहीं माने जा सकते। उनके अनुसार चीनी लोगों की उत्पत्ति के विषय में अभी तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक मत तो इस प्रकार है:—नव-पाषाण युग के आरम्भ काल में ही, अर्थात् आज से १०-१२ हजार वर्ष पूर्व हम मानव जाति को कई प्रजातियों में, खासकर ४ प्रजातियों में विभक्त हुआ पाते हैं और साथ ही साथ उनको दुनिया के अलग अलग चार विशेष भागों में बसा हुआ पाते हैं। उन प्रमुख चार प्रजातियों यथा नोर्डिक आस्ट्रेलोइड, नीग्रो, मंगोल में से, ये चीनी लोग मंगोल प्रजाति के हैं, जिसका वर्ण पीला, उभरी हुई गाल की हड्डियां एवं चपटी नाक होती है, और जो उस काल में उन प्रदेशों में बसी हुई थी जो आधुनिक चीन, मंगोलिया इत्यादि हैं। दूसरा मत यह है कि ये लोग मंगोल उपजाति के नहीं हैं, इनकी स्वतन्त्र ही अपनी उपजाति है। या तो आदि में ही इनका उद्भव चीन में हुआ या संभव है प्राचीन पाषाण युग के उत्तरार्ध में (आज से लगभग १५-२० हजार वर्ष पूर्व) मध्य एशिया से जाकर

कुछ लोग चीन के उत्तरी भाग ह्वांगहो नदी की तरेटी में, तथा दक्षिणी भाग यांगटीसिक्यांग नदी की तरेटी में बसे, और वहां की प्राकृतिक परिस्थितियों एवं जलवायु के अनुरूप उन लोगों का, उनकी भाषा और सभ्यता का विकास हुआ। इस बात का अनुमान कि ये लोग मंगोल प्रजाति के नहीं हों इससे भी लगाया जाता है कि उनकी चीनी भाषा यूराल आल्टिक परिवार से (जिसकी एक प्रमुख भाषा मंगोल है) सर्वथा भिन्न है। जो कुछ हो, इतना निश्चित माना जाने लगा है कि ये चीनी लोग उस काल में जब से इनके संगठित जीवन का पता लगा है, गांवों में रहते थे, एवं खेती करते थे। पच्छिम से बर्बर लोगों के आक्रमण होते थे और ये सताये जाते रहते थे, किन्तु फिर भी एक केन्द्रीय व्यवस्था की ओर इनके सामाजिक संगठन का विकास हो रहा था। धीरे धीरे छोटी छोटी ग्राम कम्यूनीटीज से छोटे छोटे सरदारों के राज्य बने, इन राज्यों से सामन्तशाही प्रान्त स्थापित हुए, ये सामन्तशाही प्रान्त धीरे धीरे एक केन्द्रीय शासन के अधीनस्थ होकर एक साम्राज्य बने। इन चीनी लोगों को परस्पर मिला देने में कोई आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति या भावना काम नहीं कर रही थी; वह केवल एक ही तत्त्व था जिससे परिचालित होकर जाने या अनजाने ये समस्त चीनवासी एक सूत्र में बंध रहे थे। वह तत्त्व था—"सांस्कृतिक एकता की भावना"। उनको यह भान होने लगा था कि प्राचीन वे लोग हैं और प्राचीन एवं गौरवमय उनकी सभ्यता; एक उनकी भाषा है,एक संस्कृति और एक आदर्श। समस्त चीन को एवं वहां के रहने वालों को एक केन्द्रीय साम्राज्य में मिला देने का अभूतपूर्व काम किया चीन के सर्वप्रथम सम्राट ह्वांगटी (Huang Ti) ने, जो कि विश्व इतिहास में "पीत सम्राट" के नाम से प्रसिद्ध है। यह साम्राज्य २६९७ ई०पू० में स्थापित हुआ, अर्थात् आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व। उसी समय से चीन का तारीखवार इतिहास प्रारम्भ होता है। उस काल में मिस्र में बड़े बड़े फेरो और सुमेर में बड़े बड़े राजा राज्य

करते थे । इन दोनों देशों में बड़े बड़े नगर बसे हुए थे, मन्दिर और पुजारी थे, व्यापार होता था और सभ्यता का विकास हो रहा था। भारत में सिन्धु सभ्यता (मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा) विकासमान थी और एशियामाइनर,क्रीटद्वीप और सीरीया आदि प्रदेशों में मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यता का प्रसार होने लगा था। भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार "सप्त सिंधव" में वैदिक सभ्यता का विकास हो चुका था और स्यात् उसका सम्पर्क ईरान, दक्षिण भारत में द्रविड़ सभ्यता, तथा सिन्धु सभ्यता, तथा अन्य उपरोक्त सभ्यताओं से होने लगा था। यहूदी, ग्रीक, और रोमन लोगों का तो इतिहास में अभी तक नाम भी नहीं था। उपरोक्त चीन, भारत, मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों को छोड़कर, बाकी की दुनिया यथा— यूरोप, उत्तरी एशिया, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, इत्यादि– आज्ञातावस्था में या तो सर्वथा असभ्य या अर्द्ध सभ्य अवस्था में पड़ी थीं। उपरोक्त "पीत सम्राट" द्वारा २६९७ ई० पू० में चीनी साम्राज्य स्थापित होने के काल से, प्रो० तानयुनशान के अनुसार चीनी सभ्यता के इतिहास का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है।

२. **स्थापना काल (२६९७–२२०६ ई० पू०)**—जैसा ऊपर कह आये हैं चीन के सर्व प्रथम सम्राट ह्वांगटी–"पीत सम्राट" ने २६९७ ई० पू० से चीन में राज्य करना आरम्भ किया और वहां एक साम्राज्य की स्थापना की। इस सम्राट ने लगभग पूरे १०० वर्षों तक चीन में राज्य किया। इसी सम्राट को चीन राष्ट्र का निर्माता माना जाता है और चीनी लोग सभी अपने आप को इस पीत सम्राट का वंशज मानते हैं। यह सम्राट महा पंडित, विद्वान एवं आविष्कर्त्ता था। इसी ने निम्न चीजों का आविष्कार किया। (१) टोपी और पहनावा (२) गाड़ी और नाव (३) चूना और रंग (४) तीर कमान (५) कुतुबनुमा (६) मुद्रायें (७) कफन। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से चली आती हुई अनेक अन्य वस्तुओं में इसने सुधार किये। अपनी अपार अभिधा शक्ति से

इसने ऋतु-निर्देशक-विद्या, सौर मंडल के ज्ञान आदि में अभूतपूर्व सुधार किये। लेखन-कला भी अपनी पूर्ण विकसित स्थिति में इसी सम्राट के प्रयत्नों से इसी के काल में पहुंची। सम्राट के दो मन्त्री थे, जिनका काम केवल इतिहास लिखना था। इसी काल से चीन का लिखित इतिहास मिलता है, एवं साहित्य तथा अन्य कलाओं की अनेक पुस्तकें भी। किन्तु दुर्भाग्यवश ये रिकार्डस बहुत से अब उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि चीन-सी-ह्वांग (२४६–२०७ ई० पू०) के जमाने में बहुत से पुरातन ग्रन्थ सम्राट के आदेश से जला दिये गये थे। फिर भी अनेक ग्रन्थ छिपाकर रख लिये गये थे और जलने से बचा लिये गये थे। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रमुख हैं–"यी-चीन" (Yi-Chin) अर्थात् "परिवर्तन के नियम" एवं "शी-चिन" (Shi-Chin) अर्थात् "गीतों के नियम।"

पीत सम्राट ह्वांगटी के बाद दो और प्रसिद्ध सम्राट हुए, तांगयाओ (२३५६–२२५५ ई० पू०) और यू-शुन (२२५५–२२०६ ई० पू०)। इन दोनों सम्राटों ने अपनी अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से बहुत सुन्दर ढंग से चीन में राज्य किया। चीनी धर्म-गुरु एवं विद्वान कनफ्यूसियस इन सम्राटों को आदर्श सम्राट मानता था और उनकी राज्य व्यवस्था को आदर्श राज्य-व्यवस्था।

३. **विकास एवं विस्तार (२२०६ से २५५ ई० पू०)**—इस काल में तीन प्रमुख राज्यवंशों ने राज्य किया। (१) सुई (२) शांग, और (३)चाऊ। इस प्रारम्भिक काल में चीनी सभ्यता अपनी चरम उत्कर्ष की स्थिति में थी।

सुई काल—(२२०५–१७६६ ई० पू०) इस वंश में १७ सम्राट हुए। प्रथम सम्राट यू-महान् ने देश को नदियों की बाढ़ों की आफत से बचाया। चीन की नदियों में बार-बार भयंकर बाढ़ें आया करती थीं, घर खेत सब बह जाया करते थे, लाखों आदमी बे-घर-बार हो जाते थे, यह एक राष्ट्र व्यापी आफत हुआ करती थी। यू-महान ने बहुत ही बुद्धिमानी और इन्जीनियरिंग कुशलता से चीन की ९ बड़ी नदियों का

रास्ता खोलकर उनका प्रवाह समुद्र की ओर मोड़ा, जिससे वे नदियां समुद्र में गिरने लगीं। इसी सम्राट के विषय में एक चीनी कहावत है "यदि यू-न होता तो हम सब मछली हो जाते।" इसी काल में ठेठ दूसरी दुनिया में, मिश्र में और उधर मेसोपोटेमिया में लोग नील नदी और यू-फ्रीटीस और टाईग्रीस नदियों के प्रवाह से खेतों की सिंचाई की कला का विकास कर रहे थे। समस्त देश को इस सम्राट ने ९ भागों में विभक्त किया, समस्त देश से धातुएं एकत्र कीं, एवं प्रत्येक भाग में इन धातुओं के बने बड़े बड़े ९ महान कढ़ाव रक्खे।

शांग काल—(१७६६–११२३ ई० पू०) इस वंश में १८ सम्राट हुए। शांग काल के धातुओं के बने बर्तन तथा अन्य कला-कौशल के काम अब भी आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। इसी काल के सम्राटों का बनाया हुआ जेड-महल प्रसिद्ध है।

चाऊ काल—(११२२–२५५ ई० पू०) इस वंश में ३७ सम्राट हुए। चाऊ काल चीन के इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस काल में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्थान एवं प्रगति हुई। चीन के प्रसिद्ध धर्म गुरु, विद्वान, और महात्मा—कन्फ्यूसियस, लाओत्से, तथा अन्य जैसे, मैनसियम, मोटजू, चुबांग-जू, यांग-जू एवं शुन-जू इसी काल में हुए। इन महात्माओं की शिक्षा का प्रभाव अब भी समस्त चीनी राष्ट्र के मानस पर अंकित है। इस काल में भिन्न भिन्न १० दार्शनिक विचार धाराएं चीन में प्रचलित थीं। इन लोगों के दर्शन एवं विचारों का अध्ययन आगे करेंगे।

इसके अतिरिक्त दो महान सामाजिक आन्दोलनों ने इस युग में प्रगति की। पहिला राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध का विकास। समस्त देश को भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त किया गया एवं भिन्न भिन्न प्रान्तों को छोटी छोटी शासन-इकाइयों में। इन इकाइयों के शासकों को प्रतिवर्ष सम्राट के पास अपनी इकाइयों के शासन प्रबन्ध की रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। सम्राट की केन्द्रीय सरकार भिन्न भिन्न इकाइयों का निरीक्षण

भी करती थी। दूसरा आन्दोलन "चिंग-टीन" (Ching-Tien) प्रणाली कहलाता है। यह भूमि-विषयक प्रबन्ध की एक विशेष प्रणाली थी। इसके अनुसार यह मान्यता थी कि समस्त भूमि का स्वामित्व राष्ट्र के हाथों में है। सब भूमि सब देशों के लोगों में बराबर विभक्त थी, और प्रत्येक को अपनी भूमि के नवें हिस्से की उपज राज्य को देनी पड़ती थी जिससे शासन प्रबन्ध का खर्चा चल सके।

इसी चाऊ-काल में कुतुबनुमा, कागज, छपाई, एवं बारूद का आविष्कार हुआ। स्थापत्य, धातु-विद्या, बढ़ई की विद्या, युद्ध-कला, शासन-कला, लेखन, संगीत, गणित आदि विद्याओं का खूब अध्ययन और विकास हुआ।

४. भारत से सम्पर्क—(२५५ ई० पू० से ६६० ई० सन्) इस काल का विशेष ऐतिहासिक महत्व इसी में है कि चीन भारत के सम्पर्क में आया। यह सम्पर्क एक दूसरे को पराजित या त्रासित करने के लिये, या लूटने के लिये नहीं था। चीन और भारत उस प्राचीन काल में ऐसे मिले थे जैसे कोई दो सद्भावी जन मिल रहे हों। इस मिलन से दोनों का भावगत और सांस्कृतिक उत्कर्ष हुआ। इस काल में तीन प्रमुख राज्यवंशों का राज्य रहा—चिन, हान और तांग वंश।

चिनवंश—(२५५–२०७ ई० पू०)—उपर्युक्त चाऊ-वंश के राज्य-काल के अन्तिम दिनों में केन्द्रीय शासन ढीला पड़ गया था। समस्त देश की छोटी छोटी शासन इकाइयों के शासक स्वतन्त्र बन गये थे। एक संघीय शासन की भावना लुप्त हो चुकी थी। राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे, साधारण मानव अपने पुरातन के प्रेम और अन्ध-विश्वास में डूबा हुआ था। विद्वान और दार्शनिक पुरातनवाद की दुहाई देकर अकर्मण्य बने हुए थे। ऐसी परिस्थितियों में चिन प्रान्त का एक प्रबल शासक उठा, चाऊ राज्य-वंश को उसने उखाड़ फेंका, स्वयं चीन का सम्राट बना, और चिन राज्य-वंश की नींव डाली। यह वही काल था जब प्रिय-दर्शी सम्राट अशोक भारत

में राज्य कर रहा था। चिन राज्य-वंश के सबसे प्रसिद्ध सम्राट का नाम वांग-चेंग था। उसने अपना यह नाम छोड़कर "शी-हुवांग-टी" (शी=प्रथम; हुवांग-टी=सम्राट; (प्रथम सम्राट) नाम धारण किया। इसी नाम से वह इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इसने २३०-२११ ई० पू० तक राज्य किया। अनेक छोटे छोटे राजा (कहते हैं उस समय छोटे बड़े राज्यों की संख्या लगभग ६ हजार थी) शासक और सामन्त लोग जिनका जाल देश में फैला हुआ था, उन सबको दबाकर और परास्त करके इस सम्राट शी-हुवांग-टी ने सबको अपने आधीन कर लिया और समस्त देश को एक सुदृढ़ केन्द्रीय राज्य के सूत्र में बांध दिया। इतने बड़े साम्राज्य को अपने आधीन रखने के लिये एवं सेना के आवागमन के लिए देश में सड़कों और नहरों का एक जाल सा बिछवा दिया। चीन का यह एक प्रबल सम्राट था। एक अद्भुत अहंभाव इसमें था, वह चाहता था कि उसी के नाम से चीन के सम्राटों की वंशावली चले और उसी के काल से चीन के इतिहास की गणना हो। कुछ ऐसी किंवदन्ती भी है कि इस चिन राज्य-वंश के नाम से इस देश का नाम चीन पड़ा। इस उद्देश्य से कि वही चीन का प्रथम सम्राट माना जाय उसने आदेश दिया कि चीन की सभी प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें, वह इतिहास जो प्रायः २००० वर्ष पुराना हो चुका था, जला दी जायं, समस्त दार्शनिक ग्रन्थ जला दिये जायं एवं उन सभी विद्वानों को मौत के घाट उतार दिया जाय जो प्राचीन दर्शन और इतिहास की बातें करते थे। २१३ ई० पू० में इस प्रकार हजारों प्राचीन पुस्तकें जला दी गईं और लगभग ४०० विद्वान दार्शनिक और विचारक कत्ल कर दिये गये। केवल वे ही पुस्तकें रखी गईं जो वैद्यक और विज्ञान से सम्बन्धित थीं। यह भयानक बर्बरता है किन्तु वास्तव में एक बात और भी थी। चाऊ वंश के राज्यकाल में चीन के उपदेशकों की संख्या बढ़ चली थी, इनमें से अधिकतर तो अकर्मण्य, केवल शब्द सुवाचाल थे, जिनका अतीत की दुहाई के बिना काम नहीं चलता था। उनकी निगाह में प्राचीन वर्तमान की अपेक्षा सब प्रकार से सुन्दर और

महान था, सर्वदा प्रत्येक अवसर पर ये केवल अतीत का उदाहरण देते थे और वर्तमान जीवन और समाज को तुच्छ मानते थे। एक दृष्टि से देश को इनसे हानि ही हो रही थी।

चीनी दीवार—ज्यों ही हुवांग-टी का साम्राज्य अच्छी तरह से चलने लगा उसने बर्बर हूण लोगों का सवाल हाथ में लिया जो उत्तर-पच्छिम से देश में लगातार हमले करते रहते थे, लूटमार मचाते रहते थे और चीनी प्रजा को त्रस्त करते रहते थे। पूर्ववर्ती छोटे छोटे शासकों ने एवं प्रजाजन ने इन बर्बर लोगों के हमले से बचने के लिए जगह जगह कई छोटे मोटे किले और कई स्थलों पर दीवारें बना रखीं थीं। चिन-वंश के इन सम्राट ने बर्बर घुड़सवार, घुमक्कड़ लोगों के हमलों से स्थायी रूप से बचने के लिये उस तमाम लम्बी दूरी में जिधर से हमले होते थे एक मजबूत दीवार बनाने का दृढ़ संकल्प किया। अतुल धन राशि, जन और शक्ति लगाकर उन दीवारों के टुकड़ों को और किलों को जो पहले ही से बने हुए थे जोड़ते हुए उसने एक विशाल लम्बी दीवार बनवाई। यह दीवार देश के उत्तर में एक अलंध्य परकोटा के समान खड़ी होगई। यह दीवार लगभग २२५० मील लम्बी है, १५ से २० फीट तक ऊंची, १० से १५ फीट तक चौड़ी। इस दीवार में जुड़े हुए लगभग २० हजार गुम्बज हैं जिनमें प्रत्येक में लगभग १०० सिपाही रह सकते हैं। इतने मील लम्बी, इतनी ऊंची और चौड़ी, जिनमें लगभग २० हजार गुम्बज हों, और इसके अतिरिक्त १० हजार अन्य छोटे मोटे निगरानी के लिये स्तम्भ हों, सचमुच एक चमत्कारिक वस्तु है। दुनिया के प्राचीन युग की ७ आश्चर्यजनक वस्तुओं में से यह एक वस्तु है। २२८ से २१० ई० पू० में यह दीवार बनी। इस प्रकार लगभग सवा दो हजार वर्ष इसको बने पूरे हुए। यद्यपि बीच बीच में कई स्थानों पर आज यह दीवार ध्वस्त हो गई है किन्तु फिर भी लगभग सवा दो हजार मील लम्बी यह दीवार आज भी खड़ी है। मिश्र के अद्भुत पिरामिड भी इस विशालता के सामने चींटियों के घर के समान दिखते हैं। मनुष्य के हाथों से बनाई

हुई इस संसार में और कोई दूसरी चीज इतनी बड़ी नहीं है।

शी-हुवांग-टी की मृत्यु के बाद चिन-वंश में कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं हुआ। उसकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद हान वंश की स्थापना हुई।

हान वंश (२०७ ई० पू० से २२० ई० सन् तक)—लगभग ४०० वर्ष के हान वंश के राज्य काल में चीनी साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में ठेठ आधुनिक अन्नाम प्रान्त से लेकर पच्छिम में हिन्दू कुश पर्वत के उत्तर में मध्य एशिया तक था। इस विस्तृत साम्राज्य में केन्द्रीय शासनाधिकार इसी एक तरकीब से कायम रक्खा जा सका कि दूर दूर प्रान्तों में केन्द्रीय राजधानी से ही शासन चलाने के लिए कर्मचारी नियुक्त होते थे। इसी काल में सम्राट ने चांग-ची नामक एक व्यक्ति को पच्छिमी देशों में भ्रमण करने के लिये भेजा। चांग-ची की यात्रा के वर्णन के फलस्वरूप चीन को अपने इतिहास में प्रथम बार इस बात का भान हुआ कि इस दुनियां में दूसरे लोग और दूसरी सभ्यतायें भी थीं। ईरान, मिश्र, मेसोपोटेमिया और रोमन साम्राज्य का इनको पता लगा। तभी से चीन की मुख्य दस्तकारी की चीजों के व्यापार की शुरुआत और वृद्धि उपरोक्त पच्छिमी देशों से हुई। रेशम की गांठें लेकर ऊंटों, खच्चरों और गधों के लम्बे लम्बे काफिले पच्छिमी चीन और मध्य एशिया के पठारी और रेगिस्तानी भागों को पार करते हुए ईरान तक पहुंचते थे और वहां से मिश्र और सीरिया के व्यापारी रेशम खरीद कर रोम तक पहुंचाते थे। चीन में रेशम का उद्योग प्राचीन काल से ही घर घर में प्रचलित था। आज भी यह गृह उद्योग चीनी जनता का मुख्य उद्योग है।

इसी काल में प्राचीन सामाजिक संगठन में परिवर्तन हो रहे थे। देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन था, अन्य देशों के साथ रेशम का व्यापार खुल जाने से लोगों के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आरहा था, चीन का पंडित, दार्शनिक और विद्वान वर्ग जो चिन राज्य-वंश काल में दबा दिया गया था फिर से उत्थित हो रहा था, और यह विद्वतवर्ग फिर से प्राचीन साहित्य और दर्शन की पुस्तकों को ढूंढ ढूंढ कर निकाल

रहा था और उन पुस्तकों का उचित अन्वेषण करके उनका संपादन कर रहा था। इसी काल में चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार शूमा-चीन (जन्म १४५ ई० पू०) का उदय हुआ जिसने भिन्न भिन्न शासकों के राज्य घरानों में से प्राचीन पुस्तकें ढूंढ कर, उनका अध्ययन करके, चीन का अति प्राचीन काल से लेकर ई० पू० पहली शताब्दी तक का एक विषद् इतिहास तैयार किया। ग्रीस के प्रथम इतिहासकार हीरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) की तरह शूमा-चीन चीन का प्रथम इतिहासकार माना जाता है। हान राज्य वंश के ही काल में राज्य-कर्मचारी चुनने के लिये परीक्षा प्रणाली का प्रचलन हुआ। जिस प्रकार वर्तमान काल के कई देशों ने राज्य के ऊँचे ऊँचे प्रबन्धक और कर्मचारी चुनने के लिए सरकार की ओर से प्रतियोगिता परीक्षायें होती हैं, आज से २००० वर्ष पूर्व चीन में कुछ कुछ ऐसी ही प्रणाली स्थापित हुई। परीक्षार्थियों को विशेषत: चीन के महात्मा कनफ्यूसियस प्रणीत पुस्तकों के ज्ञान में उत्तीर्ण होना पड़ता था। परीक्षा की यह प्रणाली आधुनिक काल तक चलती रही; कुछ ही वर्ष पूर्व यह खत्म हुई।

चाय का आविष्कार–ई० पू० २-३ शताब्दियों में प्राचीन काल के जादू-टोना करने वालों में लोगों का कुछ अधिक विश्वास बढ़ा। हान वंश के अशिक्षित शासकों में कुछ जादूगर लोगों ने यह विश्वास जमाया कि उनके पास चिरायु होने के लिए एक अद्भुत दवाई रहती है जिसको पहाड़ और जंगलों की जड़ी-बूटियों से बनाया जाता है। इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि हान राज-वंश के ही काल में जीवन-दायिनि बूटी की खोज करते करते लोगों को चाय का पता लगा। इसकी सुगन्ध और स्वाद से चीनी लोगों का यह एक प्रिय पेय बन गया। धीरे धीरे चाय उनके सामाजिक जीवन का एक मुख्य अंग बन गई। यूरोपियन लोगों को तो चाय का पता कहीं १८ वीं शती में जाकर लगा।

हान राज्य-वंश काल में ही चीन भारत के सम्पर्क में आया, और

चीनी सभ्यता और संस्कृति पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा। यों तो ऐसा माना जाता है कि "चिन" राज्य-वंश के पहिले ही भारत का चीन से सम्बन्ध होगया था किन्तु निश्चित ऐतिहासिक काल जब स्वयं चीनी सम्राट ने बुद्ध धर्म का स्वागत किया वह है ई० सन् ६७। इसके बाद तो अनेक चीनी विद्वान भारत आये एवं भारतीय विद्वान् चीन में गये और इस प्रकार दोनों देशों का सम्पर्क बढ़ा। यह सम्पर्क राजनैतिक अथवा आर्थिक नहीं था, यह सम्पर्क धार्मिक एवं आध्यात्मिक था। ऐसे प्रसिद्ध चीनी विद्वान् जो कई भारतीय भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे, जिन्होंने भारत का भ्रमण किया एवं जो भारत से बौद्ध साहित्य के हजारों ग्रन्थ एवं प्रतिलिपियां चीन में ले गए एवं उनमें से अनेकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, मुख्यतया तीन हैं—फाइयान, ह्वांसांग, एवं आइसिंग। वे भारतीय विद्वान भी जिन्होंने चीन में जाकर वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन किया एवं अनेक बौद्ध धर्म-ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया मुख्यतया ३ हैं,—कश्यप-मतूंग, कुमारजीव, गुण-रत्न। ये वे विद्वान् थे जिन्होंने दो महान् संस्कृतियों का परस्पर मेल बढ़ाया। भारत में उत्पन्न बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन पर इतना पड़ा कि मानो वह वहां का राष्ट्रीय धर्म ही बन गया। जन साधारण में अपने प्राचीन दार्शनिक विद्वानों एवं महात्माओं कनफ्यूसियस और लाओत्से का नाम इतना प्रचलित नहीं रहा जितना स्वयं बुद्ध भगवान का। स्थान स्थान पर बुद्ध भगवान की सुन्दर सुन्दर मूर्तियों का, विशाल बौद्ध मन्दिरों, स्तूपों एवं पेगोडाओं का निर्माण हुआ। कनफ्यूसियस और लाओत्से के मन्दिर तो केवल बड़े बड़े शहरों तक ही सीमित रह गये; बुद्ध भगवान के मन्दिर छोटे छोटे गांवों तक में बन गये। इसके अतिरिक्त चीन के दर्शन, कला, साहित्य, नृत्य एवं संगीत पर भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। फ्रेस्को-पेन्टिंग (दीवार की चित्रकारी) का प्रचलन भी भारत से ही चीन में आया। इसी युग में चीन का

साहित्य, चित्रकला एवं स्थापत्य कला अपनी चरम उत्कर्ष सीमा तक पहुंचे। जिन राज्य वंश के "ओफैंग-महल" एवं हान राज्य-वंश के "वांई-यांग महल" कल्पनातीत सौन्दर्य के हैं।

तांग राज्य वंश (६१८–९०६ ई०)–सन् २२० ई० में हान-वंश के समाप्त होने के बाद देश फिर कई टुकटों में विभक्त हो गया। देश में अराजकता का प्रसार हो गया, साधारण जन नियम, शांति और स्थायित्व के राज्य को भूल गया। चार सौ वर्षों तक ऐसी स्थिति बनी रही। गड़बड़ के इन चार सौ वर्षों तक, यथा २२० से ६१७ ई० तक छोटे मोटे राज्यवंश के राजाओं का राज्य किसी प्रकार चलता रहा। फिर उत्तर पच्छिम के तांग प्रान्त से एक शक्तिशाली बुद्धिमान नवयुवक शासक का उदय हुआ। चीन राजाओं की तरह उसने संपूर्ण देश को फिर एक सशक्त केन्द्रीय शासन के आधीन किया और तांग राज्य-वंश की नींव डाली। इतिहास में यह वीर योद्धा और कुशल शासक तांग-ताई-शुंग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शासन की नींव इसने इतनी दृढ़ जमाई कि तांग-वंश का राज्य ३०० वर्ष तक बहुत आराम से चलता रहा। इस वंश का राज्य काल केवल शासन व्यवस्था की कुशलता से ही प्रसिद्ध नहीं, किन्तु इसके राज्य काल में काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका राज्य काल कविता का स्वर्ण युग कहलाता है।

जिस काल में अर्थात् ८वीं, ९वीं और १०वीं शताब्दियों में चीन में तांग-वंश का राज्य था, प्रायः समस्त यूरोप पर एक अंधकार-मय युग छाया हुआ था, निकट पूर्वीय देशों (अरब, ईराक, एशिया-माईनर, ईरान) पर इस्लामी आतंक छाया हुआ था, और भारत को छोड़ संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं था जहां की सभ्यता और संस्कृति चीन की सभ्यता और संस्कृति के समान समृद्ध हो। उस काल में चीनी सम्राटों की राजधानी में विदेशी लोगों का स्वागत होता था और अनेक धर्मों के लोग वहाँ पर बसे हुए थे, कुछ ईसाई, कुछ मुसलमान, कुछ पारसी। उस काल की

एक मसजिद केण्टन नगर में आज भी मिलती है। इस्लाम धर्म के उदय होने के पूर्व भी अरब लोगों का चीन से सम्बन्ध रहा था और यह अनुमान लगाया जाता है कि अरब लोगों ने कई कलाओं का ज्ञान, विशेषकर कागज बनाने की कला का ज्ञान चीनियों से सीखा और फिर अरब लोगों से यूरोप ने इस कला को सीखा। इसी काल में अरब और चीन के जहाजों में सामुद्रिक व्यापार भी होता था। ऐसा भी कहा जाता है कि सन् १५६ ई० में चीन के सम्राट ने मनुष्य गणना भी करवाई थी और उस गणना के अनुसार उस समय चीन की जनसंख्या लगभग ५ करोड़ थी, आज सन् १६५० में ५० करोड़ है। मनुष्य गणना का विचार इतिहास में सर्व प्रथम स्यात् चीन में ही पढ़ने को मिलता है। वास्तव में धर्म के प्रति कट्टरता का भाव चीनी लोगों में कभी भी नहीं रहा। भारत से बौद्ध भिक्षु आते रहते थे और उन बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ नई कला, नए विचार और नया साहित्य। ऐसा अनुमान है कि उस समय ३ हजार भारतीय बौद्ध भिक्षुक और १० हजार भारतीय कुटुम्ब चीन के अकेले एक लाओ-यांग प्रांत में रह रहे थे। दूसरे प्रान्तों में भी अनेक भारतीय बसे हुए होंगे। यह बात नहीं कि नई कला और नया साहित्य और नये विचार यों के यों चीन में अपना लिये जाते थे। वास्तव में चीन की स्वयं अपनी प्राचीन विचार-धारा, स्वयं अपनी कला और साहित्य था। भारत से आई हुई वस्तु नए वायु-मंडल के अनुरूप परिवर्तित होकर ही चीन की कला साहित्य और विचारों में घुल मिल पाती थी। यहां तक कि जिस बौद्ध धर्म का चीन अथवा जापान या कोरिया में विकास हुआ वह कई बातों में उस बौद्ध धर्म से भिन्न था जो भारत में आया।

तांग राज्य-वंश काल के काव्य और चित्रकला संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। इस राज्य वंश के संत कलाकार बू-ताओ-जू (जन्म ७०० ई०), कवि-चित्रकार वांगवी (६९९–७५९ ई०), एवं लिन शी युआंग (६५१–७१६ ई०) प्रसिद्ध हैं। इनके चित्र विश्व में

अपना ही एक स्थान रखते हैं। प्रसिद्ध कवि ली-पो (७०५–७६२ ई०), प्रसिद्ध संत कवि थु-फु (७१२–७७० ई०), एवं निबन्धकार हान-यू (७६८–८२४ ई०) इसी काल में हुए। इसी काल में ७२० ई० में एक तांग सम्राट ने अपने ही महल के उद्यान में एक विशाल संगीत विद्यालय की स्थापना की जहां संगीत के कई सौ विद्यार्थी पढ़ते थे। इसका प्रभाव चीन के नाटक-स्टेज पर पड़ा। चीन का स्टेज अधिक संगीत-प्रधान बना। चीनी लोगों का मुख्य वाद्य-यन्त्र बांस की बनी बांसुरी रहा है। मंगोल लोगों से उन्होंने भारतीय सारंगी की तरह के एक वाद्य यन्त्र का भी प्रयोग सीखा।

चीन साम्राज्य तांग राज्य वंश (६०० - ९०० ई.)
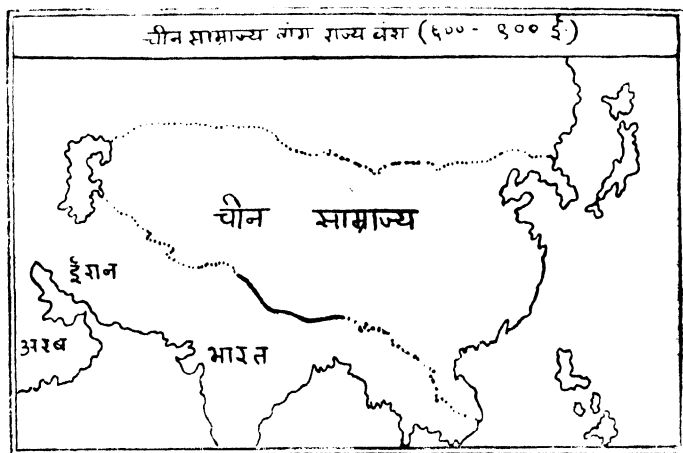
आधुनिक काल में, सन् १७०७ ई० में, चीन के एक सम्राट ने प्राचीन तांग राज्य-वंश के समस्त काव्यों का संग्रह करवाया था और उन्हें छपवाया था। इन समस्त काव्यों की कुल ९०० जिल्दें बनी थीं।

●

(२४)

चीन की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति

चीन की सभ्यता प्राचीन काल से (अनुमानतः ४-५ हजार वर्ष ई० पू० से) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा के समान प्रवाहित रही है। उस सभ्यता की प्रायः एक ही प्रकार की धीमी गति रही है, और वहां का साधारण जन मानो आज भी वैसा ही है, वैसी ही उसकी गति विधि है, वैसा ही उसका परिवार है, जैसा प्राचीन काल में था।

परिवार—चीन की सभ्यता, चीन के समस्त समाज, राष्ट्र और स्वयं व्यक्ति के संगठन का आधार "परिवार" रहा है। सभ्यता और समाज का दूसरा आधार रहा है "पूर्वजों की पूजा की भावना"। चीन के महात्मा कनफ्यूसियस की शिक्षा है कि जीवन एक सतत बहनेवाली धारा है और यह धारा तभी तक बहती रह सकती है जब तक समाज और राष्ट्र में परिवार की प्रतिष्ठा है, क्योंकि परिवार में ही नया जीवन उद्भूत होता है, वहीं उसका उचित पालन पोषण और विकास सम्भव है। परिवार में ही मनुष्य की जन्मजात स्वाभाविक भावनाओं और वृत्तियों की अभिव्यक्ति और पूर्ति संभव है। इन वृत्तियों की पूर्ति होना जीवन के लिए आवश्यक है। इस परिवार में पति पत्नी का संबंध प्रमुख है, और इसी एक संबंध पर अन्य पारिवारिक संबंध आधारित हैं। कनफ्यूसियस के इन्हीं विचारों के अनुसार, परिवार में किसी भी लड़के के विवाह के समय यह बात मुख्यतया देखी जाती है कि लड़की जो पत्नी बनकर आ रही है क्षमतावान और गुणवती है या नहीं, क्योंकि उसी के गुण और क्षमता पर पुत्रों में क्षमता और उचित गुणों का होना आधारित है—वे पुत्र जिनसे परिवार की वंश परम्परा भविष्य में आगे

बढ़ती रहेगी। चीन में जीवन की इकाई परिवार से मानी जाती है न कि व्यक्ति से। व्यक्ति राजा और समाज से बड़ा और अधिक महत्व-पूर्ण समझा जाता है, किन्तु परिवार से अधिक बड़ा और महत्वपूर्ण नहीं; क्योंकि परिवार से परे उसकी कोई पृथक स्थिति नहीं मानी जाती। पूर्वजों की पूजा चीन के सामाजिक और धार्मिक जीवन का एक अंग है। वर्ष में एक दिन निश्चित होता है जिस दिन बड़े समारोह और उत्साह के साथ राष्ट्र भर के परिवारों में कुछ सुन्दर बनी हुई पट्टियों (Tablets) की पूजा होती है, जिन पर पूर्वजों के नाम सुन्दर ढंग से अंकित होते हैं और जो पूर्वजों के नाम की स्मारक मानी जाती हैं, चाहे कोई बौद्ध धर्म का पालन करने वाला हो, चाहे ताओ, कनफ्यूसियस, ईसाई या मुसलमान धर्म का, पूर्वजों की पूजा का यह धार्मिक समारोह तो राष्ट्र भर में चलता ही रहता है।

सामाजिक और आर्थिक संगठन—चीन के लोगों का, अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति, प्रकृति और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में वास करने वाले अनेक देवी-देवताओं में विश्वास रहा है, और चीनी लोग अपनी सुख समृद्धि के लिए इन देवताओं के सामने बलि चढ़ाते रहे हैं। इनके सर्वप्रमुख देवता "स्वर्ग पिता" हैं। चीन का सम्राट "स्वर्ग पिता" का पुत्र माना जाता है और मुख्य पुरोहित भी। चीन के प्रसिद्ध नगर पेकिंग में "स्वर्ग की देवी" नामक एक विशाल मन्दिर है जहां प्रतिवर्ष चीन के सम्राट शीतकाल में पूजा और प्रार्थना करते रहे हैं और बलि चढ़ाते रहे हैं, इस उद्देश्य से कि आगन्तुक वर्ष धन धान्य से पूर्ण हो। यही चीन का सम्राट और धर्म पुरोहित चीन के समाज का सर्व प्रथम व्यक्ति माना जाता रहा है। सम्राट के नीचे चार वर्ग के लोग प्रायः मान्य थे:—१. मण्डारिन—यह चीनी समाज का एक विशेष वर्ग था। ये उच्च शिक्षा प्राप्त लोग होते थे जो प्राचीन साहित्य, दर्शन, संगीत, इतिहास, गणित इत्यादि का अध्ययन करते रहते थे। चीन के समस्त ज्ञान विज्ञान की स्थिति और परम्परा इन्हीं मण्डारिन लोगों में निहित थी। इसी

वर्ग में से सरकार के सब उच्चपदाधिकारी एवं कर्मचारी चुने जाते थे, और इसी वर्ग के लोग पूजा और अन्य धार्मिक कार्य भी करवाते थे। एक प्रकार से ये लोग भारत के ब्राह्मणों की तरह और पच्छिम के राज-पदाधिकारी एवं पादरी लोगों की तरह थे। मण्डारिन भारत के चार निश्चित वर्णों की तरह कोई एक निश्चित वर्ण या जाति नहीं। भारत में तो जातियां जन्म से मानी जाती हैं किन्तु चीन में किसी भी वर्ग या कक्षा या परिवार का व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके मण्डारिन वर्ग में गिना जा सकता था। चीन में जन्म से या धन के आधार पर कोई वर्ग भेद नहीं है।

२. भूमि जोतने वाले किसान

३. दस्तकारी करने वाले लोग

४. व्यापारी वर्ग

उपर्युक्त चार वर्गों में यह बात ध्यान में आई होगी कि इनमें कोई भी वर्ग सैनिक नहीं है। वास्तव में बहुत अंशों तक चीनी सभ्यता एक शान्तिप्रिय सभ्यता रही है और वहां के राष्ट्रीय जीवन और मानस की रचना कुछ इस प्रकार की हुई है कि उस जीवन और मानस में युद्ध की बर्बरता या शोर के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं रहा है। हां, जङ्गली तातार या हूण लोगों से, जिनके हमले लूटमार के लिये बराबर चीन पर होते रहते थे, अपने धनजन और संस्कृति की रक्षा के लिये चीन के सम्राटों को सैनिक संगठन करने ही पड़े और उन सम्राटों में से कुछ एक दो ऐसे भी निकले जिन्होंने स्वदेश की सीमा पार करके पड़ोसी देशों पर भी (जैसे मध्यएशिया, हिन्दचीन, तिब्बत इत्यादि पर) अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास किया; अन्यथा तो वहाँ का जन और जीवन शांति-प्रिय ही रहा है—केवल शांति-प्रिय ही नहीं, किन्तु कला प्रिय और विद्या प्रिय भी। चीन में सदा सर्वदा विद्वानों के आदर और कला और साहित्य रचना की परम्परा रही है। विद्वानों के आदर की तो इतनी ठोस परम्परा जितनी विश्व के अन्य किसी देश या जाति में नहीं मिलती।

समाज का बहुसंख्यक वर्ग किसानों का रहा है। चीन भारत की तरह एक खेती प्रधान देश ही रहा है। वहां के किसान मुख्यतः चाय, गेहूँ, चावल, बाजरा, प्याज, सरसों और कपास की खेती हजारों वर्षों से करते आ रहे हैं। घरों में रेशम पैदा करना वहां का मुख्य गृह-उद्योग रहा है। पुरुष खेतों में काम करते हैं और स्त्रियां घरों में कपड़े की बुनाई का एवं अन्य सब घरेलू काम। कृषि-भूमि पर प्राचीन काल से ही किसानों का स्वामित्व रहा है और वे उचित भूमि-कर सरकार को देते रहे हैं। परिवार के स्वामी, पिता की मृत्यु पर भूमि का बंटवारा बराबर बराबर भाइयों में होता है, इस प्रकार वहाँ अनेक छोटे छोटे खेत हैं। राज्य और किसानों के बीच प्रायः कोई बड़ा जमींदारी वर्ग नहीं है, कुछ थोड़े से ऐसे जमींदार अवश्य हैं जिनके पास कुछ विशेष भूमि हो और उसको जोतने के लिये वे किसानों को किराये पर देते हों।

हर काल में हजारों लोग ऐसे रहे हैं जो भाइयों में बंटवारा होते होते खेतों के छोटा हो जाने पर अपने खेतों को बेच देते थे; ऐसे ही लोगों की सम्राटों की सेना बनती थी और ऐसे ही लोग चीन की "महान दीवार" बनाने में लगे थे और सामूहिक मजदूरी का काम करते थे। प्राचीन मिस्र में बेबीलोन, ग्रीस और रोम की तरह चीन में कोई गुलाम वर्ग नहीं रहा है।

समाज में स्त्रियों का स्थान—प्राचीन चीनी समाज में स्त्री का स्थान बहुत गौरवपूर्ण नहीं मालूम होता। स्त्रियों को चल और अचल सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। कन्फ्यूसियस के समय तक तो यह दशा थी कि पिता अपनी पुत्री तथा पत्नी को बेच भी सकता था। स्त्री को घर के अलग कमरे में रहना पड़ता था और सामाजिक जीवन में उसका कोई स्थान नहीं था। कन्याओं को अपने कौमार्य की सजगतापूर्वक रक्षा करनी पड़ती थी, किन्तु कुमार पर ब्रह्मचर्य पालन करने का कोई विशेष आग्रह नहीं था। पुरुष तो कई विवाह कर सकते थे, एक ही विवाह की स्थिति में उपपत्नियां भी रख सकते थे, अपनी स्त्री को किसी

भी कारण पर तलाक दे सकते थे, किन्तु स्त्री को यह सब स्वतन्त्रता नहीं थी, मानो स्त्री तो पुरुष के केवल उपभोग का साधन हो। किन्तु स्त्री की एक नैसर्गिक महत्ता चीनी सभ्यता में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सर्वमान्य थी, वह यह कि केवल स्त्री ही परिवार का पालन करती थी—और परिवार की वृद्धि।

प्राचीन चीन में ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति—ई० पू० २५६ में चिन वंश के सम्राट शी ह्वांगटी "प्रथम सम्राट" के काल से लेकर सन् १६४४ में मिंगवंश के राज्य काल तक, लगभग दो हजार वर्षों में, चीन में साहित्य, कला, विज्ञान की खूब उन्नति हुई। इन दो हजार वर्षों के लम्बे काल में चाहे राज्यवंशों ने पलटा खाया हो, देश कई बार, छोटे छोटे टुकड़ों और राज्यों में विभक्त हुआ हो, किन्तु ज्ञान और विज्ञान, साहित्य और दर्शन की उन्नति बराबर होती रही। इस काल में समस्त यूरोप, ग्रीक और रोमन सभ्यता काल के कुछ वर्षो को छोड़कर १५ वीं शती में रिनेसां आने के पहिले तक प्रायः असभ्य और अन्धकारमय ही रहा। चीनी परम्परा को मानें तो कह सकते हैं कि गणित, ज्योतिष, भौतिक-शास्त्र, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, जीव-शास्त्र एवं भूगर्भशास्त्र के प्रारम्भिक मूलतत्वों का ज्ञान चीनियों को हो चुका था। ये बातें तो ऐतिहासिक तथ्य है कि ई० पू० छठी शताब्दी तक वे सूर्य और चन्द्र ग्रहणों की सही सही गणना करने लग गये थे एवं चन्द्रमा की गति पर आधारित पंचांग बनाने लग गये थे। चीन में बहुत प्राचीन काल में ही लेखन कला का आविष्कार हो चुका था। ई० पू० तीसरी शताब्दी में लेखन के लिये सुन्दर ब्रश का; ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में छपाई का; एवं ई० सन् की दूसरी शताब्दी में कागज का आविष्कार हो चुका था। अतएव पुस्तकें खूब छपती थीं। पांचवीं शताब्दी में दिगसूचक यन्त्र एवं छठी शताब्दी में बारूद का आविष्कार भी हुआ। चीनी कारीगर बड़े बड़े विलक्षण पुल बनाते थे; वे चीज गरम करने के लिये एवं खाना पकाने के लिये कोयले और गैस का प्रयोग भी

करने लग गये थे। जल शक्ति से अनेक भारी काम जैसे आटे की चक्की चलाना इत्यादि काम करने लग गये थे। प्राचीन काल से ही उनकी बड़ी बड़ी सामुद्रिक जहाजें भी प्रचलित थीं एवं प्राचीन बेबीलोन, मिश्र और भारत से व्यापार होता था। इनेमल, लाख और हाथी दांत की खुदाई का बहुत सुन्दर काम करते थे। चमकदार रंगों के रेशमी कपड़े बुने जाते थे।

चीन की एक हस्त कला विशेष उल्लेखनीय है। वह है चीनी-मिट्टी के बर्तनों के निर्माण की कला। प्रत्येक युग में चीन के कुशल कलाकार पकी चीनी की मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तनों की रचना करते रहे हैं। वहां की यह कला अति प्राचीन है, उसकी यह प्राचीनता पूर्व–प्रस्तर युग तक जाती है। वहां के बर्तनों की कलापूर्ण आकृतियों, सुखद शीतल रंगों और उन पर चित्रित चित्रों ने देश विदेश के लोगों को हमेशा मोहित किया है। इस कला में चीन शायद अपना कोई सानी नहीं रखता।

चीनी लोग कांसे तथा हांथी दांत की सुन्दर मूर्तियां भी बनाते थे। शान तथा चाऊ युग की अनेकों सुन्दर मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। यहां के निवासी स्त्री पुरुषों की मूर्तियों का निर्माण करना उचित नहीं समझते थे, यद्यपि पशुओं की आकृतियों का अंकन बड़ी ही सजीवता के साथ किया जाता था। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद चीन में मूर्ति कला की असाधारण उन्नति हुई। तांग युग में बोधिसत्व अवलोकि–तेश्वर की सैकड़ों सुन्दर मूर्तियाँ बनीं जो अब भी सुरक्षित हैं।

चीन की भवन निर्माण कला की विशेषता विशालता नहीं थी। भवन बनाने में चीनी लोग लकड़ी का अधिक उपयोग करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद अनेक बौद्ध मन्दिर जिनको पगोड़ा कहते हैं बनवाए गये। पेकिंग के निकट शयन करते हुए बुद्ध का एक मन्दिर है, जिसे फरगूसन नामक कला सम्आलोचक ने चीन की सर्वोत्तम वास्तु कलाकृति कहा है।

काव्य और कला—चीन की चित्रकला में एक अनुपम अपनापन है जो विश्व के सभी अन्य देशों की कलाओं से सर्वथा भिन्न है। रेशम के कपड़ों या कागद पर अंकित चित्र—जिनमें न रंगों की कोई विशेष छटा है, न आकारों की विशेषता, न मानव या पशु आकृतियों की वास्तविकता—सहसा हृदय पर एक सौम्य शांत भाव अंकित कर जाते हैं,—मानो प्रत्येक चित्र एक कविता हो। कलाकार ब्रश उठाता है, चित्रपट पर हल्के हाथ से इधर उधर कुछ ब्रश लगाता है और एक स्थायी भाव का चित्र प्रस्तुत कर देता है। उसके चित्र में पर्सपैक्टिव—वस्तु की दूरी या निकटता का, आकार या रूप की वास्तविकता का, लाईट, शेड या रंग का महत्व नहीं, चित्रकार तो बस कुछ रेखाओं से किसी भाव का, मन के किसी मूड का संकेत सा दे जाता है—ऐसा संकेत जो हृदय में अंकित हुए बिना नहीं रह पाता। चित्र के आकार (Form) में वह एक ऐसी मधुर लय उत्पन्न कर देता है जो मानो क्षणिक आभास दे जाती है उस एकरस शान्ति का जो सृष्टि के अन्तराल में छिपी है। चीनी चित्र इसी शान्ति या लय की अभिव्यक्ति है। जिस जिस चित्रकार ने सचमुच इस भाव का अनुभव किया है और ईमानदारी से, आडम्बर रहित होकर सरल रीति से उसे अपने चित्र में उतारने का प्रयत्न किया है वही अपनी कला में महानता को प्राप्त हुआ। ऐसी कला में चित्र का विषय कुछ भी हो सकता है, किन्तु अधिकतर चित्रों का विषय प्रकृति ही है। चित्रों में फूल, पशु-पक्षी, कीड़े एवं एकान्त झरने खूब मिलते हैं। सबसे यही आभास मिलता है कि मानो प्रकृति और जीव, जगत की गति में एकरस होकर, चले जा रहे हों।

जो भाव चीन की चित्रकला में अंकित हैं वे ही भाव वहाँ की कविता में भी अंकित हैं। दोनों की आत्मा एक ही है। जैसे प्रत्येक चित्र मानो एक कविता है वैसे ही प्रत्येक कविता मानो एक चित्र है। चीन में अनेक चित्रकार कवि थे, और अनेक कवि चित्रकार। वहाँ महाकाव्यों का विकास नहीं हुआ और न लम्बी कविताओं का। काव्य

की दुनिया में वहाँ छोटे छोटे गीत हैं या छोटी छोटी कवितायें, और वे भी शब्द, तुक और अलंकार के आडम्बर से बिल्कुल रहित—सीधे-सादे छोटे छोटे चित्रशब्द जो किसी भाव का आभासमात्र करा जाते हैं; और बस इतना हो गया तो कवि सफल । कविता का विषय कभी भी गम्भीर, दार्शनिक नहीं; मानवीय मन की प्रतिदिन की सुख दुख की बातें, जगत की प्रत्येक वस्तु के प्रति आसक्ति का भाव, और फिर प्रकृति में शान्ति पा लेने की प्रच्छन्न इच्छा,—बस यही कविता और गीतों के विषय हैं । कवि थु-फू की एक कविता का अंश लीजिये:—

जब कोई जगह इतनी सुन्दर हो तो
मैं धीरे चलता हूँ । चाहता हूँ सौंदर्य मेरी आत्मा में उतर आय ।
पक्षी के पंखों को छूना मुझे भाता है,
गहरी फूँक मैं उनमें देता हूँ नीचे मुलायम बाल पाने को ।
पंखड़ियों को गिनना भी मैं चाहता हूँ
और तौलना उनके सौरभ को ।
घास पर बैठना भी एक आनन्द है ।
सुरा की यहाँ जरूरत नहीं फूल जो मुझे दे रहे हैं इतनी मस्ती ।
खूब प्यार करता हूँ मैं पुराने वृक्षों को—
और नीलम-जैसी नीली समुद्र की लहरों को ।*

प्राचीन चीन के तीन महान चित्रकारों (वू-ताओ-जू, वांगवी, लिनशी युआंग) का एवं दो महान् कवियों (ली-पो एवं थु-फू) का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है ।

भाषा और साहित्य—ऐसा अनुमान है कि चीनियों ने लेखन कला (लिपि) का आविष्कार २००० ई. पू. से भी पहले कर लिया

---

*Will Durant: "*Our Oriental Heritage*" **में उद्धृत अंग्रेजी के अनुवाद का हिन्दी में रूपान्तर ।**

था। उनकी लिपि एक प्रकार की चित्रलिपि है, जिसमें प्रत्येक भाव, विचार, और वस्तु को प्रगट करने के लिये चित्र के समान अलग अलग चिन्ह हैं, जो ऊपर से नीचे की ओर लिखे जाते हैं। ऐसे चित्रों की संख्या लगभग ४० हजार है। लोगों के लिये यह भाषा लिखना सीखना कितना कठिन होता होगा। आधुनिक युग में तो इसमें अनेक सुधार और परिवर्तन किये गये हैं और इसको सरल बनाया जा रहा है। खैर, उक्त कठिन चित्रलिपि में ही प्राचीन चीन के सभी ग्रंथ लिखे गये। चीन का प्राचीन साहित्य विशाल है। केवल कुछ प्रमुख ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

चीन के प्राचीनतम ग्रंथ तो दो माने जाते हैं:– (१) यी-चिन, अर्थात् "परिवर्तन के नियम" (Book of Changes); (२) शी-चिन, अर्थात् "गीतों के नियम" (Book of Songs)। अनुमान है कि इनका संकलन २३५७ से २२०६ ई. पू. तक के काल में हो चुका था।

यी-चीन—इस ग्रंथ में विश्व के रहस्य को समझने का प्रयास करने वाले प्राचीन तात्विक विचार और अनुभूतियाँ संगृहीत हैं। विचारों की अभिव्यक्ति रहस्यात्मक है। चीन के प्राचीन महात्माओं ने जगत की परिवर्तनशीलता और गति को देखा। उन्होंने सोचा विश्व की प्रत्येक वस्तु, विश्व की प्रत्येक गति में दो आधारभूत तत्व समाहित रहते हैं। वे तत्व हैं "यांग" (पुरुष–प्राण, चेतन तत्व), और "यिन" (स्त्री, शक्ति,–जड़, भूततत्व)। इन दो तत्वों के परस्पर मिलन-विछोह में ही असंख्य रूप-रंग-गति वाली सृष्टि-प्रक्रिया चलती रहती है, उसी मिलन-विछोह में प्रकृति के समस्त नियम, इतिहास की समस्त गति समाई रहती है। जगत की इस समस्त गतिशीलता और परिवर्तन-शीलता के पीछे चीनी महात्माओं ने एक मधुर समरसता की अनुभूति की। यी-चिन का चीनी साहित्य में वही महत्त्व है जो भारतीय साहित्य में वेद का है। छठी शताब्दी ई० पू० में चीन के महात्मा कनफ्यूसियस ने यी-चिन पर एक वृहद् भाष्य लिखा। उसके जीवन

की एक जबरदस्त चाह यही थी कि यी-चिन का अध्ययन करते करते वह अपना जीवन यापन करदे ।

२. शी-चिन—यह ग्रन्थ प्राचीन काल के छोटे छोटे गीतों एवं कविताओं का संग्रह है । ये गीत छोटे छोटे भाषा-चित्र हैं उन प्राकृतिक दृश्यों के जो चीनी मानस को भाते थे । इन गीतों में सीधी, सरल अभिव्यक्ति है उस सहज आसक्ति की जो चीनी मानस में बनी रहती है सृष्टि की प्रत्येक साधारण वस्तु के प्रति—चावल और बाजरा के प्रति; ककड़ी, बेर, आड़ू और प्याज के प्रति; झील, पेड़, पर्वत-कगार और पक्षी के प्रति । प्रेम के गीत भी हैं । इन गीतों में उस प्राचीन युग के लोगों के दैनिक जीवन की झांकी मिलती है । शी-चिन अपने पूर्व प्राचीन रूप में उपलब्ध नहीं है । अवशिष्ट गीतों का कनफ्यूसियस द्वारा किया गया संग्रह मात्र प्राप्य है ।

ताओ ते चिन—(पथ की पुस्तक) तत्व-दर्शन का एक प्राचीन चीनी ग्रन्थ है—ताओ दर्शन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण संहिता । चीन के महान दार्शनिक लाओत्से (६०४—५१७ ई. पू.) को इसका प्रणेता माना जाता है, किन्तु अधिकतर चीनी विद्वानों का मत है कि इस पुस्तक का अस्तित्व लाओत्से के बहुत अधिक पहले से है । ताओ का अर्थ है पंथ—ताओ एक रहस्यवादी दर्शन है जिसका सार है कि जगत में अपने पथ पर सहज भाव से चलते रहो । प्रकृति की गति में अपनी गति मिला दो, उसका विरोध न करो । दृश्य हलचल के पीछे अचल शांति है—अपने अन्तस्तल में उसका आभास पालो ।

महात्मा कनफ्यूशियस (५५१-४७८ ई. पू.) द्वारा प्रणीत या संपादित ५ ग्रन्थ जो पंच 'चिन' कहलाते हैं, एवं कुछ अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रणीत ४ अन्य ग्रन्थ जो चार 'शू' कहलाते हैं, इस प्रकार कुल ९ ग्रंथ, प्राचीन चीनी साहित्य में नव रत्न की तरह प्रसिद्ध हैं । कनफ्यूसियस के ५ ग्रंथ ये हैं:—

(१) ली-ची—आचार के प्राचीन नियम, (२) प्राचीन ग्रंथ यी-चिन

(परिवर्तन के नियम) का भाष्य, (३) प्राचीन ग्रन्थ शी-चिन (गीतों के नियम) का संकलन, (४) चुन चिऊ–कनफ्यूसियस के प्रदेश लू का इतिहास, (५) शू-चिन (इतिहास के नियम)–जिसमें प्राचीन चीन के इतिहास की शिक्षाप्रद एवं प्रेरणास्पद घटनायें संकलित हैं।

अन्य दार्शनिकों के द्वारा प्रणीत ४ ग्रन्थ ये हैं:—

(१) लुन-यू—इसमें महात्मा कनफ्यूसियस की वाणियों या प्रवचनों का संकलन किया गया है। यह संकलन शायद स्वयं कनफ्यूसियस के चेलों ने अपने गुरु की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद किया था। (२) ता-स्यूह (महान विद्या)—इसमें भी कनफ्यूसियस के विचारों का प्रतिपादन है, (३) चुन-युन (मध्यम मार्ग का सिद्धान्त)—यह एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है। कनफ्यूसियस के पोते को इस ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है (४) मैनसियस की पुस्तक–मैनसियस (३७१-२८६ ई.पू.) चीन का प्रसिद्ध दार्शनिक था जिसका चीनी मानस पर प्रभाव लगभग उतना ही जबरदस्त था जितना कनफ्यूसियस का। उसका विचार था कि मनुष्य स्वभावतः ही अच्छा होता है। मनुष्य में जो कुछ भी बुराई आती है वह उसके स्वभाव की वजह से नहीं, किन्तु शासकों (सरकारों) की अनैतिकता की वजह से अतः दार्शनिक लोगों को ही शासक बनना चाहिये। शासक यदि बेईमान हो जाय तो लोगों को विद्रोह कर देना चाहिये और उसे हटा देना चाहिये।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इतिहासकारों के अनेक इतिहास ग्रंथ-इतने कि चीन को इतिहासकारों का स्वर्ग कहा जाता है, दार्शनिकों के दर्शन ग्रन्थ, कवियों के काव्य, एवं निबंधकारों के निबंध - संग्रह चीनी साहित्य को समृद्ध बनाते हैं। बुद्ध धर्म का प्रचार होने पर भारत के अनेक बौद्ध ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुदित हुए; बौद्ध दर्शन पर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी हुई।

चीनी धर्म, दर्शन और जीवन-दृष्टि

चीन के प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अन्य प्राचीन जातियों

की तरह इनका भी विश्वास अदृश्य शक्तियों में था। इन अदृश्य शक्तियों की अभिव्यक्ति वे लोग प्रकृति के प्रत्येक व्यापार, प्रकृति की प्रत्येक घटना में देखते थे। धरती जो हमको अन्न देती है उसमें वह अदृश्य शक्ति मातृरूप में विद्यमान है; और इस प्रकार प्रत्येक पर्वत में, वृक्ष में, नदी में, यहां तक कि गृह के द्वार में—प्रत्येक वस्तु में देवता वास करता है। उस देवता को प्रसन्न रखना चाहिये; और वह प्रसन्न रक्खा जा सकता था बलि चढ़ाकर। अति प्राचीन काल में तो मनुष्य ही बलि रूप में चढ़ाया जाता रहा होगा। किन्तु बाद में यह प्रथा नहीं रही। इन सब देवताओं और शक्तियों के ऊपर "स्वर्ग का पिता" या "स्वर्ग का सम्राट"–ईश्वर था। इस पृथ्वी का सम्राट, अर्थात् चीन का सम्राट उस "स्वर्ग के सम्राट" का बेटा तथा पुरोहित था, और पृथ्वी के समस्त लोग सुख शांति से रहें इसलिए पृथ्वी के सम्राट को अर्थात् चीन के सम्राट को स्वर्गदेव (ईश्वर) के सामने भेंट चढ़ानी पड़ती थी। 'स्वर्ग के सम्राट' के मन्दिर में इस प्रकार बलि चढ़ाने की प्रथा चीन में आधुनिक युग तक प्रचलित रही। बलि में प्रायः अन्न, मदिरा, और बैल चढ़ाये जाते थे, और आदर सत्कार से देव की पूजा की जाती थी। स्वर्ग का यह देवता चीनी राष्ट्र का आदि पूर्वज भी माना जाता है। यह तो चीन के प्राचीन धर्म का एक स्थूल रूप हुआ। किन्तु अति प्राचीन काल से ही हमें चीनी लोगों में उच्च दार्शनिक विचारों की क्षमता के दर्शन होते हैं। जैसा एक जगह ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थ वेद के समान चीनी लोगों का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है–"यी चिन" अर्थात् "परिवर्तन के नियम"। इस ग्रन्थ में विश्व के रहस्य को समझने-समझाने के लिये चिन्तनशील और अनुभूत्यात्मक प्रयास है। चीन के प्राचीन महात्माओं ने विश्व और प्रकृति में एक अपूर्व सामंजस्य और समरसता की अनुभूति की और उन्हें यह भान हुआ कि जीवन की कला इसी में है कि विश्व और प्रकृति की इस समरस गति में मनुष्य भी अपनी लय मिलादे; अर्थात् मनुष्य को आनन्द की अनुभूति तभी हो

सकती है जब वह प्रकृति की गति के साथ अपने जीवन का सामंजस्य स्थापित करले। विश्व में, प्रकृति में परिवर्तन होते रहेंगे, मनुष्य को चाहिए कि वह अवश्यंभावी परिवर्तनों के साथ प्रवाहित होता रहे। वह विश्व और प्रकृति की गति को रोकने का व्यर्थ प्रयास न करे। समाज के जीवन में, राष्ट्र के जीवन में, व्यक्ति के जीवन में उत्थान होगा, पतन होगा, परिवर्तन होते रहेंगे और अन्त में मृत्यु भी होगी इन सब बातों को प्रकृति की एक स्वाभाविक गति मान लेनी चाहिए और इन सब दशाओं की भवितव्यता को स्वीकार करते हुए जीवन को सहज गति से इनमें प्रवाहित होने देना चाहिये। यह भाव चीनी राष्ट्र के मानस में, व्यक्ति के मानस में, संस्कार रूप से व्याप्त रहा है।

चीन के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन होते रहे, युग युग में अनेक विचारक और महात्मा भी प्रगट हुए, जिनकी बाद में देवताओं के समान पूजा भी होने लगी और उनके मन्दिर भी बने, किन्तु प्रकृति की गति में शरणागति का भाव हर युग और हर काल में बना रहा। वे दो महात्मा जो चीन के सर्व प्रसिद्ध प्रतिनिधि दार्शनिक विचारक माने जाते हैं ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी में चीन में प्रगट हुए। यह वही काल था जिस समय बुद्ध भगवान भारत में प्रगट हुए थे, एवं ग्रीक दार्शनिक ग्रीस में सृष्टि की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। ये दो महात्मा थे कनफ्यूसियस और लाओत्से। इन दोनों में भी कनफ्यूसियस को ही अधिक महत्वशाली माना जाता है, वैसे इन दोनों के ही विचारों का प्रभाव चीनी जीवन और चरित्र पर पड़ा। कनफ्यूसियस का जन्म ५५१ ई० पू० में एक उच्च राजकर्मचारी घराने में हुआ। अद्भुत उसका मानसिक विकास हुआ। चीन के प्राचीन ग्रन्थों का उसने अध्ययन किया, विशेषत: सबसे प्राचीन ग्रन्थ "यी-चिन" और "शी-चिन" (अर्थात् "परिवर्तन के नियम", "गीतों के नियम") का। उसने एक विद्यालय की स्थापना की जिसमें लगभग तीन हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। उपरोक्त प्राचीन ग्रन्थों के उसने भाष्य

लिखे और ये ही प्राचीन ग्रन्थ मुख्यतः उसके विद्यालय में शिक्षण के आधार रहे। कनफ्यूसियस ने जीवन में एक सामंजस्यात्मक और समरस गति लाने के लिए जीवन का व्यवहार कैसा होना चाहिये इस बात की शिक्षा दी। ऐसा जीवन कनफ्यूसियस के पहिले प्राचीन काल में था, अतएव उसने अपनी शिक्षाओं का आधार चीन के उपरोक्त प्राचीन ग्रंथ बनाये। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन और राजनैतिक जीवन में किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, इसके उसने नियम निर्देश किये। उसने शिक्षा दी कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, "अति" का परित्याग करते हुए, साधारण "मध्यम" रास्ते से चलना चाहिये; न तो ज्यादा अच्छाई अच्छी और न ज्यादा बुराई अच्छी। इस प्रकार 'मध्यम' रास्ते पर चलते हुए जीवन के कर्तव्यों का पालन करना चाहिये और प्राचीन शास्त्रों में विश्वास रखना चाहिये। उसने पारिवारिक जीवन को नियमित करने का विशेष प्रयत्न किया; माता पिता की सेवा पर विशेष जोर दिया और राजा और प्रजा के बीच पिता पुत्र के भाव को पुष्ट किया। समाज का नियमन करने के लिए उसने शील और सौजन्य को चरित्र का प्रमुख अंग माना। गौतम बुद्ध अहंभाव को भूलकर शांति प्राप्त करने पर, तथा यूनानी दार्शनिक वाह्य ज्ञान पर, और यहूदी एकेश्वरवादिता पर जोर देते थे; कनफ्यूसियस ने व्यक्तिगत आचरण पर विशेष जोर दिया। कनफ्यूसियस महान बुद्धिवादी एवं व्यवहारिक था। यह तो उसका विश्वास था कि अखिल सृष्टि में एक केन्द्रीय शक्ति है जिसे वह "स्वर्ग" ("ईश्वर") कहता था, किन्तु किसी व्यक्तिगत साकार ईश्वर में उसका विश्वास नहीं था और न वह मृत्यु के उपरान्त आत्मा जैसे किसी अमर "तत्व" या पुनर्जन्म में विश्वास करता था।

सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का विप्लव न हो उसके लिए उसने परम्परा की रक्षा करने का उपदेश दिया, और यह बतलाया कि परम्परा के भाव की रक्षा परिवार भावना में होती है। उसके उपदेशों

का चिर स्थायी प्रभाव चीन और जापान की सभ्यता पर पड़ा। कनफ्यूसियस की शिक्षायें सरकारी रूप से मान्य हुईं, उसकी तमाम पुस्तकें विद्यालयों में और परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तकें मानी गईं। कनफ्यूसियस की शिक्षाओं में इस बात पर विशेष आग्रह है कि अति का विसर्जन हो, व्यवहार और आचार में सौजन्यता हो; इसका यह प्रभाव पड़ा कि जीवन में एक विशेष माधुर्य बना रहा, उसमें कोई कटुता और भद्दापन न आ पाया, और निकृष्ट भौतिकता से वह ऊपर उठा रहा। कनफ्यूसियस का ही समकालीन चीन का दूसरा महात्मा लाओत्से था। लाओत्से (६०४–५१७ ई० पू०) ने भी चीन के प्राचीन ग्रन्थों को अपनी शिक्षा का आधार बनाया। किन्तु जब कि कनफ्यूसियस तो लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि उठो अपने आचरण, आधार और व्यवहार को प्राचीन आदर्शों के अनुसार बनाओ, तब लाओत्से लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि छोड़ो, जीवन में खटपट की क्या आवश्यकता है, परेशानी की क्या आवश्यकता है; सृष्टि "पथ" की तरह चलती रहती है, हजारों प्राणी इस पथ पर चलते हैं, किन्तु पथ उनको पकड़कर नहीं रखता। पथ के इस नियम को, सृष्टि के इस गुण को जो समझ गया वही ठीक है। इस सबका आशय यही है कि मनुष्य अपनी शक्ति पर विश्वास करके, प्रयत्न करके ही असफल होता है। सफलता तो सृष्टि के प्रवाह में अपने आपको छोड़ देने से प्राप्त होती है; अपनी सफलता के लिये यदि तुमने दूसरों को परेशान किया, उन पर हिंसा का प्रयोग किया तो इसका कोई स्थाई परिणाम नहीं निकलने वाला है। हिंसा (Aggressiveness) पथ की प्रकृति के विरुद्ध है, सृष्टि के नियम के विरुद्ध है। हिंसा की स्थापना कभी नहीं हो सकती। इन शिक्षाओं से चीन के मानस पर कुछ कुछ वैराग्यमूलक और अकर्मण्यतापरक प्रभाव पड़ा।

इन दो महात्माओं के बाद भी अनेक दूसरे महात्मा, विचारक, कवि और कलाकार चीन में पैदा हुए, और चीन की संस्कृति को

बनाने में उन्होंने योग दिया। प्राचीन ग्रन्थ "यीचिन" और "शीचिन" (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) के व्याख्याकार महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से की शिक्षाओं के राष्ट्रव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप जीवन के प्रति चीनी दृष्टिकोण और चीनी "मानस" जैसा बना, उसका अपना ही एक व्यक्तित्व है। चीन में बुद्ध धर्म भी आया, चीन वासियों ने उसे अपनाया भी, किन्तु उसको अपने रंग में रंग कर। बुद्ध धर्म का एक रूप है जो इच्छाओं के दमन की शिक्षा देता है, और इस जीवन और संसार को महा-दुःख मूलक बतलाता है। किन्तु बुद्ध-धर्म का यह अंग चीनी जीवन और मानस में नहीं घुल पाया। बुद्ध-धर्म की एक दूसरी आधार भूत मान्यता यह है कि सृष्टि में जो कुछ है वह क्षण क्षण परिवर्तनशील है। बुद्ध-धर्म की यह बात तो चीनी मानस में घुल गई—चीनी मानस पहिले से ही अपने प्राचीन ग्रन्थ "यीचिन" (Book of changes) की भावना के अनुसार जिसकी मान्यता यह थी कि परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है, ऐसा बना हुआ था। फिर चीनी महात्मा कनफ्यूसियस के मतानुसार मनुष्य स्वभावतः ही अच्छा है, और उसमें अच्छे गुण हैं, शिक्षा और अनुशासन द्वारा इन गुणों को उभारने की आवश्यकता है। लगभग यही बात बुद्धधर्म में एक अन्य प्रकार से मान्य है, वह यह है कि प्रत्येक मानव में "बुद्ध" बनने के तत्व विद्यमान हैं, उन तत्वों का विकास होना चाहिए और 'बुद्ध' स्थिति को प्राप्त होना चाहिए; अर्थात् साधारणतः बुद्धधर्म के इस विचार का कनफ्यूसियस की शिक्षाओं की तरह यही प्रभाव पड़ा कि मनुष्यों में उचित नैतिक गुणों का विकास हो; अतः यह बात भी चीनी मानस द्वारा अपनाली गई।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म का चीन के साधारण—जन पर दो और विशेष रूपों में प्रभाव पड़ा। जन साधारण में एक तो यह विश्वास फैला कि ऊपर आकाश में एक दिव्यलोक होता है जहां पर "अमिताभ" (बुद्ध) रहते हैं, दूसरा यह कि उस "अमिताभ" की पूजा होनी चाहिये जिससे

मनुष्य भी उस दिव्यलोक की प्राप्ति कर सके। बौद्ध धर्म के इस रूप का प्रचलन चीन में होना वहाँ की परम्परा के अनुसार स्वाभाविक था, क्योंकि चीनी मानस आदिकाल से ही "स्वर्ग पिता" की कल्पना करता आया था। इस प्रभाव से चीन में बौद्ध मन्दिरों का, व्यक्तिगत पूजा का, एवं बौद्ध मठों का जिनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां रहती थीं, बहुत प्रचलन हुआ। कनफ्यूसियस, लाओत्से और बुद्ध—इनकी शिक्षायें चीनी निवासियों के लिये "उपदेश त्रय" बन गईं। इन सबके समन्वय से चीन में एक विशेष जीवन-दृष्टिकोण बना है।

चीनी जीवन-दृष्टिकोण—विश्व के अधिकतर लोगों की यह मान्यता रही है कि कोई परोक्ष चेतन सत्ता सृष्टि का परिचालन और नियंत्रण करती रहती है, कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है और वही देश, राष्ट्रों और व्यक्तियों का भाग्य विधाता। भारत में, पश्चिमी और मध्य एशिया के समस्त देशों में, प्रायः समस्त यूरोप, अमेरीका और आस्ट्रेलिया में जहाँ हिन्दू, यहूदी, ईसाई और इस्लाम जैसे आस्तिक धर्मों का प्रचार रहा है उपरोक्त मान्यता प्रधान रूप से रही है। किन्तु चीन के मानव में, वहां के दर्शन में, सामान्यतया इन विचारों और मान्यताओं की प्रधानता कभी नहीं हो पाई, ये बातें वहाँ की जीवन दृष्टि में कभी गहराई से समा नहीं पाईं। उन्होंने तो इस जीवन की और इसी दुनिया की प्राकृत या स्वाभाविक वास्तविकताओं को पहिचाना और उन्हीं के आधार पर परोक्ष सत्ता के भाव से निरपेक्ष उनका जीवन दृष्टिकोण बना। इस दृष्टिकोण में मानवीयता का भाव है, परोक्षत्व का नहीं; लोकत्व का भाव है, परलोकत्व का नहीं। कनफ्यूसियस ने जन्म के पूर्व और जन्म के बाद की बातों को कभी सोचा ही नहीं और न यह सोचा कि जीवनेत्तर आत्मा जैसी कोई वस्तु होती है, या लोकोत्तर परमात्मा जैसी कोई सत्ता। चीन की यही विशेषता रही है। सहज भाव से उसने जीवन को स्वीकार किया है।

चीनी दृष्टिकोण सृष्टि को जैसी वह है वैसे ही स्वीकार कर लेता

है; मानव-प्रकृति को भी जैसी वह है वैसी ही स्वीकार कर लेता है। प्राकृत मानव-वृत्तियों का दमन न करते हुए, प्रकृति की प्राकृत चाल का विरोध न करते हुए, चलते रहना ही जीवन का काम है। मानव-जीवन में इच्छायें हैं, आकांक्षायें हैं, प्रेम और भय है, सुख दुःख और मृत्यु हैं। ये सब स्वाभाविक हैं, स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य को चलने की आवश्यकता नहीं। यदि उसने ऐसा किया तो वह जीवन के प्रवाह को और सृष्टि के प्रवाह को रोकेगा जो सम्भव ही नहीं, अतएव मनुष्य खाये भी, पीये भी, प्रेम भी करे, इच्छायें भी रक्खे और इस प्रकार मानव प्रकृति के साथ एक रस होकर रहे। यह सृष्टि है, इसमें न तो बहुत ऊंचे की आशा हो सकती है न बहुत नीचे की, एक तरफ स्वाभाविक मृत्यु है और दूसरी तरफ कोई अमरता नहीं। न पूर्ण शान्ति और न पूर्ण आनन्द। इसलिए पथ के बीच में से होकर चलते रहो, जो कुछ सामने आये उसके साथ ठीक ठीक व्यवहार करते हुए। मनुष्य मानो आदर्श और यथार्थ के बीच मेल रखता हुआ चले, मानवता का सार इसी में है। जीवन के इस दृष्टिकोण में एक मन्थर गति है, न तो अकर्मण्यता की स्थिरता और न भीषण कर्म की परेशानी, न तो साधारण मानवीय भूलों और बुराइयों के प्रति रोष और न किन्हीं अति उच्च नैतिक आचारों और गुणों के प्रति कोई विशेष प्रशंसात्मक भाव। ऐसा होने से कटुता नहीं आ पाती, मानव मानव में सरल माधुर्य पुष्ट होता है, जीवन में सरल स्वाभाविकता बनी रहती है। चीनी मानव का जीवन ऐसा बना हुआ है जिसमें कोई विशेष झंझट नहीं। मानो चीनी मानव किसी दूसरे से कह रहा हो "भाई,कोई बात तुम पर लागू की जाय और तुम को यदि वह अच्छी न लगे तो वही बात तुम दूसरों पर लागू करने का प्रयत्न क्यों करते हो ?—अरे सहज गति से जीवन को चलने दो।" इस बात की चिंता हुए बिना कि पूर्ण आनन्द मिलता है या नहीं, आदर्श नैतिकता तक उठा जाता है या नहीं, चीनी मानव का जीवन सुख-दुःख, गुण-अवगुण की राह होता हुआ अपनी स्वाभाविक

गति से चलता रहता है। अकाल, भूख, महामारी की पीड़नायें आती रहती हैं किन्तु इन सब पीड़नाओं को चीनी लोग प्रसन्न चित्त झेलते जाते हैं—जीवन से प्रेम करते जाते हैं और सन्तान वृद्धि बदस्तूर करते रहते हैं, नहीं तो सृष्टि खत्म नहीं हो जाय।

यह है सन् १९४९ के अन्त तक का चीनी मानव।

किन्तु,

आज सन् १९५० में चीन में एक नया मानव बुद्ध, स्वर्ग-देवता और अमिताभ के मन्दिरों को ध्वस्त करता हुआ, कनफ्यूसियस और लाओत्से के शास्त्रों को जलाता हुआ, आदिकाल से चली आती हुई आज तक की परम्पराओं को साफ करता हुआ सर्वथा एक नई किन्तु स्पष्ट दृष्टि अपनाते हुए उत्थित हुआ है, और मजबूत कदमों से आगे बढ़ने लगा है, कोम्यूनिज्म की लाल रोशनी की आभा से प्रेरणा पाकर। एक नई, मुक्त, उदात्त संस्कृति का वह विकास कर रहा है।

●

(२५)

प्राचीन ग्रीक लोग और उनकी सभ्यता

भूमिका

प्राचीन युग (ईसा पूर्व काल से ईसा पश्चात् मध्य युग तक) की दुनिया को हम दो भागों में बांट सकते हैं।

१. पूर्वी दुनिया—जिसमें भारत और चीन का समावेश कर सकते हैं। भारत में वैदिक एवं चीन में चीनी सभ्यता का विकास हुआ। इन सभ्यताओं की अपनी ही विशेषतायें थीं। इनके अपने ही आदर्श

थे। कई पुरातत्ववादी इन सभ्यताओं को पश्चिमी दुनिया की समस्त प्राचीन सभ्यताओं से पुरानी मानते हैं।

२. **पश्चिमी दुनिया**—जिसमें सब भूमध्यसागरीय प्रदेश, अरब, एशिया-माइनर, ईरान, मिश्र, अफ्रीका, यूरोप इत्यादि का समावेश कर सकते हैं। पश्चिमी दुनिया में मिस्र, मेसोपोटेमिया की प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यताओं का उदय और विकास हुआ। सौर-पाषाणी विशेषताओं वाली सभ्यता (कृषि, पशुपालन, विविध देव-देवी पूजा, मन्दिर, वेदी, भेंट, बलिदान, पुरोहित, पुजारी, मन्त्र, जादू, टोना, पुरोहित-राजा या देव-राजा) का ही प्रचलन समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेशों में यथा एशिया-माइनर, सीरिया, इजराइल, उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस, एवं क्रीट, के कार्ष्णेय लोगों में हुआ।

पश्चिमी दुनिया में सभ्य मानव की यह प्रथम चहल पहल थी। ईसा पूर्व प्रायः ५-६ हजार वर्ष से प्रारम्भ होकर प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व तक यह चहल पहल होती रही। वहां का मानव देवी-देवताओं के भय से, पुरोहितों के जादू टोने एवं पूजा की नानाविध विधियों से, कभी भी मुक्त नहीं हुआ। उसका मानस अज्ञान पूर्ण संस्कारों में जकड़ा रहा। अपने चारों ओर की प्रकृति का वह निर्भय, मुक्त चेतना से अवलोकन नहीं कर सका। वह यही समझता रहा कि राजा-पुरोहित, देवता-राजा ही इस दुनिया के सब कुछ थे। उसे यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि जगत में मानव की एक स्वतन्त्र हस्ती है, और वह स्वयं, मन-चाहे समाज का निर्माण कर सकता है।

इस प्रकार की पश्चिमी दुनिया में अनुमानतः ई० पू० १००० में एक नितांत नई मानव-शक्ति का आगमन हुआ। इस मानव-शक्ति ने मानव को मानस-मुक्ति, निर्भयता और सौन्दर्योपासना की अभूतपूर्व भावनायें दीं, और उस प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता का निर्माण किया जो कई अंशों में आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की आधार-शिला है। प्राचीन ग्रीक सभ्यता के दार्शनिक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, कवि, कलाकार, नाट्यकार,

आज भी संसार के पुरुषों को अनुप्राणित करते हैं। प्राचीन ग्रीस के मनुष्य के सुडौल, भव्य और सौन्दर्यमय शरीर को देखकर (जिनका आभास हमें प्राचीन ग्रीक चित्रों और मूर्तियों से होता है) हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है,—और हम चाहने लग जाते हैं, काश ! कि सब मनुष्यों का ऐसा ही सुडौल और सुन्दर शरीर होता; उन प्राचीन ग्रीक लोगों में सौन्दर्य और आनन्द की जो भावना थी वह हममें भी होती।

वे कौन लोग थे, जिन्होंने विज्ञान और मानवीय सौन्दर्य की भावना से परिपूर्ण इस सभ्यता का विकास किया ? मध्य एशिया (प्रायः वह भू-भाग जो पश्चिम में यूराल पर्वत से पूर्व में अलटाई पर्वत तक फैला हुआ है) पृथ्वी का वह भू-भाग रहा है, जहां से प्रागैतिहासिक काल से लेकर इतिहास के मध्ययुग तक मनुष्यों के जत्थे के जत्थे भिन्न भिन्न काल में पश्चिम में यूरोप की ओर, और दक्षिण में ईरान और भारत की ओर, शक्तिशाली बाढ़ की तरह बढ़ते रहे हैं, और जिन जिन देशों में वे घुसे हैं वहां बसते गये हैं। इतिहास के प्रारम्भिक काल में इन भू-भागों से जो लोग पश्चिम की ओर गये वे उस गौर-वर्ण, भूरे बाल, नीली आंखों और लम्बे कद वाले मनुष्य थे, जिनको हमने नोर्डिक आर्य प्रजाति के लोग कहकर निर्देशित किया है। ये लोग वर्ण, स्वभाव और संस्कार में सेमेटिक, मंगोलियन एवं नीग्रो जाति के लोगों से बिल्कुल भिन्न थे। इन्हीं नोर्डिक आर्य उपजाति के लोगों ने लगातार एक के बाद दूसरे कई प्रवाहों में काला सागर के उत्तर से होते हुए ग्रीस में प्रवेश किया। इन लोगों की कई समूहगत जातियों के—जैसे आयोनियन, डोरिक, इओलिक, मैसेडोनियन, थ्रेसियन जातियों के—झुण्ड के झुण्ड एक के बाद दूसरे, ग्रीस की तरफ आये और ग्रीस और उसके आस पास के द्वीपों में और देशों में बस गये। ग्रीस, मुख्य में एथेन्स, स्पार्टा, थीबीज, ओलिंपिया, कोरीन्थ, डेल्फी, इत्यादि नगर बसाये; क्रीट एवं अन्य सैंकड़ों द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाये। पश्चिम में, वे सिसली द्वीप एवं इटली के दक्षिण भाग में फैल गये, यहां तक कि फ्रांस के

दक्षिणी तट पर आज जो मारसेल्ज नगर है, उसकी भी स्थापना, प्राचीन काल में इन ग्रीक लोगों ने की। दक्षिण इटली और सिसली के ये भाग "वृहद् ग्रीस" कहलाये। एशिया-माइनर में भी उन्होंने कई नगर और उपनिवेश बसाये, जैसे—मिलेट्स, ऐफीसस इत्यादि।

इन देशों में आने और बसने के पूर्व ये जातियां घुमक्कड़ चरवाहा जातियां थीं, जो नये चरवाह और नई भूमि की तलाश में ग्रीस और समीपस्थ देशों की ओर बढ़ आईं। बैलगाड़ियों में ये यात्रा करते थे, और रास्ते में कहीं भी कोई कृषि योग्य भूमि देखते थे, वहां कुछ दिन ठहर, खेती से अन्न संग्रह कर, आगे बढ़ते जाते थे। आर्यन परिवार की "ग्रीक" भाषा ये बोलते थे, जो बहुत सम्मुन्नत और मधुर थी, और जिसमें इन जातियों के गायक-कवि प्राचीन गाथायें गाया करते थे। जिस प्रकार हिन्दुओं के दो प्राचीन महाकाव्य "वाल्मीकि-रामायण" एवं "महाभारत" हैं, इसी प्रकार ग्रीक लोगों के दो प्राचीन महाकाव्य थे, "इलियड" एवं "ओडेसियस"—जिनके रचयिता ग्रीस के एवं पश्चिमी दुनिया के सर्व-प्रथम अंध महाकवि होमर माने जाते हैं। ऐसा अनुमान है, कि इन ग्रीक लोगों के ग्रीस, क्रीट, इटली, एशिया-माइनर में बसने और उपनिवेश बनाने के पूर्व ही इन महाकाव्यों की गाथायें प्रचलित थीं।

ग्रीस और समीपस्थ देशों में जब ये लोग आये, तब वहां के आदि निवासी माओनियन (एक प्रकार की सौर पाषाणी) सभ्यता वाले लोगों से उन्हें टक्कर लेनी पड़ी—उनके नगर, मन्दिर, महल नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये; लगभग ई० पू० १००० में क्रीट में नोसस का विशाल भव्य महल और मन्दिर भी नष्ट कर दिया गया। विजित लोगों को गुलाम बना लिया गया और इन प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों पर, एवं उनसे प्रभावित होकर इन नव-आगन्तुकों ने अपनी नई सभ्यता का निर्माण किया। ईसा के पूर्व प्रायः ७वीं शताब्दी तक यूरोप में (ग्रीस, इटली, क्रीट, इत्यादि में) पूर्वस्थित और पाषाणी सभ्यता के चिन्ह सब समाप्त

हो चुके थे, और नव आगन्तुक ग्रीक आर्यनों द्वारा एक नई दुनिया बसाई जा चुकी थी।

पहले ये ग्रीक लोग गांव बसाकर रहने लगे। धीरे धीरे इन्होंने, सभा भवन, थियेटर, खेल मैदान, इत्यादि बनाये। ग्रीस में बसने की इन प्रारम्भिक काल की गाथायें ग्रीक जातियों के गायक कवि कविता रूप में गाया करते थे; ये ही संगृहीत होकर उपरोक्त दो महाकाव्य बने, जिनमें ऐसा अनुमान है "इलियड" का प्रारम्भिक रूप ई० पू० १००० में गाया जाता था।

विश्व में ग्रीक सभ्यता की हलचल लगभग १००० वर्ष तक रही— प्राय: १००० ई० पू० से ३० ई० पू० तक। सामाजिक-राजनैतिक विशेषताओं के आधार पर इस काल का ऐतिहासिक युगों में विभाजन करें तो वह निम्न प्रकार हो सकता है:—

१) नगर-राज्य काल (अनुमानतः १००० ई० पू० में धीरे धीरे नगर राज्यों की स्थापना से प्रारम्भ होकर ३३८ ई० पू० तक) इस काल में दो प्रमुख हलचलें रहीं:—

● ईरान के साथ युद्ध (४६०–४८० ई० पू०)

●● स्वतन्त्र अभ्युदय (४७६ से ३३८ ई० पू०) जिसमें भी सबसे अधिक गौरवपूर्ण काल रहा नगर-राज्य एथेन्स में पैरीक्लीज़ का काल (४६१–४३० ई० पू०)

२) ग्रीक साम्राज्य काल (३३८–१४६ ई० पू०)

३) टोलमी ग्रीक राजाओं के आधीन मिस्र में ग्रीक सभ्यता और संस्कृति की परम्परा (३२३–३० ई० पू०)

नगर-राज्य काल

(अनुमानतः १००० ई० पू० से ३३८ ई० पू० तक)

मिस्र और बेबीलोन के विषय में हम पढ़ आये हैं–वहां पहले तो

छोटे छोटे राज्य स्थापित हुए, किन्तु कालान्तर में वे नगर राज्य किसी एक अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली नगर राज्य के आधीन होते गये—एवं इस प्रकार वहां साम्राज्यों की स्थापना हुई। मिस्र और बेबीलोन उन प्रारम्भिक युगों की दृष्टि से तो बड़े बड़े साम्राज्य ही थे। इसी प्रकार बाद में ईरान में आर्यों का साम्राज्य स्थापित हुआ था। किन्तु ग्रीस में अनेक शताब्दियों तक ऐसा नहीं हो सका। उनकी बहुत विकसित स्थिति होते हुए भी वहाँ साम्राज्य स्थापित नहीं हो सके, इसके कई कारण हो सकते हैं;—पहला तो भौगोलिक कारण ही था—ग्रीस छोटे छोटे टापुओं का बना देश है, मुख्य भूमि भी सामुद्रिक खाड़ियों से बहुत कटी फटी है, और स्थान स्थान पर पहाड़ हैं, जो मुख्य भूमि को कई स्वाभाविक छोटे छोटे भागों में विभक्त किए हुए हैं। अतः जिस जिस भाग में जो "नगर-राज्य" स्थापित होगया उसके लिए दूसरे नगर राज्यों से पृथक रहना सरल था। दूसरा इन लोगों में अपनी ही समूहगत जाति के प्रति और अपने ही नगर राज्य के प्रति आसक्ति का भाव इतना जबरदस्त था कि साधारणतया वे अपने नगर राज्य की स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखने में ही गौरव अनुभव करते थे, उसकी स्वतन्त्रता के लिये लड़ने को हर समय उद्यत रहते थे। अपने नगर राज्य के प्रति देश-भक्ति का भाव बहुत प्रबल था।

इस प्रकार कई नगर राज्यों का विकास हुआ जैसे, एथेन्स, स्पार्टा, कोरिंथ, ओलिम्पिया, डेल्फी, इत्यादि; एवं अनेक छोटे छोटे टापुओं पर बसे अनेक दूसरे नगर-राज्य। इनमें सबसे बड़े नगर-राज्य एथेन्स और स्पार्टा थे। ओलिम्पिया नगर राज्य वही था, जहाँ ई० पू० ७७६ में प्रथम ओलिम्पियन खेल प्रारम्भ हुए, जिनकी प्रथा अब भी प्रचलित है। अनुमान लगाया जाता है, कि एथेन्स की जन संख्या प्रायः २॥-३ लाख होगी। अन्य नगर राज्यों की जन संख्या ५० हजार या इससे कम ही रहती थी। सर्वप्रथम जब ये नगर राज्य बने, उस समय तो वहां का राज्य राजा के ही

आधीन रहा। यह राजा, मिस्र और बेबीलोन के प्राचीन पुरोहित या 'देवता-राजाओं' की तरह नहीं था। राजा की पदवी में किसी भी प्रकार की धार्मिक भावना नहीं होती थी। इन राजाओं की स्थिति, तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों पर आधारित थी। नोर्डिक आर्यों के विशिष्ट परिवार हुआ करते थे। इन विशिष्ट परिवारों का या किसी एक प्रमुख परिवार का नेता ही राजा होता था। राजा को सलाह देने-वाली विशिष्ट परिवारों के प्रमुख आदमियों की एक सलाहकार समिति होती थी। धीरे धीरे राजतंत्रीय-शासन प्रणाली के बाद ग्रीक नगर राज्यों में कुलीनतन्त्रीय शासन-प्रणाली का विकास हुआ। इस प्रणाली के अनुसार उच्च वर्ग के विशिष्ट परिवारों के कुछ बड़े लोग ही शासन करते थे। इसके बाद वहां के नगर-राज्यों में प्रायः निरंकुश एकतन्त्रीय राज्य प्रणाली का प्रयत्न हुआ। किसी एक विशिष्ट परिवार का शक्तिशाली पुरुष उच्च वर्ग के लोगों के विरुद्ध साधारण लोगों की सहायता से सब शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था। किन्तु यह आवश्यक नहीं था कि वह क्रूरता और निरंकुशता राज्य करे। निरंकुश एकतंत्र के बाद जनतंत्रीय शासन-प्रणाली का विकास हुआ। प्रायः ई० पू० पांचवीं छठी शताब्दियों में ग्रीस के नगर राज्यों में जनतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रसार था।

ये जनतन्त्रात्मक राज्य छोटे छोटे होते थे। आज की तरह बड़े बड़े जनतन्त्रात्मक राज्य नहीं जिनका शासन सब लोग नहीं, किन्तु कुछ प्रतिनिधि लोग चलाते हैं। उन दिनों गुलाम और नौकर वर्ग को छोड़कर राज्य के सभी लोग राज कार्य में एवं कानून इत्यादि बनाने में सीधा भाग लेते थे। यहां तक कि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति भी चुनाव द्वारा होती थी।

इन छोटे छोटे राज्यों में अपने अपने राज्य के प्रति इतनी संकीर्ण आसक्ति की भावना होती थी कि इन राज्यों में प्रायः हर समय-वैमनस्य बना रहता था और विध्वंसकारी गृह-युद्ध चलते रहते थे। कभी कभी

छोटे छोटे नगर-राज्य अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कायम रखते हुए, किसी बड़े राज्य के साथ मित्रता का गठबन्धन कर लेते थे और सामूहिक रक्षा के लिये उस बड़े राज्य को या तो सैनिक और हथियार देते रहते थे, या कुछ धन। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में एथेन्स के नगर राज्य के साथ कई अन्य छोटे छोटे नगर राज्य जुड़ गये थे और इस प्रकार एक दृष्टि से एथेन्स एक साम्राज्य सा बन गया था।

ईरान के साथ युद्ध–(ई० पू० ४६०-४८०)—इसी काल में अर्थात् ई०पू० पांचवीं शताब्दी में ईरान में एक ही महा-साम्राज्य स्थापित था–और इस साम्राज्य था सम्राट था प्रसिद्ध दारा। सम्राट दारा का साम्राज्य पच्छिम में एशिया-माइनर से पूर्व में भारत की सीमा सिन्ध नदी तक प्रसारित था। इस साम्राज्य में,एशिया-माइनर, मेसोपोटेमिया,सीरिया, ईरान, आधुनिक अफगानिस्तान, एवं प्राचीन मिस्र समाहित थे। दारा ने एशिया-माइनर में स्थित ग्रीक नगरों और उपनिवेशों को तो जीत लिया था, अब उसकी महत्वाकांक्षा ग्रीक को जीतने की थी। फल-स्वरूप कई इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुए। ग्रीस में तो छोटे छोटे नगर राज्य थे, किंतु वे सब अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ते थे और लड़ाई में बिना किसी भेद भाव के बूढ़ों और स्त्रियों को छोड़कर सभी नागरिक भाग लेते थे। सैनिक शिक्षा सब नव-युवकों के लिए अनिवार्य थी। दूसरी तरफ ईरान एक बहुविशाल साम्राज्य था। ग्रीक राज्यों की अपेक्षा अनेक गुणा उसकी सैनिक शक्ति थी। किन्तु इस साम्राज्य की सेना के सभी सैनिक भिन्न भिन्न देशों से एकत्र किये हुए गुलाम थे, जो पैसे के बदले में लड़ते थे, लड़ाई से उनका कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं था।

पहिला प्रसिद्ध युद्ध ई० पू० ४६० में एथेन्स के निकट मेराथन नामक स्थान पर हुआ। एथेन्स-वासी ईरानी साम्राज्य की विशालता से डरे हुए थे। उन्होंने ग्रीक शक्तिशाली राज्य स्पार्टा से सहायता मांगी। किन्तु उनकी सहायता आने के पूर्व ही ईरान की सेना परास्त हुई। उसके कुछ ही वर्ष बाद सम्राट दारा की मृत्यु हो गई। दारा के बाद

उसका पुत्र क्षीरीज सम्राट बना। उसने ग्रीस विजय करने की ठानी। एक विशाल स्थल और जल सेना लेकर वह ग्रीस पर चढ़ आया। उसका सामना करने के लिए सब ग्रीक राज्य एक हो गये। ईरानी सेना जल थल दोनों रास्ते से आगे बढ़ रही थी। थल पर ग्रीक लोगों को पीछे हटना पड़ रहा था। आखिर थर्मोपली नामक स्थान पर उन्होंने मोर्चा डाला। थर्मोपली एक बहुत ही सकड़ी जगह है, यहाँ पर एक तरफ तो समुद्र है, और दूसरी ओर ऊंचे पहाड़। इस सकड़े रास्ते पर से होकर दुश्मन को आगे बढ़ना पड़ता था। इस मोर्चे की रक्षा ग्रीक वीर लीओनीडास कर रहा था। उसके साथ केवल ३०० स्पार्टन सैनिक और ११०० अन्य ग्रीक सैनिक तैनात थे-बढ़ती हुई ईरानी फौजों को जहां तक हो सके रोकने के लिए। थर्मोपली के संकड़े द्वार पर एक ग्रीक सैनिक लड़ता लड़ता मरता जाता था-उसके मरते ही दूसरा ग्रीक सैनिक उसका स्थान ग्रहण कर लेता था। इस प्रकार एक एक करके लीओनीडास सहित सभी १४०० ग्रीक सैनिक काम आये-वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते लड़ते मर गये, किन्तु थर्मोपली और अपना नाम इतिहास में प्रसिद्ध कर गये। ई० पू० ४८० की यह घटना है। ईरानी थर्मोपली से आगे एथेन्स की ओर बढ़े, ग्रीक लोग एथेन्स खाली करके जहाजी बेड़ों से ग्रीक द्वीपों में चले गये। ईरानी सेनायें बढ़ती रहीं। उन्होंने एथेन्स को जला दिया और वे दूसरे ग्रीक नगरों को परास्त करते हुए आगे बढ़े। थल पर तो इस प्रकार ग्रीक लोगों की पराजय हो रही थी किन्तु जल में उधर ग्रीक बेड़ा अभी डटा हुआ था। जब ईरानी जहाज ग्रीस की ओर बढ़कर आने लगे थे तो दुर्भाग्य से भयंकर तूफान के कारण बहुत से तो प्रारम्भ में ही विनिष्ट हो गये थे। इधर ग्रीक बेड़े का भी वे मुकाबला नहीं कर सके। सलामिस नामक स्थान पर ईरानियों की भयंकर पराजय हुई। क्षीरीज इस पराजय से बहुत निराश हुआ। अपनी सेना को ग्रीस की मुख्य भूमि पर छोड़कर वह तो अपने देश ईरान को लौट गया। ई०पू० ४७९ में मुख्य भूमि पर भी प्लातीया के युद्ध में ईरानी

सेनाओं की पराजय हुई और उन्हें लौट जाना पड़ा। ग्रीक के सब नगर राज्य स्वतन्त्र हुए और प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीस की अद्भुत उन्नति का काल प्रारम्भ हुआ।

स्वतन्त्र अभ्युदय का युग–(ई० पू० ४७६ से ३३८ तक; प्रायः १५० वर्ष)—थर्मोपली के युद्ध के बाद एथेन्स नगर ईरानी सैनिकों द्वारा जला दिया गया था। सलामिस और प्लातिया के युद्धों में ईरान के सम्राट की पराजय के बाद फिर से यह नगर बसाया गया। लोगों की भावना के अनुसार यहां का शासन जनतंत्रवादी था। जनतंत्रीय राष्ट्रसभा का सबसे प्रमुख पेरीक्लीज था। पेरीक्लीज (४६१-४३० ई. पू.) महान् संगठनकर्त्ता और कुशल शासक था। उसका मस्तिष्क और हृदय उदार था। कला और जीवन में सौन्दर्य देखने वाली उसकी दृष्टि थी। एशिया-माइनर में ग्रीक उपनिवेश मिलेरस में एक रमणी थी, जिसका नाम ऐसपेसिया था। यही स्त्री पेरीक्लीज के जीवन की प्रेरक बनी। उसकी प्रेरणा से पेरीक्लीज के लगभग ३० वर्ष के नेतृत्व काल में एथेन्स की अभूतपूर्व उन्नति हुई;–प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक क्षेत्र में–क्या कला, क्या साहित्य, क्या दर्शन, क्या विज्ञान और क्या व्यापार। अनेक साहित्यिक, इतिहासकार, दार्शनिक, मूर्तिकार और कलाकार एथेन्स में एकत्र हुए। एथेन्स को सचमुच उन्होंने सुन्दर नगर बना दिया और उस कला, साहित्य और दर्शन की रचना की जो ढ़ाई हजार वर्ष के बाद आज भी मानव को आनन्द की अनुभूति करवा रहे हैं और उसकी प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं। नगर राज्यों का पुराना वैमनस्य जो ईरान के आक्रमणों के सामने भुला दिया गया था, फिर से उभरने लगा। विशेषतः स्पार्टा और एथेन्स के बीच गृह युद्ध होने लगे। एथेन्स और स्पार्टा के बीच अनेक युद्ध हुए–जिन्हें पेलीपोशियन युद्ध कहते हैं, और जिनने समस्त ग्रीस को छिन्न, भिन्न, क्षीण और उत्पीड़ित कर दिया। अनेक वर्षों तक ये युद्ध होते रहे, किन्तु आश्चर्य यह है कि इन युद्धों के होते हुए भी ग्रीस की आत्मा की अभिव्यक्ति–कला, साहित्य और दर्शन की

सुन्दर रचनाओं में होती रही। कल्पना की जाती है—यदि ग्रीस के उन सुन्दर स्वतन्त्र लोगों में परस्पर ये गृह युद्ध नहीं होते तो और भी कितने अधिक साहित्य, दर्शन और कला का उत्तराधिकारी आज का मानव समाज होता।

खैर! इन युद्धों से ग्रीस के समस्त राज्य क्षीण हो ही रहे थे, कि इसी अर्से में उत्तर में मेसीडोनिया प्रान्त में किसी एक अन्य ग्रीक जाति के लोगों की शक्ति का विकास हो रहा था। ई० पू० ३५६ में फिलिप नाम का व्यक्ति ग्रीस में मेसिडोनिया प्रदेश का राजा बना। फिलिप वस्तुतः एक महान् राजा था—बहुत कुशल, बुद्धिशाली, योजनाओं का रचयिता और उनको पूरा करने वाला एक वीर योद्धा, और युद्ध क्षेत्र में एक कुशल नेता। ग्रीक इतिहासकार हिरोडोटस और आईसोक्रेट्स से, जिन्होंने समृद्धशाली ईरान साम्राज्य पर और उस समय की परिचित समस्त दुनिया पर ग्रीक आधिपत्य के स्वपन देखे थे, फिलिप परिचित था। उसने उक्त इतिहासकारों की रचनाओं से प्रेरणा ली। उस काल के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू को उसने अपना मित्र, और अपने पुत्र अलक्षेन्द्र (सिकन्दर महान) का गुरु नियुक्त किया। युद्ध-कला में सुशिक्षित एक विशाल सेना का निर्माण किया गया। इतिहास में सर्व प्रथम "घुड़सवार फौज" की रचना की गई; इसके पूर्व या तो पैदल फौजें थीं, या घोड़ों से परिचालित रथों में युद्ध होता था, या कुछ हाथियों पर सवार होकर। अलक्षेन्द्र को इन सब युद्ध विद्याओं में निपुण किया गया और इस योग्य बनाया गया कि वह किसी भी साम्राज्य का भार कुशलतापूर्वक संभाल सके।

यह तैयारी करके फिलिप अपनी योजनाओं के अनुसार अपने विश्व-विजय के स्वप्न को पूरा करने के लिये आगे बढ़ा। सबसे पहला तो यही काम था कि समस्त ग्रीस एक शासन के आधीन हो। इतिहासकार आइसोक्रेटस एवं अन्य कुछ ग्रीक लोग यह चाहते भी थे कि समस्त ग्रीस के नगर-राज्य मिलकर एक विशाल और शक्तिशाली राज्य बने। एथेन्स और एथेन्स के मित्र नगर-राज्य इसके विरोध में थे। कई वर्षों

तक झगड़ा चलता रहा किन्तु फिलिप की सैन्य शक्ति के सामने सबको झुकना पड़ा और अन्त में केरोनिया के युद्ध में एथेन्स की पराजय के बाद ई० पू० ३३८ में सब राज्यों ने फिलिप की आधीनता स्वीकार की; और समस्त ग्रीस एक राज्य बना। उसने विश्व-विजय यात्रा प्रारम्भ ही की थी कि ई० पू० ३३६ में उसकी प्रथम स्त्री ओलीमपीयास के षड्यन्त्र से उसका कत्ल हुआ। एक आकांक्षा भरे जीवन का अन्त हुआ। मानव इतिहास की रचना में मानव हृदय की ईर्षा, द्वेष, क्रोध एवं अन्य भावनाओं का कम महत्व नहीं। फिलिप की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलक्षेन्द्र मेसीडोनिया का राजा बना। उस समय उसकी आयु केवल २० वर्ष की थी।

ग्रीक साम्राज्य काल

(ई० पू० ३३८ से लगभग १५० ई० पू०)

पिता का अधूरा काम पुत्र अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने पूरा करने की ठानी। इसके लिये उसको शिक्षा द्वारा तैयार भी किया गया था। विश्व विजय करने को वह निकला। एक शिक्षित शस्त्र-पूर्ण सेना उसके साथ थी और एक तीव्र विजय लिप्सा। सामने पड़ा था विशाल फारस का सम्राज्य जो मिस्र, एशिया-माइनर, सीरिया, फारस और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। मानव इतिहास में इतने विशाल क्षेत्र में, युद्ध, विजय और पराजय की यह पहली घटना थी।

अलक्षेन्द्र एक साहस पूर्ण हृदय और विजय-आकांक्षा की दूर तक लगी एक दृष्टि लेकर निकला। विशाल साम्राज्य फारस का शक्तिशाली मुकाबला हुआ। किन्तु उसकी "घुड़सवार फौज" के सामने, सब कुछ पदाक्रान्त होता गया—एशिया-माईनर, सीरिया, मिस्र, ईरान-पार्थीया, बेक्ट्रिया और भारत में सिन्धु तट प्रदेश जहां वीर पौरुष से उसका मुकाबला हुआ। ई० पू० ३३४ में यह विजय यात्रा प्रारम्भ हुई और ई० पू० ३३४ तक ग्रीस से लेकर पूर्व में

अफगानिस्तान तक और दक्षिण में मिस्र तक एक विशाल साम्राज्य अलक्षेन्द्र के आधीन होगया। इस विजय यात्रा में अनेक नगर उसने अपने नाम से बसाये:—मिस्र में अलक्षन्द्रिया नगर, बन्दरगाह अलक्षन्द्रिया और मध्य-एशिया में कंधार। इतना विशाल साम्राज्य अलक्षेन्द्र के आधीन हुआ, किन्तु वह इस साम्राज्य को एक बनाये रखने के लिये, एक सूत्र में बांधे रखने के लिये, कोई योजना नहीं घड़ रहा था, कुछ संगठन नहीं बना रहा था। मानो वह अपने व्यक्तिगत गौरव में फूला ही नहीं समाता हो। इतिहासकारों का मत है कि वास्तव में उसमें घमण्ड की भावना आ गई थी। वह तो सिन्धु के भी पार समस्त भारत को पदाक्रान्त करने की सोचता होगा। किन्तु उसके सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था, और बेबस उसे वापिस लौटना पड़ा था। अपनी वापिसी यात्रा में वह मेसोपोटेमिया के प्राचीन नगर बेबीलोन में ठहरा हुआ था, जहाँ ई. पू. ३२३ में जब उसकी आयु केवल ३२ वर्ष की थी, उसकी मृत्यु होगई। उस प्राचीन दुनिया में इन अभूतपूर्व विजयों के कारण ही इतिहासकारों ने अलक्षेन्द्र को 'महान्' कहा है। मानव इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी पाश्चात्य यूरोपीय शक्ति ने पूर्वीय देशों को जीतकर वहां अपना साम्राज्य स्थापित किया। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी एवं पच्छिमी देशों में यथा, भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश, सीरिया, ईरान, अरब, भारत, मिस्र और मेसोपोटेमिया में सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध पहिले से ही स्थापित थे; किन्तु उपर्युक्त ग्रीक विजय से यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ होगया था यहां तक कि कई इतिहासकारों ने इसे "पूर्व और पच्छिम का विवाह बन्धन" कहा है।

अलक्षेन्द्र की मृत्यु के तुरन्त बाद ही, वह विशाल साम्राज्य जिसका उसने अपनी विजयों से निर्माण किया था, एक खिलौने की तरह गिर कर टूट गया। साम्राज्य के तीन प्रमुख खण्ड हुए:—

(१) ईरान और अफगानिस्तान का भाग जिसमें अलक्षेन्द्र के एक

प्रसिद्ध जनरल सेल्यूकस ने आधिपत्य जमाया; (२) मिस्र, जिसमें एक दूसरे जनरल टोलमी ने; और (३) ग्रीस और मेसीडोनिया, जिसमें एक तीसरे जनरल ऐंटीगोरस ने आधिपत्य स्थापित किया। इन भागों में ग्रीक राज्य की परम्परा कुछ शताब्दियों तक चलकर समाप्त होगई।

(१) अफगानिस्तान और ईरान प्रदेशों में ई. पू. प्रथम शताब्दी तक ग्रीक लोगों का शासन रहा। इस काल में ग्रीक लोगों का भारत से बहुत निकट सांस्कृतिक सम्पर्क रहा। कला, साहित्य, जीवन-विचारधारा का परस्पर खूब आदान प्रदान हुआ। ई. पू. प्रथम शताब्दी के बाद मध्य-एशिया से पार्थियान लोग आये; फिर आदि ईरानी जिन्होंने सन् ६३७ई. तक राज्य किया; फिर अरबी मुसलमान आये; फिर ११वीं सती में तुर्क, फिर मंगोल, फिर शिया मुसलमान शाह जिनके आधीन आज ईरान् है। अफगानिस्तान पृथक अफगानी राज्य बना।

(२) मिस्र में ३२३ से ३० ई० पू० तक ग्रीक टोलमी राजाओं का राज्य रहा और वहीं से ग्रीक संस्कृति का प्रकाश तीन शताब्दियों तक चारों ओर विकीर्ण होता रहा। इन ग्रीक टोलमी राजाओं के राज्य काल में अलक्षेन्द्रिया नगर में जो मिस्र की राजधानी रहा, ज्ञान विज्ञान दर्शन और व्यापार की खूब उन्नति हुई। वैज्ञानिक अध्ययन, अन्वेषण की जो परम्परा एथेन्स में अरस्तू ने प्रारम्भ की थी, वह अलक्षेन्द्रिया में खूब बढ़ी। सभ्य समाज की, राज दरबार की, शासन की भाषा पुरानी मिस्री की जगह ग्रीक बनी, यहां तक कि इन ई० पू० दूसरी तीसरी शताब्दियों में जो यहूदी लोग मिस्र में बसे हुए थे उन्हें भी अपनी बाइबल का अनुवाद ग्रीक भाषा में करना पड़ा। ग्रीक राजा टोलमी प्रथम (३२३–२८३ ई० पू०) ने अलक्षेन्द्रिया में एक महान् म्यूजियम (अजायबघर) की स्थापना की। यह म्यूजियम एक तरह से विद्वान लोगों का विद्यालय था जहां अनेक वैज्ञानिक, डाक्टर, इतिहासकार आकर ठहरते थे, अध्ययन करते थे और मानव ज्ञान में वृद्धि करते थे। गणितज्ञ यूक्लीड (लगभग

३०० ई० पू०) जिसकी ज्योमेट्री हम पाठशालाओं में पढ़ते हैं; हिप्पारकस (जन्म १९० ई० पू०) जिसने आकाश के नक्षत्रों का नकशा बनाया था; वैज्ञानिक आर्शमीडीस (२८७-२१२ ई० पू०) जिसका आर्शमीडीस सिद्धान्त प्रचलित है; डा० हिरोफिलस (चौथी से तीसरी शताब्दी ई०पू०) जिसने वैद्यक ज्ञानवर्धन के लिए अनेक आदमियों के शरीरों की चीरा-फाड़ी की, इत्यादि विद्वान इसी अलक्षेन्द्रिया में ही पनपे थे। म्यूजियम के साथ साथ एक महान पुस्तकालय की भी स्थापना की गई थी। यहां अनेक हस्तलिखित पुस्तकों का विशाल संग्रह था और साथ ही साथ हस्तलिखित पुस्तकों की नकल करने के लिये, जिससे उनका प्रचार हो, अनेक नकल करने वाले काम पर लगे हुए थे। पुस्तकालय में ७ लाख पुस्तकों का संग्रह था। उस प्राचीन युग के दो महान् पंडित एरिस्टोफेन्स एवं एरिस्टारकस जिसके ग्रीक कवि होमर और अन्य कवियों की कृतियों पर विषद् भाष्य उपलब्ध हैं ई० पू० दूसरी शताब्दी में उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। अधिकतर पुस्तकें पेपीरस पर काली स्याही से लिखी हुई थीं। ई० पू० २६० में टोलमी द्वितीय ने अलक्षेन्द्रिया में एक प्रकाश स्तम्भ बनवाया था जो जहाजों का पथ प्रदर्शन करता था। यह इतना भव्य और विशाल था कि "प्राचीन युगों" के "सप्त आश्चर्यों" में इसकी भी गणना की जाती थी।

इस प्रकार ग्रीक लोगों के राज्यकाल में मिस्र देश के अलक्षेन्द्रिया में ज्ञान और विद्या की उन्नति कई शताब्दियों तक होती रही, किन्तु प्राचीन मिस्र के देवी देवताओं, पूजा, पुजारी और रहस्यमय जादूटोनों का प्रभाव ग्रीक लोगों के मुक्त मानस और बुद्धि पर हो रहा था, यहां तक कि ग्रीक और मिस्र के देवी देवताओं को मिलाकर कुछ नये देवताओं की कल्पना भी करली गई थी। धीरे धीरे ग्रीक परम्परा समाप्त होती जा रही थी। ग्रीक दुनिया का अंतिम क्षण वह था जब ३० ई० पू० में ग्रीक-मिस्र की सर्वसुन्दरी रानी क्लीओपेट्रा ने रोमन विजेता के हाथों में पड़ने के पहले ही एक विषैले सर्प से अपने आपको कटवाकर अपने प्राणों

का अन्त कर लिया था। फिर तो विजयी रोमन आये, जो ६५६ ई० तक वहां राज्य करते रहे; फिर अरबी मुसलमान आये जो आज़ तक वहां रहते हुए और शासन करते हुए चले आरहे हैं।

(३) अलक्षेन्द्र के बाद ग्रीस में प्राय: दूसरी शताब्दी के मध्य तक ग्रीक शासकों की परम्परा चलती रही; १४६ ई० पू० में रोमन लोग आ गये। सन् १४५३ तक ग्रीस पूर्वी रोमन साम्राज्य का एक अंग बना रहा। किन्तु जब से रोमन आये तभी से उस सभ्यता का, जो एक स्वतन्त्र, निर्भय सौंदर्य की भावना लेकर उदय होने लगी थी, अन्त हो गया। ग्रीक भाषा चलती रही। ग्रीक कला, साहित्य और दर्शन जिनका विकास ई० पू० ५–६ शताब्दी से प्राय: ई० पू० २री शताब्दी तक हो पाया था, समय समय पर यूरोप के मानस को प्रभावित करते रहे और आज भी प्रभावित कर रहे हैं, किन्तु वह प्राचीन ग्रीक मानव और उसकी परम्परा विनिष्ट होगई । मध्य युग में ग्रीकवासी ईसाई हो चुके थे। १४५३ ई० में तुर्क लोगों ने ग्रीस पर विजय प्राप्त की और तब से १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वहां तुर्क लोगों का राज्य रहा। फिर सन् १८२१ में ग्रीस में स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति हुई। इस स्वतन्त्रता युद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रसिद्ध कवि बायरन लड़े थे। अनेक वर्षों तक युद्ध होते रहे। सन् १८३२ ई० में ग्रीस एक स्वतन्त्र राज्य घोषित किया गया, और उसके पश्चात् उसकी आधुनिक स्थिति बनी। आज वहां की भाषा प्राचीन ग्रीक भाषा से मिलती जुलती सी आधुनिक डोरिक ग्रीक भाषा है।

ग्रीक सामाजिक जीवन

ये नोर्डिक आर्य लोग जब उन प्रदेशों में रहते थे, (यथा, मध्य एशिया, यूराल पर्वत के दक्षिणी-प्रदेश) जहां से धीरे धीरे बढ़ते हुए अनेक वर्षों में बाल्कन प्रायद्वीप में होते हुए ग्रीस में आये, तभी इनके समूहों में प्राय: दो वर्गों के लोग थे। एक उच्च वर्ग और दूसरा साधा-

रण वर्ग। दोनों वर्गों में कोई विशेष भेद नहीं था। यह वर्ग भेद भारत की तरह जाति भेद नहीं था, किन्तु परम्परा से ही कुछ परिवारों के लोग इन लोगों के समूहगत जीवन में कुछ विशेष प्रतिष्ठित होंगे। किसी विशेष प्रतिष्ठित परिवार का नेता ही इन लोगों के सम्पूर्ण समूह का नेतृत्व करता था। दूसरी जातियों से युद्ध के समय युद्ध करने में, और शान्ति के समय शान्ति स्थापन किये रखने में इस प्रकार का नेता ही राजा कहा जाने लगा था। बैलगाड़ियों में यात्रा करते हुए राह में जहां उपजाऊ भूमि मिली, वहां ठहर कर एक फसल तक खेती करके और फिर आगे बढ़ते हुए, राह में अपने जातीय गायक-कवियों के गीतों को सुनते हुए, ये ग्रीस में बढ़े चले आये। ग्रीस में वहां के आदि निवासियों से (कार्ष्णेय लोगों से) अनेक युद्ध हुए, उनको परास्त किया और अपना गुलाम बनाया। इन गुलामों को खेती करने एवं अन्य मजदूरी के कामों में जैसे भवन बनाना, घरेलू कामकाज करना इत्यादि में लगाया। इस प्रकार ग्रीस में बसने के बाद ग्रीस के मानव समाज में तीन वर्ग होगये थे। धीरे धीरे गुलाम वर्ग में स्वयं ग्रीक जाति के वे लोग भी सम्मिलित किये जाने लगे जो ग्रीक जातियों या ग्रीक नगर राज्यों के बीच युद्धों में बन्दी बना लिए जाते थे।

राजनैतिक संगठन—पश्चिमी दुनिया के इतिहास में, ई० पू० अनुमानतः ७-८वीं शताब्दी में सर्व प्रथम हम मानव को धर्म और पौराणिक भावनाओं से मुक्त यह सोचता हुआ पाते हैं कि समाज में आखिर किस प्रकार का राजनैतिक संगठन होना चाहिये। ग्रीक सभ्यता के पूर्व तीन प्राचीन सभ्यताओं में यथा मिस्र, मेसोपोटेमिया और क्रीट में—अपने 'पुरोहित-राजाओं' अथवा 'देव-राजाओं' से भिन्न किसी भी प्रकार के राजनैतिक संगठन की कल्पना तक होना संभव नहीं था। सर्व प्रथम ग्रीक लोगों की मुक्त बुद्धि के लिए ही यह संभव हो सका। ईसा के लगभग एक सहस्त्राब्दि पूर्व जब ग्रीक जातियों ने ग्रीस में पदार्पण किया, उस समय तो वे समूहगत जातियां ऊपर वर्णित अपने नेता के ही नेतृत्व में

संगठित होकर रहती होंगी। वही नेता फिर 'राजा' बना। ग्रीस में ग्रीक लोगों के आने के पूर्व जो नगर बसे हुए थे, वे ग्रीक लोगों ने प्राय: विध्वंस कर दिये थे। उन विध्वस्त नगरों के अवशेषों पर या उनके आस-पास, पहले गांव बसे, और फिर धीरे धीरे नगरों का विकास हुआ। जातियों का नेता ही इन नगरों का राजा बना। फिर धीरे धीरे अनुभव एवं ग्रीक बुद्धि के फलस्वरूप राजनैतिक-संगठन में विकास होने लगा। पहले राजतंत्र की जगह कुलीनतंत्र आया, फिर कुलीनतंत्र की जगह निरंकुश तन्त्र अर्थात् विशिष्ट या साधारण वर्ग में से ही कोई एक विशेष शक्तिशाली पुरुष सब अधिकार अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था और दूसरे लोगों की राय के बिना स्वेच्छा से राज्य करता था, चाहे वह राज्य लोगों की भलाई के लिए ही हो। फिर धीरे धीरे जनतन्त्रात्मक प्रणाली का विकास हुआ। समस्त ग्रीस में भिन्न भिन्न नगर-राज्य थे। यह आवश्यक नहीं कि इन सभी राज्यों में उपरोक्त क्रम से राजनैतिक संगठन का विकास हुआ, किन्तु सामान्यतया विकास का क्रम इसी प्रकार रहा। ऐसी भी स्थिति थी कि कई प्रणालियों के राज्य एक ही काल में उपस्थित हों—किसी राज्य में राजतन्त्र हो, किसी में कुलीनतन्त्र, और किसी में जनतन्त्र। ग्रीस के दो प्रसिद्ध एवं विशाल नगर राज्यों में यथा एथेन्स और स्पार्टा में तो लगातार झगड़ा ही इस बात का चलता रहता था कि एथेन्स तो जनतन्त्र का प्रबल समर्थक था और स्पार्टा राजतन्त्र का, किन्तु अधिकतर राज्यों में जनतन्त्र का ही प्रचलन था। राजनीतिक और नागरिक शास्त्रों की रचना होने लगी थी—जिनमें प्लेटो का "रिपब्लिक" और अरस्तू का "पोलिटिक्स" ग्रन्थ प्रसिद्ध है; इनका अध्ययन आज भी होता है।

गुलामों को छोड़कर अन्य सब लोग 'राज्य' के नागरिक माने जाते थे, सभी नागरिक शासन कार्य में भाग लेते थे। प्रत्येक राज्य में एक "सभाभवन" (आगोरा) होता था, जहाँ सभी नागरिक सार्वजनिक मामलों पर विचार करने के लिये, राज्य की विधियों (कानून) को बनाने

के लिए एकत्र होते थे, उच्च कोटि के उच्चस्तर पर वाद विवाद होते थे। कई महान् प्रतिभाशाली वक्ताओं का उदय हुआ था जिनमें डेमोस्थनीज का नाम इतिहास प्रसिद्ध है। बड़े बड़े प्रश्नों और समस्याओं का सब लोगों की अनुमति से निर्णय होता था। प्रायः सभी नागरिक महान् नागरिकता की भावना से ओत-प्रोत होते थे और अपने 'नगर-राज्य' के लिये प्राण न्यौछावर करने को उद्यत रहते थे। नागरिकता के अधिकारों से आभूषित होने के पूर्व सबको निम्न "नागरिकता की प्रतिज्ञा" लेनी पड़ती थी:—"हम किसी भी कायरतापूर्ण या दोषपूर्ण कार्य से अपने इस नगर पर लांछन नहीं आने देंगे, न कभी अपने सैनिक साथियों को युद्ध क्षेत्र में अकेला छोड़ेंगे। हम व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आदर्शों के लिये और नगर की पवित्र वस्तुओं के लिये लड़ेंगे। नगर के नियम हमारे लिये आदरणीय होंगे और हम उनका पालन करेंगे; और इन नियमों के प्रति आदर का भाव प्रेरित करेंगे, उन लोगों में, जिनमें जरा भी झुकाव होगा इन नियमों की अवहेलना करने की ओर या उनको भंग करने की ओर। लोगों में नागरिकता की भावना तीव्र करने के लिये हम निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे। इस प्रकार हम अपने नगर को जैसा यह हमें मिला था उसके समान ही नहीं वरन् उससे महानतर, उच्चतर और सुन्दरतर स्थिति में छोड़ जायेंगे।"

समाज में स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियों का कार्यक्षेत्र गृह था, जहाँ वे गृहकार्य, ऊन की कताई, एवं कपड़े बुनने में व्यस्त रहती थीं। सार्वजनिक समारोहों में वे भाग नहीं लेती थीं, किन्तु सब धार्मिक समारोहों में उपस्थित रहती थीं। उस युग में परदे का प्रचलन नहीं था। पुरुषों में बहु-विवाह का निषेध नहीं था; यद्यपि पुरुष प्रायः एक ही विवाह करते थे। विशेष प्रतिभाशाली स्त्रियों के लिये विकास की सुविधायें स्यात् अवश्य थीं। यह इससे मालूम होता है कि उन लोगों में सेफो नामक एक महान् कवयित्री थी जिसका समाज में बहुत आदर था।

समाज में एक पति या पत्नित्व का भाव संस्कारित नहीं हो पाया था। पच्छिमी दुनिया में यह भाव ईसाई मत के साथ साथ आया। ग्रीक सामाजिक जीवन में प्रफुल्लता की भावना प्रधान थी; संकुचितता, अनैसर्गिक अंकुश उनके स्वभाव में ही नहीं था—अतः विवाह के पूर्व स्त्री-पुरुष के मिलन में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता थी।

काम धन्धा—लोगों का मुख्य धन्धा कृषि और पशु पालन ही था। विशेष जन-समुदाय इसी काम में व्यस्त रहता था। कुछ लोग दस्तकारी के कामों में जैसे भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण, शस्त्र बनाना, जहाज बनाना एवं जहाजरानी करना, इनमें व्यस्त रहते थे और कुछ व्यापार तथा दुकानदारी में। समाज के वयोवृद्ध विशिष्ट जन शिक्षा एवं देव पूजा के काम में व्यस्त रहते थे। समाज में भारतीय आश्रम व्यवस्था से मिलती-जुलती भी एक व्यवस्था प्रचलित थी। सब नवयुवकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त कर, युद्ध के अवसरों पर अनिवार्यतः युद्ध में लड़ना पड़ता था। प्रौढ़ हो जाने पर ये ही लोग शासन का काम करते थे, जैसे राष्ट्र सभा में वाद-विवाद करना, नियम बनाना, न्यायालय चलाना इत्यादि। वृद्ध हो जाने पर शिक्षक या पुजारी का काम करते थे।

शिक्षा—आजकल जिस प्रकार जन साधारण के लिये जगह जगह विद्यालयों का प्रसार हो रहा है ऐसा उस युग में ग्रीस में भी जहां जनतन्त्रात्मक शासन था विद्यालयों का सामान्यतया प्रचलन नहीं था; बड़े बड़े दार्शनिक और विशिष्ट जन जिन्हें गुरु कह सकते हैं, अपने विद्यालय (Academies) खोल कर बैठ जाते थे, जहां प्रायः उच्च वर्ग के लोगों के बच्चे और युवक शिक्षा पाने के लिए आते थे। हां, प्रारम्भिक शिक्षा के लिए राज्य की ओर से अवश्य कुछ विद्यालय थे। शिक्षा का आदर्श उच्च था और शिक्षा में यह बात सर्व मान्य थी कि मानव का सर्वतोमुखी विकास होना चाहिये, मानसिक एवं शारीरिक भी। सुन्दर मन, सुन्दर शरीर में ही रह सकता है। इसीलिये शरीर के सुन्दर और सामञ्जस्य पूर्ण विकास पर खूब जोर दिया जाता था। शारीरिक विकास के लिए

अनेक खेल और व्यायाम प्रचलित थे। जैसे डिस्कस फेंकना, भाला फेंकना, जैवलिन फेंकना, घुड़सवारी करना, तीर चलाना इत्यादि। हर एक चौथे वर्ष के बाद प्रसिद्ध ओलम्पिया के पहाड़ पर खेल और व्यायाम की प्रतियोगिता होती थी, जिसमें सब नगर-राज्यों के युवक हिस्सा लेते थे और जिसके लिए युवक लोग बड़ी बड़ी तैयारी करके आते थे। यह याद होगा कि ओलम्पिया के खेलों का प्रचलन ई० पू० ७७६ में अर्थात् आज से २।। हजार वर्ष से भी अधिक पहिले हुआ था। यह एक विशाल राष्ट्रीय समारोह माना जाता था। वस्तुतः समस्त ग्रीक जीवन ही क्रीड़ामय था। इन समारोहों के अवसर पर सर्वदेशीय संधि घोषित करदी जाती थी जिससे सब राज्यों के नागरिक निर्भय, निःसंकोच क्रीड़ाओं में सम्मिलित हो सकें। यद्यपि आधुनिक काल की तरह विद्यालयों और लिखित पुस्तकों के जरिये शिक्षा का प्रचार नहीं था किन्तु कुछ ऐसे साधन अवश्य उपस्थित थे, जिनसे सर्व साधारण का, सब नागरिकों का, मानसिक विकास होता रहता था और समाज की उच्च से उच्च सांस्कृतिक हलचल में उनका सक्रिय और सुहृदयतापूर्ण भाग रहता था। राष्ट्रीय थियेटरों में एवं मंदिरों में धार्मिक समारोहों के अवसर पर नाटकों का अभिनय होता रहता था; नगर की 'ऐक्लेजिया' "राष्ट्र सभा" में बड़े बड़े विद्वानों और वक्ताओं के साथ सीधी बातचीत, बहस और विचार विनिमय चलता रहता था। दार्शनिकों की ऐकेडेमीज (विद्यालयों) में सुक्रात, प्लेटो, अरस्तू, एपीक्यूरस इत्यादि जैसे महान् विचारकों के साथ सृष्टि एवं जीवन सम्बन्धी प्रश्नों पर, दैनिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर मुक्त बुद्धि और हृदय से प्रश्नोत्तर एवं वाद विवाद होते थे। वे ही किसान, व्यापारी, शिल्पी जो दिन भर अपना काम करते थे, संध्या समय उपरोक्त महान् दार्शनिकों से बातचीत करते थे। ग्रीक जन के लिए केवल राजनैतिक डेमोक्रेसी ही नहीं किन्तु सांस्कृतिक डेमोक्रेसी भी थी। सारे समाज का मानस स्तर ऊँचा था।

कला कौशल

ग्रीक कला (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र एवं संगीतकला) प्रागैतिहासिक काल में प्रारम्भ होकर, होमर काल (ई० पू० ८००) में एवं तदंतर कई शताब्दियों में विकसित और परिपुष्ट होती हुई,ईसा पूर्व पांचवीं शती में पेरीक्लीज के समय में अपनी चरमोत्कर्ष पर पहुंची और फिर कई शताब्दियों तक उसकी परम्परा चलती रही । ग्रीक कला में सौन्दर्य के अनन्त वैभव के दर्शन होते हैं, उसमें हमें ग्रीक कलाकार एवं ग्रीक जाति की आत्मा की झलक मिलती है और यह अनुभव होता है कि सचमुच वह आत्मा मुक्त, सुसंस्कारित और सौन्दर्यमयी थी ।

स्थापत्य कला—प्रसिद्ध नगर एथेन्स के अभ्युदय काल में जब पेरीक्लीज वहां का शासक था—एक्रोपोलिस (एथेन्स की पहाड़ी) का अद्‌भुत शृंगार किया गया । "डायोनिसस" देव का मन्दिर, अन्य अनेक देवों के मन्दिर, एवं अनेक भवन एक्रोपोलिस (पहाड़ी) पर निर्मित किये गये । इस सुखद सौन्दर्य का निर्माता था महान् कलाकार फिडियास जन्म ५०० ई० पू० । तब तक संगमरमर का पता लग चुका था । मिट्टी, चूना,पत्थर के अतिरिक्त संगमरमर के महान् सुन्दर मन्दिर, किले, द्वार और ऊंचे भवन बनाये गये । इनकी निर्माण कला बहुत विकसित थी । इसकी मुख्य विशेषता थी, स्तम्भों की एक निश्चित ढंग से सज्जित पंक्तियों पर भवन का निर्माण करना । इस पद्धति से अनेक देशों की स्थापत्य कला प्रभावित हुई थी । ईसा पूर्व एवं उत्तर काल के भारत में गंधार प्रदेश में बौद्ध मन्दिरों के निर्माण में यह प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है । मध्ययुग में जर्मनी और फ्रांस में, एवं इङ्गलैंड में तो आधुनिक युग तक उक्त पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है । इस कला में चित्रांकन और नक्काशी का इतना महत्व नहीं, जितना एक विशिष्ट समरसता एवं सुखद दृष्टव्यता का है । प्राचीन ग्रीस का कोई भी भवन

या मन्दिर आज पूर्ण रूप में नहीं मिलता है। प्राप्य अवशेषों से, पुस्तकों के चित्रों से, एवं रोमन प्रतिकृतियों से केवल उनकी कल्पना की जाती है। ये मन्दिर और भवन केवल एथेन्स में ही नहीं किन्तु ग्रीस के अन्य नगरों में स्थान स्थान पर बिखरे हुए हैं। एशिया-माइनर के ग्रीक-नगर और बन्दरगाह एफीसीयस में अद्भुत एक भव्य मन्दिर बनाया गया था, चन्द्र देवी (डियाना)का ई०पू० ३०० में;प्राचीन कालीन दुनिया के"सप्त-आश्चर्यों" में इसकी गणना थी। दुर्भाग्यवश ३६२ ई० में गोथ लोगों ने इसको विध्वंस कर दिया। इसके अतिरिक्त कई मन्दिर थे जैसे:— सिसली में देव नेपच्यून का प्राचीन मन्दिर, कोरिन्थ का विशाल मन्दिर, इत्यादि। ऐपिडारस में यूनानी विशाल थियेटर के अवशेष, जिसमें हजारों दर्शकों के बैठने के लिए प्रशस्त गैलरी बनी हुई है, अब भी अच्छी हालत में मौजूद हैं। प्राचीन ग्रीस के प्रत्येक भवन या देवालय में वहां के मानव की सुरुचिपूर्णता और सौंदर्य-प्रियता बरबस अपने आप बोल देती है।

मूर्ति-कला—सौन्दर्य एवं सजीवता—ये गुण वहां की मूर्ति-कला को अमरत्व प्रदान करते हैं। ग्रीक मूर्तियां ग्रीक देव या देवियों की एवं दार्शनिक, कवि, या योद्धाओं की हैं। ये एक प्रकार के नरम प्रस्तर या संगमरमर या धातु की बनी हैं। धातु की मूर्तियां कम मिलती हैं। ग्रीक देवताओं के राजा ज्यूस (रोमन जूपीटर) की मूर्ति प्राचीन दुनिया की एक अद्भुत वस्तु मानी जाती थी। यह मूर्ति अब नहीं है। प्राचीन साहित्य से ही इसका पता लगा है। स्वर्ण और हाथीदांत की बनी ६० फीट ऊँची अति विशाल और प्रभावशाली यह मूर्ति थी, मानो अपने आदेशों से सृष्टि का संचालन कर रही हो। इसके अतिरिक्त अद्भूत सौन्दर्यमयी ग्रीक देवी 'एफ्रोडाइटी' (रोमन वीनस) अर्थात् "सौन्दर्य की देवी" की मूर्ति; एवं अन्य देवी देवताओं की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। रोहड्स द्वीप में ई० पू० २८० में कांस्य धातु की एक विशाल "सूर्य देव" की मूर्ति का निर्माण किया गया था। यह मूर्ति १०० फीट ऊंची थी। यह प्राचीन युग का एक "आश्चर्य" मानी जाती थी। ग्रीक देवी देवताओं

के सम्बन्ध में कल्पना यही थी कि वे देवी देवता वस्तुतः मानव देह-धारी ही माने जाते थे। प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया या भारत के अनेक देवी देवताओं की तरह उनकी सूरत अजीब ढंग की अमानवीय नहीं होती थी। जैसा सुडौल और सौन्दर्यपूर्ण ग्रीक मानव था, वैसा ही उसका देवता या देवी भी। और इन मानव देहधारी देवी देवताओं की मानवीय सूरत और शरीर वाली मूर्तियों में इतने पूर्ण और अद्भुत सौंदर्य के दर्शन होते हैं, जिसकी तुलना का सौन्दर्य संसार में अन्यत्र नहीं मिलता, न चित्रों में न मूर्तियों में। ऐसा भी उल्लेख आता है कि इन सफेद मूर्तियों में रंग की झांई भी दी जाती थी। यदि रंग की झांई वाली कोई मूर्ति मिल पाती तो सचमुच यह और भी एक सुखद आश्चर्य की वस्तु होती।

देवी देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त कालान्तर में वास्तविक जीवन की झांकियां भी मूर्तियों के रूप में अंकित होने लगी थीं। जैसे एक रथवान रथ हांक रहा है, एक खिलाड़ी डिसकस फैंक रहा है। उस मूर्ति में जिसमें कि खिलाड़ी को डिसकस फैंकता हुआ दिखलाया गया है—स्वस्थ शरीर की पेशी पेशी स्पष्ट दिखलाई देती है। वह स्वस्थ सौन्दर्य का एक अद्भुत प्रतीक है।

ये प्राचीन ग्रीक मूर्तियां अपने मूल रूप में तो विरली ही मिलती हैं, अधिकतर उनकी रोमन प्रतिकृतियां ही मिलती हैं। अतएव प्राचीन ग्रीक और रोमन मूर्तिकला मिल-जुल सी गई है।

चित्र एवं संगीत-कला—उस समय के मिट्टी एवं संगमरमर के पत्थर के बर्तनों पर एवं भवनों की भित्तियों पर चित्रकला के कुछ नमूने मिलते हैं। चित्रकला के और भी आलेख उस युग के साहित्य में मिलते हैं—किन्तु उस युग का कोई वास्तविक चित्र उपलब्ध नहीं होता। धारणा है, कि ग्रीस में संगीत-कला का भी उत्कर्ष हुआ था। उनकी पौराणिक कथाओं में महान् संगीतज्ञ ऑरफ्यूज का जिक्र आता है जो अपने लायर (एक वाद्य-यंत्र) के माधुर्य से केवल मानव को ही नहीं,

वरन् प्रकृति को आनन्द विभोर कर देता था।

यह निःसंदेह कहा जा सकता है, कि ग्रीक जीवन कलामय था और ग्रीक कला जीवनमय। एक अद्भुत उदात्तता एवं उल्लास, जीवन में एक मुक्त भाव और सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि—ये ग्रीक जीवन के तत्व थे,–ग्रीक कला के तत्व भी।

धर्म—जिस कला की हम बात कर रहे हैं, मानो ईसा पूर्व ६ठी ७वीं शताब्दी, उसमें यह याद रखना चाहिए कि अभी तक ईसाई और इस्लाम धर्म का तो जन्म भी नहीं हुआ था, यहूदियों की हलचल इजाराइल प्रदेश में होने लगी थी, किन्तु एकेश्वरवाद का रूप अभी स्थिर नहीं हो पाया था। पूर्व में भारत में ई० पू० ६ठी शताब्दी में बुद्ध का आगमन काल था और वहां धीरे धीरे बौद्ध धर्म का प्रसार होने लगा था; चीन में स्वर्गवासी पूर्वजों और आदिकालीन देवी देवताओं की पूजा के साथ साथ कनफ्यूसियस के नैतिकतापरक विचारों का प्रभाव फैलने लगा था।

प्राचीन ग्रीक लोगों के धर्म का रूप बहुदेववादी और मूर्तिपूजक था, जैसा मानव की आदिकालीन जातियों में पाया जाता है। इन लोगों का सबसे बड़ा देवता ज्यूस था, जिसका रोमन नाम जूपीटर हुआ। ज्यूस सब देवताओं का राजा माना जाता था। अन्य कुछ देवता ये थे:—ईरीस (युद्ध का देवता; रोमन नाम मार्स); ईरोस (प्रेम का देवता; रोमन नाम क्यूपिड); एपोलो (सूर्य देवता)। प्रमुख देवियां थीं:—पेलास एथीनी (ज्ञान की देवी; रोमन नाम माइनरवा); एफ्रोडाइटी (सौंदर्य की देवी; रोमन नाम वीनस); डीमीटर (अन्न की देवी; रोमन नाम सीरीज) इत्यादि। इन सब देवी देवताओं का स्थान ग्रीस में स्थित ओलिम्पिस पर्वत समझा जाता था। ग्रीक लोगों के नगरों में इन देवी देवताओं के भव्य देवालय होते थे, देवालय में मूर्ति के सामने एक वेदी बनी हुई होती थी, जिस पर भेंट चढ़ाई जाती थी। वर्ष में ऋतुओं के अनुसार विशेष पूजा और धार्मिक समारोह होते थे जिनमें सब

स्त्री, पुरुष आनन्द से सम्मिलित होते थे ।

किंतु यह धर्म आरंभिक कालीन बहुदेववादी और मूर्ति-पूजक होते हुए भी, मिस्र और मेसोपोटेमिया के इसी प्रकार के आदिकालीन धर्मों से मूलतः भिन्न था । मिस्र और मेसोपोटेमिया के मानव में अपने देवी देवताओं के प्रति भय और शंका का भाव था, वह उनसे डरता था कि कहीं देवता उसका अनिष्ट नहीं करदें; और पुजारी, पुरोहित लोगों का इतना महत्व था मानो देवता द्वारा अनिष्ट करवाना न करवाना उन्हीं लोगों के हाथ में है । मिस्र में तो फेरो (राजा) ही देवता समझा जाता था, और मेसोपोटेमिया में पुरोहित ही राजा होता था । किन्तु ये ग्रीक लोग एक भिन्न जलवायु, एक भिन्न युग, एक भिन्न मानस के लोग थे, मानो इस संसार में मानव का प्रथम दौर तो प्राचीन मिस्र, सुमेर इत्यादि प्रदेशों में हो चुका था और अब मानव का यह द्वितीय दौर प्रारम्भ हुआ था; प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यता के अवशेषों पर एक भिन्न सभ्यता का उद्भव होरहा था । इनके धर्म के आधार कुछ नये तत्व थे; भय और शंका नहीं किन्तु निर्भयता, प्रेम और मैत्री; भय के मारे मानस का कुन्द और कुण्ठित होजाना नहीं किन्तु दैनिक जीवन में मैत्री और सहयोग से मानस का खिल जाना और प्रसन्न होना । ग्रीक लोगों के देवता स्वयं ग्रीक मानवों से भिन्न नहीं थे, देवता भी वैसे ही खाते पीते रहते थे, प्रेम और द्वेष करते थे, विवाह और युद्ध करते थे जैसे स्वयं ग्रीक लोग; देवता भी वैसे ही सुडौल और सुन्दर थे जैसे ग्रीक मानव स्वयं । ग्रीक लोग देवताओं के अस्तित्व के विषय में कोई बहुत चिन्तित नहीं थे । ठीक है कि देवताओं के अस्तित्व में एक स्थूल सा विश्वास बना हुआ था, किन्तु ग्रीक साहित्य में देवता मानवीय भावों और वृत्तियों को अभिव्यक्त करने के लिये प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं, मानो ग्रीक कवि ने किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता से प्रेरित होकर अपनी कल्पना से देवताओं की रचना करली हो ।

ग्रीक धर्म हमेशा राज्य के आधीन था, अर्थात सर्वोपरि धर्म नहीं किन्तु राज्य था; ग्रीक समाज धर्मरूढ़ (Theocratic) नहीं किन्तु लौकिक (Secular) था। ग्रीस में धार्मिक परम्परा ऐहिक उन्नति, नैतिक विकास, एवं विज्ञान की प्रगति में बाधक नहीं थी; बल्कि स्वतन्त्र दार्शनिक विचार एवं कलात्मक रचना दैवी गुण ही समझे जाते थे। इसीलिए उन्होंने कला और संगीत के देवता एपोलो, एवं सौन्दर्य की देवी एफ्रोडाइटी की कल्पना की थी, और इस कल्पना को वे अपने जीवन और अपनी रचनाओं में साकार रूप भी दे पाये थे।

भाषा और साहित्य—जब ईसा से लगभग एक हजार वर्ष से भी पूर्व नोर्डिक आर्य लोग उत्तर पूर्व से ग्रीस में आये थे तब उनमें केवल एक बोली जाने वाली (जिसका कोई लिखित रूप नहीं बना था) भाषा का प्रचलन था। यह भाषा आर्य्यन परिवार की ग्रीक भाषा थी। भाषा वास्तव में समुन्नत और मधुर थी। इसमें ग्रीक गायक कवि (बार्डस्) मधुर मधुर एवं वीरतापूर्ण गीत गाया करते थे। जब ये लोग इधर आये और ग्रीस, एशिया-माइनर, दक्षिण इटली, क्रीट एवं अन्य द्वीपों में फैले तब वे फीनीसीयन लोगों में प्रचलित एक लिखित भाषा के सम्पर्क में आये। फीनीसीयन लोगों ने अपनी भाषा की लिपि प्राचीन मिस्र से सीखी थी। ग्रीक लोगों ने इसी फीनीसीयन लिपि का और भी अधिक विकास किया; उसमें व्यंजन अक्षर तो पहिले से ही थे किन्तु स्वर अक्षर नहीं थे। ग्रीक लोगों ने स्वर अक्षरों का स्वयं आविष्कार किया, और इस प्रकार अपनी ही ग्रीक भाषा का एक लिखित रूप तैयार किया। अनुमानतः एक हजार वर्ष ईसा पूर्व तक ग्रीक लिपि तैयार हो चुकी होगी।

ग्रीस देश, ग्रीक भाषा का सर्व प्रथम महाकवि,—केवल ग्रीस का ही नहीं किन्तु समस्त पश्चिमी दुनिया का आदि कवि—होमर माना जाता है। ग्रीक भाषा के दो प्राचीन महाकाव्य मिलते हैं; एक "इलियड" (Iliad) और दूसरा "ओडेसियस" (Odysseus)। इन दोनों

महाकाव्यों में मानव भावनाओं, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं, आन्तरिक प्रेरणाओं और अन्तर्द्वन्दों की; एवं तत्कालीन सामाजिक जीवन और सामाजिक भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। "इलियड" की वस्तु कथा का सारांश इस प्रकार है—ग्रीक नगर स्पार्टा का राजा मीनीलास था। उसकी रानी थी हैलन जो उस युग की दुनिया में सर्वोपरि सौन्दर्यमयी रमणी समझी जाती थी। एशिया-माइनर में स्थित तत्कालीन ट्रोय नगरी का राजा पेरिस किसी कार्यवश स्पार्टा आया। वहां उसने हैलन को देखा, और उसे अपने राज्य में भगा ले गया। ग्रीक वीरों और ट्रोय के ट्रोजन वीरों में युद्ध हुआ। हैलन को वापिस ग्रीस ले आया गया। कुछ कुछ अंशों में यह गाथा हिन्दुओं के आदि कवि वाल्मीकि के आदि महाकाव्य "रामायण" की गाथा से मिलती है। दूसरे महाकाव्य "ओडेसियस" में, ओडेसियस (यूलीसीस) नामक वीर योद्धा और महाप्राण मानव के आश्चर्यजनक और साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन है। इन महाकाव्यों के रचना काल के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की एक राय तो यह है कि महाकवि होमर द्वारा इनकी रचना ई० पू० ९५० के पहिले हो चुकी थी और उसी समय इनका लिखित रूप भी प्रचलित हो गया था। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि ये दो महाकाव्य किसी एक विशेष कवि की रचना नहीं हैं, वरन् कई कवियों की हैं। भिन्न भिन्न समयों पर पदों की रचना होती रही, उनका पाठ कंठस्थ हो होकर कई पीढ़ियों तक चलता रहा; आखिर जब लिखने के साधन प्रस्तुत हुए तब ये कवितायें लिपिबद्ध की जाकर संगृहीत करली गई, उसी रूप में जिसमें आज ये प्रचलित हैं। होमर के पश्चात् ई० पू० नवीं शताब्दी में एक दूसरा महाकवि हुआ जिसका नाम हिसिओड (Hesiod) था और जिसने नैतिक शिक्षा से परिपूर्ण प्रथम कवितायें लिखीं। इसके बाद तो एथेन्स के अभ्युदय काल में ईसा पूर्व चौथी पांचवीं शताब्दियों में ग्रीस में अनेक कवियों, नाट्यकारों, आलोचकों एवं गद्य साहित्यकारों का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ। अनेक दुखान्त एवं सुखान्त नाटकों की, एवं

भावपूर्ण गीतिकाव्यों की रचनायें हुईं । दुखांत नाटककारों में सोफोक्लीज (४९६–४०६ ई० पू०), ऐश्चीलीज (५२५–४५६ ई० पू०), यूरोपीडीज (४८०–४०६ ई० पू०) के नाम और सुखांत नाटककारों में एरीस्टोफेन्स (४४८–३८० ई० पू०) का नाम उल्लेखनीय है। गीतिकाव्यों के लिये कवयित्री सेफो (लगभग ७वीं शताब्दी ई० पू०) का नाम प्रसिद्ध है। इतिहासकारों में हिरोडोटस (४८०–४२५ ई० पू०) और थ्यूसीडाईडीज (४६०–४०० ई० पू०) प्रसिद्ध हैं। राजनीति और दर्शन शास्त्र में प्लेटो (४२७–३६० ई० पू०) और अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) के ग्रन्थ महान और प्रसिद्ध हैं जो आज भी राजनीति, साहित्यालोचन और दर्शनशास्त्र विषयों के आधारभूत ग्रन्थ माने जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रीस में शब्द और वाणी का अपूर्व अभ्युदय हुआ। उन आदि मनीषियों की वाणी का सौंदर्य और माधुर्य हजारों वर्षों के बाद आज भी मानव हृदय को आलोड़ित कर देता है। ऐसी पूर्ण प्राणोत्तेजक और आनन्द-दायिनी वाणी और साहित्य का कम से कम पश्चिमी दुनिया में पहले कभी भी संचार नहीं हुआ था। इसमें ग्रीक आत्मा की महानता प्रच्छन्न है।

दर्शन और विज्ञान—धार्मिक परम्परायें और विश्वास तो पहिले से ही सुनिश्चित से होते हैं। इन सुनिश्चित बद्ध परम्पराओं और विश्वासों से मानस विमुक्त होकर जब जीवन और सृष्टि के विषय में स्वतन्त्र चिंतन करने लगता है तभी दर्शन का उदय होता है। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटेमिया के कार्ष्णेय मानव अपनी चेतना को विमुक्त कर सृष्टि, प्रकृति और जीवन के विषय में निर्भय और स्वतन्त्र प्रायः कुछ अधिक नहीं सोच पाये थे, स्यात् उनमें अभी तक यह गहन चेतन जाग्रत ही नहीं हो पाई थी कि वे इन सब विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन और विवेचना करने लगते; स्यात् इन बातों ने अभी तक उनकी चेतना को परेशान भी नहीं किया था; किंतु ये बातें ग्रीक लोगों को शुरू से ही परेशान करने लगी थीं। महानतम ग्रीक दार्शनिक अरस्तू का आगमन तो ई. पू. चौथी

शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था किन्तु ग्रीक दर्शन की परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी,और तत्वज्ञान संबंधी कई विचार-धारायें प्रवाहित हो चुकी थीं। सृष्टि की अनन्त विभिन्नता में एकता ढूँढने की ओर चिन्तन होने लगा था, सृष्टि का आदि कारण जानने के प्रयत्न होने लगे थे। सबसे पहिले आये भूतवैज्ञानिक जो जल, जल के बाद वायु तत्व में ही सृष्टि का कारण ढूँढते थे; फिर आये गणितज्ञ-दार्शनिक जिनमें पाइथागोरस का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें सब वस्तुओं में यदि कोई एक सामान्य तत्व मिला तो वह "संख्या" थी; संख्या का आदि था "एक" (१), अतएव "एक" ही सृष्टि का आदि कारण और आदितत्व है। फिर इलियाटिक्स आये जो उस "एक" को ही ईश्वर की संज्ञा देते थे और कहते थे यह "एक" "चेतन बुद्धि तत्व" है, जो स्वयं स्थित है, द्वन्द्वात्मक न्याय से वे इस "एक" की सत्ता सिद्ध करते थे। फिर अन्य दार्शनिक आये जो "सृष्टि की रचना" और "हमारे ज्ञान का आधार क्या है"—इन बातों की विवेचना करते थे। "सृष्टि रचना" के विषय में दार्शनिक अनाक्षागोरस कहता था, "एक अनन्त बुद्धि (चेतना) बहुरूप अनन्त भूतद्रव्य को सुव्यवस्थित किये हुए है।" दार्शनिक एम्पीडोक्लीज कहता था, "प्रेम ही एक सृजनकारी शक्ति है,–सृष्टि की रचना प्रेम के आधार पर हुई है।" ज्ञान के आधार के विषय में हीराक्लीटस का मत भौतिकवादी था; वह इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान का आधार मानता था। इन्द्रियों के प्रवेशद्वार द्वारा ही सृष्टि का सही ज्ञान प्राप्त होता है। दार्शनिक परमीनाइडीज अध्यात्मवादी था, उसका मत यही था कि सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह इन्द्रियद्वार रुद्ध करके केवल सूक्ष्म भावनाओं अर्थात् आत्मचिंतन में अपना ध्यान केन्द्रित करे। कुछ दार्शनिक इन्द्रियों और अन्तर्दृष्टि दोनों को ज्ञान का साधन मानते थे। फिर कुछ दार्शनिक आये जो अपने आपको सोफिस्ट कहते थे। उनकी यह धारणा थी कि अन्तिम तथ्य या तत्व की कोई पहिचान नहीं

कर सकता, सत्य तो केवल सापेक्षिक है, एक बात भी ठीक हो सकती है दूसरी भी; अतएव वक्तृत्व शक्ति से, वाद विवाद और तर्क से वह राय या बात मनवालेनी चाहिये जो समाज में व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो। दृश्य प्रकृति और सृष्टि को समझने के लिये मानव के ये प्रथम प्रयास थे।

फिर ग्रीस के मानसिक क्षेत्र में पदार्पण होता है सुक्रात (४६९-३९९ ई० पू०) का जो एक पत्थर के कारीगर का पुत्र था, किन्तु जो बना महात्मा सुक्रात। उसने परस्पर विनिमय द्वारा और बातचीत द्वारा असत्य और अशुद्ध बात को खोल देने और सत्य और शुद्ध बात को ढूंढ निकालने का अपना ही एक ढंग निकाला। अधिक परिश्रम से बाह्य संसार, दृश्य प्रकृति को ढूंढते ढूंढते उसे यह अनुभव होने लगा कि इस दृश्य संसार के वास्तविक तथ्य और अन्तिम सत्य को पा लेना असंभव है, अतएव उसका ध्यान अन्तर-सृष्टि, मन की दुनिया की ओर गया, और वहां उसे नैतिक सत्यों की अनुभूति हुई और उसने घोषणा की कि बाहर की ओर देखने से नहीं किन्तु अन्तर की ओर झांकने से सत्य मिल सकता है। "अपने आपको पहिचानो" उसकी शिक्षा का मूल मन्त्र बना; और ज्ञान और नैतिकता को उसने एक ही वस्तु माना। जो अच्छा है वही ज्ञानी है; जो ज्ञानी है वही अच्छा है। जो ज्ञानी है वह बुरा काम कर ही नहीं सकता; बुराई अज्ञान का द्योतक है। जैसे कोई आदमी डरपोक है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे मृत्यु और जीवन का सच्चा ज्ञान नहीं है। नैतिकता ही वास्तविक जीवन का आधार है। उसका दर्शन इस दुनिया में विशाल नैतिक शक्ति की रचना कर सकता है। उसके सत्य के शोध और असत्य के निषेध के ढंग से कुछ लोग ऐसे चिढ़ गये थे कि उस पर युवकों के दिमाग बिगाड़ने का इल्जाम लगाया गया और फलस्वरूप उसे विष का प्याला पीना पड़ा (३९९ ई० पू०)। किन्तु अपनी मृत्यु के पीछे अपने अनुयायियों में वह छोड़ गया एक महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिसका नाम प्लेटो (अफलातून ४२७-३४७ ई० पू०)

था। प्लेटो का मस्तिष्क सचमुच एक विभूति थी जो युग युग में मानव को चकित करती रही है, और करती रहेगी। ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो उसने अधूरा छोड़ा हो,—क्या दर्शन, क्या राजनीति, क्या समालोचना, क्या शिक्षा। सब में उसका एक ही उद्देश्य था—"सत्य की खोज"। दार्शनिक क्षेत्र में उसे सृष्टि का सत्य (रहस्य) मिला—भाव में; वस्तु में नहीं। वस्तु है किन्तु अवास्तविक। वस्तु तो 'भाव' का प्रतिबिम्ब मात्र है। भाव स्थायी और वास्तविक है। विज्ञान का सम्बन्ध भावों (मानस रूपों) से है जो स्थायी हैं, वस्तुओं से नहीं जो कि भावों की केवल अपूर्ण नकल मात्र या प्रतिबिम्ब हैं। इसके आगे बढ़कर प्लेटो जिसका झुकाव अव्यक्त की ओर है, सब भावों का साधारणीकरण करके, एक साधारण भाव तक पहुंचता है, जिसे वह 'ईश्वर' की संज्ञा देता है। जिस प्रकार दृश्य वस्तुओं (सृष्टि) के परे भाव हैं, उसी प्रकार भावों के परे "ईश्वर" है। ईश्वर परम भाव, परम बुद्धि, परम आनन्द, परम सौन्दर्य है; वही सब सृष्टि का "आदि कारण" है। उद्देश्य है 'सत्य' तक पहुंचना; किन्तु यदि ये दृश्य वस्तुयें भावों की सच्ची और पूर्ण नकल नहीं हैं तो हम सत्य तक पहुंचे कैसे ? वह इस प्रकार:—मानव देह (दृश्य वस्तु) से परिवेष्ठित एक तत्व है, "आत्मा"। यह 'तत्व' ईश्वरीयलोक, "सौन्दर्य और आनन्दमय" लोक से अवतरित होकर दृश्य संसार (मानव देह) में आता है, अतः उसे भव्यलोक की स्मृति होती है, जहां से वह अवतरित होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें इस दृश्य सृष्टि की, वस्तुओं की अनुभूतियां होती हैं; ये अनुभूतियां आत्मा की स्मृति को जागृत कर देती हैं, यह स्मृति "भाव" या "परमभाव" ईश्वर की होती है। वह लगाव जो शरीर में स्थित आत्मा, अर्थात् मानवात्मा को ईश्वर (परम भाव) से जोड़े रखता है, प्रेम है। दृश्य सृष्टि के परे भाव, और भाव के परे "परमभाव", ईश्वर-लोक है। इस 'परम भाव' या ईश्वर-लोक की आभा सौन्दर्य है। आत्मा इस सौन्दर्य के लिये तड़फड़ाती रहे, यही प्रेम है; अर्थात्

मानवात्मा में सौन्दर्य की उत्कट इच्छा ही प्रेम है। इस सौन्दर्य की (परम भाव की, आभा की) एक झलक भी मिलजाने से आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है,–उसे सत्य की प्राप्ति होती है। ये प्लेटो के दार्शनिक विचार हैं जिनसे उसने अपनी आत्मा को संतोष दिया एवं मन की शंकाओं और द्वन्द्वों को हटाकर अपने अन्तर में सामञ्जस्य स्थापित किया।

प्लेटो के बाद आया अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०)। अरस्तू प्लेटो का महान् चेला था, और सिकन्दर महान् का गुरु। अरस्तू बहुत तेज था, गुरू से कम प्रतिभाशाली नहीं। ग्रीस में जो कुछ ज्ञान भण्डार है, ग्रीस में जो कुछ जानने को है उसकी परिणति प्लेटो और अरस्तू में आकर हो जाती है। अरस्तू था तो प्लेटो का चेला,किन्तु उसने गुरू की तमाम विचार पद्धति को ही बदल डाला। प्लेटो जहाँ आदर्श और भाव की बात करता था वहां अरस्तू इसी सृष्टि की वास्तविकता और इसी सृष्टि (प्रकृति) के नियमों की। प्लेटो ने ज्ञान का आधार ढूंढा "आत्मा की स्मृति",भाव (आध्यातम) में,अरस्तू ने ज्ञान का आधार ढूंढा ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभवों में। बस यही मौलिक भेद हुआ, और जहां प्लेटो ने तो एक आध्यात्म संसार की रचना की, वहाँ अरस्तू ने विज्ञान संसार की नींव डाली। अतः अरस्तू 'भौतिक विज्ञान' का पिता कहलाया। वह दुनिया जो जादू टोना, देव पुजारी, निराधार परम्परा, भय एवं अज्ञानांधकार से भरी थी, उनमें अरस्तू ने दृढ़ता से विज्ञान के प्रकाश की किरणें फैंकीं, और वह रास्ता आलोकित किया जिससे मनुष्य स्वयं इस प्रकृति और समाज में अन्वेषण करके, प्रकृति और सृष्टि के रहस्यों को खोलता चला जाय।

प्लेटो के उपरोक्त दार्शनिक विचार पढ़कर यह नहीं मान लेना चाहिये कि वह तो केवल "आध्यात्म लोक" का मानव था। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में परम्परा से ऊपर उठा हुआ वह निडर,एक

स्वतन्त्र विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ 'रिपबलिक' में एक आदर्श समाज संगठन की कल्पना की है; अपनी दूसरी पुस्तक "लॉज" में उसने बतलाया है कि एक नागरिक को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। उसने स्पष्ट बतलाया है कि समाज और सामाजिक संगठन का निर्माता कोई अदृश्य शक्ति नहीं; प्लेटो के "भाव लोक" का ईश्वर भी इसमें दखल करने नहीं आता। हां, चूंकि यह संसार "भावों" की अपूर्ण नकल है, इसलिये इसमें बुराई स्वाभाविक है, किन्तु मानव के पास बुद्धि और स्वतन्त्र "इच्छा शक्ति" है, अतएव बुद्धि से अच्छाई और बुराई को वह पहचान सकता है और अपनी 'इच्छा' से वह इनमें से किसी एक को भी चुन सकता है। प्लेटो ने कहा है:—"शासन का स्वरूप मानव चरित्र के अनुरूप होता है। राज्यों का निर्माण शिलाओं और पेड़ों से नहीं हुआ करता, वह होता है नागरिक के चरित्रों से, जिससे प्रत्येक वस्तु को स्वरूप मिलता है।" मानव समाज को सम्बोधित कर प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जिन सामाजिक एवं राजनैतिक बुराइयों के कारण आप इस समय कष्ट उठा रहे हैं उनमें से अधिकांश का निराकरण आपही के हाथों में है। प्रबल इच्छा-शक्ति और साहस के द्वारा आप उन्हें दूर कर सकते हैं। यदि आप विचार करें और अपने विचारों के अनुसार कार्य करें तो आप अब से कहीं अधिक अच्छी और सुखद रीति से जीवनयापन कर सकते हैं। आपको अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है।" अरस्तू इस बात को मानता था किन्तु वह यह भी जानता था कि प्लेटो के उपदेशानुसार अपने भाग्य को वश में करने के पहिले मानव समाज को अधिक ज्ञान और अधिक निश्चित ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव अरस्तू ने क्रमपूर्वक उस ज्ञान को एकत्र करना आरंभ किया जिसे आजकल हम विज्ञान कहते हैं। सैंकड़ों उसके विद्यार्थी ग्रीस और एशिया में फैले हुये थे, उसकी 'प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास' के लिये मसाला एवं तथ्य एकत्र करने को। उसके निर्देशन में उसके चेलों ने भिन्न भिन्न देशों के १५८ संविधानों (शासन विधियों) का

विश्लेषण और अध्ययन किया था। इस प्रकार भौतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान की नींव पड़ी।

सांस्कृतिक देन—प्रकृति के अध्ययन, अन्वेषण एवं समाज के अध्ययन अन्वेषण की जो नींव, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले अरस्तू ने डाली थी, उसकी कितनी अद्भुत परम्परा चल निकली और आज उसका क्या फल हमारे सामने है, हम स्पष्ट देख रहे हैं–प्रकृति और समाज विषयक अनेक रहस्य जो मानव को विदित नहीं थे आज स्पष्ट विदित हैं। दिन प्रति-दिन प्राकृतिक विज्ञान हमारे सामने संसार का भेद खोलता चला जा रहा है। आज प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव समाज की विकास-विधि को समझने लगा है, इतिहास की गति को पहचानने लगा है।

ग्रीक मानव ने जहां निर्भय निःशंक हो एक वैज्ञानिक अन्वेषक की दृष्टि से समाज और प्रकृति को देखना प्रारम्भ किया था वहां उसने सौन्दर्य की भावना को भी आत्मसात किया था। जगत उनके लिये सौन्दर्य-स्थली थी, और जीवन विस्मय और आनन्द की अनुभूति। दिल खोलकर वे यहाँ खेले थे—कलात्मक रचना करने में, नये विचार ढूंढने में, जीवित रहने में उन्हें आनन्द आता था। अपनी इन्हीं विशेषताओं से ग्रीक संस्कृति अखिल मानव जाति को प्रगति में सहायक बनी।

●

(२६)

प्राचीन रोम और रोमन सभ्यता

ग्रीस में ग्रीक आर्यनों की जब चहल-पहल शुरू हुई उसके कुछ शताब्दियों बाद यूरोप के एक अन्य भाग में (इटली, रोम में) एक तीसरी

चहल-पहल प्रारम्भ हुई; यह रोमन आर्यों की चहल-पहल थी जो ग्रीक साम्राज्य और ग्रीक सभ्यता के पतन के बाद कई शताब्दियों तक चलती रही, और जिसने रोम और रोमन सभ्यता की छाप मानव इतिहास पर अंकित की। वास्तव में आधुनिक यूरोप में जो कुछ है, उसमें बहुत कुछ तो ग्रीक और रोमन सभ्यताओं की देन है। प्राचीन रोमन इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं।

१. प्रारम्भिक स्थापना काल–(अनुमानतः १००० ई०पू० से ५१० ई० पू० तक)

२. जनतन्त्र काल–(५१० ई० पू० से २७ ई० पू० तक)

३. सीजर (सम्राट) काल–(ई० पू० २७ से ई० सन् ४७० तक)

प्रारम्भिक स्थापना काल—(१००० ई. पू. से ५१० ई० पू० तक) आर्य लोगों का ऐसा ही एक प्रवाह जो ग्रीस में आकर मिल गया था, ई० पू० १००० में इटली की तरफ भी आया। इटली में इन आर्यन लोगों के आने के पहिले भूमध्यसागरीय उपजाति के काष्र्णय (काले गोरे) लोग बसे हुए थे जिनका वर्णन कई बार आ चुका है। ये आर्य्य लोग आये, इन्होंने आदि निवासी काष्र्णय लोगों को हराया, परस्पर अनेक विवाह भी हुए, और प्रारंभ में मुख्यतया वे इटली के उत्तर और मध्य भाग में बस गये। ये लोग जो उत्तर पूर्व से इटली में आकर बसे अन्य आर्यों की तरह गौर वर्ण के लम्बे आदमी थे, साहसी और मुक्त स्वभाव वाले। ये परम्परागत अपने जातीय देवताओं की पूजा किया करते थे, इनका मुख्य देवता जूपीटर था और मुख्य पेशा पशुपालन और कृषि। आर्य भाषा परिवार की लेटिन भाषा का इनमें विकास हुआ। इस भाषा के लिखित रूप का विकास अर्थात् लेटिन लिपि का विकास धीरे धीरे इन्होंने ग्रीक लिपि से ही शायद किया होगा। जिस लेटिन लिपि का इन्होंने विकास किया, वह लिपि आज यूरोप की प्रमुख प्रचलित भाषाओं में यथा फ्रेंच, इंगलिश, जर्मन, इटालियन, रशियन इत्यादि में प्रचलित है, वल्कि फ्रेंच, इटालियन, और स्पेनिश भाषायें तो लेटिन

का ही विकसित स्वरूप हैं। ग्रीक लोगों की तरह ही इनके समाज में दो वर्ग के लोग थे, पहला उच्च वर्ग जिसमें बहुत धनी और परंपरागत उच्च परिवार के लोग होते थे। इटली में बसने के बाद इस वर्ग के लोग पेटरिसियन कहलाये। दूसरे साधारण वर्ग के लोग होते थे जो प्लेबियन कहलाते थे। किसी उच्च परिवार का नेता ही युद्ध में और दूसरे बड़े बड़े सामूहिक कार्यों में नेतृत्व करता था और वही राजा कहलाता था।

इटली में आने के बाद इनकी कई बस्तियां बसीं। कई नगर और गाँवों का विकास हुआ।

रोम—इटली में इन लोगों के कार्य-क्षेत्र का केन्द्र प्रसिद्ध रोम नगर था। रोम कब और कैसे बसा ? एक पौराणिक कथा है–प्रसिद्ध ग्रीक कवि होमर के महाकाव्य में वर्णित ट्रोय के युद्ध में ट्रोय के लोगों अर्थात् ट्रोजन लोगों की तरफ से प्रसिद्ध ट्रोजन वीर ईनीज लड़ रहा था–ट्रोजन लोगों की हार के बाद ईनीज ट्रोय से निकल पड़ा, कहीं एक नया साम्राज्य बसाने की खोज में। अन्त में वह इतालिया (इटली) प्रदेश में उतरा जहाँ की राजकुमारी से उसने विवाह किया–इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ईनीज सिलवियस ने रोमनगर की स्थापना की। एक दूसरी दन्त कथा है जिसके अनुसार देव-पुत्र दो भाइयों रोमूलो और रीमस ने ई० पू० ७५३ में रोमनगर की स्थापना की। जो कुछ हो, ऐतिहासिक तथ्य तो इतना है कि टाईबर नदी में, जो इटली के पश्चिमी किनारे में गिरती है, एक जगह फोर्ड (छिछलासा भाग) आता है। इस फोर्ड पर व्यापारी लोग वस्तु विनिमय के लिये एकत्र हुआ करते थे–इन नवागंतुक आर्य्यन लोगों के अतिरिक्त एक दूसरी सभ्य एट्रूस्कन जाति के व्यापारी भी एकत्र होते थे। इस फोर्ड के पास छोटी छोटी पहाड़ियाँ थीं, जिन पर धीरे धीरे बस्तियाँ बस गईं, वे बस्तियाँ धीरे धीरे विकसित होती गईं–और कालान्तर में विकसित रोमनगर का आविर्भाव हुआ। अनुमान है ७५३ ई० पू० से भी पहिले रोमनगर बस चुका था। रोमनगर टाईबर नदी के दक्षिण किनारे पर था–इधर लेटिन लोगों की

बस्तियाँ बस गई थीं। टाईबर नदी के दूसरे किनारे पर,—एवं उसके उत्तर भूभागों में एट्रयूस्कन जाति के लोग बसे हुए थे—उनका व्यापार भी पर्याप्त विकसित था—और उनकी कई जहाजें चलती थीं—उनके पास कई जहाजी बेड़े भी थे।

ऐसा अनुमान होता है कि पहिले तो रोम पर आर्य्यन (लेटिन) राजाओं का राज्य हुआ किन्तु टाईबर नदी के उत्तरी किनारे पर एट्र-यूस्कन राजाओं की शक्ति बढ़ी चढ़ी थी। एट्रयूस्कन लोग स्यात काले गोरे जाति के वे ही लोग थे जो पहिले ग्रीस में बसे हुए थे, किन्तु ग्रीक लोगों के उधर आ जाने से ये लोग इटली में आकर बस गये थे। इन लोगों की स्थिति लेटिन आर्य्यन लोगों से कहीं अधिक सभ्य थी; लेटिन आर्य्यन लोग तो अभी अभी चराई की भूमि में से निकलकर घूमते हुए आकर बसे ही थे—संगठित सभ्यता का उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। एट्रयूस्कन लोगों से ही उन्होंने स्थापत्य, चित्रकारी और व्यापार की कला सीखी। ऐट्रयूस्कन और लेटिन लोगों में अनेक वर्षों तक लड़ाइयाँ, झगड़े होते रहे, अन्त में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एट्रयूस्कन राजाओं को वहां से हटना पड़ा और रोम पर लेटिन आर्य लोगों का (जिन्हें अब हम रोमन लोग कहेंगे) आधिपत्य हुआ, और रोमन राजा वहाँ शासन करने लगा।

रोमन राजा प्राचीन मिस्र और बेबीलोन के राजाओं की तरह एका-धिपत्य शासनाधिकारी नहीं होते थे और न उनको मिस्र के राजाओं की तरह देवता, और सुमेर और बेबीलोन के राजाओं की तरह पुरोहित माना जाता था। वास्तव में राज्य का उत्तरदायित्व और राज्य के बहुत से अधिकार एक संगठन के हाथ में रहते थे जिसको 'सीनेट' कहते थे। राजा स्वयं पेट्रिसियन वर्ग (उच्च वर्ग) के लोगों में से सीनेट के सदस्य चुना करता था, और उस सीनेट की राय के अनुसार राजा को चलना पड़ता था। राज्य के बड़े बड़े मामलों में सीनेट के सदस्य आपस में बहस और विचार विनिमय करके ही किसी निर्णय पर पहुँचते थे।

ऐसा संगठन कि राजा ही सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति करे बहुत दिनों तक नहीं चल सका, अन्त में राजाओं के शासन का खातमा किया गया और ५१० ई० पू० में रोमन लोगों ने अपने शासन के लिये गण राज्य की स्थापना की।

गणराज्य काल

(५१० ई० पू० से २७ ई० पू०)

लगभग ५१० ई० पू० में जब रोमन गणराज्य की स्थापना हुई उस समय केवल रोमनगर और मध्य इटली में ही रोमन लोग फैले हुए थे और वहीं उनका राज्य था। टाईबर नदी के उत्तर से लेकर ठेठ इटली के उत्तर में पो नदी तक ऐट्रयूस्कन लोग बसे हुए थे और उनका राज्य था। इटली के दक्षिण में जिसे इटली की ऐडी कहते हैं और सिसली द्वीप के पूर्वी भागों में ग्रीक लोग बसे हुए थे। भूमध्यसागर को पार कर अफ्रीका में भूमध्यसागर के किनारे महान् कारथेज नगर बसा हुआ था। यह वही नगर था जो ई० पू० ८०० में सेमेटिक उपजाति के फिनीशियन लोगों ने बसाया था। कारथेज नगर पच्छिमी दुनिया का एक बहुत विशाल व्यापारिक केन्द्र था और अनुमान है कि जब रोम में रोम गणराज्य की स्थापना हुई उस समय इसकी आबादी लगभग तीन लाख थी। इस कारथेज के रहने वाले कारथेजियन लोगों का कारथेज के आसपास उत्तरी अफ्रीका में और सिसली द्वीप के पच्छिमी भागों में एवं भूमध्यसागर के अन्य कई द्वीपों में अधिकार था। यह तो रोम गणराज्य के पड़ोसियों की राजनैतिक स्थिति थी। ५१० ई० पू० में रोमन गणराज्य की स्थापना हुई, यह वही काल था जब पूर्वी दुनिया अर्थात् चीन में महात्मा कनफ्यूसियस अपना संदेश चीनियों को सुना रहा था, भारत में महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार होरहा था, मिस्र और बेबीलोन अपने पतन के अन्तिम दिनों में थे और पच्छिमी एशिया-माइनर से लेकर पूर्व में सिंध नदी तक ईरानी सम्राट दारा का

महान् विशाल साम्राज्य स्थापित था। ग्रीस में ग्रीक आर्य्यन लोग स्थापित हो चुके थे और स्वतन्त्र अपनी सभ्यता का विकास कर रहे थे। यह थी शेष दुनिया की हालत जब रोम में गणराज्य का विकास हो रहा था। शेष दुनिया की, और रोम के पड़ोसियों की चर्चा यहाँ इसलिए की गई है कि हम इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि उस समय रोम में मानवीय समाज के संगठन की सर्वथा एक नई प्रणाली "गण-राज्य प्रणाली", का विकास किया जा रहा था। माना भारत में उस युग में कहीं कहीं गणराज्य स्थापित थे किन्तु वे बहुत सीमित और छोटे छोटे थे, और अपने आसपास के राज्यों में उनका सामाजिक संगठन की प्रणाली की दृष्टि से कोई विशेष प्रभाव नहीं था। माना ग्रीस में भी गणराज्य प्रणाली का प्रचलन था किन्तु उनके गण राज्य भी छोटे छोटे नगर राज्यों में ही सीमित थे। इन दो उदाहरणों को छोड़ कर प्राय: शेष दुनिया में जहां कहीं भी राज्य था, वहां राजा या सम्राट का 'एक-तन्त्रीय' शासन ही चलता था। कहीं भी किसी एक ऐसे विशाल गणराज्य की स्थापना नहीं हुई थी, जिसमें विशाल भू भाग, कई देश एवं कई भिन्न भिन्न जातियां सम्मि-लित हों। ऐसे गण राज्य का विकास, गण राज्य का इतने विशाल क्षेत्र में प्रयोग, दुनिया में सबसे पहले रोम में, रोमन लोगों द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

रोमन गण राज्य (रोमन रिपब्लिक) की व्यवस्था जानने के पहिले, यह जान लेना उचित होगा कि इस गण राज्य का विस्तार कहां कहां तक हो गया था।

इस समय रोम के इर्दगिर्द तीन शक्तियां थीं, जिनसे रोम को निपटना था।

(१) उत्तर में जैसा हम उल्लेख कर आये हैं, ऐट्रयूस्कन लोग थे। किन्तु इनकी शक्ति का ह्रास किया गॉल लोगों ने। ये गॉल नोर्डिक आर्यन जाति के लोग थे जो फ्रांस इत्यादि देशों में बस गये थे और जन-

संख्या बढ़ने पर उत्तर-पच्छिम और उत्तर से इन दक्षिणी प्रदेशों में आ रहे थे। आल्प्स-पर्वत को पार कर समस्त उत्तर इटली को उनने ध्वस्त कर दिया और राज्यों और नगरों को रौंदते हुए ये एक बार रोम तक बढ़ आये थे।

रोम नगर पर इन्होंने अधिकार भी कर लिया, किन्तु रोम की पहाड़ियों पर स्थित ये रोमन किले को नहीं ले पाये थे। इसी बीच में कहते हैं इनके खेमों में बीमारी फैल गई और रोमन लोगों ने इनको धन आदि देकर वापिस लौटा दिया—और वे उत्तर की ओर चले गये। उत्तर में बहुत दूर तक रोमन गण राज्य का विस्तार होगया। तदुपरान्त कोई छुटपुट हमले ये करते रहे होंगे, किन्तु रोमन गण राज्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं रहा।

(२) दक्षिण में 'मेगना ग्रीसीया' (बृहत्तर ग्रीस) था। जबसे रोम नगर और आस पास की भूमि में रोमन गणराज्य स्थापित हुआ था, तबसे अब तक कई शताब्दियां बीत चुकी थीं—पूर्व में अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान् का साम्राज्य भी स्थापित हो चुका था—उसकी मृत्यु भी हो चुकी थी, और उसका साम्राज्य कई भागों में विभक्त भी होगया था। इस समय ग्रीस के उत्तरी पच्छिमी प्रदेश ऐपीरस में पीरहस नामक ग्रीक राजा का राज्य था—समस्त इटली और सिसली को जीतकर अपने राज्य में मिला लेने की उसकी महत्वाकांक्षा थी। अतएव अपनी सुसंगठित सेना और जहाजी बेड़े को लेकर वह इटली की ओर बढ़ आया। रोमन लोगों को इस बात का बहुत भय था कि कहीं अलक्षेन्द्र की तरह ग्रीक लोग पच्छिम में भी उनको परास्त कर अपना साम्राज्य स्थापित न कर लें। इस समय कार्थेज (जिसका वर्णन ऊपर आचुका है) के पास बहुत जबरदस्त जहाजी बेड़ा था—रोमन लोगों को कार्थेज से इतना भय नहीं था जितना ग्रीक साम्राज्य के विस्तार से, अतएव वे कार्थेजियन लोगों से मिल गये। यद्यपि कई युद्धों में राजा पीरहस की विजय हुई किन्तु अन्त में २७५ ई० पू० में, इटली में साम्राज्य स्थापित

करने का सब विचार छोड़कर उसे लौट जाना पड़ा। इटली के दक्षिण भाग–इटली की ऐडी–में जो ग्रीक राज्य थे, वे भी समाप्त हुए–और ठेठ दक्षिण तक रोमन गण राज्य का विस्तार होगया। सिसली कार्थेजियन लोगों के हाथ लगा।

(३) अब अफ्रीका और सिसली में कार्थेजियन लोग रहे। ग्रीक लोगों के आक्रमणों के सामने तो रोमन और कार्थेजियन एक होगये थे, किन्तु अब ग्रीक लोगों के लौट जाने के बाद दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया। दोनों जातियां महत्वाकांक्षी थीं। रोमन लोग अभी नये नये आये थे–उनमें नया साहस एवं नया जीवन था–उधर कार्थेज को अपनी जल-सेना और जहाजी बेड़े पर विश्वास था–कई शताब्दियों से अखिल भूमध्यसागर पर उनके जहाजों का दबदबा था। याद रखना चाहिये कि कार्थेज भी ग्रीक गण राज्यों की तरह एक गण राज्य था।

दोनों शक्तियों में टक्कर हुई–१०० वर्षों से भी अधिक तक, बीच बीच में सन्धि और शान्ति के कुछ वर्षों को छोड़कर, इन लोगों में युद्ध होते रहे। इतिहास में ये युद्ध "प्यूनिक युद्ध" के नाम से प्रसिद्ध हैं। मुख्यतया तीन प्यूनिक युद्ध हुए:—

पहला प्यूनिक युद्ध (२६४–१४१ ई० पू०)—लगभग २५ वर्ष तक ये युद्ध होते रहे। बहुत विनाशकारी और भयंकर ये युद्ध थे। अग्रीगंटम नामक स्थान पर लम्बे काल तक युद्ध होता रहा,–युद्धकाल में प्लेग की बीमारी फैल गई, अतएव युद्ध में जो सैनिक मरे वे तो मरे ही, बीमारी से भी अनेक सैनिक मर गये। अनुमान है रोमन लोगों की क्षति ३० हजार तक पहुँच गई थी। इस थल युद्ध में तो रोमनों की विजय हुई (२६१ ई० पूर्व) किन्तु कार्थेज के शक्तिशाली जहाजी बेड़े के सामने उनका ठहरना कठिन था। फिर भी रोमन लोगों ने जहाजी युद्ध में एक नये ढंग का आविष्कार किया–उन्होंने एक झूला या पुल सा बनाया जो एक मस्तूल के सहारे एक पुल्ली द्वारा ऊपर टंगा रहता था और ज्योंही दुश्मन के जहाज नजदीक आते थे पुल्ली से वह झूला नीचे कर दिया

जाता था और उसमें बैठे सैनिक दुश्मन के जहाज में उतर जाते थे। इस आविष्कार से रोमन लोगों को सामुद्रिक युद्ध में बहुत मदद मिली। ई० पू० २५६ में इकोनोमस नामक स्थान पर एक बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध में ७०० से ८०० तक बड़े बड़े जहाज लड़ रहे थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्राचीनकाल का यह सबसे बड़ा जहाजी युद्ध था। यद्यपि कार्थेजियन लोगों का बेड़ा रोमन लोगों के बेड़े से बहुत अधिक बड़ा था किन्तु उपरोक्त आविष्कार की मदद से अंत में रोमन लोगों की विजय हुई। कार्थेजियन लोगों को संधि करनी पड़ी। इस विजय के फलस्वरूप समस्त सिसली पर रोमन लोगों का अधिकार स्थापित हुआ और कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि कार्थेजियन लोगों को ३२०० टेलेन्टस (७ लाख ८२ हजार पौंड) रोमन लोगों को युद्ध का हरजाना देना पड़ा। इसके बाद २२ वर्ष तक शान्ति रही।

दूसरा प्यूनिक युद्ध (२१९-२०२ ई० पू०)—१७ वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा। इस समय स्पेन में कार्थेजियन लोगों का राज्य था। इतिहास प्रसिद्ध जनरल हेनीबाल इस समय कार्थेजियन सेनाओं का सेनापति था। स्पेन से बढ़ता हुआ वह इटली में घुस आया और अनेक रोमन नगरों को विध्वंश कर उसने मिट्टी में मिला दिया। १५ वर्ष तक उसने इटली में मारकाट मचाई रक्खी, और इस तरह बढ़ता हुआ वह इटली के दक्षिण तक आ पहुंचा। जहां कहीं भी वह जाता था कोई भी रोमन जनरल उसके सामने नहीं ठहर पाता था। किन्तु रोमन सीनेट (वह संगठन जिसके हाथ में सब शासनाधिकार रहते थे, जो युद्ध काल में युद्ध का संचालन करती थी, और शाँति के समय सब राज्य-कार्य संचालन करती ही थी) और रोमन जनरलों ने हिम्मत नहीं हारी—वे डटे रहे। एक रोमन जनरल था सीपिओ, उसने रोमन सीनेट को यह सुझाया कि सीनेट यह अनुमति देदे कि सीधा दुश्मनों की राजधानी कार्थेज पर जाकर हमला कर दिया जाय—इस प्रस्ताव पर सीनेट के सदस्यों में बहुत बहस हुई—किन्तु आखिर सीनेट ने अपनी अनुमति देदी। आदेश मिलने पर

सीपिओ स्वयं कार्थेजियन लोगों की राजधानी कार्थेज पर सीधा हमला करने के लिये बढ़ गया। कार्थेजियन जनरल हानिबाल भी इटली से कार्थेज की रक्षा करने के लिये वहां पहुँच गया। कार्थेज के निकट ई० पू० २०२ में भामा नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। हेनीबाल की हार हुई और रोमन लोगों की विजय। हेनीबाल इस उद्देश्य से कि वह रोमन लोगों के हाथ नहीं पड़े कुछ काल तक इधर उधर भागता फिरा और अन्त में उसने जहर खाकर आत्महत्या करली।

इस युद्ध में स्पेन रोमन लोगों के अधिकार में आया और लड़ाई की क्षति पूर्ति के रूप में कार्थेजियन लोगों को १० हजार टेलेन्टस (२५ लाख पौंड) रोमन लोगों को देने पड़े।

तीसरा प्यूनिक युद्ध (१४६ ई० पू०)–उपरोक्त भामा के युद्ध के बाद लगभग ५६ वर्ष तक शान्ति रही, किन्तु रोमन लोग शान्ति से नहीं रह सके और ई० पू० १४६ में इन्होंने कार्थेज नगर पर हमला कर दिया। समस्त नगर जलाकर भस्म कर दिया और ऐसा अनुमान है कि कार्थेज की लगभग ५ लाख आबादी में से केवल ५० हजार मनुष्य जीवित रहे। इन जीवित बचे कार्थेजियनों को गुलाम बनाकर रोम भेज दिया गया। इसी वर्ष पूर्व में ग्रीस के प्रसिद्ध नगर कोरिंथ को भी ध्वस्त किया गया और ग्रीस के शेष द्वीप और राज्य, रोमन राज्य में मिला लिये गये। वास्तव में ग्रीस मुख्य, मिस्र के टोलमी और एशियाई भागों के सेल्यूकिड ग्रीक शासकों में परस्पर वैमनस्य था–इस स्थिति से लाभ उठाकर ही रोमन लोग सरलता से ग्रीक राज्यों पर अपना अधिकार जमा सके। रोम राज्य का इतना दबदबा था कि एशिया-माइनर के ग्रीक राज्य 'परगामम' ने अपने आपको खुशी से रोमन साम्राज्य को समर्पित कर दिया। अनेक ग्रीक लोगों को गुलाम बना लिया गया–किन्तु साथ ही साथ ग्रीक संस्कृति और साहित्य का प्रभाव रोमन जीवन और रहन सहन पर पड़ा उपरोक्त प्यूनिक युद्धों के बाद रोमन राज्य का विस्तार पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में एशिया-माइनर तक था। देखें मानचित्र।

रोमन गण राज्य का विस्तार
(१५० ई.पू.) प्युनिक युद्ध ३
गाल
स्पेन
आल्प्स
डन्यूब नदी
रोम
कार्थेज
न्यूमिडिया
सिसली
पार्थियन
ईरान
यरूसलम
टोलमी
ग्रीक राज्य
अफरीका
अरब
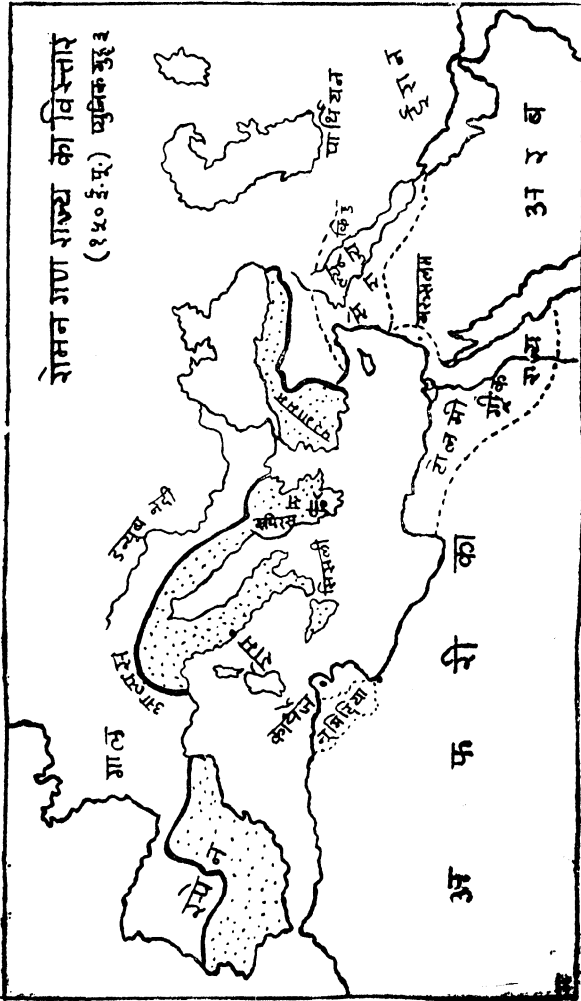
रोमन रिपब्लिक में शासन प्रणाली और सामाजिक जीवन :– रोम रिपब्लिक के सबसे अधिक समृद्धि काल में, दुनिया के निम्न भाग सम्मिलित थे। इटली तो था ही, और पच्छिम में थे स्पेन और गाल (फ्रांस)। पूर्व में थे ग्रीस और एशिया-माइनर, और दक्षिण में कार्थेज और भूमध्यसागर तट के कुछ अन्य भूभाग,–और मिस्र भी। यूरोप में इस राज्य की सीमा राइन नदी तक थी। राइन नदी के उत्तर में असभ्य
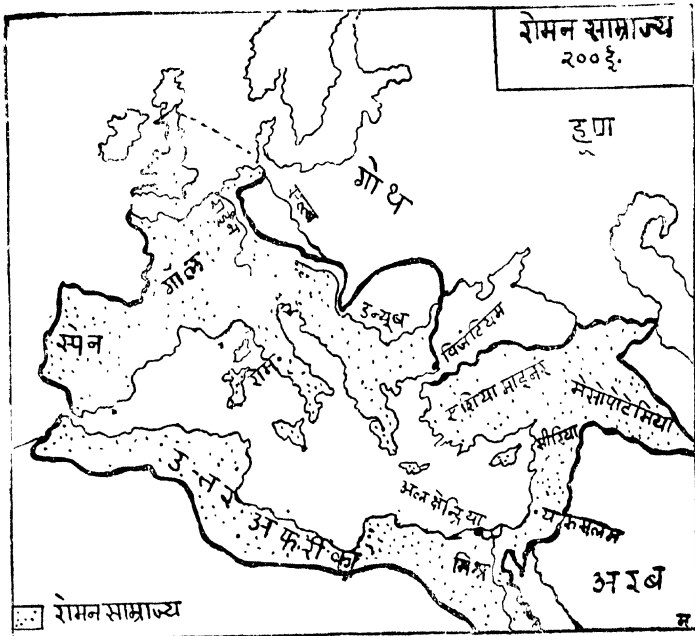
हूण, गोथ, फ्रेंक और ट्यूटन लोग इधर उधर फिर रहे थे किन्तु अभी तक वे कोई संगठित राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। दक्षिण अफ्रीका सर्वथा अज्ञात देश था, भारत और चीन बहुत दूर पड़ते थे इसलिए रोमन लोगों में और रोम के आधीन देशों में यह धारणा सी बन गई थी कि मानो विश्व में रोमन लोगों ने एक विश्व राज्य स्थापित कर लिया

है। वास्तव में बात यह है कि उस काल में साधारण लोगों को, यहां तक कि शासकों को भी भूगोल का बहुत कम ज्ञान था। आज पाठशाला के एक साधारण विद्यार्थी का भूगोल का ज्ञान उस युग के पंडितों से कहीं अधिक है।

इस विशाल राज्य का केन्द्र रोम था और इसका संचालन करने के लिये समस्त अधिकार दो निर्वाचित व्यक्तियों में निहित थे जो न्यायाधीश या सलाहकार कौंसल्स कहलाते थे। इन दो कौंसल्स का चुनाव रोम के समस्त लोगों की संसद करती थी जिसे कोमीटीया कहते थे। पहले तो वोट देने का अधिकार केवल उच्च वर्ग के पेट्रिसियन लोगों को था। किन्तु अनेक वर्षों के द्वन्द्व के बाद साधारण वर्ग के लोगों को अर्थात् प्लेबियन्स को भी वोट का अधिकार मिल गया था। गुलाम लोगों को किसी प्रकार का भी अधिकार नहीं था। ज्यों ज्यों इटली में रोमन राज्य बढ़ा त्यों त्यों इटली के सब लोगों को (केवल गुलामों को छोड़कर) रोमन नागरिक घोषित कर दिया गया, जिसका अर्थ था कि वे भी रोमन संसद के सदस्य हैं और कौंसलस् के निर्वाचन में अपना मत दे सकते हैं। सर्व साधारण की इस संसद की अनुमति से ही राज्य के सब नियम कानून बनते थे—और उसकी अनुमति के अनुसार ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय होता था; किन्तु धीरे धीरे ये सब अधिकार सीनेट में निहित हो गये थे। इटली के बाहर रोम के आधीन जितने राज्य थे वे सब एक तरह से रोमन रिपब्लिक के प्रान्त समझे जाते थे और उन प्रान्तों का शासन करने के लिए रोमन सीनेट द्वारा शासक नियुक्त किये जाते थे। उन प्रान्तों के शासन का पूर्ण अधिकार इस सीनेट द्वारा नियुक्त शासकों को होता था। इन शासकों को सीनेट के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता था।

सीनेट रोमन गणराज्य के विधान की एक मुख्य केन्द्रीय संस्था थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति उपरोक्त दो निर्वाचित कौंसल्स के द्वारा ही होती थी। पहिले तो केवल पेट्रिसियन लोगों में से सीनेटर्स

की नियुक्ति की जाती थी परन्तु बाद में प्लेबियन लोगों में से भी सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति होने लगी। राज्य-कार्य के लिए जितने भी मजिस्ट्रेट या अफसर होते थे वे सब लोग संसद द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और ये अफसर या मजिस्ट्रेट सीनेट के भी सदस्य होते थे। सीनेट के सदस्य प्रायः वे ही लोग होते थे जो समाज में अपनी कुशलता, राजनीतिज्ञता या वक्तृत्व शक्ति से अपना स्थान बना लेते थे। साधारणतः ३०० से लेकर ५०० तक इसके सदस्य होते थे। सीनेट उस काल के अनुभवी राजनीतिज्ञ, कुशल मजिस्ट्रेट लोगों की एक संस्था थी—धनिक जमींदार लोग भी इसके सदस्य नियुक्त होते थे। रोम के फोरम (मध्य बाजार) में सीनेट-गृह बना हुआ था वहीं सीनेट की बैठकें होती थीं। इस प्रकार हम देखेते हैं कि रोम की गणराज्य प्रणाली में सर्वोपरि तो थे दो कौंसल्स जो एक वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते थे और जिनमें वैधानिक दृष्टि से राजकीय सब अधिकार निहित थे। सबसे नीचे थी नागरिकों की संसद जो कोंसल्स का और मजिस्ट्रेट और शासक अफसरों का निर्वाचन करती थी। इन दोनों के बीच में एक कड़ी की भांति थी सीनेट, जिसका महत्व एक दृष्टि से हम इतना मान सकते हैं जितना कि आज के प्रजातन्त्र राज्यों में एक सार्व-भौम-सत्ता-युक्त पार्लियामेंट का। वास्तव में स्थिति भी यही थी कि सब राज्य कार्य, राज्य की नीति का निर्माण, युद्ध और शान्ति एवं राजकीय अन्य सब महत्वपूर्ण बातों का संचालन सीनेट ही करती थी जहां राजनीतिज्ञों, बड़े बड़े प्रभावशाली वक्ताओं की बहस के बाद ही प्रश्नों का निर्णय होता था। इस विधान में इतना लचीलापन अवश्य था कि विशेष संकट की स्थिति में सीनेट, कौंसल्स इत्यादि को स्थगित करके सब राज्य-भार और कार्यसंचालन किसी योग्य डिक्टेटर की नियुक्ति करके, उसके हाथों में सौंप दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-इतिहास में यह सर्व प्रथम प्रयास था जब एक विशाल भूभाग में विशाल मानव समाज की व्यवस्था

गणराज्य प्रणाली और सिद्धान्तों पर संगठित हुई हो । उस युग में, अर्थात् ई० पू० काल में तो इसे एक विश्व-राज्य तक मान लिया गया था । कई शताब्दियों से रिपब्लिक की स्थिति बने रहने से गणराज्य-सिद्धान्तों एवं नियमों की एक सुदृढ़ परम्परा सी बन गई थी । किन्तु इससे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि रोमन रिपब्लिक की हम आधुनिक सुविकसित और सुसंगठित जनतंत्र प्रणाली से तुलना कर सकते हैं ।

वैसे तो कोंसल्स के निर्वाचन में एवं अधिकारियों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार समस्त रोमन नागरिकों को था—जो समस्त इटली में फैले हुए थे, किन्तु मतदान का कार्य केवल रोम में होता था । मतदान के लिये लोग या तो फोरम (सभा-भवन) में एकत्र हो जाते थे, या बाड़ों में; या सैनिकों की ड्रिल के लिये लम्बे चौड़े मैदान बने हुए थे वहां । मतदान की निश्चित तारीख के १७ दिन पूर्व सन्देश वाहक देश के भिन्न भिन्न कोनों में ऐलान कर आते थे—किन्तु सबके लिये यह सम्भव नहीं था कि वे मतदान के लिये या किसी भी राजकीय प्रश्न पर अपनी राय प्रगट करने लिये रोम में आ पहुँचें । इस अड़चन को दूर करने के लिये आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व-प्रणाली का विकास हुआ, किन्तु उस युग में वे इस ढंग की कल्पना नहीं कर सके । केन्द्रीय रोमन राज्य के आधीन दूरस्थ प्रान्तों के लोगों के मतदान या राजकीय प्रश्नों पर अनुमति का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

जितने भी राजकीय प्रश्न होते थे, उनके विषय में लोगों की जानकारी प्रायः नहीं के बराबर होती थी, क्योंकि उस युग में न तो शिक्षा का प्रसार था, न समाचार प्रसार के लिये कोई साधन । यद्यपि चीन में छपाई का आविष्कार हो चुका था—किन्तु रोमन लोग अभी इससे अनभिज्ञ थे ।

प्रतिनिधित्व-प्रणाली, शिक्षा और समाचार प्रसार के अभाव में गण राज्य का वह स्वरूप नहीं बन सकता था—जो आज बन चुका है ।

सामाजिक जीवन—रोमन समाज में दो वर्ग के लोग थे, पहला

उच्च वर्ग। उच्च वर्ग के लोग पेट्रीसियन कहलाते थे। परम्परा से प्रतिष्ठित परिवार, धनिक लोग, बड़े बड़े भूमिपति आदि इस वर्ग में माने जाते थे। दूसरे साधारण वर्ग के लोग प्लेबियन कहलाते थे–जो गरीब होते थे, और मुख्यतया खेती और मजदूरी करते थे। ज्यों ज्यों रोम के राज्य की सीमायें बढ़ती गईं और रोमन लोग अन्य जातियों पर विजय प्राप्त करने लगे, रोमन राज्य में एक तीसरा वर्ग भी उत्पन्न हो गया। यह वर्ग गुलामों का था; गुलाम वही विजित लोग होते थे जिनको दूसरी जातियों के साथ युद्ध के अवसरों पर पकड़ लिया जाता था। वे गुलाम बड़े बड़े जमींदार और धनिकों के हाथ में आते थे जो रोमन सीनेट के सदस्य होते थे। ये धनी और जमींदार लोग गुलाम लोगों से अपने खेतों पर खेती करवाते थे, घर की सब चाकरी करवाते थे और तमाम मजदूरी का काम करवाते थे। इनके साथ मन चाहा निर्दयता का व्यवहार किया जाता था, इनको मारा पीटा जाता था और व्यापारिक वस्तु की तरह वे बेचे भी जाते थे। इन्हीं गुलाम लोगों की मजदूरी से बड़े बड़े विशाल भवन और मन्दिर खड़े होते थे।

रोमन समाज में विवाह और स्त्रियों के अधिकार—समाज में विवाह का निम्न ढङ्ग प्रचलित था। यदि पुरुष और स्त्री में विवाह के खयाल से योन सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तो स्त्री पुरुष के घर चली जाती थी, और वे दोनों पति पत्नी की तरह मान्य होते थे। इस विवाह में किसी भी प्रकार की रस्म अदा करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि लड़की का पिता चाहता तो अपनी लड़की को कुछ दहेज दे सकता था, वह दहेज पति का धन समझा जाता था। इसको छोड़कर पति और पत्नी का धन स्वतन्त्र होता था, यहां तक कि पत्नी अपने पति को अपने धन का दान भी नहीं कर सकती थी। सम्बन्ध विच्छेद (तलाक) स्वतन्त्र था। पति या पत्नी में से कोई भी जब चाहे एक दूसरे का परित्याग कर सकते थे।

रोमन कानून—रोमन संसद द्वारा समय समय पर इस उद्देश्य से

नियम बनाये गये थे कि खेती के लिए प्लेबियन (साधारण वर्ग) लोगों को सामूहिक भूमि मिले, अमुक वर्ग-भूमि से अधिक भूमि कोई नागरिक न रख सके, भूमिगत कर्ज माफ कर दिये जायं इत्यादि; किंतु जो कुछ भी नियम बनते थे वे लिखे नहीं जाते थे, अतएव पेट्रिसियन लोग (उच्च वर्ग के लोग) जो अधिकतर सीनेट के सदस्य होते थे मनचाहे ढङ्ग से जिसमें उनका स्वार्थ साधन हो उन नियमों का उपयोग कर लेते थे अतएव एक आन्दोलन चला कि रोम के जितने भी कानून हैं वे लिख लिये जायं। अन्त में ४५० ई० पू० में प्राचीन अलिखित कानूनों के आधार पर कुछ कानून बनाये गये जो १२ विभागों में विभक्त थे। ये कानून १२ पट्टियां कहलाते थे। बहुत अंशों तक ये ही १२ पट्टियां रोमन कानून के आधार माने जाते हैं। ये बारह पट्टियां अपने आदि रूप में नहीं मिलती हैं किन्तु ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि प्रसिद्ध सीनेटर सिसरो (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के जमाने में प्रत्येक युवक को इन बारह कामूनों, इन १२ कानून की पट्टियों को, कंठस्थ करना पड़ता था। आज इन कानूनों का जो रूप संगृहीत है वह भिन्न-भिन्न पुस्तकों में उल्लेखित संकेतों और उद्धरणों से प्राप्त किया गया है। ये कानून परिवार में पिता पुत्र के संबंध, परिवार में धन का वितरण, नागरिकता, विवाह और तलाक इत्यादि बातों से सम्बन्धित हैं। इन १२ पट्टियों के बाद भी रोमन कानून का विकास होता रहा। भिन्न भिन्न काल में मजिस्ट्रेटों के जो आदेश होते थे, सम्राटों के जो आदेश होते थे एवं लोगों की संसद द्वारा जो कानून पास होते थे, वे सब संगृहीत होते जाते थे। अन्त में ईसा की छठी शताब्दी में रोमन सम्राट जस्टिनियन ने उस काल से पूर्व के सब रोमन कानूनों का संग्रह कराया, उनका विधिवत् वर्गीकरण करवाया और उनका एक सारांश तैयार करवाया जो "जस्टिनियन कानून" कहलाता है। इङ्गलैंड को छोड़कर यूरोप के अन्य सभी देशों में जितने भी कानून आज प्रचलित हैं उनका आधार उपरोक्त :"जस्टिनियन कानून" ही है। कई अंशों में तो इङ्गलैंड के कानूनों पर भी

रोमन कानूनों का प्रभाव है। प्राचीन रोमन सभ्यता की दुनिया को सबसे बड़ी देन उपरोक्त विधिवत् विभाजित और संहिताबद्ध कानून ही हैं। दूसरे किसी प्राचीन देश में कानूनों का इतना सुसंगठित और सुविकसित रूप नहीं मिलता और न न्यायाधीशों और न्यायालयों की इतनी सुन्दर व्यवस्था मिलती है।

धन्धे—विशाल जनसमुदाय का मुख्य काम तो कृषि ही था। जिस तरह से आज इटली अंगूर, अन्जीर, नारंगी, जैतून इत्यादि फलों का देश है ऐसा रोमन राज्य काल के प्रारम्भ में नहीं था; किन्तु धीरे धीरे इन चीजों की भी पैदावार होने लगी थी। कृषि के साथ साथ पशुपालन जैसे गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी इत्यादि के पालन का काम भी होता था। भेड़ों की ऊन से कपड़े बुने जाते थे। लोहा, टिन, चांदी-सोना इत्यादि की जहां खानें होती थीं उनकी खुदाई की जाती थी। लोहा विशेषकर स्पेन, दक्षिण फ्रांस, इङ्गलैंड, बाल्कन प्रायद्वीप का वह भाग जो आज-कल रूमानिया कहलाता है, और उत्तर अफ्रीका में; सोना मुख्यतया स्पेन में; संगमरमर इटली, एशिया-माइनर और अफ्रीका में पाया जाता था। शिल्प और हस्त उद्योग में कुशल लोग संगमरमर के सुन्दर भवन और मूर्तियां, लोहे के हथियार, और चांदी और सोने के आभूषण और मुद्रायें बनाते थे। व्यापार और युद्ध के लिये बड़े बड़े जहाज भी बनाये जाते थे जो पतवार और पाल से चलते थे। व्यापार बहुत उन्नत स्थिति में था। पूर्वीय देशों (भारत और चीन) से जवाहरात, रेशम, मिर्च और मसाले जहाजों में भरकर अरब देश तक आते थे; वहां से वे ऊंटों के काफिलों पर लद कर मिस्र और सीरीय देश तक पहुंचते थे, और वहां से फिर जहाजों में लद कर वे रोम पहुंचते थे। पच्छिमी दुनिया में व्यापार शुरू शुरू में केवल वस्तुओं की अदला-बदली से होता था, किन्तु बाद में सिक्कों का प्रचलन हो चुका था, जिससे व्यापार बहुत सरलता से होने लगा था, यद्यपि समाज में कुछ बुराइयां आगई थीं।

व्यापारिक मार्ग—मिस्र में अलकजेन्डरिया, काला सागर पर

बीजेंन्टाइन, अफ्रीका में कार्थेज, स्पेन में नोवाकार्थेगो, इटली में जेनोआ और ओसटिया ये सब बन्दरगाह थे जो परस्पर जहाजों द्वारा जुड़े हुए थे। रोमन लोगों ने, ज्यों ज्यों उनका राज्य विस्तार हुआ बड़ी बडी सड़कें इस प्रकार बनवाईं कि उनके राज्य का कोई भी ऐसा प्रान्त नहीं था जिनका सड़कों द्वारा रोम से सम्बन्ध न हो।

रोमन लोगों का धर्म और जीवन–ग्रीक लोगों की तरह रोमन लोग भी देव-वादी और मूर्ति पूजक थे। इटली में बसने के पूर्व प्राचीन काल से अनेक जातिगत देवताओं की पूजा का इनमें प्रचलन था। इटली में वसने के बाद और ग्रीक लोगों के सम्पर्क में आने के बाद ग्रीक लोगों के अनेक देवता भी इन लोगों के देवताओं से मिल जुल गये थे, और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इनके देवता और देवियों में और ग्रीक लोगों के देवता और देवियों में कोई अन्तर नहीं है। इनके मुख्य देवता जूपीटर थे जिनका ग्रीक नाम ज्यूस था। इसके अतिरिक्त मार्स युद्ध का देवता था, अपोलो संगीत और कला का देवता था, वल्कन अग्नि का देवता था, वीनस सौंदर्य की देवी थी, माइनरवा ज्ञान की देवी थी, मर्करी देवताओं का संदेश-वाहक एक चालाक नटखट देवता था।

इन देवताओं की सुन्दर सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ था, जो मन्दिरों में स्थापित थीं। मन्दिरों के लिये भी कलापूर्ण और विशाल भवन निर्माण किये गये थे। किन्तु इन देवी देवताओं के प्रति प्राचीन मिस्र और सुमेर की तरह रोमन लोगों के मानस में कोई भय अथवा रहस्य की भावना नहीं थी, और न ये लोग किसी शासक में देवत्व की भावना का आरोप करते थे, जैसा प्राचीन मिस्र में होता था। हां रोमन साम्राज्य काल में–जब रिपब्लिक के बाद सम्राटों का शासन प्रारम्भ हो गया था–तो प्राचीन मिस्र की तरह, रोमन सम्राटों की भी मूर्तियां बनने लग गई थीं; वे मन्दिरों में स्थापित होती थीं, और देवताओं की तरह उनकी पूजा होती थी। प्रत्येक रोमन के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वह मन्दिर में सम्राट की मूर्ति के सामने सादर नमन करे।

किन्तु इस सब के पीछे "ठाठ बाट" और सम्राटों में आत्म-पूजा करवाने की भावना थी—न कि सचमुच किसी धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर लोग सम्राटों की मूर्तियों के सामने नमन करते हों। सच बात तो यह है कि रोमन लोगों के जीवन का केन्द्र—उनके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन का केन्द्र धर्म और देवी-देवता नहीं थे—देवी-देवताओं की मान्यता, उनके मन्दिर और पूजा, तो ठीक है, एक रूढ़िगत तरीके से चलते रहते थे, जब कि उनके जीवन का असली केन्द्र तो थी राजनीति—उनका जन-तन्त्र, जननन्त्र के प्रति उनकी कर्तव्य भावना,—जनतन्त्र के कानून, और सामाजिक जीवन में अनुशासन और संगठन। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दियों के गुजरते गुजरते ज्यों ज्यों समाज के लोगों में घोर आर्थिक विषमता पैदा होने लगी थी और ज्यों ज्यों पेट्रिसियन वर्ग के धनी और अधिकारी लोगों के जीवन में केवल यही उद्देश्य शेष रह गया था कि कैसे उनके धन और पद में वृद्धि होती रहे और सुरक्षित उनकी स्थिति बनी रहे—त्यों त्यों राज्य में अनुशासन और कर्तव्य भावना लुप्त होती गई थी—तब भी यदि रोमन लोगों को उनकी समुन्नत दशा में देखा जाय तो उनकी विशेषता राज्य के प्रति कर्तव्य भावना, राज्य संगठन और अनु-शासन में ही मिलेगी।

मनोरंजन—रोमन लोगों के मनोरंजन का मुख्य साधन ग्लेडियेटर खेल थे। ग्लेडियेटर वे गुलाम लोग होते थे जिनको विशेष कर ऐसे तमाशों के लिये सिखाकर तैयार किया जाता था। इनका शरीर खूब मजबूत बनाया जाता था और कई हथियारों से खेलना इनको सिखाया जाता था। इन तमाशों के लिए और अन्य खेलों के लिये जैसे घुड़दौड़-रथदौड़ इत्यादि, रोमन लोगों ने बड़े बड़े थियेटर और अम्फीथियेटर बनाये थे जहां पर एक साथ हजारों (४०-५० हजार) दर्शकों के बैठने के लिए पक्की गेलेरी बनी होती थी। इन अम्फीथियेटर के बीच में विशाल अखाड़ा बना हुआ होता था जहां ग्लेडियेटर लोग खेल करते थे। दो खिलाड़ियों को हथियार देकर और

उनके चेहरों को तरह तरह के अजीब नकाब से सजाकर अखाड़े में लड़ने के लिए छोड दिया जाता था। कभी कभी सैकड़ों खिलाड़ी एक साथ छोड़ दिये जाते थे। उनको लड़ते रहना पड़ता था जब तक कि दो में से एक मर नहीं जाता। कभी कभी खिलाड़ियों से लड़ने के लिए जंगली जानवरों को छोड़ दिया जाता था जैसे शेर, भेड़िया, रीछ इत्यादि। यदि कोई भी खिलाड़ी अखाड़े में आने के लिए आनाकानी करता था तो उसे हंटरों से पीटकर और गर्म लोहे से दागकर जबरदस्ती अखाड़े में लाया जाता था। ये तमाम खेल बहुत ही असभ्य और क्रूर होते थे, किन्तु रोमन लोग इन्हीं से खुश होते थे। ग्रीस के ओलम्पिक खेलों की प्रतियोगिता की तरह रोमन लोगों में कोई प्रतियोगिता नहीं होती थी।

विज्ञान--विज्ञान के क्षेत्र में रोमन लोगों की कोई मौलिक उपलब्धि नहीं है, तथापि ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत वैज्ञानिक परम्परा बन्द कभी नहीं हुई। प्राचीन रोम का सबसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक एल्डर प्लिनी था जिसने अपने "प्राकृतिक इतिहास" में प्रकृति सम्बन्धी कुछ तथ्यों का निरूपण किया। दूसरा महान् वैज्ञानिक टोलमी था जो गणितज्ञ और भूगोल वेत्ता भी था। उसने यूनानियों द्वारा निर्मित विश्व के भौगोलिक मानचित्र को सुधार कर एक दूसरा मानचित्र बनाया था। एक अन्य विद्वान एग्रिप ने भी रोमन साम्राज्य के समस्त प्रदेशों का भ्रमण कर तत्कालीन दुनिया का (अपनी कल्पना के अनुसार) एक मानचित्र बनाया था। सेनेका (ई० पू० ३–६५ ई०) दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों था, उसने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष, भूगर्भविज्ञान तथा खगोल विद्या के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया। गैलन (१३०–२०० ई०), जाति से ग्रीक किन्तु रोम-साम्राज्य का नागरिक, उस युग का महानतम चिकित्सक था–उसकी ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। विज्ञान और गणित के क्षेत्र में कोई महान् मौलिक उपलब्धि नहीं होते हुए भी रोमन सभ्यता ने अपनी व्यावहारिक प्रतिभा के बल पर अनेक इंजीनियर उत्पन्न किये

थे जिन्होंने विशाल भवनों, एम्फीथियेटरों, सड़कों और पुलों का निर्माण किया। इस उद्देश्य से कि सम्पूर्ण राज्य के मुख्य मुख्य नगरों में परस्पर सम्पर्क बना रहे और सब नगर रोम से जुड़े हुए हों। रिपब्लिक काल में बड़ी बड़ी सड़कों का निर्माण किया गया। रोम पच्छिम में स्पेन तक और पूर्व में ग्रीस तक सड़कों से जुड़ा हुआ था। एक विशेष कौशल का काम था, नगरों में ठंडे जल का प्रबन्ध। इंजीनियरों ने विशाल विशाल नालियां बनाई थीं—जिनमें पहाड़ों का ठंडा जल एकत्र और प्रवाहित होकर नगरों तक पहुंचता था।

कला—रोमन लोगों की स्थापत्य और मूर्तिकला प्रायः ग्रीक स्थापत्य और मूर्तिकला से भिन्न नहीं है। इन लोगों द्वारा निर्मित मन्दिर और देवताओं की मूर्तियां बहुत अंश तक ग्रीक मन्दिरों और मूर्तियों की नकल है। यहां तक कि ग्रीक कला का विशेष ज्ञान हमको इन रोमन मूर्तियों से ही होता है। शारीरिक गठन और सौंदर्य का भान इन लोगों को उतना ही था जितना ग्रीक लोगों को, चाहे यह उनकी नकल से ही हो। यही हाल चित्रकला का भी है। इस प्रकार रोमन कला चाहे अनुकरण मात्र रही हो किन्तु फिर भी उसमें परिवर्तन हुए; और कुछ कुछ स्वतन्त्र विकास भी। इस कला में वास्तविकता का पुट अधिक है, उपयोगिता पर विशेष ध्यान है, सौम्यता और सुन्दरता पर कम। रोमन लोगों ने ज्वालामुखी से निकली हुई मिट्टी, पत्थर और ईंटों को मिला-कर एक नई चीज तैयार की—'कंक्रीट'। इसी का प्रयोग वे अपने भवनों के निर्माण में करते थे। इसी की सहायता से वे निराधार गुम्बद तथा मेहराब बनाते थे। ऐसा मालूम होता है कि रोमन शिल्पकारों ने ग्रीक, यूट्रास्कन तथा भूमध्यसागरीय कला के मूल तत्वों को मिला जुला कर एक नवीन वास्तुशैली का विकास किया था। प्राचीन पोम्पे नगर जो कि ज्वालामुखी लावा से दब गया था पुरातत्ववेत्ताओं ने खोदकर निकाला है। नगरी के भग्नावशेषों से रोमन भवनों की विशालता और महानता का पता लगता है। प्राचीन रोम की सबसे बड़ी इमारत

"सरकस मैक्समस" थी जिसमें दो लाख २५ हजार व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। उस युग का सर्व सुन्दर मन्दिर पैन्थियन मन्दिर था। रोमन लोगों ने खेल तमाशों के लिए अनेक अम्फीथियेटर बनवाये थे—ये बहुत विशाल होते थे, हजारों दशकों के बैठने के लिए अखाड़े के चारों ओर गैलरी बनी हुई होती थी। रोम में ऐसा ही एक विशाल कोलोसियस था जिसके अवशेष आज भी मिलते हैं। इसका निर्माण ई. स. ८० में हुआ था। ८७ हजार दर्शक इसमें एक साथ बैठ सकते थे। इसकी सबसे विलक्षण बात सिमटने-फैलने वाली एक छत थी जो धूप के समय समस्त कोलेजियम (क्रीड़ा—स्थली) पर छादी जाती थी। तो प्राचीन रोम में सर्वाधिक महत्व की, और आश्चर्य की भी, तीन वस्तुयें हुईं—पैन्थियन, सरकस मैक्समस, और कोलोसियम।

रोमन मूर्तिकला मानववाद की मूर्तिकला थी। प्लास्टर, संगमरमर और कांसे में मनुष्यों की सजीव और सुन्दर मूर्तियां निर्मित की जाती थीं। गणतंत्र काल की जूलियससीजर, एन्टोनी, एवं अन्य व्यक्तियों की कांसे की मूर्तियां सजीवता और वास्तविकता लिए हुए हैं। मारकस ओरेलियस की एक प्रतिमा मूर्तिकला का श्रेष्ठ नमूना है। चित्रकला के नमूने पोम्पे की दीवारों पर सुरक्षित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मैदानों के दृश्यों और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में चित्रकार बहुत कुशल थे। ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी तक प्राचीन रोमन कला का ह्रास हो चुका था।

साहित्य और दर्शन—ग्रीक जाति का तो इतिहास ही ग्रीक भाषा के महाकवि होमर के महाकाव्य से प्रारम्भ होता है, किन्तु रोमन इतिहास का प्रारम्भिक काल चाहे हम एक हजार ई. पू. तक ले जायं, वहां साहित्यिक रचना का कोई भी चिन्ह ई. पू. तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं मिलता; और रोमन भाषा की वह साहित्यिक परम्परा जब प्रारम्भ भी होती है तो वह होती है होमर के महाकाव्य ओडेसी के लेटिन अनुवाद से। वस्तुतः जो कुछ भी साहित्यिक कृतियां रोमन लोगों

ने हमको दी हैं वे एक दृष्टि से ग्रीक साहित्य की अनुकरण मात्र हैं। ग्रीक महाकाव्य और दुखान्त नाटकों के अनुवाद के बाद रोमन (लेटिन) भाषा के स्वतन्त्र लेखक हुए—प्लाट्स (तीसरी शताब्दी ई. पू.), एवं टीरेन्स, (दूसरी शताब्दी ई. पू.), जो दोनों नाटककार थे। रोमन साहित्य का स्वर्ण-युग तो ई. पू. को पहली शताब्दी मानी जाती है जिसकी परम्परा साम्राज्य युग के प्रथम सम्राट ऑगस्टस के काल तक (१७ ई. स. तक) चलती रही; अतः इस युग को ऑगस्टस युग भी कहते हैं। इस एक ही शताब्दी में लेटिन साहित्य के महानतम सृजनकार पैदा हुए। कवियों में थे—महाकवि वर्जिल (७०-१९ ई. पू.) जिसने होमर के ओडेसी की शैली में महाकाव्य ईनीड की रचना की; होरेस (६५—८ ई. पू.) जिसने ओड (Ode-सम्बोधन) शैली में अनेक गीतों की रचना की; ओविड और केट्यूलस जिन्होंने हल्के मूड में अनेक प्रणय गीत लिखे; ज्यूवेनल जिसने व्यंगात्मक कवितायें लिखीं; एवं अन्त में महान् दार्शनिक कवि ल्यूकरेसियस (१०० से ३४ ई. पू.) जिसने प्रकृतिके विकास पर एक लंबी कविता लिखी जिसमें प्रकृति के भूत पदार्थ की बनावट एवं मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास का प्रेरणास्पद वर्णन मिलता है। गद्यकार हुए—सीनेटर सीसेरो (१०६-४३ ई. पू.) जिसके राजनैतिक लेखों एवं भाषणों के संग्रह आज भी हमें रोमन गणतंत्रीय युग का दिग्दर्शन कराते हैं। सिसेरो को आधुनिक यूरोपीय गद्य साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। इतिहासकार हुए—सीजर जिसके ग्रंथ "कोमेन्टरीज" में गाल विजय और गृह-युद्ध के वर्णन आज भी लेटिन भाषा के विद्यार्थी बड़े चाव से पढ़ते हैं; लिवी (५९ ई० पू० से १७ ई० सन्) एवं टेसिट्स (५५ से ११७ ई०) जिन्होंने आधुनिक ढङ्ग से इतिहास लिखना प्रारम्भ किया; एवं प्लूटार्क (४६ से १२० ई०) जिसने यूनानी भाषा में रोम के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवन कथायें लिखीं। दार्शनिक लेखकों में प्रसिद्ध हुए—सम्राट मारकस ओरेलियस (सन् १६१—१८० ई०) जिसकी कृति मेडिटेशन्स (आत्म चिन्तन) सुविख्यात है; दार्शनिक एपिकटेटस (सम्राट

नीरो की राजसभा का एक ग्रीक दास) जिसके विचार संग्रह आज भी पढ़े जाते हैं; और सेनेका जिसने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के साथ साथ दुखान्त नाटकों की भी रचना की। इस सब साहित्य की रचना हुई किन्तु इसमें हमें उस मौलिकता, प्रतिभा और सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते जिसके प्राचीन ग्रीक साहित्य में होते हैं; मानो रोमन मानस में उदात्त चेतना का विकास अवरुद्ध-सा था। रोम ने होमर की तरह कोई कवि, सुकरात की तरह कोई महात्मा, प्लेटो की तरह कोई दार्शनिक और अरस्तू की तरह कोई वैज्ञानिक हमें नहीं दिया। उसकी प्रतिभा तो, जैसा रोम के महानतम कवि वर्जिल स्वयं ने अपने महाकाव्य 'ईनीड' में एक स्थान पर व्यक्त किया है, अनुशासन एवं साम्राज्य स्थापन, एवं वृहद् संगठन के कामों में अभिव्यक्त हो रही थी।*

गणतन्त्रीय परम्परा एकतन्त्र की ओर

पेट्रीसियन और प्लेबियन लोगों में विरोध—इन दो वर्गों में शताब्दियों तक विरोध चलते रहना—यह रोमन सामाजिक जीवन की एक मुख्य घटना है। जितने भी युद्ध होते थे उनमें साधारण सैनिक की तरह प्लेबियन वर्ग के लोग भी अपने खेतों को छोड़ छोड़कर लड़ने जाया करते थे। अपनी रिपब्लिक की रक्षा के लिए अपने मन्दिरों और देवों की रक्षा के लिए, अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ना वे लोग अपना

---

*Others, be like, with happier grace
From bronze or stone shall call the face,
Plead doubtful causes, map the skies,
And tell when planets set or rise;
But, Roman, thou—do thou control
The Nations far and wide,
Be this thy genius, to impose,
The rule of peace on vanquished foes. ..

नागरिक धर्म समझते थे। वे किराये के सैनिकों की तरह वेतन पर लड़ने वाले सैनिक नहीं थे, नागरिक भावना से प्रेरित होकर अपनी जाति और संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ने वाले सैनिक थे। किन्तु जब वे लम्बे समय तक अपने खेतों से दूर रहते थे, तो उनके खेतों की हालत बिगड़ जाती थी और फिर से अपने खेतों पर स्थापित होने के लिए और काम चालू करने के लिए उन्हें कर्जा लेना पड़ता था। कर्जा पेट्रीसियन लोग देते थे, और कर्जा अदा न करने पर उनकी भूमि धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास चली जाती थी और वे गरीब से गरीबतर होते जाते थे, जब कि धनिक लोग अधिक धनी हो जाते थे। युद्ध में जीता हुआ, एवं लूट का धन और माल एवं पकड़े हुए गुलाम सब के सब सीनेट के सदस्यों द्वारा अंततोगत्वा धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास पहुँच जाते थे। पेट्रीसियन लोगों की जो कृषि भूमि बढ़ती जाती थी उस पर वे गुलामों से ही खेती करवा लेते थे, इसलिए उस भूमि पर काम करने के लिये उन्हें प्लेबियन लोगों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इस प्रकार युद्धोत्तर काल में हजारों सैनिक बेकार हो जाते थे। समाज में बेकारी की भी एक समस्या पैदा होने लगी थी। इन सब कारणों से पेट्रीसियन और प्लेबियन लोगों में विरोध बढ़ता जा रहा था।

साधारण लोगों में दो बड़े नेता उत्पन्न हुए—टाईबेरियस ग्रैकस (१६२–१३३ ई० पू०), एवं गेयस ग्रैकस (१५३–१२१ ई० पू०) जिन्होंने भूमि के प्रश्न पर बहुत विचार किया और यह प्रयत्न किया कि कृषि योग्य बड़े बड़े विशाल भूमि क्षेत्र जो धनिक पेट्रीसियन लोगों ने अपने अधिकार में कर लिए हैं, वे सब भूमि-हीन प्लेबियन वर्ग के किसानों को लौटा दिए जायं। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि बेकारी की वजह से अनेक गरीब लोग जिनके पास खाने को अन्न नहीं बचा था उनमें राज्य की तरफ से निःशुल्क अन्न वितरण किया जाय। यद्यपि सीनेट में इन बातों का बहुत विरोध हुआ, तथापि उपरोक्त सुधार लाने में इन नेताओं को काफी सफलता मिली। उपरोक्त दो नेताओं

के आन्दोलनों के अतिरिक्त और भी कई आन्दोलन हुए—जिनमें दृष्टि यही रहती थी कि सीनेट की शक्ति, जो पेट्रीसियन लोगों के प्रभाव में थी, कम होकर प्लेबियन लोगों को अधिकार मिले और धन और भूमि का उचित वितरण हो। सीनेट के पेट्रीसियन सदस्य अनेक चालाकियां करते रहते थे और उनका अवसर आते ही वे हजारों गरीबों और आन्दोलन-कर्त्ताओं को जान से मरवा डाला करते थे, यहां तक कि एक बार गुलाम लोग अपने एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में उपद्रव कर बैठे थे—किन्तु क्रूरता से उनको दबा दिया गया था और ऐसा अनुमान है कि ६ हजार गुलामों को एक साथ कत्ल कर दिया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम की दुनिया में ई० पू० की शताब्दियों में कुछ कुछ ऐसी ही समस्यायें और प्रश्न पैदा हो गये थे जैसे आज २० वीं सदी में मानव को परेशान कर रहे हैं, जैसे धन का कुछ थोड़े से ही हाथों में केन्द्रित हो जाना, धनिक भूपति जिनके पास भूमि के विशाल क्षेत्र हों और भूमिहीन किसान, बेकारी, इत्यादि।

सीज़र और पोम्पे में द्वन्द्व:—समाज में एक और नई स्थिति पैदा होगई थी। बड़े-बड़े जनरल रोम की ओर से दूर-दूर देशों में युद्ध करने के लिए जाते थे; उनकी शक्ति का आधार सैनिक ही होते थे। जनरल लोगों ने यह महसूस किया कि यदि युद्ध की समाप्ति के बाद उन सैनिकों के खाने पीने और रहन-सहन के लिये कोई स्थायी उचित प्रबन्ध नहीं रहा तो उनकी, और राज्य की शक्ति बनी रहना असंभव है। पहिले जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है किसान वर्ग के लोग ही सैनिक होते थे जो युद्ध समाप्त होने के बाद या तो फिर से खेती करने लग जाते थे या बेकार हो जाते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों रोम राज्य का विस्तार होने लगा था इस प्रकार की सीधी व्यवस्था चलते रहना असम्भव था। अतएव स्थायी सेनाओं का निर्माण किया जाना आवश्यक था, जिनको वेतन मिलता रहे, चाहे युद्ध हो चाहे न हो। यह जो नई परिस्थिति पैदा हो गई थी—इसका कुछ उचित समाधान नहीं हो पाया।

रोम के विधान में ऐसी किसी स्थायी सेना की कोई बात नहीं थी–और न रोम की सीनेट ने इस समस्या का कोई सुगठित, केन्द्रीय सेना का निर्माण करके उचित हल किया। अतएव स्थिति यह बनी कि सैनिक अपने जनरल पर ही आधारित रहें जिनसे केवल उनको यह आशा थी कि उनको इनाम, विजित धन दौलत में हिस्सा, और विजित प्रान्तों में कृषि के लिये भूमि मिलती रहे। रोम की सीनेट ने यह कानून बना रखा था कि इन जनरलों की सेनायें एक निर्धारित सीमा को पार करके इटली में कभी भी दाखिल न हों। ऐसी परिस्थितियों में रोमन राज्य में अनेक महत्वाकांक्षी जनरल उत्पन्न हो रहे थे, जिनमें परस्पर विरोध होता रहता था केवल इसी एक प्रयास के लिये कि रोम में वे सर्व–सत्ताधारी बन जायं। ऐसे इतिहास प्रसिद्ध दो व्यक्ति थे–पोम्पे महान् और जूलियस सीज़र। ये दोनों बहुत ही साहसी और वीर जनरल थे। पोम्पे ने इटली के पूर्व के प्रदेशों को यथा एशिया-माइनर को पदाक्रांत किया था और वहां अपनी धाक जमाई थी। पच्छिम में सीज़र ने गॉल (फ्रांस) पर विजय प्राप्त की थी, गॉल को रोम राज्य में मिलाया था, और उसके हमले ग्रेट ब्रिटेन तक हुए थे। इस समय तक पोम्पे पूर्व से इटली में लौट आया था–और रोम की सीनेट को उसका सहारा था। जब सीज़र पच्छिमी प्रदेशों को जीत कर इटली की तरफ आ रहा था, तो सीनेट ने पोम्पे के कहने से सीज़र का विरोध करना चाहा और उसकी शक्ति को समाप्त करना चाहा। पोम्पे और सीज़र दोनों महत्वाकांक्षी थे और एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते थे। सीजर ने अपनी सेनाओं के सहित इटली में प्रवेश किया (गो कि ऐसा रोम के नियमों के विरुद्ध था)। पोम्पे अपनी शक्ति संगठित करने के लिए ग्रीक की ओर चला गया, सीज़र ने उसका पीछा किया और अन्त में थीसली (ग्रीस) में फारसालस नामक स्थान पर ई० पू० ४८ में उसने पोम्पे को एक करारी हार दी,–पोम्पे मिस्र की ओर भागा–सीज़र भी उधर ही गया, पोम्पे मारा गया, और सीजर अब रोमन दुनिया का एकाधिपत्य नायक बना।

सीजर पोम्पे का पीछा करता हुआ—मिस्र में अलेक्जेन्ड्रिया तक आ गया था। यहां उसकी भेंट इतिहास प्रसिद्ध सौन्दर्य-मयी रमणी कल्प्रिोपैट्रा से हुई और उनका प्रेम हो गया। कल्प्रिोपैट्रा टोलमी राज वंश की राजकुमारी थी—याद होगा ये टोलमी वे ही ग्रीक लोग थे जो अलक्षेन्द्र महान् के बाद मिस्र में राज्य कर रहे थे। इसके अतिरिक्त मिस्र में सीजर देव-राजा, देवराजा की पूजा, इत्यादि रस्मों के सम्पर्क में आया—और वह कल्प्रिोपैट्रा और इन रस्मों का प्रभाव लेकर रोम लौटा। सन् ४६ ई० पू० में रोम के सीनेट ने सीजर (१०२–४४ ई० पू०) को जीवन भर के लिये डिक्टेटर नियुक्त किया। जुलियस सीज़र अद्‌भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति और एक प्रभावशाली वक्ता था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था। महान् विस्तृत रोमन राज्य में सम्पूर्ण सत्ता-धारी अब वह अकेला व्यक्ति था। यह एक ऐसा अवसर था जिसमें यदि वह चाहता तो बहुत कुछ कर सकता था। वास्तव में उसने कुछ किया भी, स्थानीय राज्य प्रबन्ध में उसने बहुत कुछ सुधार किये, और स्यात् कई और भी योजनायें सुधार के लिए वह बना रहा था; किन्तु मिस्र और क्लिओपैट्रा का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर अधिक था। रोम की प्रजातन्त्रीय परम्पराओं को छोड़कर वह पुराने राजाओं की तरह राज्य-सिंहासनों पर बैठने लग गया था और राज्य शक्ति के चिन्ह स्वरूप वह राजदण्ड धारण करने लग गया था। उसकी सुन्दर मूर्तियां बनाई गईं, उसकी एक मूर्ति की स्थापना एक मन्दिर में भी की गई और उसकी पूजा के लिए पुजारी भी नियुक्त किये गये। उसके मित्रों ने यह भी प्रयत्न किया कि उसको सम्राट बना दिया जाय। ये सब ऐसी बातें थीं जिनको रोम की प्रजातन्त्रवादी भावनायें सहन नहीं कर सकती थीं। अन्त में ई० पू० ४४ में ब्रूटस (७८–४२ ई० पू०) नाम के एक व्यक्ति ने कुछ और व्यक्तियों को लेकर जूलियस सीजर को फोरम की पैड़ियों पर वहीं कत्ल कर दिया जहां सीनेट की बैठकें हुआ करती थीं। जूलियस सीजर की मृत्यु के बाद रोमन राज्य के

पच्छिम भागों का अधिकारी बना ओक्टेवियस और पूर्वीय भागों का अधिकारी बना एण्टोनी जो जूलियस सीजर का मित्र था। एण्टोनी क्लिओपैट्रा के प्रेम में पड़ गया और मिस्र के राजाओं की तरह देव-राजाओं और व्यक्तिगत पूजा के पचड़ों में। ओक्टेवियस ने अच्छा अवसर देखा। सीनेट की अनुमति से उसने एण्टोनी पर चढ़ाई कर दी—३० ई० पू० में। अक्टीयम की जहाजी लड़ाई में एण्टोनी परास्त हुआ। अन्त में अन्टोनियो और क्लिओपैट्रा दोनों ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार अकेला ओक्टेवियस अब एक मुख्य व्यक्ति रोम राज्य में बचा।

ओक्टेवियस बहुत ही व्यवहारिक और कुशल आदमी था। जूलियस सीजर और एण्टोनी की तरह देवों की दुनिया में विचरण करने वाला नहीं,—और न "आत्म पूजा" का शौकीन। यद्यपि वस्तुतः इस समय सब अधिकार और शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं तथापि सब कुछ उसने सीनेट को सौंप दी और सीनेट, मजिस्ट्रेट, और संसद की परम्परा को, जो अनेक वर्षों से निर्जीव पड़ी थी, पुनर्जीवित किया। लोगों ने जयघोष किया कि ओक्टेवियस रिपब्लिक का भक्त और स्वतन्त्रता का पुजारी था। किन्तु विशाल रोमन राज्य में उस समय जैसी परिस्थितियां थीं, उनमें शांति और अमन चैन कायम रखने के लिये यह उचित दिखता था कि ओक्टेवियस कुछ विशेषाधिकार अपने पास रखे। सीनेट ने ये विशेषाधिकार ओक्टेवियस को प्रदान किये और साथ ही में उसे ओगस्टस की पदवी से विभूषित किया। यह ई० पू० २७ की घटना थी।

ये विशेषाधिकार और पदवी ऐसी थी—जिनसे वास्तव में सत्ता का मूल ओक्टेवियस के हाथ में ही रहा। वास्तव में वह सम्राट बना, और रोम में वास्तविक सम्राट के आधीन रोमन साम्राज्य का युगारंभ हुआ।

इस प्रकार समाप्त हुई संसार में सर्व प्रथम प्रजातन्त्रीय राज्य की परम्परा—जो ५०० वर्ष तक जीवित रही थी,—वह प्रजातन्त्रीय परम्परा जो आधुनिक युग के प्रजातन्त्र राज्यों का प्रारम्भिक रूप थी—इसी में उसका महत्व है।

रोमन साम्राज्य

(२७ ई० पू० से ४७० ई० तक)

ई० पू० २७ में रोमन गण-राज्य समाप्त हुआ, और उसकी जगह जन्म हुआ रोमन साम्राज्य का जिसका पहिला सम्राट बना ओक्टेवियस जो इतिहास में ऑगस्टस सीजर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रिपब्लिक काल में रोमन राज्य काफी विस्तृत था; रोमन सम्राटों ने इसमें और वृद्धि की और कुछ ही वर्षों में उसका विस्तार इतना हो गया था कि इसके अन्तर्गत पच्छिमी दुनिया के लगभग सभी ज्ञात देश सम्मिलित थे। पच्छिम में स्पेन, गॉल (फ्रान्स) से प्रारम्भ होकर पूर्व में समस्त एशिया-माइनर और मेसोपोटेमिया तक यह साम्राज्य फैला हुआ था; स्काटलैंड और आयरलैंड को छोड़कर समस्त ग्रेट ब्रिटेन भी इसके अन्तर्गत था (८२ ई० सन् में रोमन सम्राट डोमीसन ने इङ्गलैंड पर विजय प्राप्त की)। सीरिया, फिलस्तीन, मिस्र और समस्त उत्तरी अफ्रीका भी इसमें सम्मिलित थे।

उस युग में इन देशों के लोगों का भौगोलिक ज्ञान इतना ही था कि मानो विश्व में ये ही देश थे। अतएव रोमन साम्राज्य विश्व राज्य माना जाता था और रोम के सम्राट विश्व-सम्राट समझे जाते थे। रोम के प्रथम सम्राट ओगस्टस सीज़र के नाम से सीज़र शब्द का इतना प्रचलन हुआ कि पच्छिमी दुनिया में प्रत्येक बड़ा सम्राट अपने आप को सीजर ही कहता था। उदाहरण स्वरूप जर्मनी का बड़ा सम्राट कैसर=सीजर कहलाता था, रूस का सम्राट जार=सीजर कहलाता था, और ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट कैसरे-हिन्द=हिन्द का सीजर कहलाता था।

वास्तव में रोमन लोगों के हाथ में यह एक ऐसा अवसर आया था कि यदि उसका उचित रीति से उपयोग किया जाता, ज्ञान विज्ञान की वृद्धि करके शेष दुनिया की जानकारी हासिल की जाती और न्याय व

समानता के भावों पर आधारित समाज की व्यवस्था की जाती तो दुनिया में वस्तुतः एक विश्व राज्य बन जाता; कम से कम भविष्य के लिए विश्व राज्य की एक सुन्दर परम्परा तो स्थापित हो जाती। किन्तु लगभग इन ५०० वर्ष के साम्राज्य काल में जितने भी सम्राट आये—अच्छे, बुरे; अधिकतर तो बहुत ही स्वेच्छाचारी और क्रूर, उनमें से किसी ने भी ऐसी विशाल दृष्टि, दूरदर्शिता और बुद्धि का परिचय नहीं दिया। बहुतेरे सम्राटों की दृष्टि तो यहीं तक सीमित थी कि बस वे सम्राट हैं, आनन्द में रहते हैं, मन्दिरों में उनकी मूर्तियां स्थापित हैं और उनकी पूजा होती है, और देशों से स्वर्ण, जवाहरात, मोती और धन दौलत आकर उनके राज्य में एकत्र होती रहती है।

साम्राज्य स्थापित होने के बाद लगभग २०० वर्षों तक तो समस्त साम्राज्य में शान्ति कायम रही; रिपब्लिक काल के अन्तिम दिनों में 'जनरल' लोगों में सत्ता के लिये परस्पर जो गृह युद्ध होते रहते थे वे नहीं हुए और व्यापार की वृद्धि हुई। नगरों में अलग अलग एक प्रकार का स्थानीय स्वायत्त शासन था और इसके अधिकारी नागरिकों द्वारा निर्वाचित होते थे। यह सत्य है कि ये अधिकारी धनिक वर्ग में से आते थे किन्तु अपने शहर को सुधारने के लिये और उसे सुन्दर बनाने के लिए उन्हें काफी प्रयत्न करने पड़ते थे। प्रत्येक नगर में एवं प्रत्येक समाज में अपने ही मन्दिर, अपने ही थियेटर और अम्फीथियेटर, पब्लिक स्नान गृह, और फोरम होता था और हर एक नागरिक अपनी इन संस्थाओं में गौरव की अनुभूति करता था।

कई रोमन सम्राटों ने अनेक बड़ी बड़ी सड़कों का निर्माण किया, पुरानी सड़कों को सुधरवाया, नदियों पर पुल बनवाये, और इससे भी अधिक आश्चर्यकारी काम यह किया कि नगरों में ठण्डे जल के प्रबन्ध के लिये कई ऐसी विशाल पानी की नालियों का प्रबन्ध किया जिनमें पहाड़ों में से जल एकत्र होकर नगरों तक पहुंचता था।

किन्तु समाज में पीड़ित किसानों और गरीब लोगों की संख्या अत्याधिक थी, और धनिक भूपति और व्यापारी गरीबों को चूसते रहते थे। विजित गुलाम लोगों का डेलफस (द्वीप) नगर में बराबर एक बाजार लगता था जहां गुलामों की बिक्री और खरीददारी होती थी। इस तरह से साम्राज्य चाहे ऊपर से फला फूला मालूम होता था किन्तु अन्दर से वास्तव में खोखला होता जारहा था। साम्राज्य के नागरिकों में यह भावना नहीं रह पाई थी कि वे अपने राज्य के वास्ते लड़ें।

इस बीच में एक दूसरी आफत साम्राज्य पर आई जिसने रोमन साम्राज्य को समाप्त करके ही चैन लिया। यह आफत थी उत्तर से, उत्तर पूर्व से बढ़ कर आते हुए नोर्डिक उपजाति के गौथ, फ्रेन्क, वेन्डल लोगों के निरन्तर हमले! ये वे ही लोग थे जिनके आदि घर मध्य एशिया में और उत्तर में स्केन्डीनेविया में थे। इन लोगों के अतिरिक्त ठेठ पूर्व में मंगोल से बढ़ कर आते हुए जंगली हूण लोगों के भी हमले बराबर होने लगे। उस समय मारकस ओरेलियस (१६१-१८० ई०) रोमन सम्राट था। यह सम्राट बहुत बुद्धिमान, अध्ययनशील और दार्शनिक था। इसके अपने राज्यकाल में सुदूर चीन से राजदूत भी आये थे। इसने तो किसी प्रकार शक्ति संग्रह करके गोथ और हूण लोगों के हमलों को रोके रखा। किन्तु उनके हमले बराबर होते रहे। फिर अनेक छोटे मोटे सम्राटों के बाद एक सम्राट डायोक्लेसियन (राज्य काल २८४ ३०५ ई०) हुआ जिसने सेना का पूर्ण संगठन किया। और इस उद्देश्य से कि इतने विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध उचित रीति से होता रहे उसने अपने साम्राज्य को दो भागों में विभक्त किया; पूर्वी और पच्छिमी, और यह व्यवस्था की कि उनका प्रबन्ध दो साथी सम्राट करें। डायोक्लेसियन के ही राज्यकाल में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो रही थी। इजराइल में ईसाई धर्म की स्थापना हो चुकी थी और अनेकों ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा धीरे धीरे एशिया-माइनर, ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रान्तों के साधारण लोगों में ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। इन

देशों के पीड़ित लोगों के लिए यह धर्म एक नया आश्वासन था, और जो कोई भी ईसाई बन जाता था उसको यह अनुभव होता था कि मानो वह भ्रातृत्व के एक महान् संगठन का सदस्य बन गया है। रोम के प्राचीन काल में एक भावना जो सब रोमन नागरिकों को एक सूत्र में बांधती थी, वह थी उनकी राज्य के प्रति अनुशासन और कर्तव्य की भावना; किन्तु भावना का यह सूत्र टूट चुका था। अब एक दूसरी शक्ति आई जो साधारण जन को राज्य के प्रति नहीं किन्तु एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व के बन्धन में बाँधती थी। सम्राट डायोक्लेसियन ने इसको देखा, वह इसको सहन नहीं कर सका और इससे भी अधिक वह सहन नहीं कर सका कि रोमन साम्राज्य में कोई भी व्यक्ति सम्राट की मूर्ति और प्राचीन देवताओं के आगे नमन न करे। ईसाई किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी हैं अतएव सम्राट ने उन लोगों का जो अब तक ईसाई बन चुके थे बड़ी क्रूरता से दमन प्रारम्भ किया, किन्तु ईसाई धर्म का प्रभाव धीरे धीरे इतने लोगों में फैल चुका था कि उनका मूलतः दमन नहीं हो सका। डायोक्लेसियन के बाद कोन्सटेनटाइन महान् (राज्यकाल ३२४-३३७ ई०) रोमन सम्राट बना। उसने देखा कि यदि वह ईसाई धर्म को ही राज्य धर्म बना दे तो एक बना बनाया सुसंगठित समाज उसे मिल जायगा और उससे साम्राज्य की एकता मजबूत होगी। इसलिये ३१३ ई० में उसने एक आज्ञा पत्र द्वारा ईसाई धर्म को कानून-सम्मत घोषित कर दिया और स्वयं भी कुछ वर्षों में जाकर ईसाई बन गया। इस प्रकार ई० पू० चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में ईसाई धर्म एक महान् साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया।

डायोक्लेसियन ने रोमन साम्राज्य को पूर्वी और पच्छिमी दो भागों में विभक्त किया था किन्तु सम्राट कोन्सटेनटाइन को यह विचार नहीं जंचा कि एक ही साथ दो सम्राट रहें। अतएव उसने इस विचार को तो छोड़ा लेकिन रोम छोड़कर साम्राज्य के पूर्वी भाग में रहना उसने अधिक उचित समझा। अतएव अपने रहने के लिये उसने कालासागर के तट

पर प्राचीन बिजेन्टाइन नगर के समीप प्रसिद्ध कोन्सेटेंटिनोपल नगर का निर्माण किया, और यही नगर उसने अपनी राजधानी बनाई। कोन्सटें-टिनोपल नगर की स्थिति प्रत्येक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। एक तो यह एशिया और यूरोप का संगम स्थान है और दूसरा यह भूमध्य-सागर और कालासागर का नियन्त्रण करता है। सम्राट कोन्सटेनटाइन के काल तक तो गोथ और वेन्डल लोगों के अनेक आक्रमण होते हुए भी रोमन साम्राज्य यों का यों बना रहा। किन्तु इस सम्राट के बाद फिर से रोमन साम्राज्य का पच्छिमी और पूर्वी भागों में विभाजन हुआ। गोथ लोगों के आक्रमणों का जोर बढ़ता हुआ जा रहा था और साम्राज्य के जन साधारण की स्थिति बुरी थी (वे बड़े बड़े भूपतियों से दबे हुए थे, विशाल कर्ज का भार उन पर था, खेती के लिये स्वतन्त्र पर्याप्त भूमि उनके पास नहीं थी); अतएव किसी भी प्रकार के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए वे तैयार बैठे थे। इन कारणों से, एवं गोथ लोगों के आक्रमणों से सामाजिक संगठन छिन्न हो चुका था—अन्त में सन् ४७० ई० के लगभग पच्छिमी रोमन साम्राज्य का अपनी गलित अवस्था में बिल्कुल पतन हो गया और रोम पर गोथिक जाति के एक सरदार का अधिकार हो गया। इस प्रकार मानव इतिहास में प्राचीन रोम, रोमन सभ्यता और रोमन कहानी का अन्त हुआ।

रोमन लोग (यहां पर "रोमन लोग" से अर्थ हमारा उस वर्ग से है जिसके हाथ में सत्ता और शक्ति थी—साधारण वर्ग की तो हस्ती ही क्या थी) अपने धन, आराम और सत्ता से प्राप्त आत्म-तुष्टि में रहते रहे। ज्ञान के विकास और प्रसार के लिए, जन साधारण के जीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये, उन्होंने कुछ नहीं किया; और उनका यदि कोई सचेतन प्रयत्न हुआ भी तो वह यही कि साधारण वर्ग के हाथों से उनकी सत्ता, और उनका धन सुरक्षित रहे। उन्होंने यह जानने का प्रयत्न कभी नहीं किया कि उनकी रोमन दुनिया से भी बाहर कोई दुनिया हो सकती है—वह दुनिया कैसी है और उसके लोग कैसे हैं—

अर्थात् दुनिया और प्रकृति-विषयक अपने ज्ञान में वृद्धि करने का, उस ज्ञान को संगठित करने का, उससे लाभ उठाने का, उन्होंने कभी भी प्रयत्न नहीं किया—और न वे साधारण जन को जिनकी संख्या उनसे कई गुणा अधिक थी यह आभास करवा सके कि वे साधारण और विशिष्ट जन सब एक हैं, और एक संस्कृति और जीवन के सूत्र में बन्धे हुए हैं। ऐसा आभास करवाने के लिए समानता और सहृदयता का विकास आवश्यक था। गरीबों की ताड़ना करते रहने से एकता की भावना पैदा नहीं की जा सकती थी। रोमन लोगों ने ज्ञान-विज्ञान की अवहेलना की, जन का तिरस्कार किया, सामाजिक नेता धन सत्ता की तुष्टि में लगे रहे—विशाल दूर-दृष्टि को अपना न सके; मानो जाति की आत्मा; जाति की भावतरंग सूख चूकी थी—अतएव विनाश की गति में वे लुप्त हो गये।

निःसंदेह पूर्वी रोमन साम्राज्य की स्थिति किसी तरह से बनी रही। इसका मुख्य श्रेय साम्राज्य की राजधानी कोन्सटेंटिनोपल को है। गोथ लोगों के पूर्वीय साम्राज्य के प्रदेशों में भी हमले हुए और वे ग्रीस तक बढ़े किन्तु राजधानी कोन्सटेंटिनोपल उनसे इतनी दूर पड़ती थी कि वे वहां तक कभी भी नहीं पहुंच पाये। पच्छिम में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद यद्यपि उस साम्राज्य का पूर्वी भाग रोमन साम्राज्य ही कहलाता रहा किन्तु वास्तव में; रोमन भाषा और रोमन सभ्यता की जो परम्परा चली थी वह तो रोम के पतन के बाद ही समाप्त हो गई। इस पूर्वीय साम्राज्य में, जिसे बिजेन्टाइन साम्राज्य भी कहते हैं, न तो रोमन भाषा प्रचलित थी और न रोमन परम्परायें। इस समस्त साम्राज्य की भाषा ग्रीक थी और प्राचीन ग्रीक साहित्य का ही यहां अध्ययन होता रहता था। पूर्व में इस साम्राज्य की परम्परा सन् १४५३ ई० तक चलती रही जब कि तुर्क लोगों के हाथों से इसका पतन हुआ।

●

प्राचीन ईरान और ईरानी सभ्यता

प्राचीन निवासी—ऐसा अनुमान है, और यह अनुमान फ्रैंच पुरातत्व वेत्ता डा० जर्शमन द्वारा पिछले वर्षों में सूसा (ईरान का प्राचीन नगर) में की गई खुदाइयों से सिद्ध होता हुआ जा रहा है कि ईरान में भी प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में वही काष्र्णेय लोग बसे हुए थे जो सुमेर, मिस्र, मोहेंजोदाड़ो एवं भूमध्यसागर के तटीय प्रदेशों में बसे हुए थे और जिनकी सभ्यता सौर-पाषाणी सभ्यता थी। किन्तु वे काष्र्णेय लोग और उनकी सभ्यता अज्ञात कारणों से लुप्त होगई। उन लोगों के पश्चात, शायद उन्हीं लोगों के काल में वे लोग आये जो आर्य थे। ये आर्य कौन थे ?

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन नोर्डिक (आर्य) लोगों का आदि निवास-स्थान मध्य एशिया (पामीर का पठार) था और वहीं से धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि होने पर भिन्न भिन्न कालों में चारों दिशाओं की ओर इन्होंने प्रस्थान किया। इन लोगों की कुछ जातियां पच्छिम की ओर गईं और ग्रीस, इटली आदि प्रदेशों में बस गईं जहां उन्होंने ग्रीक और रोमन सभ्यता का विकास किया; कुछ लोग दक्षिण स्केन्डीनेविया, डेनमार्क एवं पच्छिमी यूरोप में बस गये जिनने अपनी एक आदि आर्य भाषा के ही रूप में अपनी भिन्न भिन्न जर्मन, अंग्रेजी, इत्यादि भाषाओं का विकास किया। कुछ लोग पूर्वीय यूरोप में बस गये जिन लोगों ने रशियन, पोलिश इत्यादि स्लैव भाषाओं का विकास किया। इनकी कुछ शाखायें दक्षिण-पच्छिम की ओर प्रस्थान कर गईं और वहां इण्डो-ईरानी भाषा का विकास किया और कुछ और

भी आगे भारत की ओर बढ़ गईं और वहां उन्होंने संस्कृत भाषा का विकास किया।

कुछ भारतीय विद्वानों का अब ऐसा मत बनने लगा है कि आर्यों का आदि देश भारत ही था और यहीं से इन आर्यों की कुछ शाखायें उत्तर-पच्छिम की ओर प्रस्थान करके ईरान में जाकर बसीं, जहां उन्होंने भिन्न परिस्थितियों में जरथुस्त्र धर्म का विकास किया और जहां उनकी धर्म पुस्तक 'अवेस्ता'का निर्माण हुआ जो जेंद अर्थात् पुरानी ईरानी भाषा में है, जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। किस प्रकार ईरानी आर्य अपने आदि देश भारत (सप्त सिन्ध्व) को छोड़कर ईरान में जाकर बसे इसके पीछे एक रोचक कहानी है, जिसके विषय में कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वह कहानी ऐतिहासिक होगी। भारतीय आर्य भाषा में देव और असुर शब्द दोनों देवता के लिये प्रयुक्त होते थे। देव अर्थात् दीव अर्थात् जो प्रकाशमान हो, जो चमके जैसे सूर्य, अग्नि आदि। असुर वह जो असुवाला है, जिसमें प्राण शक्ति है। परन्तु ऋग्वैदिक काल में ही धीरे धीरे देव शब्द तो इन्द्रादि के लिये और असुर शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों के लिये प्रयुक्त होने लगा था। परन्तु आर्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में अर्थात् देवता के ही अर्थ में जारी रक्खा। परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक दूसरी देवोपासक होगई। पहली शाखा के लिये असुर शब्द बुरा, देव शब्द अच्छा; दूसरी के लिये असुर शब्द अच्छा, देव शब्द बुरा हो गया। एक ने दूसरे को असुर-पूजक या देव-पूजक कह कर बुरा ठहराया। धीरे धीरे इन दो शाखाओं में युद्ध ठन गया, यद्यपि ये दोनों शाखायें मूल में एक थीं और शाब्दिक अर्थों के अतिरिक्त दोनों में कोई अन्तर नहीं था। सम्भव है इन दोनों शाखाओं में परस्पर युद्ध ठनने का कारण और बातों में भी मतभेद रहा हो। जो कुछ भी हो इन दोनों में युद्ध हुए, जो कि हिन्दू शास्त्रों और पुराणों में देवासुर

संग्राम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्त में असुरोपासक पराजित हुए। पराजित असुर सेना अर्थात् असुरोपासक आर्यों ने सप्तसिन्धव का परित्याग कर दिया। वे अन्यत्र चले गये। उत्तर पच्छिम की ओर ये लोग गये और धीरे धीरे उस देश में बस गये जो आज भी ईरान (अर्थात् आर्यों का देश) कहलाता है। अतएव हमने देखा कि इस मत के अनुसार वे लोग जो प्राचीन काल में ईरान में जाकर बसे, वे भारतीय आर्यो की ही एक शाखा थी। यह मत चाहे काल्पनिक सा प्रतीत होता हो क्योंकि ऐसा भी कुछ अनुमान बताया जाता है कि प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित असुर जाति से असीरीयन लोगों का निर्देश होता है जो असीरीया में बसे हुए थे और जिनकी प्राचीन राजधानी असुर थी। किन्तु फिर भी इतना तो प्राचीन आधारों से भासित होता ही है कि ईरानी आर्य भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी, कब इन भारतीय आर्यों ने ईरान की ओर प्रस्थान किया, यह चाहे निश्चित नहीं। अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्य ये हैं—ईसा पूर्व १६०० वर्ष काल के मेसोपोटेमिया और सीरीया के पत्र लेखों में आर्यन नामों का उल्लेख आता है, उत्तारी मेसोपोटेमिया के मित्तानी राज्य का राज्य वंश आर्यन था—यह वहां के राजाओं के नाम से सिद्ध होता है—जैसे एक प्राचीन राजा का नाम था—दशरथ; प्राचीन मिस्र के अनेक चित्रों में ऐसी सूरत के व्यक्ति चित्रित हैं जो स्पष्टतः आर्य हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के प्राय: १५०० वर्ष पूर्व ईरान में आकर बसी हुई आर्य जातियों ने पच्छिम की ओर—मेसोपोटेमिया मिस्र की ओर—एक जबरदस्त प्रस्थान किया था। अत: आर्य लोग ईरान में तो ई० पू० १५०० से भी अधिक पहिले आकर बसे होंगे।

प्राचीन धर्म—प्राचीन पारसियों अर्थात् प्राचीन ईरानियों के धर्म-ग्रंथ का नाम "अवेस्ता" है। इसका ईरानियों में उतना ही महत्व है जितना भारतीय आर्यों में उनके धर्म-ग्रंथ वेद का। अवेस्ता, जेन्द अर्थात् पुरानी (फारसी) भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से मिलती जुलती है। ईरानी

(जरथुस्त्र) धर्म की मुख्य बातें अवेस्ता में ऐसे उपदेशों के रूप में दिखलाई गई हैं जो समय समय पर असुर-मज्द (महान देव) ने जरथुस्त्र को दिये। अतः जरथुस्त्र को अवेस्ता का ऋषि कहना चाहिये। जरथुस्त्र ने धर्म का प्रवर्तन किया इसलिये कुछ लोग इसे जरथुस्त्री धर्म कहते हैं। इस धर्म के अनुसार जगत का रचयिता और धारयिता असुरमज्द है, जिसका अर्थ है—असुर महत्व अर्थात् महान् देवता जिसके सात गुण हैं—ज्योति, सत्य, सुन्दरज्ञान, आधिपतित्व, पवित्रता, क्षेम और कल्याण। इसके साथ ही जगत में एक अधर्म भी है जिसका नाम अग्रमैन्यु है। इस प्रकार धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, प्रकाश और अन्धकार में निरन्तर युद्ध चलते रहते हैं। अन्त में सत्य के सहारे धर्म की विजय होती है। आर्यो की तरह पारसियों के भी कई देवता होते थे जैसे सूर्य, वरुण और अग्नि। अविकसित बुद्धि वाले मनुष्य इन देवताओं को स्वतन्त्र उपास्य मानकर पूजते हैं। जिनकी बुद्धि संस्कृत है वे इनको एक ईश्वर तत्व के प्रतीक समझते हैं और इन नामों और गुणों में एक ईश्वर की विभूतियों को पहचानते हैं। वेद और अवेस्ता दोनों ने ही इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया है। ईश्वर (अहुरमज्द) की दिव्य अभिव्यक्ति सूर्य के रूप में होती है। किन्तु सूर्य हर समय उपलब्ध नहीं रहता। अतएव सूर्य के बाद ईश्वर की दूसरी दिव्य अभिव्यक्ति अग्नि के द्वारा ही फारसी लोग ईश्वर की उपासना करते हैं। उनके मन्दिरों में वह अग्नि जिसमें नित्य अग्नि होत्र होता है हजारों वर्षों से चली आ रही है। पारसियों के मन्दिरों में अग्नि के सिवाय और कोई दूसरा प्रतीक या मूर्ति नहीं होती।

जरथुस्त्र जो पारसी धर्म के प्रवर्त्तक माने जाते हैं सचमुच ऐतिहासिक पुरुष हैं या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि वे ऐतिहासिक पुरुष थे तो वे कब और कहां पैदा हुए, यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन से संबंधित जो कथायें प्रचलित हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह निश्चय करना कठिन है। अवेस्ता में जो वाक्य उनके कहे हुए बतलाये जाते हैं, वे सचमुच उन्हीं के कहे

हुए हैं या नहीं यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी धर्म पुस्तक अवेस्ता से ईरानियों के इतिहास पर उसी प्रकार प्रकाश पड़ता है जिस प्रकार वेद आर्यों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक धर्म में जिन दार्शनिक, मुक्त विचारों का विकास हुआ है और जो अपूर्व आध्यात्मिक अनुभूति वैदिक ऋषि कर पाये थे उसका आभास पारसियों की धर्म पुस्तक में नहीं मिलता; अवेस्ता का जब निर्माण हुआ होगा तब तक स्यात् इन अनुभूतियों का प्रभाव न रहा हो। अवेस्ता में धर्म का स्थूल और व्यावहारिक रूप ही अधिक मिलता है। प्रत्यक्ष नैतिक शिक्षा, सत्य, ईमानदारी इत्यादि पर विशेष जोर है।

ईरानियों का इतिहास:—प्राचीन ईरानी (आर्यन) भारत से आकर ईरान में बसे हों, या मध्य एशिया से, या मध्य यूरोप से—जो कुछ भी हो, किन्तु उनके इतिहास में भारतीय आर्यो से भिन्न एक विशेष बात है। भारतीय आर्य-राजाओं या सम्राटों ने अपने देश से बाहर जाकर दूसरे देशों पर आधिपत्य स्थापित करने का कभी भी प्रयास नहीं किया; ईरान, ईराक, यूनान, यूरोप में बढ़कर उनको अपने आधीनस्थ करने की कभी भी नहीं सोची, जिस प्रकार ग्रीक लोगों ने सोचा था, जिन्होंने ठेठ यूरोप से भारत तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिस प्रकार रोमन लोगों ने सोचा था और एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। इसके कुछ भी कारण हों, चाहे उनकी विशेष भौगोलिक-ऐतिहासिक परिस्थितियाँ, चाहे उनका एक विशेष जीवन दृष्टिकोण। किन्तु जो काम भारतीयों ने नहीं किया वह ईरानी आर्यों ने किया। अपने महान् सम्राट दारा के राज्य काल में उनका साम्राज्य भारत में सिंधु नदी के पच्छिम से, समस्त मध्य एशिया, मेसोपोटेमिया, मिस्र, सीरीया, एशिया-माइनर एवं ग्रीस के पूर्वीय भागों तक फैला हुआ था। जब आर्य लोग ईरान में आकर बसे थे तो वे कई जातियों में विभक्त थे। उदाहरण स्वरूप मेदी, फारसी, पारथियन, बेक्टीरियन इत्यादि।

ईरान के इतिहास का, हम निम्न काल . विभागों में अध्ययन कर सकते हैं।

(१) आर्यों का आगमन और धीरे धीरे साम्राज्य स्थापित करना (ई० पू०...? से ३३० ई० पू० तक)

(२) ग्रीक राज्य काल (ई० पू० ३३० से ई० पू० प्रथम शताब्दी तक)

(३) पार्थियन और सस्सानिद राज्य वंश—पुन: ईरानी सम्राट (ई० पू० प्रथम शताब्दी से सन् ६३७ ई० तक)

(४) अरबी खलीफाओं का राज्य (सन् ६३७ से ११वीं शती तक)

(५) तुर्क मंगोल प्रभुत्व काल (११वीं शती से १७३६ ई०)

(६) शिया शाहों का राज्य काल (१७३६ से १६०७)

(७) शिया शाहों का वैधानिक राज्य-आधुनिक काल (१६०७)

(१) ईरानियों का कुछ कुछ सिलसिलेवार लिखित इतिहास ई० पू० प्राय: ६वीं शताब्दी से मिलता है। उस समय मेसोपोटेमिया में असीरीया का सम्राट सार्गन द्वितीय था। उसने पूर्व की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। उस समय पच्छिमी ईरान में मेद जाति के ईरानी बसे हुए थे। असीरीया के प्रसिद्ध सम्राट सारगन (७१५ ई० पू०) ने ईरान में जाकर कई मेदी सरदारों को परास्त किया था और उनसे कर वसूल किया था। सम्राट सारगन के उत्तराधिकारी असुर-बनीपाल (६६८ से ६२६ ई० पू०) के काल तक असीरियन सम्राटों का ईरान पर दबदबा रहा किन्तु इसके पश्चात् मेदी, ईरानी लोग अपने एक राजा साईअक्षर्स के अधिनायकत्व में संगठित हुए और उन्होंने असीरियन साम्राज्य पर आक्रमण किया। ई० पू० ६०८ में निनेवेह नगर को परास्त किया और समस्त ईरान और एशिया-माइनर के कुछ भागों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। ठीक इसी समय एक अन्य केल्डिया नामक सेमेटिक जाति ने असीरियन राज्य वंश को समाप्त कर मेसोपोटेमिया में दूसरा बेबीलोनियन साम्राज्य स्थापित किया। यह वही

सिथियन
कृष्ण-सागर
कसपियन सागर
अरल सागर
समरकंद
बक्ट्रिया
लिडिया
सार्डिस
आर्मीनिया
भूमध्य सागर
सीरिया
असीरिया
निनेवेह
मेद
पार्थिया
सिंधु
भारत
दमिश्क
यरुसलम
बेबीलोन
सूसा
पुर्सीपोलिस
ईरान की खाड़ी
अरब
मेम्फिस
मिस्र
थीबीज
ईरानी साम्राज्य
सम्राट दारा
५०० ई.पू.
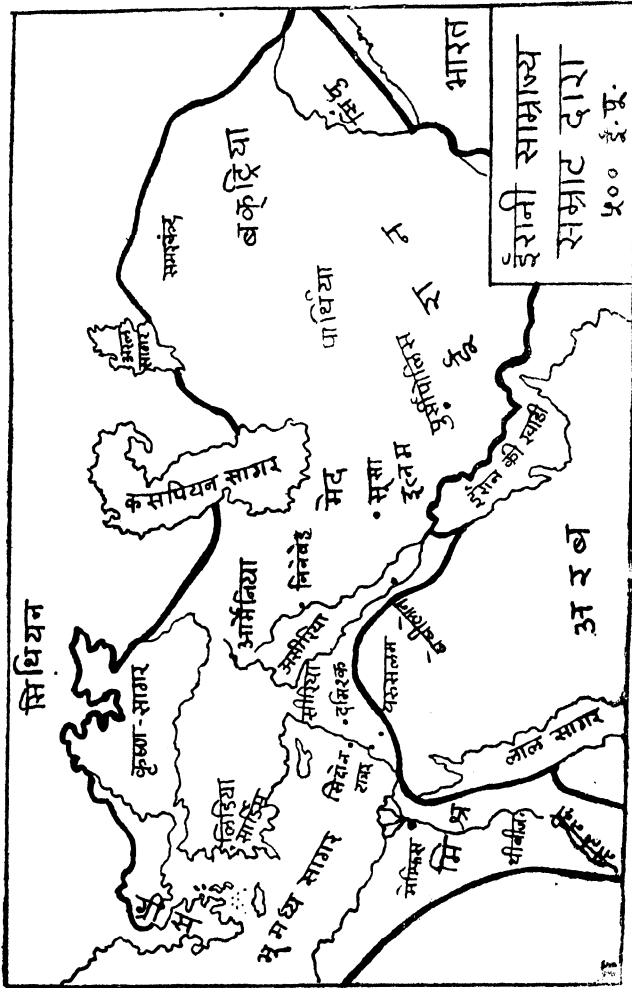
काल था जब बेबीलोन के सम्राट नेबूस्कंन्दर ने यरुसलम से सब यहूदियों को पकड़वाकर बेबीलोन में बुला लिया था और वहां उनको बसाया था। साइअक्षर्स के बाद साइरस (कुरु) मेदीयन ईरानी साम्राज्य का सम्राट बना। ५३९ ई० पू० में उसने बेबीलोन पर आक्रमण किया, वहां विजय पाकर समस्त बेबीलोन साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने लीडिया के सम्राट क्रूमस पर भी जो उस काल का एक अनुपम धनी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति समझा जाता था, आक्रमण किया और लीडिया को अपने साम्राज्य का एक अंग बनाया। साइरस के पुत्र कम्बिस ने ५२५ ई० पू० में मिस्र पर विजय प्राप्त की, तदन्तर प्रसिद्ध सम्राट दारा ५२१ ई० पू० में ईरान के साम्राज्य का अधिपति बना। उसके साम्राज्य के विस्तार की सीमा ई० पू० छठी शताब्दी में इस प्रकार थी—भारत में सिंधु नदी के तट तक, फिर समस्त मध्य एशिया, ईरान, सीरिया, इजराइल, एशिया-माइनर, मिस्र और ग्रीस के कुछ पूर्वीय भाग।

राज्य-संगठन—फारस के सम्राटों का राज्य संगठन बहुत ही विकसित और कुशल था। समस्त साम्राज्य कई प्रांतों में विभक्त था। प्रत्येक प्रांत का अलग अलग गवर्नर था जो सत्रप कहलाता था। सब प्रांत और प्रांतों के नगर एक दूसरे से अनेक सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे। इन सड़कों पर सम्राट के घुड़सवार लगातार दौड़ते रहते थे जिनके बदलने ठहरने और विश्राम करने के लिए नियुक्त स्थानों पर उचित व्यवस्था कायम थी। घुड़सवार सम्राट के आदेश, या राज्य के दूसरे पत्र और समाचार एक दूसरे स्थान पर जल्दी जल्दी पहुंचाते रहते थे। संपूर्ण राज्य में व्यवस्था और शांति स्थापित थी। राज्य का आधार न्याय और उदारता थी। जैसे ऊपर उल्लेख हो चुका है, ईरानियों का आदि धर्म जरथुस्त्र धर्म था। सभी ईरानी सम्राट जरथुस्त्र धर्म के सच्चे पालनकर्ता थे किंतु साथ ही धार्मिक मामलों में उदार हृदय भी। एशिया-माइनर में जो

ग्रीक बसे हुए थे उन्हें अपने मन्दिरों में अपने देवों की पूजा करने की स्वतंत्रता थी; यहूदी लोगों को भी बेबीलोन से मुक्त कर दिया गया था और उनको आदेश मिल चुका था कि वे यरुशलम में जाकर फिर से अपने देव जेहोवा का मन्दिर बना सकते हैं। न्याय के लिए स्थान स्थान पर पंचायतघर स्थापित थे। ईरानियों के मन्दिर ही न्यायालय का काम देते थे। पंच बैठकर न्याय किया करते थे; पंच बनने के लिए शिक्षित, सद्चरित्र और धार्मिक होना आवश्यक था। चोरी की सजा जुरमाना, कैद, कठिन परिश्रम या जलाकर दाग देना थी। छूत की बीमारी और गन्दगी फैलाने वाला भी सजा पाता था। मनुष्य-हत्या, बलात्कार, राजद्रोह, और रिश्वत लेना या देना, इन सब की सजा मौत थी।

साम्राज्य की सेना का भी अपूर्व संगठन था। सेना का एक प्रधान सेनापति होता था। सम्राट ही साधारणतया इस पद को सुशोभित करता था। प्रधान सेनापति के नीचे फौज कई भागों या डिवीजनों में बंटी होती थी। सेना में पैदल और घुड़सवार दोनों होते थे। ईरानियों को रथों से प्रायः नफरत थी। पैदल सिपाही लम्बी चुस्त बाहों का घुटनों तक का लम्बा कुर्ता, चमड़े का चुस्त पजामा, ऊंचे बूट और सिर पर फेल्ट टोपी पहनते थे। उनके हथियार प्रायः यह होते थे—भाला, खंजर, फरसा, तलवारें और तीर कमान। घुड़सवार सिर और बदन पर लोहे का हेमलेट और कवच पहनते थे। ये सम्राट जबरदस्ती जहाजी बेड़े भी रखते थे। ऐसा अनुमान है कि सम्राट क्षयर्ष के जहाजी बेड़े में पांच हजार जंगी जहाज थे।

ग्रीस के साथ युद्ध—समस्त मध्य एवं पच्छिमी एशिया और मिस्र पर साम्राज्य होते हुए भी दारा की महत्वाकांक्षा और भी आगे बढ़ी। उसने यूरोप और ग्रीस पर विजय प्राप्त करना चाहा। ग्रीस पर जल और थल दोनों रास्तों से आक्रमण कर दिया। कई युद्ध हुए—जिनका वर्णन ग्रीक इतिहास का अवलोकन करते समय हम कर आये हैं। याद होगा इस समय (ई० पू० पांचवीं शताब्दी) ग्रीस में छोटे छोटे

नगर राज्य थे-स्वतन्त्र और गणतन्त्रात्मक। ईरानियों के आक्रमण के सामने ये सब एक सूत्र में संगठित हुए। तीन प्रसिद्ध युद्ध हुए—

१. मेराथन—जहां ईरानियों की पराजय हुई। इसी के बाद दारा की मृत्यु हो गई थी, और उसका पुत्र क्षयर्ष सिंहासनारूढ़ हुआ था।

२. ४८० ई० पू० में इतिहास प्रसिद्ध थर्मोपली का युद्ध हुआ—वहां ग्रीक लोगों की पराजय हुई।

३. ४७९ ई० पू० में सेलामिस में सामुद्रिक युद्ध हुआ—जहां ईरानियों की पराजय हुई।

ग्रीक भूमि पर जो ईरानी सेनायें बच गई थीं—उनको भी लौट आना पड़ा।

ई० पू० ४६५ में क्षयर्ष की मृत्यु हो गई। उसके उपरान्त ईरान ने ग्रीस पर विजय प्राप्त करने का फिर कभी प्रयत्न नहीं किया।

वास्तव में क्षयर्ष की मृत्यु के बाद ईरानी साम्राज्य स्वयं योग्य सम्राटों के अभाव में धीरे धीरे शक्तिहीन होता गया। राज्याधिकार के लिये उत्तराधिकारियों में झगड़े होते रहते थे। राज्य दरबार के चारों ओर सब वातावरण वैमनस्य, धोखेबाजी, व्यक्तिगत स्वार्थ, सत्ता लोलुपता से परिपूर्ण रहता था। फिर भी, ई० पू० ३३० तक जब सिकन्दर महान् के आक्रमण हुए—मध्य एशिया में ईरान का साम्राज्य ही सब से बड़ा था, एवं सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता था।

२. ग्रीक राज्य काल—(ई० पू० ३३० से ई० पू० पहली शताब्दी तक)। ग्रीस में अलक्षेन्द्र महान् का उदय हो चुका था। विश्व विजय करने को वह निकल चुका था। नव आविष्कृत घुड़सवारी, फौज का व्यूह बनाकर युद्ध करने की कला, एक विशेष प्रकार के इंजिनों द्वारा विशालकाय पत्थरों को फेंककर दीवार तोड़ने की कला के साथ एक बहुत ही सुसंगठित जल एवं थल सेना लेकर अलक्षेन्द्र निकला। इस समय दारा तृतीय ईरानी साम्राज्य का सम्राट था। एशिया-माइनर के बन्दर-

गाहों को जीतता हुआ, इजराइल के टायर और गाजा बन्दरगाहों को जीतता हुआ, ३३१ ई० पू० में वह ईरानी साम्राज्य के अन्तरङ्ग भागों में दाखिल हुआ। सम्राट दारा तृतीय हिम्मत हार चुका था। आगे आगे दारा भागता था और उसका पीछा करता था अलक्षेन्द्र। फारस में अरबला के मैदान में ३३१ ई० पू० में युद्ध हुआ। दारा के सेनापति दारा की कायरता से नाराज हो चुके थे। इतिहासकारों का कहना है कि उन्होंने अपने सम्राट को कत्ल कर दिया था। उसकी मृत्यु के बाद विशाल ईरानी साम्राज्य का पतन हुआ और उसके स्थान पर ग्रीक साम्राज्य की स्थापना हुई।

जब तक अलक्षेन्द्र जीवित रहा (३२३ ई० पू०) तब तक वह इस विशाल साम्राज्य का सम्राट रहा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई टुकड़ों में विभक्त हुआ। वह भाग जिसमें ईरान और मेसोपोटेमिया प्रदेश सम्मिलित थे, ग्रीक जनरल सेल्यूकस के अधिकार में आया। प्रायः तीन सौ वर्षों तक ईरान और मेसोपोटेमिया पर ग्रीक राज्य रहा। इन वर्षों में ग्रीक भाषा और ग्रीक सभ्यता का काफी प्रसार हुआ।

३. पार्थियन और सस्सादनि राज्यवंश—(ई० पू० प्रथम शताब्दी से ६३७ ई० सन् तक)। ई० पू० प्रथम शताब्दी में एशिया से मध्य एशियन जातियों के आक्रमण होने लगे। पार्थिया जाति के लोगों ने जो स्वयं आर्यन थे, ईरान के ग्रीक शासकों को परास्त किया और वहां अपना राज्य स्थापित किया। लगभग ढाई सौ वर्षों तक ईरान में पार्थियन लोगों का राज्य रहा। इस काल में पच्छिम में रोमन साम्राज्य स्थापित हो चुका था। इस रोमन साम्राज्य और ईरान के पार्थियन साम्राज्य में एशिया-माइनर पर प्रभुत्व कायम करने के लिये युद्ध होते रहते थे। इन्हीं युद्धों में ईरानियों और रोमन लोगों का सम्पर्क बढ़ा।

ईसा की तीसरी शताब्दी के आरम्भ में ईरान के आदि निवासियों ने पार्थियन शासकों के विरोध में विद्रोह किया। विद्रोह सफल हुआ

और २२७ ई० में सस्सानिद राज्य वंश की नींव पड़ी। प्राचीन ईरानी आर्यन और जरथुस्त्र धर्म के पालक अर्देशिर प्रथम इस राज्य वंश के प्रथम सम्राट हुए। जरथुस्त्र (पारसी) धर्म का इन सम्राटों ने पुनरुत्थान किया और सभी पारसी लोगों में अपने जातीय धर्म के प्रति उत्साह की भावना उत्पन्न की। पार्थियन राज्य काल की तरह अब भी रोमन सम्राटों से युद्ध होते रहते थे। एक बार तो रोमन सम्राट बलेरियन पारसियों द्वारा सन् २६० ई० में कैद भी कर लिया गया था। पारसी राजाओं ने मिस्र पर भी विजय प्राप्त की थी। रोमन साम्राज्यवासियों का उस समय जातीय धर्म ईसाई था। अनेक पारसी धर्मावलम्बी जो रोमन साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको रोमन सम्राट सताते थे, और जो ईसाई ईरानी साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको पारसी लोग सताते थे। अन्त में कस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट और ईरान के राजा में परस्पर यह संधि हो गई थी कि वे दोनों एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव रक्खेंगे। सस्सानिद वंश का सबसे प्रसिद्ध पारसी राजा क्रोसस प्रथम था जिसने सन् ५३१ ई० से ५७९ ई० तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में रोम के प्रसिद्ध सम्राट जस्टिनियन के साथ अनेक युद्ध हुए थे किन्तु युद्ध के फलस्वरूप किसी के भी राज्य विस्तार में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा था। क्रोसस की सेनायें कई बार बढ़कर रोमन साम्राज्य के एशिया-माइनर प्रदेश को पार करती हुईं ठेठ बोसफोरस के मुहाने तक पहुंच गई थीं। उसकी सेनाओं ने सीरिया के प्रसिद्ध नगर एंटीओच और दमिश्क पर भी विजय प्राप्त कर ली थी और उसके आगे बढ़ती हुई वे ईसाईयों की पवित्र भूमि यरुसलम तक पहुँच गई थीं, जहां से वे ईसाइयों के धार्मिक प्रतीक उस क्रोस को छीन ले आई थीं, जिस पर कहते हैं ईसा को सूली दी गई थी। इसके कुछ ही वर्षों बाद क्रोसस की मृत्यु हो गई (उसी के पुत्र ने उसकी हत्या करदी थी) और ईरानी और रोमन दोनों साम्राज्यों में जो अनेक युद्धों से थक गये थे संधि हो गई। वह क्रोस जो

पारसी लोग ले आये थे रोमन सम्राट हीरेक्लियश को लौटा दिया गया। ईसाइयों ने बड़ी धूम धाम से यरुसलम में इस क्रोस की स्थापना की। इस समय लगभग छठी शताब्दी के अन्त में पारसियों का राज्य ईरान एवं मेसोपोटेमिया में था और पूर्वीय रोमन राज्य एशिया-माइनर; सीरिया, इजराइल, मिस्र, ग्रीस और डेन्यूब के दक्षिण प्रान्तों में था।

क्रोसस की मृत्यु के बाद ईरान में कोई भी शक्तिशाली पारसी सम्राट नहीं हुआ।

४. **अरबी खलीफाओं का राज्य**--(सन् ६३७ से ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक)। जब ईरान में सस्सानिद वंश के प्रसिद्ध सम्राट क्रोसस के बाद पारसी राजाओं की परम्परा चल रही थी, उस समय अरब में एक नई शक्ति का उदय हो रहा था। यह नई शक्ति थी इस्लाम। मोहम्मद के बाद इस्लाम के नये खलीफा आसपास के देशों में इस्लाम की विजय करने के लिये फैले। ईरान की तरफ भी वे आये। सस्सानिद पारसी राजाओं पर सन् ६३५ ई० में "कर्दिया" के युद्ध में विजय प्राप्त की और फिर धीरे धीरे समस्त पारसी साम्राज्य (मेसो-पोटेमिया, ईरान) को पदाक्रान्त कर अपने आधीन कर लिया। इन नये मुसलमान शासकों को ईरान के प्राचीन धर्म और संस्कृति से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। तलवार के बल से पारसी संस्कृति और धर्म को उन्होंने मिटाना शुरू किया। उसी काल में लाखों पारसी जो इस बात को सहन नहीं कर पाये, ईरान को छोड़ सामुद्रिक रास्ते से भारत चले आये। आज जो पारसी भारत में विशेषतया बम्बई और सूरत प्रदेशों में पाये जाते हैं वे वही प्राचीन ईरानी आर्य हैं, जरथुस्त्र के पुजारी, जो इस्लाम द्वारा सताये जाने के कारण सातवीं शताब्दी में भारत में आ गये थे। बम्बई और अन्य स्थानों पर इन लोगों के शांति कूप (Towers of Silence) हैं, जहां ये अपने मृतकों को फेंक दिया करते हैं, उन्हें वे जलाते या दफनाते नहीं।

ईरान में अरबी खलीफाओं का कई शताब्दियों तक राज्य रहा। वहां के आदि निवासियों को मुसलमान बनाया, अरबी, विज्ञान, गणित, चिकित्साशास्त्र का विकास किया किन्तु खलीफा लोग ऐशोआराम में डूब गये और मध्य एशिया की तरफ से बढ़ते हुए तुर्क लोगों ने उनके राज्य को खत्म कर डाला।

५. ११ वीं शताब्दी से १७३६ तक तुर्क मंगोल इत्यादि लोगों का प्रभुत्व काल—११ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक ईरान में समय समय पर कई मध्य एशियाई जातियों का राज्य रहा। ११ वीं शताब्दी में तुर्क सुल्तानों का, फिर एक अन्य मध्य एशियाई मुसलमान वंश खीवान वंश के शासकों का, फिर १३ वीं शताब्दी में मंगोल, चंगेज खां एवं उसके वंशजों का, तदुपरान्त चंगेज खां के ही एक दूरस्थ वंशज तैमूरलंग का और उसके बाद उसी के वंशज अन्य सुल्तानों का। इस प्रकार १८वीं शताब्दी तक चलता रहा।

६. शिया मुसलमान शाहों का राज्य (१७३६-१९०७)–१७३६ ई० में मध्य एशिया से नादिरशाह फारस पर चढ़ आया। उसने पूर्ववर्ती मंगोल-तुर्क वंश को खत्म किया और अपनी सल्तनत कायम की। नादिरशाह के वंश के शासक शाह कहलाते थे जिनकी परम्परा अब तक चली आती है। इस वंश के शाहों के जमाने में फारस देश का यूरोपीय लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ा और १९वीं शती में सुधार की कई लहरें प्रवाहित हुईं।

७. वैधानिक राजतंत्र (सन् १९०७ से आज तक)–सन् १९०७ में सुल्तान अहमदशाह फारस का शाह बना और एक आधुनिक किस्म के प्रजातन्त्रीय विधान के अनुसार उसने अपना राज्य आरम्भ किया। आज सन् १९५० में रजाशाह पहलवी फारस का शाह है और सन् १९०७ में स्थापित विधान के अनुसार वहां का राज्य कर रहा है। प्राचीन ईरानी भाषा जेन्दा की ही पुत्री आधुनिक फारसी वहां के लोगों की भाषा है।

यह है ईरान की कहानी, अति प्राचीन काल से लेकर आज तक।

प्राचीन ईरानी संस्कृति—प्राचीन ईरानियों का गुण उनकी सच्चाई थी। अवेस्ता में सच्चाई पर खूब जोर दिया गया है। "अहुर-मज्द" स्वयं सत्य रूप है। सम्राट दारा अपने एक शिला लेख में लिखता है,—भूठ पाप का ही एक दूसरा नाम है। पुराने ईरानी कर्ज से बहुत बचते थे क्योंकि इनका विश्वास था कि कर्जदार अक्सर भूठ का सहारा लेता है। खरीद फरोख्त करते समय दाम के घटाने बढ़ाने से उनको सख्त नफरत थी। ईरानी सदा साफ साफ बातें करने वाले, प्रेमी और अतिथि देव की पूजा करने वाले थे।

रहन सहन—धनी लोग रेशमी कपड़े पहनते थे, गले में सोने और मोतियों की माला डालते थे। प्रारम्भिक ईरानी गेहूं और जौ की रोटी और भुना हुआ मांस खाते थे। वे दिन में केवल एक बार भोजन करते थे। किन्तु बाद में वे ऐशपरस्त हो गए थे तब भी भोजन एक बार करते थे किन्तु एक बार के ही भोजन में अनेक व्यंजन खा जाते थे और खूब शराब पीते थे। समाज के व्यवहार के कड़े नियम थे, छोटे बड़ों को साष्टांग प्रणाम करते थे।

बच्चों की शिक्षा—पांच साल तक बच्चे मां के पास रहते थे, उसके बाद उनकी शिक्षा प्रारम्भ होती थी। सूर्य निकलने के पहिले हर बच्चे को उठाया जाता था। दौड़ना, पत्थर फेंकना, तीर चलाना, खुखरी चलाना उन्हें सिखाया जाता था। सात साल की उम्र में उन्हें घोड़े पर चढ़ना और दौड़ते हुए घोड़े पर उछलकर बैठना सिखाया जाता था। बड़े होने पर उन्हें शिकार खेलना सिखाया जाता था। पोलो का खेल बड़ा लोकप्रिय था। ऐसा माना जाता है कि यह खेल ईरानियों के ही जातीय मस्तिष्क की उपज है। कड़ी से कड़ी ठण्ड और गर्मी सहन करने की बच्चों को आदत डाली जाती थी। तैरने और सर्दी में रात को खुले सोने का अभ्यास कराया जाता था। खेती करना, जमीन

खोदना आदि परिश्रम के काम उनसे लिए जाते थे। फिर उन्हें धार्मिक कवितायें और कहानियां याद कराई जाती थीं। गुरु की पदवी बड़ी आदर और उत्तरदायित्व की चीज समझी जाती थी। शिक्षा का यह तरीका बिना गरीब अमीर के भेदभाव के पांच साल की उम्र से लेकर बीस साल की उम्र तक सबके लिए एकसा था। विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए कोई पृथक पाठशालाओं के भवन नहीं बने हुए थे। पुजारी के घर का बराम्दा या मन्दिर का कोई भाग ही पाठशाला का काम देता था।

ईरानी समाज में स्त्रियां—जब ईरानी आर्य लोग भारत से या मध्य एशिया से ईरान में आये थे—उस समय उनकी स्त्रियों में पर्दे का रिवाज नहीं था। किन्तु अनेक वर्षों तक सेमेटिक उपजाति के असीरियन लोगों के सम्पर्क में आने से, जिनमें पर्दे की प्रथा का प्रचलन था, ईरानी स्त्रियों में भी इसका प्रचलन हो गया। किन्तु इस एक बात को छोड़कर स्त्रियों की सामाजिक दशा और अधिकारों में पुरुषों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं थी। स्त्रियां जायदाद रख सकती थीं,-पंचों के सामने गवाही दे सकती थीं, पति की ज्यादती के विरुद्ध न्यायालय में दावा दायर कर सकती थीं—इत्यादि। धार्मिक संस्कारों में वे पति के साथ बराबर भाग लेती थीं। वे मन्दिरों की पुजारिनें भी बन सकती थीं। घर और खेती का सब काम वे करती थीं। पूजा की आग में समिधा अर्थात् लकड़ी डालना पुरुष का ही धर्म समझा जाता था। पुरुष की तरह पवित्र सदरा और जनेऊ स्त्रियां भी पहनती थीं। सती स्त्रियों का समाज में आदर होता था। व्यभिचार समाज का सबसे बड़ा पाप समझा जाता था। गरीब लड़कियों का विवाह करा देना बड़ा पुण्य कार्य समझा जाता था।

आचार विचार—स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। सड़क पर खाना पीना या जहां चाहे थूकना या छींकना या पेशाब करना उनके यहां असभ्यता थी। जिस बर्तन से कोई एक आदमी पानी या

कोई चीज पीता था, बिना मांजे कोई दूसरा उसमें नहीं पीता था। वे प्रतिदिन स्नान करते थे। किसी के मरने पर परिवार का एक जन क्रिया-कर्म करने के लिये अलग रहता था और दसवें दिन पवित्र होता था,–पवित्र होने के लिये हिन्दुओं की तरह गौ मूत्र का प्रयोग किया जाता था। नये बच्चे को सबसे पहिले गौ मूत्र चटाया जाता था।

ईरानी कला—ईरान की प्राचीन राजधानी पर्सुपोली थी। सिकन्दर महान् के आक्रमण वेला में नगर को जलाकर भस्म कर दिया गया था-अतएव उस प्राचीन काल की कला एवं साहित्य प्रायः नष्ट हैं। अब केवल टूटी फूटी दीवारों से प्राचीन भवन निर्माण कला का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों के भवनों में मुख्यतः राजाओं के महल मिलते हैं–या सम्राटों की समाधियां जैसे दारा की समाधि इत्यादि। प्राचीन, ग्रीक लोगों की तरह भवन एवं मूर्ति निर्माण कला के भव्य नमूने फारस में बिल्कुल नहीं मिलते। एक पुरातत्ववेत्ता हुवाई के अनुसार ईरान में उस समय जमाने की सब सभ्यताओं के मेल से एक नई और महान् सभ्यता की रचना हो रही थी। वह लिखता है–पर्सु-पोली के खण्डहरों में हमें एक ऐसी कला के दर्शन होते हैं जिसके बनाने में साम्राज्य के हर देश, असुरिया, मिस्र, एशिया, यूनान इत्यादि, सबने हिस्सा लिया था। उन खण्डहरों में हमें जबरदस्त एकता और महानता दिखाई देती है।

अति प्राचीन काल में ईरान की राजधानी सूसा थी। प्रसिद्ध सम्राट दारा की भी यही राजधानी थी। सूसा में भी पर्सुपोली की तरह अति भव्य महलों के खण्डहर मिले हैं, जिनको बनाने के लिये, ऐसा अनुमान है, देश विदेश के कुशल कारीगर आये थे, और देश विदेशों से प्रकार-प्रकार के पत्थर और वस्तुयें मंगवाई गई थीं।

(२८)

यहूदी जाति, यहूदी धर्म, एवं मानव इतिहास में उनका स्थान

भूमिका

जिस काल में मिस्र, बेबीलोन, मोहेंजोदाड़ो एवम् क्रीट की सभ्यतायें अपने उच्चतम शिखर पर थीं और उनके बड़े बड़े राज्य थे, उसी काल में सेमेटिक लोगों की छोटी छोटी जातियां मिस्र और मेसोपोटेमिया के मध्यवर्ती प्रदेशों में यथा, सीरिया, जूड़िया, इजराइल, फिनीशिया आदि स्थानों में, अपने छोटे छोटे राज्यों की स्थापना कर रही थीं। इन्हीं छोटी छोटी जातियों में यहूदी नाम की एक छोटी जाति थी जिसने कोई बड़ा साम्राज्य स्थापित नहीं किया और न जिसकी किसी उल्लेखपूर्ण सैनिक विजय का डंका संसार में बजा किन्तु फिर भी जिसका मानव इतिहास में और मानव चिन्तन और चेतना की प्रगति में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन प्रारम्भिक सभ्यताओं की विशेषताओं का उल्लेख करते समय यह बताया गया था कि उस काल में इन प्रारम्भिक सभ्यताओं के मानवों में बुद्धि और चेतना अभी विशेष संकुचित या जकड़ी हुई थी। उनका धार्मिक विश्वास अभी अनेक स्थूल देवी देवताओं की ही परिधि तक सीमित था। उस विश्वास में भय का दबाव अधिक, प्रेम और स्नेह की स्वतन्त्रता कम। प्राचीन काल में भारत और चीन को छोड़कर यहूदी लोगों के धार्मिक-द्रष्टा, नबी (प्रोफेट) या गुरु ही पहले मानव थे जो उपरोक्त धार्मिक संकुचितता, बुद्धि और मन की सीमित परिधि से

ऊपर उठे और जिन्होंने सर्वप्रथम एक परमात्मा, सत्य के परमात्मा का आभास पाया और जिनके विचारों से प्रभावित होकर पहले महात्मा ईसा ने और फिर सातवीं शताब्दी में अरब के मोहम्मद साहब ने एकेश्वरवाद का संदेश लोगों को दिया।

यहूदी लोग कौन थे ?—इनका इतिहास जानने के दो मुख्य साधन हैं। पहिला, प्राचीन मिस्र के पेपीरसरीड पर लिखे लेख, पत्र, इत्यादि; एवं प्राचीन बेबीलोन के पाये गये मिट्टी की पट्टियों पर लिखे हुए ऐतिहासिक घटनाओं संबंधी लेख। दूसरा साधन है स्वयं यहूदियों की प्राचीन धर्मपुस्तक "बाइबिल" (Old Testament) जो यहूदियों के धार्मिक विचार, मूसा के नियम, धार्मिक कवित्वमय गीत, भजन इत्यादि के अतिरिक्त तत्कालीन इतिहास सम्वन्धी एक अपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इस धर्म पुस्तक में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं में से अनेकों की पुष्टि दूसरे ऐतिहासिक आधारों से भी होती है–अतएव जो कुछ भी ऐतिहासिक बातें इस प्राचीन धर्म पुस्तक में मिलती हैं उनको हम बिल्कुल तो निराधार नहीं मान सकते।

"यहूदी बाइबिल" के अनुसार यहूदियों का इतिहास इस प्रकार है :–

१. **प्रारम्भिक काल** : प्राचीन अरब में (ऐतिहासिक काल अनुमानत: २१०० ई० पू०,–बेबीलोन के सम्राट हमीरबू के समय में) अबराहम सेमेटिक बेबाइन जाति का एक सरदार था जिसका मुख्य व्यवसाय भेड़ चराना था। सुन्दर उपजाऊ भूमि की तलाश में वह अपने साथियों और भेड़ों के झुण्ड लेकर उत्तर पश्चिम प्रदेशों की ओर निकल गया। जिस भू-भाग को आज फिलस्तीन कहते हैं उस समय वहां सेमेटिक उपजाति के केनेनाइट लोग बसते थे। फिलस्तीन सुन्दर नगरियों वाली एक उपजाऊ भूमि थी। अबराहम इसी देश में गया। अबराहम का मुख्य देवता "जेहोवाह" था। जेहोवाह ने अबराहम को वायदा किया कि समृद्धिशाली नगरियों वाली इस सुरम्य भूमि पर उसका और उसकी सन्तानों का स्वामित्व होगा। अबराहम को विश्वास नहीं हुआ

क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी। किन्तु बाद में अबराहम के दो सन्तान हुईं–आइजक और जेकब। जेकब का नाम फिर "इजराइल" रख दिया गया। इजराइल के १२ सन्तानें हुई और उनकी जाति की अभिवृद्धि हुई। यह जाति इजराइल (यहूदी) जाति कहलाई। इस (यहूदी) जाति के युद्ध उपरोक्त केनेनाइट लोगों से होते रहते थे, किन्तु फिर भी फिलस्तीन में किसी तरह वे बसे हुए थे। फिर फिलस्तीन में एक भयंकर अकाल पड़ा और यहूदी लोगों को फिलस्तीन छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा। दक्षिण में नील नदी वाले मिस्र की हरी भरी और उपजाऊ भूमि में वे चले गये। ऐसा अनुमान है, उस समय मिस्र में मिस्र के फेरो का राज्य नहीं था, किन्तु एक सेमेटिक जाति ही मिस्र पर शासन कर रही थी, जिसके सम्राट "हिस्कोस" कहलाते थे। इन सेमेटिक हिसकोस-सम्राटों के राज्य काल में यहूदी लोग जो स्वयं सेमेटिक थे कई सौ वर्षों तक शान्तिपूर्वक रहे–किंतु मिस्र के लोगों ने १६०० ई० पू० में एक भयंकर विद्रोह किया; हिस्कोस राज्यवंश को समाप्त किया–और फिर से मिस्र के ही सम्राट (फेरो) का राज्य वहां कायम हुआ। फेरो के राज्यकाल में यहूदी लोगों को गुलाम बनाया गया, उनको पदाक्रांत किया गया। अतएव दुखित होकर यहूदी लोगों को मिस्र छोड़ना पड़ा। उस काल में अपने कुशल बुद्धिमान नेता मूसा (Moses) के नेतृत्व में यहूदी लोगों ने मिस्र से पलायन किया और उसी देश की ओर उन्होंने अपना कूच किया जिस देश के लिए उनके देवता जेहोवाह ने उनके पूर्वज अबराहम से प्रतिज्ञा की थी, अर्थात् फिलस्तीन। मिस्र से कूच करने के बाद मूसा रेगिस्तानों को पार करता हुआ यहूदी लोगों को अपने साथ लिये सिनाई पर्वत पर पहुंचा। बाइबिल में वर्णन आता है कि यहीं पर जाज्वल्यमान बिजलियों की झमझमाहट में ईश्वर ने मूसा को अपने "दस आदेश" (Ten Commandments) दिये। वे ही दस आदेश जो यहूदी धर्म और आचार के आधार-स्तम्भ बने, और जिन्होंने मानव की चेतना को स्थूल देवताओं की पूजा से हटा

कर एक ईश्वर की पूजा की ओर प्रेरित किया। मूसा इन दस आदेशों का व्याख्याकार बना। नैतिक गुणों के आधार पर उसने आचार और व्यवहार के नियम बनाये, और इस प्रकार वह संसार का एक महान् स्मृतिकार (Law-Giver) माना जाने लगा।

मूसा और यहूदी लोग फिलस्तीन की ओर बढ़े। लगभग ५००-६०० वर्षों बाद फिर से वे इस देश में आये थे। देश की हालत काफी बदल चुकी थी। इस समय वहां केनेनाइट लोग नहीं थे, जिनसे यहूदियों के पूर्वज अबराहम को लड़ना पड़ा था, किन्तु अन्य जातियों के लोग बसे हुए थे, मुख्यतया वे फिलस्तीन लोग जो पश्चिमी द्वीपों से, क्रीट द्वीप में नोसस की सभ्यता के पतन के बाद, अपने जहाजों में बैठ बैठ कर फिलस्तीन में आ बसे थे। यहूदी लोग फिलस्तीन को जीत नहीं सके, किन्तु जहां कहीं भी उन्हें भूमि मिली वहीं बस गये।

यहूदी जाति के इतिहास का यहां एक चरण समाप्त होता है। ऊपर जितनी बातें बताई गई हैं उन सबकी ऐतिहासिक साक्षी नहीं मिलती; उदाहरणतः मूसा की कहानी की साक्षी और किसी ऐतिहासिक सामग्री से नहीं मिलती।

२. यहूदी जाति के न्यायाधीश और राजा—(लगभग १८०० ई० पू० से ५८६ ई० पू० तक)—यहां से यहूदियों की कहानी पूर्णतया ऐतिहासिक आधार पर प्रारम्भ होती है। ये यहूदी सेमेटिक लोग जो प्रारम्भ में अरब में बसे हुये थे उपजाऊ भूमि की तलाश में फिलस्तीन मे बसने के लिए आये। इस समय फिलस्तीन के दक्षिण भागों में फिलस्तीन लोग बसे हुये थे, और उत्तरी भागों में फीनिशियन और केनेनाइट जाति के लोग। फिलस्तीन राज्य के लिए लगातार इन जातियों में युद्ध होते रहते थे। यहूदी लोग युद्धों में नेतृत्व करने के लिए अपने कुछ संचालक नियुक्त कर लेते थे, जिन्हें न्यायाधीश या जज कहा जाता था। इन न्यायाधीशों के नेतृत्व में दूसरी जातियों से अनेक युद्ध हुए, कई बार ये परास्त हुये और कई बार विजयी भी। इन

न्यायाधीशों में प्रसिद्ध योद्धा गिदियन और सेमसन (११३० ई० पू०), और महिला-न्यायाधीश डिबोरा (१३ वीं शती ई० पू०) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने युद्धों में अद्भुत वीरता, कौशल और सफल नेतृत्व का प्रदर्शन किया था। किन्तु समस्त फिलस्तीन जीतने में ये लोग कभी भी सफल नहीं हुए। यहूदी लोगों ने देखा कि दूसरी जातियों का शासन और युद्ध में नेतृत्व तो राजाओं द्वारा होता है। अतएव इस वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने भी अपने शासन के लिए राजा नियुक्त करने का निश्चय किया। सॉल उनका प्रथम राजा हुआ। सॉल राजा के नेतृत्व में यहूदी लोगों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। सॉल के बाद लगभग ९९० ई० पू० में डेविड (१०१०–९७४ ई० पू०) यहूदी लोगों का राजा हुआ। इसने फिलस्तीन के मुख्य नगर यरुशलम पर विजय प्राप्त की और इसी नगर यरुशलम को अपने राज्य की राजधानी बनाया। उस समय फीनिशिया में हिराम नामक एक फीनिशियन राजा राज्य करता था। इस राजा का मिस्र और अरब इत्यादि देशों से भारी व्यापार चलता था। यहूदी राजा डेविड ने इस राज्य से मित्रता की और अपने राज्य इजराइल (फिलस्तीन) में से होकर राजा हिराम के व्यापारिक काफिलों को दक्षिण में लालसागर तक जाने के लिए रास्ता दिया। इस प्रकार हिराम की संरक्षता में डेविड का राज्य किसी तरह चलता रहा।

डेविड के बाद उसका पुत्र सोलोमन (९७४-९३७ ई०पू०) इजराइल का राजा हुआ। इसका राज्यकाल लगभग ९०० ई० पू० में माना जाता है। फिनीशिया के राजा हिराम की सहायता से सोलोमन के राज्यकाल में राज्य की विशेष समृद्धि और उन्नति हुई। राजधानी यरूशलम में इसने अपना एक विशाल महल और देवता "जेहोवाह" का विशाल मन्दिर बनवाया। बाइबिल में सोलोमन के ठाठबाट, धन और ऐश्वर्य का बहुत विशाल वर्णन है। किन्तु हम यह जानते हैं कि मिस्र के फेरो और बेबीलोन के सम्राटों के धन और ऐश्वर्य के सामने इसकी कुछ भी तुलना

नहीं हो सकती। फिर भी सोलोमन के राज्यकाल को इजराइल (फिलस्तीन) में यहूदी लोगों का एक गौरवमय काल मान सकते हैं।

सोलोमन के बाद उसका पुत्र रेहोबोम इजराइल का राजा हुआ—किंतु उसके राजा होने के बाद इजराइल के उत्तरी भाग में उपद्रव हुए, और इजराइल राज्य के दो टुकड़े हो गये। उत्तरी भाग इजराइल कहलाया और दक्षिणी भाग जुडाह, जिसकी राजधानी यरुशलम रही।

७२२ ई० पू० में असीरियन सम्राट का इजराइल पर अधिकार हुआ। जुडाह राज्य पर भी असीरियन लोगों के हमले हुए, किंतु वह सौ वर्ष से भी अधिक किसी प्रकार अपनी सत्ता बनाये रक्खा। फिर ६०४ ई० पू० में बेबीलोन के सम्राट नेबुस् का यरुशलम पर आक्रमण हुआ। यरुशलम परास्त हुआ। सम्राट ने अपने आश्रित यहूदी शासकों को ही वहां शासन करने के लिये नियुक्त किया। ये शासक असीरियन सम्राट से स्वतन्त्र होने के लिए गड़बड़ करते रहे। अतएव ५८६ ई० पू० में यहूदी लोगों को पकड़वाकर बेबीलोन भेज दिया गया, जिससे कि वे किसी भी प्रकार अपने राज्य के लिए गड़बड़ी न कर सकें। कुछ यहूदी मिस्र इत्यादि अन्य प्रदेशों में फैल गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहूदी लोगों के राजा डेविड के काल में (प्राय: ९९० ई० पू०) यरुशलम पर यहूदियों का अधिकार हुआ। प्राय: चार सौ वर्षों तक यरुशलम यहूदियों के आधीन रहा और फिर ई० पू० ६०४ में उनके हाथों से निकल गया।

यहूदी धर्मद्रष्टा

बाइबिल और यहूदी धर्म :—ऊपर लिख आये हैं कि बेबीलोन सम्राट द्वारा ५८६ ई० पू० में अनेक यहूदी पकड़वाकर बेबीलोन में भेज दिये गये थे। इसके पूर्व, सम्राट असुरबनीपाल (६८० ई०पू०) के काल में बेबीलोन में विद्या की खूब उन्नति हुई थी। मिस्र, बेबीलोन, सीरिया, फिलस्तीन, अरब इत्यादि देशों के इतिहास में अनेक खोजें हुईं थीं और

उन देशों के और उन देशों में बसनेवाली जातियों के इतिहास संगृहीत किये जाकर असीरियन साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर निनेवेह के पुस्तकालय में रखे गये थे। विद्याप्रेम, अन्वेषण और नई चीजों और घटनाओं को जानने और समझने के प्रति अभिरुचि—यही परंपरा बेबीलोन में उस काल में भी प्रचलित थी, जब यहूदी लोग यहां पकड़ कर लाये गये थे। यहूदी लोगों का इन सब सांस्कृतिक आन्दोलनों से संपर्क बढ़ा। उन्हें स्वयं अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान यहीं बेबीलोन में हुआ। याद होगा—बाइबिल की परम्परा के अनुसार तो यहूदियों का आदि पूर्वज अबराहम फिलस्तीन में अनुमानतः २१०० ई० पू० में आया था—और उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार यहूदी लोग फिलस्तीन में प्राय: १४००-१२०० ई० पू० तक दाखिल हो गये थे। बेबीलोन में अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान होने के बाद तो अपने प्राचीन इतिहास को, धर्म-गुरुओं एवं धर्म-द्रष्टाओं के वाक्यों को, अपने धार्मिक नियमों आदि को संग्रह करना, उनको क्रमबद्ध करना इत्यादि कामों के लिए उनमें एक जिज्ञासा और तीव्र प्रवृत्ति सी पैदा हो गई थी। जब वे बेबीलोन आये थे तो प्राय: असंगठित, अशिक्षित और असभ्य थे। बेबीलोन के संपर्क ने उनको एक तीव्र जातिगत भावना में संगठित कर दिया। वे शिक्षित हुए, उनके ज्ञान की अभिवृद्धि हुई और वे सजग हुए। प्राय: ७० वर्ष बेबीलोन में रहे होंगे कि बेबीलोन पर उत्तर पूर्व से आर्यन लोगों के आक्रमण हुए। फारस का सम्राट साइरस बेबीलोन पर चढ़ आया—विशाल बेबीलोन साम्राज्य को पदाक्रान्त कर उसको परास्त किया और ५३८ ई० पू० में बेबीलोन पर अपना कब्जा किया। फिलस्तीन भी जो बेबीलोन साम्राज्य का एक अंग था अब ईरानी सम्राट साइरस के साम्राज्य का एक अंग बना। किन्तु साइरस ने यहूदियों को यरुशलम लौट जाने की, और उनका मन्दिर जो विध्वंस हो चुका था फिर से बनाने की अनुमति देदी। यहूदी लोगों के झुण्ड के झुण्ड बेबीलोन से यरुशलम लौट कर आये—अब वे सभ्य थे, सजग थे, सुसंगठित थे। उनके मानसिक विचारों

की परिधि अब विशाल थी—अनेक बातें, गाथायें और कथायें उन्होंने बेबीलोनियन लोगों से सीखी थीं—उदाहरणतया "सृष्टि रचना" की कथा एवं "जल प्रलय" की कहानी जो उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल में आती है।

साथ ही साथ उन लोगों के दृष्टिकोण में भी जो यहूदी लोगों में द्रष्टा कहलाते थे बहुत परिवर्तन हुआ। यहूदी लोगों के दो प्रकार के धर्म गुरु होते थे। एक तो पुजारी, जो जेहोवाह के मन्दिरों में रहा करते थे,—उसकी ूजा किया करते थे, और धार्मिक अवसरों पर भेंट चढ़ाते थे। वे जादू टोणा भी करते थे, और लोगों का भविष्य भी बताते थे। ये धार्मिक समारोह, पूजा भेंट उसी प्रकार के होते थे जैसे प्रायः उसी युग में सौर-पाषाणीय सभ्यता वाले सभी लोगों में होते थे। दूसरे प्रकार के धर्म गुरु "द्रष्टा" कहलाते थे। पहले तो इन लोगों में और पुजारियों में विशेष अन्तर नहीं था, जैसे ये लोग भी जादू टोणा करते थे, पीड़ित लोगों को उनका भविष्य बताते थे, इत्यादि। किन्तु बाद में, विशेषतया बेबीलोन में नये मतों के सम्पर्क में आने के बाद—एक स्वतंत्र रूप से उनका विकास हुआ; अब वे मन्दिर और मन्दिर के देवताओं को, पूजा और पुजारियों को निरर्थक बतलाते थे,—मूढ़ भ्रम मात्र। कभी कभी वास्तव में उन्हें आंतरिक प्रकाश की अनुभूति होती थी, उनकी चेतना बन्धन मुक्त होती थी। ऐसे अवसरों पर वे अनेक निगूढ़तम और दार्शनिक बातें कह जाते थे। ऐसे अवसरों पर उनका बोलने का ढंग यही होता था—"ईश्वर ने मुझसे कहा·········।" इन्हीं लोगों की प्रेरणा से यहूदी धर्म में वे बातें और विचार समाहित हुए जो मानव चेतना के विकास की एक उच्चतर स्थिति की ओर निर्देश करते हैं। स्थूल देवी देवताओं के विश्वास से—वह विश्वास जिसमें श्रद्धा कम तथा भय अधिक होता था,—ऊपर उठकर एक परमात्मा का आभास मानव चेतना को होता है—और वह परमात्मा भय का परमात्मा नहीं, किन्तु सत्य का परमात्मा है। इसके अतिरिक्त यह विचार और भावना

मानव के सामने आती है कि एक दिन समग्र सृष्टि में "सत्य" का राज्य स्थापित होगा और सब लोग सुखी होंगे। इस प्रकार के विचार यहूदी बाइबिल में बिखरे पड़े हैं।

यहूदी बाईबिल (Old Testament)–अनुमान है कि नई संगठित भावना, नये विचार, नई प्रेरणा तथा अपने प्राचीन इतिहास के विषय में नया ज्ञान लेकर जब यहूदी लोग बेबीलोन से लौटे (लगभग ५०० ई० पू० में) तभी उनमें यह भावना पैदा हुई थी कि वे अपने प्राचीन इतिहास, धार्मिक मान्यताओं, एवं द्रष्टाओं की वाणियों को एक पुस्तक रूप में संगठित करलें और उनको क्रम-बद्ध जमालें। बेबीलोन से लौटने के बाद यह काम शनैः शनैः हुआ। और ऐसा अनुमान है कि लगभग ईसा के २५०-३०० वर्ष पूर्व तक उपर्युक्त सब बातों का यथाः–यहूदियों का इतिहास, सृष्टि रचना के विचार, आचार व्यवहार के नियम, भजन प्रार्थना, धार्मिक मान्यता आदि का, उस "पुस्तक" में संग्रह हो चुका था जिसे यहूदियों की बाइबिल कहा जाता है। यह केवल धार्मिक पुस्तक ही नहीं है किन्तु इस पुस्तक से उस काल के मिस्र, मेसोपोटेमिया, फिलस्तीन, अरब आदि देशों और वहां के लोगों के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

यहूदी धर्म की विशेष धार्मिक मान्यतायें:—

(१) यहूदी लोग पूर्वज अबराहम की शुद्ध (वर्णसंकर रहित) संतान हैं।

(२) यहूदी जाति अन्य सब जातियों से अधिक गौरवान्वित होगी।

(३) किसी युग में एक मसीहा का अवतार होगा जो देव जेहोवाह द्वारा यहूदी लोगों को दिये गये सभी वायदों को पूरा करेगा। यथा, यहूदी लोगों का इजराइल की भूमि पर सुख समृद्धिपूर्ण प्रभुत्व कायम होगा।

(४) यहूदियों का देवता जेहोवाह अन्य जातियों के देवताओं से बड़ा है। जेहोवाह सब देवों का देव है। (फिर शनैः शनैः इस विचार में विकास होता गया) और यह विश्वास बना कि सृष्टि में केवल एक ही सच्चा देव है–और वह एक सच्चा देव जेहोवाह है। इस प्रकार वे धीरे धीरे एकेश्वरवाद की भावना तक पहुंचते हैं। यह ईश्वर किसी मन्दिर में नहीं रहता किन्तु अनन्तकाल से स्वर्ग में व्याप्त है। ईश्वर के सम्बन्ध में इस विचार के विकास का अर्थ हुआ कि मूर्ति पूजा, एवं स्थूल देवी देवताओं में विश्वास अज्ञानांधकार की स्थिति है। प्रारम्भिक मानव ने मानसिक गुलामी की ओर से मानसिक स्वतन्त्रता की ओर प्रगति की। ईश्वर की भावना में और भी विकास हुआ और यह विश्वास बना कि एक परमात्मा सत्य का परमात्मा है। यहूदी बाइबिल में कहीं कहीं उच्च दार्शनिक विचार भी बिखरे पड़े हैं। यथा–सब में एक ही ज्योति व्याप्त है। सर्वत्र एक ही चेतना है। सचमुच किसी दृष्टा को ऐसी आन्तरिक अनुभूति हुई होगी। यहूदी महात्मा आईजेआ (लगभग ७२० ई० पू०) के अंग अंग में एक अद्भुत तेज व्याप्त था। वह अपने चारों ओर के मानव समाज की बेवकूफियां इस प्रकार उखाड़ फेंकता था, मानो वह एक आध्यात्मिक डिनेमाइट हो। फिर एक अद्भुत भविष्यवाणी की गई कि एक युग आयेगा जब मानव समाज नैतिकता के व्यवहार में सम्बद्ध होगा और इस दुनिया में सुख शान्ति का राज्य होगा। बार बार इस वाणी ने मानव को प्रेरित किया है और उसके हृदय में आशा का संचार किया है। मेसोपोटेमिया, मिस्र, पश्चिमी एशिया (फिलस्तीन, फीनिशिया, सीरिया, अरब) की प्राचीन दुनिया में, प्रारम्भिक सभ्यताओं के विश्रृंखल होते हुए अन्तिम दिनों में, जब मानव पीड़ित था, वह देखता था किन्तु उसे कुछ समझ में नहीं आता था, जब "पुरोहित-सम्राटों" और "देवता-सम्राटों" के पुरोहितपन और देवतापन में मानव की आस्था को ठेस लग चुकी थी, और उन्हें यह भाव होने

लगा था कि मन्दिरों में स्थित देवता वास्तव में कुछ कर नहीं पा रहे हैं,—कुछ कर नहीं सकते हैं, उस समय अन्धकार में टटोलते हुए प्रारंभिक मानव के मानस में प्रकाश की यह पहली किरण थी। यह तो पहली ही किरण थी, इसी में से उद्भव होने वाला था ईसा का प्रकाश और फिर अनेक शताब्यियों बाद मोहम्मद की ज्योति।

किन्तु यहां पर यह न भूलना चाहिये कि उस युग की पूर्व की दुनिया में यथा भारत और चीन में, यहूदी काल के कई शताब्दियों पूर्व भारत में निःश्रेयस, "एको अहं सर्व भूतेषु" (एक मैं ही सब भूतों में व्याप्त हूँ) के ज्ञान की अनुभूति हो चुकी थी और वेदों में उसको यह आदर्श मिल चुका था कि मानव संपूर्णतया "मुक्त और निर्भय" हो सकता है। चीन में भी यहूदी काल के अनेक शताब्दियों पूर्व उनके "परिवर्तन के नियम" ग्रंथ में मानव जीवन और सृष्टि नियमों पर विचार हो चुका था, और चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से इन प्राचीन पुस्तकों पर अपनी व्याख्या कर चुके थे।

ऊपर यह भी लिख आये हैं कि फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने ही बेबीलोन पर विजय प्राप्त कर, यहूदियों को आज्ञा दी थी कि वे यरुशलम लौट जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि यहूदियों का पर्याप्त संपर्क इन आर्य लोगों से हो चुका था। इन आर्यों का संपर्क भारतीय आर्यों से था, (उनकी भाषा तो भारतीय वैदिक भाषा से मिलती जुलती थी ही), इससे अनुमान लगता है कि विनिमय द्वारा भारतीय वैदिक धर्म और दर्शन के विचारों से यहूदियों को कुछ परिचय प्राप्त हो चुका होगा। संभव है यहूदी बाइबिल में कहीं कहीं जो दिव्य-दृष्टिगत दार्शनिक विचार बिखरे मिलते हैं वे यहूदी द्रष्टाओं पर भारतीय मनीषियों के प्रभाव के फलस्वरूप हों।

यह अनुमान मात्र है—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

४. आधुनिक काल में यहूदी—यहूदी लोगों का लगभग १२०० ई०

पू० से लेकर (जब वे अरब से निकल कर फिलस्तीन में बसे थे) ५३८ ई० पू० तक का इतिहास (जब फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने बेबीलोन साम्राज्य—जिसके अन्तर्गत फिलस्तीन भी था—पर अधिकार किया था) हम लिख आये हैं। ५३८ ई० पू० से लगभग ३४० ई० पू० तक अर्थात् लगभग २०० वर्षों तक फिलस्तीन पर फारस के सम्राटों का अधिकार रहा।

३४० ई० पू० के आसपास फिलस्तीन में सिकन्दर महान् के नेतृत्व में ग्रीस वालों का आधिपत्य हुआ। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर महान् की मृत्यु के बाद फिलस्तीन लगभग एक शताब्दी तक मिस्र के ग्रीक सम्राट टोलमियों के आधीन रहा। फिर लगभग १०० वर्षों के बाद फिलस्तीन सीरियन लोगों के अधिकार में चला गया। किन्तु १३० ई० पू० में फिर यहूदी लोगों ने सीरियनों से लड़ कर यरुशलम पर अपना अधिकार किया और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता हासिल की। किन्तु यह स्वतन्त्रता कुछ ही वर्ष तक कायम रह सकी। अब यूरोप में रोमन जाति का उत्थान हो रहा था। ये रोमन लोग इधर एशिया-माइनर की तरफ भी आये। जूलियस सीजर के काल में ३७ ई० पू० में फिलस्तीन का शासन रोमन गवर्नरों के आधीन रहा। यहूदी लोग बेचैन रहते थे—स्वतन्त्रता के लिए उपद्रव करते रहते थे। अन्त में सन् ६६ ई० में यहूदियों और रोमन लोगों में भयानक युद्ध हुआ—रोमन जनरल टाइटस ने यरुशलम के चारों ओर घेरा डाल दिया—सन् ७० ई० में यरुशलम का पतन हुआ—रोमन लोगों ने यहूदियों के मन्दिरों को जला दिया—हजारों को मौत के घाट उतार दिया—हजारों को गुलाम बना लिया—जो यहूदी बचे वे इधर उधर देशों में तितर बितर हो गये—कुछ विरले फिलस्तीन में डटे रहे। इस अरसे में एशिया-माइनर में यहूदियों के अतिरिक्त जो अन्य कई छोटी छोटी जातियां थीं, जैसे फीनिशियन, केनेनाइट, मोएबाइट इत्यादि, जिनसे यहूदी लोगों के अनेक झगड़े और युद्ध हुए थे, सब यहूदी धर्म की इन प्रेरणाओं से कि ईश्वर यहूदी जाति को

गौरवान्वित करेगा और फिलस्तीन की सुरम्य भूमि में उनका सुख शांति-मय राज्य स्थापित करेगा, शनैः शनैः यहूदी लोगों में ही मिलजुल गई थीं—और इस प्रकार यहूदी जाति अब कई जातियों से मिलकर बनी एक मिश्रित जाति थी, किंतु फिर भी उपरोक्त भविष्यवाणी और धार्मिक भावना उनको सुदृढ़ रूप से एक सूत्र में बांधे रखती थी। वही एक भावना यहूदी लोगों को आज तक भी सुगठित सूत्र में बांधे हुए है—और वे अपना पृथक एक अस्तित्व बनाये हुए हैं चाहे उनका इस पृथ्वी पर राज्य रहा हो, न रहा हो—उनका कोई सुनिश्चित घर रहा हो, न रहा हो।

फिलस्तीन से पृथक होकर ये लोग दुनिया के अनेक देशों में फैल गये; जहां जहां भी ये गये इन्होंने अपने धार्मिक भवन स्थापित किये—जहां इनके धर्म-गुरू धार्मिक प्रवचन करते रहते थे—मूसा के नियम पढ़ाते रहते थे,—उन नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते रहते थे। भिन्न भिन्न देशों में व्यापार करना, एवं साहूकारी करना (रुपया उधार देना) मुख्यतया ये ही दो पेशे इनके पास बचे थे। ईसा की प्रथम शताब्दी से (जब से ये अपने देश फिलस्तीन से अलग हुए) आधुनिक काल में कुछ ही वर्षों पूर्व तक, ये जिस जिस देश में भी रहे, वहां प्रताड़ित और पीड़ित रहे; किन्तु अपनी बाइबिल के आधार पर, उसकी भविष्यवाणी के आधार पर इनका एक सुसंगठित राष्ट्र रहा—ऐसा राष्ट्र जिसका कोई सुनिश्चित देश नहीं था, जिसका कहीं राज्य नहीं था, किंतु फिर भी जिसमें एक 'भाव-ऐक्य' था। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां ये न चमके हों, दुनिया को इन लोगों ने बड़े बड़े कलाकार; बड़े बड़े वैज्ञानिक, राजनैतिक, साहित्यकार और दार्शनिक दिये, जिनमें कुछ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे १९वीं शताब्दी में इङ्गलैंड का प्रधान मंत्री डिसरेली, भारत का वायसराय लोर्ड रीडिंग, संसार में साम्यवाद का प्रतिष्ठाता कार्ल मार्क्स, साम्यवादी क्रांतिकारी ट्रोटसकी, फ्रैंच दार्शनिक बर्गसां, व्यापारिक क्षेत्र में धनी रोथ्सचाइल्ड और आज संसार का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आइनस्टाइन।

जब प्रत्येक देश में जहां भी ये रहते थे इनकी प्रताड़णा होती थी, तो उनमें फिर उसी प्राचीन भावना का उदय हुआ कि उनका कोई घर होना चाहिये, उनका कोई देश होना चाहिये। १६वीं शताब्दी में हंगरी-वासी थियोडोर हर्जल (१८६०–१६०४ ई०) नामक एक महान् यहूदी नेता का उदय हुआ। इसने सब देशों के यहूदियों का एक वैधानिक संगठन किया और "अखिल विश्व यहूदी संगठन" की स्थापना की। सन् १८६० में बेसल नगर में इस संगठन का प्रथम अधिवेशन हुआ जहां निश्चय हुआ कि फिलस्तीन की पवित्र भूमि में उनका राष्ट्रीय घर स्थापित हो।

सन् ७० ई० में फिलस्तीन में रोमन राज्य स्थापित हुआ था, कई सौ वर्षों तक उनका राज्य रहा। सन् ६३७ ई० में अरब खलीफाओं ने अपना अधिकार जमाया, फिर १५१६ ई० में तुर्क लोग आये, तब से प्रथम महा युद्ध काल (१६१४-१८) तक वहां तुर्की सुल्तानों का राज्य रहा। युद्ध के बाद राष्ट्रों की संधि के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शासनादेश के अन्तर्गत फिलस्तीन इङ्गलैंड की संरक्षता में गया। १८६० ई० में बेसिल में किये गये निर्णय के अनुसार यहूदियों के प्रयत्न चलते ही रहते थे कि फिलस्तीन यहूदियों के हाथ में किसी प्रकार आजाय। महायुद्धकाल में यहूदी वैज्ञानिक डा० विजमेन ने इङ्गलैंड के प्रधान मंत्री लॉयडजोर्ज को एक रासायनिक पदार्थ एसीटोन बनाने का भेद बताया जो विस्फोटक बम बनाने के काम में आता है। इसके बदले में अंग्रेज सरकार ने १६१७ ई० में एक घोषणा की जो बैलफर घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार अंग्रेजी सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि फिलस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर स्थापित होना चाहिए।

महायुद्ध के बाद यहूदी लोग धीरे धीरे फिलस्तीन में जा कर बसने लगे। उन्होंने जंगल साफ किये, जंगली और बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाया और नये घर बसाये। यहूदी भाषा और साहित्य का पुनरुत्थान किया, यरुशलम में एक विशाल विश्वविद्यालय की स्थापना

की। सन् १६३३ में जब जर्मनी में नाजी हिटलर ने यहूदी लोगों को कत्ल करना शुरू किया तो फिलस्तीन में बड़ी संख्या में यहूदी आकर बसने लगे। उनकी अनेक बस्तियां वहाँ पर खड़ी होगईं।

प्रथम महायुद्ध की संधिकाल से यद्यपि देश का शासन तो अंग्रेजों की देखभाल में था, किन्तु वहां के मुख्य रहने वाले अरबी मुसलमान थे। वस्तुतः सन् ६३७ ई० से फिलस्तीन अरबी मुसलमानों ही का घर था, अतएव जब उन्होंने देखा कि बहु संख्या में यहूदी आकर उनके देश में बस रहे हैं तो वे घबराये। सन् १६३३ के बाद उनकी (यहूदियों की) आबादी में अभूतपूर्व बढ़ती देखकर तो और भी घबराये। उन्होंने उपद्रव प्रारम्भ किये। ब्रिटिश सरकार के सामने मांग पेश की कि यहूदियों का फिलस्तीन में आना रोक देना चाहिये। यहूदियों और मुसलमानों में भयंकर झगड़े और डटकर लड़ाइयां होना प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार भी जिनके हाथों देश का शासन धरोहर के रूप में था घबराई। सन् १६३७ में सरकार ने एक कमीशन बैठाई—पील कमीशन। उसने सिफारिश की कि फिलस्तीन का अरबों और यहूदियों के बीच विभाजन कर देना चाहिए। फिलस्तीन का यरुशलम शहर अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के आधीन रहे। विभाजन किसी को भी मान्य नहीं हुआ, न यहूदियों को न मुसलमानों को। झगड़े चलते रहे। संधि करवाने के लिये गोलमेज सभाओं की योजना हुई। इतने में द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) आरम्भ हो गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद भी फिलस्तीन में यहूदियों और मुसलमानों के झगड़े चलते रहे। यहूदी कहते थे फिलस्तीन उनका आदि घर है, वहीं उनकी बाइबिल का निर्माण हुआ, वहीं उनकी संस्कृति और धर्म का विकास हुआ, वहीं उनके प्रसिद्ध राजा सोलोमन ने आदि देव जेहोवाह का मन्दिर बनवाया था, जिसके प्रतीक स्वरूप आज भी उस दीवार का एक अंश खड़ा है जो प्राचीन काल में जेहोवाह के मन्दिर के चारों ओर बनी थी (यह दीवार वेलिंग-वॉल कहलाती है और यहूदियों की धर्मस्थली है)। मुसलमान कहते

थे प्राचीनकाल से (६३७ ई० से) वे यहां रहते आये हैं, यहीं उनका घर रहा है, यहीं उनकी आदि मस्जिद "उमर की मस्जिद" है—इत्यादि। इन झगड़ों को निपटाने के लिये राष्ट्रसंघ नें एक मध्यस्थ बैठाने की सोची। उधर अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश के अनुसार १४ मई १९४८ के दिन ब्रिटिश धरोहर की अवधि समाप्त हुई और इस तारीख को ठीक रात्रि के १२ बजे ब्रिटिश हाई कमिश्नर ब्रिटिश फौजों सहित फिलस्तीन देश छोड़कर चला गया। एक तरफ तो वे गये, दूसरी तरफ यहूदियों ने फिलस्तीन में अपने उपनिवेश "तेल अवीव" से "इजराइल" राज्य की घोषणा कर दी। वेनगुरियन इस राज्य का प्रथम प्रधानमन्त्री हुआ। इस घोषणा के समय यहूदियों के आधीन यरुशलम राजधानी, तेल अवीव और हैफा दो बड़े बन्दरगाह, और फिलस्तीन की लगभग आधा भाग भूमि थी। शेष हिस्से अरबों के आधीन थे। स्वतन्त्र इजराइल राज्य की वस्तुतः स्थापना हो गई, और इसके कुछ ही महीनों बाद अमेरिका, रूस एवं कई अन्य राष्ट्रों ने इजराइल राज्य को मान्यता भी दे दी।

फिलस्तीन (इजराइल) की पवित्र भूमि में लगभग १९०० वर्षों के बाद फिर से यहूदी राज्य की स्थापना वास्तव में एक आश्चर्यजनक घटना थी। यह एक स्वप्न की पूर्ति थी।

(२९)

ईसामसीह और ईसाई धर्म

एशिया के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों यथा इजराइल (फिलस्तीन), फीनिशिया, सीरिया में यहूदी द्रष्टाओं में एक नये ज्ञान, एक नई चेतना

का विकास हुआ। ईसा पूर्व प्रायः छठी शताब्दी की यह बात है, लगभग उसी समय जब चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और ताओ और भारत में महात्मा बुद्ध अपनी ज्ञान आभा से वहां के लोगों के मनों को एक नई चेतना से आलोकित कर रहे थे। भारत में तो बुद्ध के भी अनेक शताब्दियों पूर्व मानव, वेदों और उपनिषदों में मानसिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता की अनुभूति कर चुका था, और चीन में भी मानव, कनफ्यूसियस के पूर्व, "परिवर्तन की पुस्तक" में सृष्टि की परिवर्तनशीलता को पहचान चुका था और प्रकृति के प्रति शरणागति भाव में शांति की अनुभूति कर चुका था; किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में यहूदी द्रष्टा सर्वप्रथम मानव थे जो स्थूल देवी देवताओं के भय से मुक्त हो "एक ईश्वर" की प्रतिष्ठा कर रहे थे।

उन दिनों उपरोक्त प्रदेशों एवं मिस्र, मेसोपोटेमिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका एवं यूरोप के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों के लोग छोटी छोटी समूहगत जातियों में विभक्त थे। उनके छोटे छोटे राज्य थे, जैसे फीनिशिया, जूडिया, इजराइल, इत्यादि। इनमें एक दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए परस्पर लड़ाइयां होती रहती थीं। साम्राज्यों की भी स्थापना हो चुकी थी यथा, बेबीलोन का साम्राज्य, मिस्र में फेरो का साम्राज्य; इन साम्राज्यों के बीच छोटे छोटे राज्य बनते बिगड़ते रहते थे। प्रायः ९९० ई० पू० से इजराइल में यहूदी लोगों का राज्य था, डेविड और सोलोमन उनके प्रसिद्ध शासक हुए थे, फिर बेबीलोन का सम्राट ६ठी शती ई० पू० में यहूदी लोगों को पकड़ कर बेबीलोन लेगया। उधर रोमन लोग अपने सम्राट् (सीजर) की पूजा किया करते थे, और जहां जहां रोमन लोगों का राज्य था, वहां वहां सीजर के मंदिर थे, और रोमन लोग अपने अधीनस्थ लोगों को सीजर की देवता के रूप में पूजा करने को बाध्य करते थे।

मिस्र, मेसोपोटेमिया, इजराइल, सीरीया, फीनिशिया, जूडिया प्रदेशों में जहां जहां भी जल सिंचन का प्रबंध था वहां कृषि और पशु पालन

मुख्य उद्यम थे; पहाड़ी प्रदेशों में भेड़ बकरी चराना मुख्य पेशा था। शासकों की राजधानियों एवं व्यापारिक नगरों में कपड़ा बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना, उन पर पोलिश करना, चित्रांकन करना, भवन निर्माण करना, कांसा, तांबा, पीतल, सोना, चांदी इत्यादि धातुओं सम्बन्धी अनेक उद्यम, समुद्र के किनारे के प्रदेशों में जहाजरानी एवं व्यापार, इत्यादि हलचल चलती रहती थी। गांवों एवं नगरों में स्थूल देवताओं के मन्दिर थे, उनके पुजारी और पुरोहित होते थे, देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, उनसे डरकर मन्दिरों में लोग भेंट चढ़ाते थे, देवताओं के मंत्री पुजारियों से लोगबाग अपने भविष्य, सुख दुःख, बीमारी की पूछते रहते थे, जादू-टोना करवाते रहते थे, भेंट पूजा करते रहते थे; ऐसे संकुचित मानसिक विश्वास की यह दुनिया थी। यहूदी जाति के लोगों में भी ऐसे ही विश्वास थे, किन्तु यहूदी द्रष्टाओं ने अपनी अनुभूतियों से इन मान्यताओं और विश्वासों के स्तर को ऊंचा उठाया, पर्याप्त उनमें विकास हुआ, किन्तु एक सीमा तक बढ़कर वे विश्वास भी एक परिधि में बंध गये। विकास होते होते उनके बंधे हुए जो स्थिर विश्वास बन गये थे वे ये थे कि:—एक ही देव, अर्थात् ईश्वर है; वह सत्य और नैतिकता का ईश्वर है; ईश्वर का एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम का उत्थान कर, यहूदियों को वहां स्थापित कर, उनके नेतृत्व में संसार में सुख, समृद्धि और शान्ति का एक राज्य स्थापित करेगा। उनकी धर्म पुस्तक बाइबिल लिखी जा चुकी थी। वे अपने ईश्वर को छोड़ और किसी देव, यहां तक कि शासक वर्ग के रोमन लोगों के सीजर-देवता की पूजा मान्य करने को तैयार नहीं थे। और यद्यपि यहूदी लोग थोड़े थोड़े अनेक प्रदेशों में फैले हुए थे, जैसे मिस्र, उत्तर अफ्रीका, ग्रीस, रोम, कार्थेज, एशिया-माइनर इत्यादि इत्यादि, किन्तु इन दूर दूर रहते हुए लोगों को उनकी बाइबिल और उनका धर्म-संगठन एक सूत्र में बांधे हुए थे।

ऐसी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियां थीं जब जूडिया

में एक अनुपम यहूदी द्रष्टा का उदय हुआ, जिसने अपने यहूदी लोगों के ही संकुचित विचार की, कि यरुशलम में यहूदियों के अधिनायकत्व में संसार में सुख समृद्धि का राज्य स्थापित होगा, धज्जियाँ उड़ाईं; एक ऐसे साम्प्रदायिक ईश्वर की जगह जिसके लिये यहूदी लोग ही विशेष कृपा के पात्र थे, एक सार्वभौम ईश्वर की, सत्य, अहिंसा और प्रेम के ईश्वर की असंदिग्ध रूप से प्रतिष्ठापना की और मुक्त घोषणा की, कि ईश्वर का राज्य अन्यत्र नहीं किन्तु मानव के मन में ही, मानव के अन्तर में ही अधिष्ठित है। तत्कालीन मानसिक विकास की स्थिति और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए यह एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। जिस व्यक्ति ने यह क्रांतिकारी घोषणा की, उसके उदय होने के कई शताब्दियों बाद, उसके व्यक्तित्व को केन्द्र बना ईसाई धर्म का संगठन हुआ, जो आज संसार के संगठित धर्मों में एक प्रमुख धर्म है। यह व्यक्ति–यह यहूदी द्रष्टा था, ईसा मसीह (Jesus Christ)। जूड़िया प्रदेश के बेतलहम (Bethelhem) नगर में इसका जन्म हुआ; कौनसे सन् में जन्म हुआ यह निश्चित नहीं; कुछ विद्वानों का मत है कि ई० पू० ४ में इसका जन्म हुआ। नासरत (Nazareth) नगर में इसने अपना बचपन व्यतीत किया, फिर युवा होने पर स्वयं अनुभूत अपने विचार अपने चारों ओर लोगों को, उन्हींकी यहूदी भाषा में कहना, इसने प्रारम्भ किया। आकर्षक इसका व्यक्तित्व होगा, और सरल और मधुर इसकी वाणी, क्योंकि इसकी बात को सुनने के लिए लोगों के झुण्ड के झुण्ड इसके चारों ओर एकत्र हो जाते थे। उसकी वाणी सुनकर लोगों को शांति मिलती थी, आनन्द की अनुभूति होती थी, और विशेषतः गरीब, बीमार, उत्पीड़ित लोगों में एक अद्भुत आशा का संचार होता था। लोगों ने जो कि विशेषतः यहूदी ही थे समझा उनका मसीहा आया है; यहूदियों के पूर्वज अबराहम को जो वायदा ईश्वर ने दिया था कि एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम में यहूदी राज्य पुनः स्थापित करेगा;–

लोगों ने समझा ईश्वर का वायदा पूरा हो रहा है।

धन-ऐश्वर्य से बिल्कुल विरक्त, गरीब लोगों के यहां भिक्षा से अपना पेट भरते हुए, इस प्रकार घूमते-फिरते युवावस्था में ईसा, सन् ३० ई० में, जब रोम का सम्राट टिबेरस था और इजराइल (फिलस्तीन) में रोमन गवर्नर पोंटियस पाइलेट का शासन, यरुशलम नगर में प्रविष्ट हुआ। उसके अनेक भक्त और अनुयायी उसके साथ थे। सब को यही विश्वास था कि यह अनुपम व्यक्ति यरुशलम में नये राज्य की स्थापना करेगा, उसकी अलौकिक शक्ति में उन्हें किंचित मात्र भी संदेह नहीं था।

ईसा यरुशलम में प्रविष्ट हुआ, यरुशलम के लोगों ने (यहूदियों ने) उत्साह पूर्वक उसका स्वागत किया, एक भीड़ उसके चारों ओर एकत्र होगई, और इस भीड और अपने भक्त अनुयायियों के साथ वह सीधा यरुशलम में यहोवाह के मन्दिर (यहोवाह यहूदी ईश्वर का नाम) के द्वार पर गया। वहां व्यापारी लोग, मन्दिर के देवता में विश्वास करने वाले लोगों से अपनी मेजों पर पैसे गिनवा गिनवा कर, अपने पिंजड़ों में से फाख्ताओं को मुक्त कर रहे थे; लोगों का ऐसा विश्वास था कि ऐसे फाख्ताओं को मुक्त करवाने से 'देवता' प्रसन्न होता है। ईसा ने पहिला काम यही किया कि इन व्यापारी लोगों की मेजों को उलट दिया और अंध विश्वासी लोगों को ताड़ना दी। एक सप्ताह तक जगह जगह पर घूम घूम कर अपनी मुक्त वाणी लोगों को सुनाता रहा; अनुयायियों को भरोसा रहा, नया राज्य स्थापित होने वाला है। किन्तु उधर यहूदी धनी पुजारी लोग, अपने प्राचीन विचारों और मान्यताओं में आरूढ़, समझने लगे कि ईसा तो उनकी ही गद्दी उखाड़ फेंकने आया है, वह उनकी बाइबिल (यहूदी बाइबिल) में निर्देशित किसी भी आचार का पालन ही नहीं करता; और रोमन अधिकारी समझने लगे ईसा राज्य-क्रान्ति करने आया है। अतएव यहूदियों के पुजारियों ने ईसामसीह के विरुद्ध रोमन राज्याधिकारियों से शिकायत की, रोमन शासकों के प्रति

अपनी राज्य-भक्ति का परिचय दिया। रोमन शासक ऐसा चाहते ही थे, तुरन्त उन्होंने शिकायत पर गौर किया। और एक दिन यरुशलम के जेथेस्मेन बाग में ईसा पकड़ लिया गया; रोमन कोर्ट के सामने उसकी पेशी हुई, यहूदियों के बड़े पुजारी केकस ने आरोपकारियों का नेतृत्व किया, और रोमन गवर्नर पोंटियस पाईलेट ने ईसा को फांसी की सजा सुनाई। ईसा के भक्त और अनुयायी ईसा को छोड़ गये, अकेला ईसा फांसी का क्रोस उठाये, थका, भूखा, प्यासा, लड़खड़ाता हुआ यरुशलम की गोलगोथ नामक पहाड़ी पर पहुंचा जहां उसे सूली पर चढ़ाया जाने को था; ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया और अन्तिम पलों में एक बार वह चिल्लाया "मेरे ईश्वर, मेरे ईश्वर, क्यों तुमने मुझको बिसार दिया है!"—और वह मर गया। इस प्रकार अन्त हुआ उस अनुपम व्यक्ति, यहूदी द्रष्टा, ईश्वर के भक्त, ईसामसीह का।

इस प्रकार की है ईसामसीह की जीवन कथा जिसकी झांकी हमें केवल ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबिल (New Testament) के प्रथम चार गोस्पल्स (Gospels), अध्यायों, में मिलती है, जो ईसा के मृत्यु के ५०—६० वर्ष बाद लिखे जा चुके थे। जीवन के उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा और किसी ऐतिहासिक तथ्य या घटना का पता नहीं लगता। युवावस्था में ईसा ने जब जूडिया प्रदेश के गेलीली प्रान्त में अपनी वाणी कहना प्रारम्भ किया था उसके पहिले उसने अपना जीवन कहां और कैसे बिताया इस सम्बन्ध में कोई भी बातें निश्चित ज्ञात नहीं हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गेलीली में उपदेश देना प्रारम्भ करने के पहिले ईसा ने ईरान, मध्य एशिया, यहां तक कि उत्तर पच्छिम भारत में भी भ्रमण किया था, जहां उस समय प्रसिद्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय था और जहां दूर दूर देशों के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यहीं पर बुद्ध और हिन्दू धर्म के प्रभाव उस पर पड़े थे; कई यूरोपीय विद्वान कहते हैं कि उत्तर-कालीन हिन्दू धर्म में जिस भक्तिभाव का संचार हुआ, वह ईसामसीह का ही प्रभाव था। किन्तु इस विषय में

कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, ये केवल अनुमान मात्र हैं, और अनुमान भी ऐसे जिनका आधार बहुत कमजोर है। वैसे उनकी जीवन संबंधी धार्मिक गाथायें तो अनेक प्रचलित हो गई हैं, जैसी प्रत्येक धर्म संस्थापक के संबंध में उनके धर्मानुयायियों में प्रचलित हो जाया करती हैं। उदाहरण स्वरूप–ईसा का कोई पिता नहीं था। अलौकिक रूप से वह "माता मेरी" के गर्भ से पैदा हुआ; उसके दफनाये जाने के बाद उसका शरीर कब्र में नहीं मिला, वह तो सीधा स्वर्ग में चला गया था, इत्यादि। कई हिन्दू लेखकों ने जिनका 'अवतारवाद' में विश्वास है, अवतार की यह सबसे बड़ी विशेषता बतलाते हुए कि अवतारी पुरुष के व्यक्तित्व में वाह्य या आंतरिक किसी भी प्रकार का द्वन्द्व या विरोध नहीं होता, ईसा को ईश्वर का अवतार माना है। किन्तु बाइबिल संबंधी साहित्य के अधिकारी विद्वानों ने स्वयं कहा है कि चाहे वह ईश्वर का पुत्र रहा हो, किन्तु आज्ञा पालन का पाठ तो उसने वास्तविक जीवन के कई अनुभवों के बाद ही सीखा, एवं ईश्वर के सामने अन्तःकरण की इस सहज समर्पण, एवं पूर्ण शरणागति की स्थिति तक कि जब वह चिल्ला उठा "तेरी इच्छा, मेरी इच्छा नहीं", अनेक दर्दपूर्ण अन्तर्द्वन्दों के उपरान्त ही पहुंच पाया था। इससे यही अनुमान लगता है कि ईसा का एक मानवीय व्यक्तित्व था, जो स्वयं अनुभूत भावनाओं और विचारों में से गुजरता हुआ "मुक्त चेतना" की स्थिति तक पहुंचा था और तब उसने निर्भय मुक्त स्वर से मानव को कहा था:—

ईसा का उपदेश

परमात्मा एक है, जो हम सबका दयालु पिता है और हम सब उसके समान भाव से पुत्र, एतदर्थ हम सब मानवप्राणी समान भाई भाई। "ईश्वर का राज्य" इस संसार में स्थापित होगा। एक ईश्वरीय राज्य प्रत्येक प्राणी के अन्तर में भी स्थित है; अपने अन्तर में प्रत्येक प्राणी इसकी अनुभूति करे–इसको प्राप्त करे।

ये बातें किसी दूसरे से सीखी हुई नहीं थीं, पुस्तकों में पढ़ी हुई

नहीं थीं, विद्वानों के साथ वाद विवाद करके ईसा की बुद्धि ने ये बातें ग्रहण नहीं की थीं, वरन् ये बातें थीं स्वयं अनुभूत, मानो स्वतः ही ईसा के अन्तर में प्रकाशित हो उठी हों; और ईसा का अन्तर इन प्रकाश की किरणों को खिलते हुए कमल की तरह आत्मसात कर गया हो। इसीलिए उसकी वाणी आकर्षक थी, सच्ची। इसीलिए उसकी वाणी बार बार दबाई जाने पर भी युग युग में फिर फिर मुखरित हो उठती है।

पच्छिमी प्रदेशों में उन लोगों के लिए जिनको यह वाणी सुनाई गई एक अभूतपूर्व क्रांतिकारी वाणी थी। उन्होंने कभी नहीं सुना था कि ईश्वर का राज्य मानव के अंतस् में ही स्थित है, और मानव स्वयं अपने अंतस् में ही उस ईश्वरीय राज्य को प्राप्त करे; त्याग, सेवा, प्रेम, और अहिंसा के व्रत को अपनाते हुए, संपूर्णतः अपने आपको ईश्वर में समर्पित करके एवं ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर। यह एक संदेश था कि मानव, एवं संसार का कल्याण इसी में है, ईश्वर राज्य (राम राज्य) की स्थापना तभी हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना सुधार करले। इस संदेश की तुलना कीजिए आज २०वीं शताब्दी के महानतम विज्ञानवेत्ता आइनस्टाइन के शब्दों से। एक प्रश्न के उत्तर में कि किस प्रकार मानव और समाज का नैतिक स्तर ऊंचा किया जा सकता है, आइनस्टाइन ने कहा था:—"कोई सामान्य तरीका नहीं हो सकता। प्रत्येक पुरुष या स्त्री अपने आपको सुधारना प्रारम्भ करे। आजकल हम त्याग की अपेक्षा सफलता को अधिक महत्व देते हैं। इसलिये लोग महत्वाकांक्षी हो गये हैं। यह महत्वाकांक्षा ही मानव की सबसे बड़ी शत्रु है। हमें धन एकत्र करना नहीं किन्तु सेवा करना सीखना चाहिये।" यही क्राइस्ट की स्पिरिट है। ईसा का संसार त्याग का संसार है, सेवा का संसार है, एक दूसरे के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का संसार है।

ईसा की विशालता में संकुचितता को स्थान नहीं; ईश्वर सार्वभौम है, वह केवल यहूदियों का ईश्वर नहीं। यहूदी यह बात तो मानने लग

गये थे किन्तु उन्होंने ईश्वर को सौदागर देवता भी समझ रक्खा था, जिसने यहूदियों के पूर्वज अबराहम से यह वायदा किया था कि वह यहूदी राज्य और यहूदी गौरव को पुनः स्थापित करेगा। ईसा ने बतलाया कि ईश्वर को कोई विशेष जाति, या देश, या राष्ट्र प्रिय नहीं, उसके सन्मुख सब बराबर हैं। ईश्वर के राज्य में (राम राज्य में) किसी को भी कोई विशेष अधिकार, कोई विशेष रियायत या छूट नहीं। ईसा अपनी बातों को, अपने भावों को छोटी छोटी कहानियों के रूप में प्रकट किया करता था, वह ढंग ऐसा था जो सीधा हृदय पटल पर जाकर अपने आप अंकित हो जाता था। ईसा ने बतलाया कि मानव हृदय में जब ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ पड़ता है तो उसके सामने भाई, बहिन, माता, पिता का कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता, इन सब संबंधों को भूलकर वह केवल ईश्वर प्रेम के अथाह सागर में अवगाहन करने लग जाता है।

धन, वैभव, लालच, और लोभ ईश्वर के साम्राज्य तक पहुंचने में बहुत बड़े बाधक हैं। उसने कहा, "एक ऊंट के लिये यह आसान है कि वह सुई के छिद्र में से पार हो जाय, किन्तु एक धनी के लिये संभव नहीं कि वह "ईश्वर राज्य" में प्रवेश पा सके।" फिर ईसा ने धज्जियां उड़ाईं ऐसी भावनाओं की जो वाह्य आचार, विचार, एवं परम्पराओं में ही धर्म की स्थिति मानते हैं। वास्तविक धर्म वाह्याचार में नहीं, वह तो केवल ढोंग मात्र है; वास्तविक धर्म स्थित है, मानव हृदय की भावना में, अंतस् के सत्य में।

ऐसी दुनिया में (विशेषतः पच्छिमी प्रदेशों में यथा, फिलस्तीन, सीरिया, एशिया-माइनर, मेसोपोटेमिया, अरब, मिस्र में) जहां ईसा के प्रायः १० हजार वर्ष पूर्व से ईसा के आगमन काल तक, यहूदी द्रष्टाओं के उपदेशों के उपरान्त भी, लोग स्थूल देवी देवताओं के भय से त्रासित थे, पुजारी और पुरोहितों के, जादू टोणे और भविष्य वाणियों के चक्कर में फंसे हुए थे, जो निडर हो स्थूल देवी देवताओं के अज्ञानांधकारपूर्ण भावनाओं को ध्वस्त नहीं कर सके थे, जहां धर्म

में देव के प्रति प्रेमानुभूति नहीं किन्तु भयानुभूति होती थी, एक ऐसी वाणी का उदय होना जो 'एक' दयालु परमात्मा की स्थापना करती थी, जो ईश्वर का स्थान मंदिर या कोई अन्य लोक नहीं किन्तु मानव अंतर में ही बतलाती थी, जो व्यक्तिगत प्रेम, सत्य और भ्रातृभाव में ही ईश्वरत्व निहित मानती थी, सचमुच मानव इतिहास में एक क्रांतिकारी वाणी थी; "मानव चेतना" के उच्च विकास की द्योतक। माना सब प्राणी इस उच्चतर चेतना की उपलब्धि नहीं कर सके, किन्तु उनको इस बात का ज्ञान अवश्य हुआ कि मानव चेतना का इतना उच्चतर विकास संभव है।

मानव की कहानी में ईसामसीह एक ज्योति है जो भ्रांतिपूर्ण धार्मिक मान्यताओं से जकड़े हुए मानस को विमुक्त करती है, और मानव को यह आश्वासन देती है कि इसी संसार में रामराज्य स्थापित होगा, कि मानव अपने अंतस् में ही ईश्वर के दर्शन करेगा। यह ज्योति युग युग तक मानव को उस अंधकारमय काल में, उसकी निःसहाय घड़ियों में एक सहारा देती रहेगी।

ईसा के उपदेशों पर ईसाई धर्म की स्थापना और प्रसार— जब ईसा को पकड़ लिया गया था, उसी समय उसके अनुयायियों, भक्तों और मित्रों ने उसको बिसार दिया था। रोमन कोर्ट में पेशी के वक्त अनेक उसके तथाकथित भक्त ही उसका विरोध कर रहे थे। ईसा अकेला था। गोलगोथा पहाड़ी पर, संध्यावेला में ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया; उस दृश्य को देखने तक के लिये कुछ थोड़े से मित्रों और कुछ दुखित बुढ़िया स्त्रियों के अतिरिक्त कोई नहीं था। एक साधारण सी यह घटना हुई, उस समय के इतिहास में इसका कोई महत्व नहीं था। जैसे और अपराधी लोग सूली पर चढ़ा दिये जाते थे और उनकी मृत्यु हो जाती थी, वैसे ही ईसा की मृत्यु हो गई। किन्तु कुछ ईसा के चेले जो अपने मसीहा की मृत्यु को इतना साधारण-सा समझना गवारा नहीं कर सकते थे, कहने लगे कि ईसा का शरीर कब्र में से जगकर

उठा और आकाश में से होता हुआ ईश्वर के पास पहुंच गया। फिर उनमें कहानी फैलने लगी कि ईसा फिर इस दुनिया में आयेगा, और मानव जाति का न्याय करने बैठेगा। संभव है, ईसा के इन भक्तों का ऐसा कहना उनकी तीव्र श्रद्धा भावना के फलस्वरूप हो, एवं उनके मानस पर प्राचीन जादू टोना सम्बन्धी मान्यताओं का प्रभाव हो, वह ग्रीक-दृष्टि जो वस्तुओं और घटनाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया करती थी, इन लोगों के पास नहीं थी।

अतएव ईसामसीह की वास्तविक वाणी और ऐसी मान्यतायें एक साथ घुल मिल गईं। ईसा के ये भक्त अपना जीवन सचमुच बहुत ही सरलता और सचाई के साथ बिताते थे, सरल प्रेम भावना उनके हृदय में वास करती थी, किन्तु उनके धार्मिक विश्वास उपरोक्त कल्पित कहानियों के आधार पर बनते जा रहे थे। ईसा के सूली पर चढ़ जाने के बाद, लगभग ६०–७० वर्षों में ईसाइयों की बाइबिल (New Testament) के वे प्रथम चार अध्याय जिन्हें गोसपल्स (Gospels) कहते हैं लिखे जा चुके थे। इन्हीं गोसपल्स में ईसा के जीवन की घटनाओं का वर्णन है एवं ईसा की वाणी या ईसा के उपदेश संगृहीत हैं। यह बात सत्य है कि इन गोसपल्स में प्राचीन मान्यताओं के फलस्वरूप एवं श्रद्धा भावना से प्रेरित होकर अनेक अनैतिहासिक बातें आ गई हैं एवं ईसा की सब वाणी या उपदेश सर्वथा उसी रूप में जिस रूप में वे ईसा के मुंह से उच्चरित हुए थे संगृहीत नहीं हैं, किन्तु फिर भी ईसा की भावना और ईसा की आत्मा हमें उन सरल कवित्वमय गोसपल्स में शुद्ध रूप से झलकती दिखलाई देती है। अनेक काल्पनिक बातें होते हुए भी उनमें वास्तविक वस्तु और सत्य छिप नहीं पाया है।

ईसा के ये साधारण भक्त ही ईसा के सन्देश को सर्व प्रथम अपने आसपास के लोगों में, जूडिया और सीरिया में ले गये। उस समय फिलस्तीन, सीरिया, एशिया-माइनर, उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रदेशों में रोमन सम्राटों का साम्राज्य था, सब धार्मिक,

सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन उन्हीं के बनाये हुए नियमों के अनुसार चलता था। नगरों में रोमन देवताओं और रोमन सम्राटों के मन्दिर थे जिनकी पूजा सबको करनी पड़ती थी और जिनके आगे सबको सिर झुकाना पड़ता था। रोमन शासक खूब ऐश्वर्य और ठाठबाट से रहते थे, बाकी अनेक लोगों की स्थिति गुलामों जैसी थी। ऐसी सामाजिक परिस्थितियों में ईसा के ये प्रारम्भिक भक्त ईसा का सन्देश लोगों में फैलाने लगे। अभी तक ईसा के उपदेशों से किसी संगठित धर्म की स्थापना नहीं हो पाई थी।

इसी समय एक अन्य उपदेशक का आगमन हुआ। जन्म से वह यहूदी था और उसका यहूदी नाम "साल" था। इसका रोमन नाम पाल (?-६७ई०) हुआ। ईसा का नाम सुनने के पहिले से ही वह एक धार्मिक शिक्षक था, और उस काल में यहूदी, ग्रीक और रोमन लोगों में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों का उसे खूब ज्ञान था। वह ईसा मसीह के जीवन काल में उपस्थित था किन्तु ईसा को उसने कभी देखा नहीं था। ईसा के आदि अनुयायियों के सम्पर्क में आने के बाद वह स्वयं भी ईसा का भक्त बन गया, किन्तु उस समय में प्रचलित अन्य मान्यताओं के आधार पर एवं कई अपने मौलिक विचार लेकर उसने ईसा के आदि उपदेशों को अपना ही एक संगठित रूप दिया और इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। ईसाई धर्म के तत्व तो ईसा की वाणी में ही निहित थे, किन्तु उनको संगठित सामाजिक रूप देकर एक मत के रूप में प्रतिष्ठापन करने का काम पाल ने किया जो संत पाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसाई बाइबिल के उपरोक्त चार गोसपुल्स के अन्त में कुछ और अध्याय हैं जिन्हें ऐपिसट्ल्स, ऐक्ट्स कहते हैं, इन्हीं में पाल के विचार संगृहीत हैं। ईसाई धर्म के सबसे प्राचीन लिखित आगम ईसवी सन् दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ के मिलते हैं। ये हस्तलिखित पन्ने हैं जो मिस्र के पेपीरस पत्रों पर लिखे हैं। संगठित

ईसा धर्म में ईसाई धर्म के पूर्वकाल में प्रचलित मन्दिर, बलि, वेदी, भेंट चढ़ाना, पुजारी, पुरोहित आदि रस्मों का समावेश हुआ, चाहे भिन्न रूप में ही सही । मन्दिर के स्थान पर गिरजाघर आया, पुजारी पुरोहित के स्थान पर पादरी, मूर्ति की जगह क्रोस (+) । संत पाल ने यह बतलाया कि ईसा का सूली पर चढ़ाया जाना तो ईश्वर की वेदी पर मानव के पापों के प्रायश्चित स्वरूप एक बलिदान था । इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म का उपदेश उसने जगह जगह पर घूम कर दिया और ऐसा माना जाता है कि उस काल में ईसाई धर्म के प्रचार में उसी का हाथ सबसे जबरदस्त था । उसकी मृत्यु के बाद ईसाई धर्म का रोमन साम्राज्य के साधारण लोगों में धीरे धीरे प्रसार होता गया । ईसा की दो शताब्दियों तक किस प्रकार इसका प्रसार हुआ, यह बहुत कम ज्ञात है । किंतु इतना निश्चित है कि अन्य लोगों के धार्मिक आचार विचारों में और इन लोगों के धार्मिक आचार विचारों में परस्पर विनिमय होता रहा । अनेक गिरजाघर बनते रहे और क्रमवार पदाधिकारी पादरी लोग उनका संचालन करते रहे । इसके साथ ही साथ चौथी शताब्दी में स्वयं ईसाईयों में ईसा की वाणी को लेकर जो गोसपल्स में संगृहीत थीं, और जो ईसा की सूली के बाद ६०-७० वर्षों तक संगृहीत हो चुकी थीं, अनेक झगड़े और वाद-विवाद होने लगे । ये झगड़े और वाद विवाद यहां तक बढ़े थे कि परस्पर हिंसात्मक लड़ाइयां होती थीं, हत्यायें होती थीं, विरोधियों को जला दिया जाता था, इत्यादि । ईसा ने कहा था—"मैं परमात्मा का पुत्र हूं और मानव का पुत्र भी।"—इसी बात को लेकर प्रश्न उठने लगे क्या ईसा स्वयं ईश्वर था, या ईश्वर ने उसको रचा था ? कोई ईसाई धर्मज्ञ कहने लगे ईसा ईश्वर से छोटा था, किन्हीं धर्मज्ञों ने पिता पुत्र और पवित्रदूत (Holy Ghost) की कल्पना प्रस्तुत की, और कहने लगे ये तीन भिन्न-

भिन्न प्राणी थे, किन्तु एक परमात्मा। इन्हीं प्रश्नों को लेकर वाद विवाद में अनेक दार्शनिक विचार भी प्रकट हुए। अन्त में यह सिद्धान्त कि पिता (ईश्वर), पुत्र (मानव), होली घोस्ट या होली स्प्रिट सब एक ही परमात्मा में समाहित हैं, स्वीकार कर लिया गया था। इसी अरसे में रोमन सम्राटों का ध्यान इस बढ़ते हुए संगठित धर्म की ओर गया जिसके अनुयायियों के अनेक समाज संगठित हो चुके थे। सम्राटों को यह भास होने लगा कि ये लोग विद्रोहकारी थे, क्योंकि ये रोमन सम्राट "सीजर" को देव-तुल्य नहीं समझते थे और न "सीज़र" के मन्दिर में पूजा करने को तैयार होते थे। साथ ही ये लोग रोमन परम्पराओं, आचार विचारों की अवहेलना करते थे; ग्लेडियेटर खेलों का विरोध करते थे, ग्लेडियेटर खेल जो कि रोमन सम्राटों के प्रमोद के साधन थे, जिनमें गुलाम पहलवान लोग आपस में लड़कर एक दूसरे को घायल करते थे, मारते थे, या जंगली जानवरों से लड़ते थे। अतएव रोमन सम्राट इन ईसाई लोगों से चिढ़ गये थे और उन्होंने इनका दमन करना प्रारम्भ कर दिया। हृदयहीन दमन की सीमा पहुंची सम्राट डायोक्लेशियन के काल में (चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में) जब गिरजाओं की सब धन सम्पत्ति को लूट लिया गया, बाइबिल की पुस्तकें (जो उस काल में सब हस्तलिखित थीं) एवं अन्य धार्मिक लेख जला दिये गये, अनेक कट्टर धर्मावलंबियों को फांसी देदी गई, और रोमन साम्राज्य में किसी भी ईसाई को किसी भी प्रकार का कानूनी अधिकार नहीं रहा। यह दमन चलता रहा किन्तु ईसाई समाज दब न सका, ईसाई धर्मावलं-बियों की संख्या में अभिवृद्धि होती रही; विशेषतया शायद इसलिये कि रोमन साम्राज्य में सामाजिक संगठन विश्रृंखल होता जा रहा था, उसमें विच्छेदन प्रारम्भ हो गया था, कोई एक आदर्श, कोई एक भावना नहीं बच पाई थी जो समस्त समाज को एक सूत्र में बांधे रखती, जो जन साधारण को प्रोत्साहित और उत्साहित करती रहती कि वे अपने

संगठित रूप को बनाये हुए रहते चलें। दूसरी ओर ईसाई समाज में एक संगठित, व्यवस्थित ढंग आने लगा था। एक प्रांत का ईसाई व्यापारी किसी भी दूसरे प्रांत में चला जाता था तो ईसाई समाज में उसका स्वागत होता था और उसको हर प्रकार का सहकार मिलता था, मानों साम्राज्य के सब प्रान्तों में किसी एक ही भावना से प्रेरित, समान आदर्शों से अनुप्राणित सब ईसाई मतावलंबियों का एक ही समाज हो।

फिर रोमन साम्राज्य के इतिहास ने पलटा खाया। सन् ३२४ ई० में कान्स्टेंटाइन महान् रोमन साम्राज्य का सम्राट बना। उसने अपनी तीव्र बुद्धि से देखा कि रोमन समाज विच्छिन्न होता जा रहा है। उसको एक सूत्र में बांधे रखने के लिए किसी एक नैतिक आदर्श की आवश्यकता है। उसने देखा कि साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों के अनेक लोगों में प्रचलित ईसाई धर्म ऐसा आदर्श दे सकता है, जिसके सूत्र में साम्राज्य के सब लोगों को संगठित किया जा सके; अतएव उसने ईसाई धर्म को मान्यता दी। ईसाइयों के विरुद्ध दमन चक्र समाप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में ऐसा वातावरण उपस्थित हुआ कि ईसाई मत रोमन साम्राज्य के सब प्रान्तों में, यथा ग्रीस, इटली, इजराइल, सीरीया, स्पेन, फ्रांस (गॉल) में राज्य-धर्म के रूप में स्थापित हो गया। फिर कान्स्टेंटाइन महान् ने देखा कि ईसाई धर्म में अनेक वाद विवाद एवं भिन्न भिन्न धार्मिक आचार प्रचलित हैं, अतएव सम्पूर्ण ईसाई समाज में एक ही प्रकार के नियमों, आचार, परम्पराओं और मान्यताओं का प्रचलन हो, इस उद्देश्य से उसने सब ईसाई धर्म गुरुओं एवं गिरजाओं की एशिया-माइनर के निसीया नामक नगर में सन् ३२५ ई० में एक बृहद् सभा बुलवाई और उसमें अनेक वाद विवादों के बाद कान्स्टेंटाइन के निर्देशानुसार ईसाई धर्म और मान्यताओं का एक रूप स्थापित किया गया। आज संगठित ईसाई धर्म का जो रूप प्रचलित है वह उसी के अनुरूप है जिसका

निर्माण उपरोक्त निसीया सम्मेलन में हुआ था। सन् ३२५ ई० के बाद भी ईसाई समाज को एक सूत्र में बांधे रहने के लिए और सब धार्मिक मान्यताओं का एक रूप कायम रखने के लिए कई सम्मेलन भिन्न भिन्न रोमन सम्राटों ने बुलाये थे। इनके फलस्वरूप धर्म सम्बन्धी सब अधिकार चर्च (गिरजा) में केन्द्रीभूत होते गये, और चर्च की शक्ति यहां तक बढ़ी कि वह कहीं भी किसी प्रकार के मतभेद को दबा सकती थी। धीरे धीरे पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक समस्त रोमन साम्राज्य में ऐसी स्थिति आ गई थी कि साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्राचीन देवालय, मन्दिर (प्राचीन भिन्न भिन्न देवताओं के) ईसाई गिरजा बन गये थे और सब पुजारी ईसाई पादरी। प्राचीन मूर्तिपूजक, मन्दिर और पुजारियों का धर्म प्रायः समाप्त हो चुका था। उन देशों में प्राचीन सभ्यतायें (जिनका मानसिक आधार अनेक देवी देवताओं की भयकृत पूजा, पुजारियों की शक्ति में आस्था, इत्यादि था) प्रायः समाप्त हो चुकी थी; यदि प्राचीन सभ्यतायें शेष भी थीं तो परिवर्तित रूप में। उन देशों में वास्तव में अब एक नया मानव बस रहा था।

ईसाई मत की उपरोक्त एकता कायम रही; भिन्न भिन्न शताब्दियों में यथा चौथी से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक जितने भी असभ्य लोग यथा फ्रैंक, नोर्समैन, वैन्डल्स, गोथिक एवं वलगर्स लोग जिनका कोई भी संगठित धर्म नहीं था (असभ्य स्थिति में केवल किन्हीं आदिकालीन जातिगत देवताओं में मान्यता थी) रोमन साम्राज्य में उत्तर या उत्तर पूर्व से आते गये, सब ईसाई धर्म में प्रतिष्ठित होते गये। ये ही असभ्य लोग जो ईसाई धर्म में प्रवेश पाते गये आज यूरोप में फ्रांस, जर्मनी, इटली, इंगलैंड इत्यादि राष्ट्रीय राज्य स्थापित किये हुए हैं। किन्तु हम जानते होंगे कि इन समस्त देशों के ईसाई, आज ईसाई धर्म के एक रूप को नहीं मानते। इंगलैंड, जर्मनी, नीदरलैंड इत्यादि प्रोटेस्टेंट धर्म को मानते हैं; ग्रीस, बाल्कन प्रायद्वीप के देश, एवं रूस, "ओरथोडोक्स चर्च", अर्थात् सनातन प्राचीन गिरजा धर्म

को मानते हैं, एवं इटली, स्पेन, दक्षिण अमेरिका "रोमन कैथोलिक" धर्म को। यह विभेद कैसे ?

सन् १०५४ ई० तक तो ईसाई मत की एकता बनी रही। उस समय रोमन साम्राज्य के दो अंग थे:—एक पूर्वीय जिसकी राजधानी कस्तुनतुनिया थी और जहां ग्रीक भाषा और ग्रीक प्रभाव विशेष था, दूसरा पच्छिमी अंग जिसकी राजधानी रोम थी। रोम के चर्च का मुख्य पादरी पोप कहलाता था, उसकी शक्ति बढ़ी चढ़ी थी यहां तक कि पच्छिमी 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के सम्राट भी उसके आधीन थे। उसने घोषणा की कि वह समस्त ईसाई समाज का प्रमुख पादरी (पोप) था। पूर्वीय रोमन साम्राज्य में कस्तुनतुनिया की गिर्जा का पादरी और न वहां का सम्राट इस हक को मानने के लिये तैयार थे, अतः वाद विवाद प्रारम्भ होगया। एक छोटी सी बात पर विवाद हुआ—कस्तुनतुनिया का गिर्जा तो पुरानी प्रचलित मान्यता के अनुसार यह कहता था कि "होली घोस्ट" का आविर्भाव पिता ईश्वर से हुआ था; किन्तु रोमन गिर्जा यह मान्यता रखना चाहता था कि "होली घोस्ट" का आविर्भाव पिता और पुत्र (ईश्वर और क्राइस्ट) से हुआ था। इसी पर वे दोनों गिर्जा एक दूसरे से सर्वथा पृथक होगये, और उनमें किसी प्रकार का संबंध नहीं रहा। कुछ देशों के ईसाई ग्रीक गिर्जा के अन्तर्गत रह गये, एवं शेष देशों के ईसाई रोमन गिर्जा के अंतर्गत।

किन्तु रोम के पोप की महत्वाकांक्षा जबरदस्त थी। सचमुच वह पच्छिमी रोमन साम्राज्य (पवित्र साम्राज्य) के ईसाइयों की आत्मा का एकाधिपति था। साधारण जनता को उसकी धार्मिक शक्ति में निःसंदेह ऐसा विश्वास था कि वह चाहे जिसको स्वर्ग का पासपोर्ट देदे, चाहे जिसको नर्क में भिजवादे, चाहे जिसको मनचाही सजा देदे, या सम्राट से दिलवादे, जो कोई भी उसको मान्यता न दे उसको जलवाकर भस्म करवादे, इत्यादि। और वास्तव में उन शताब्दियों में (१०वीं से १६वीं) इस प्रकार हजारों निर्दोष मानवों की हत्या की गई, उनको जलाया

गया, उनकी धन सम्पत्ति लूटी गई। इन सब कारणों से १६वीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक सुधार की एक लहर फैली, जिसके प्रवर्तक जर्मनी के मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६ ई०) हुए। मार्टिन लूथर ने पोप और उसके व्यक्तिगत धर्माडम्बरों का विरोध किया; इस प्रकार विरोध करनेवाले प्रोटेस्टेंट कहलाये। लूथर के प्रभाव में अनेक देशों की गिर्जाओं ने रोम के पोप से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और उन्होंने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया। प्रमुखतः इंगलैंड, जर्मनी, नीदरलैंड इत्यादि देशों की गिर्जाओं ने ऐसा किया—वे प्रोटेस्टेंट चर्च हुईं; इटली, स्पेन इत्यादि की चर्च रोमनपोप के साथ रहीं; ये रोमन कथोलिक चर्च हुईं।

इस प्रकार हम देखते हैं—प्रायः १४००-१२०० ई० पू० में अरब से चलकर यहूदी लोग इजराइल में बसे, वहां रहते रहते उन्होंने धीरे धीरे यहूदी बाइबिल, यहूदी धर्म का विकास किया, जिसने अनेक देवी-देवताओं में से लोगों की मान्यता हटा केवल एक सर्व शक्तिमान नैतिकता के ईश्वर की स्थापना की। इस भाव को पुष्ट किया यहूदी द्रष्टाओं ने, इन्हीं द्रष्टाओं में उदय हुआ अनुपम मानव "ईसा" का, जिसकी मुक्त चेतना ने घोषणा की प्रेम और करुणामय एक ईश्वर की, ईश्वरीय राज्य (रामराज्य) की, और फिर बतलाया कि यह रामराज्य मानव के अन्तर में ही स्थित है,—मानव अपने अन्तर में ही प्रेममय भगवान के दर्शन कर सकता है।

ईसा के कुछ ही वर्षों बाद इसी वाणी के आधार पर संत पाल द्वारा स्थापना हुई संगठित ईसाई धर्म की, धीरे धीरे अनेक मान्यताओं और विश्वासों का उसमें समावेश हुआ, उन सबको संगठित रूप मिला सन् ३२५ ई० में रोमन सम्राट कोन्स्टेंटाइन के समय में नीसीया के सर्व-गिर्जा सम्मेलन में। इसी संगठित मत का प्रचार हुआ, और कालान्तर में इसीके तीन विभिन्न अंग हुए—ओर्थोडोक्स, रोमनकथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्ट गिर्जा जो आज भिन्न भिन्न ईसाई देशों में प्रचलित हैं।

यह है मानव के इतिहास में ईसा और ईसाई धर्म की कहानी।

●

(३०)

भारत में मानव की हलचल

भूमिका एवं काल विभाजन—भारत का इतिहास प्रमुखतः भारतीय आर्यों के विकास का इतिहास है। भारत से अपरिचित किसी भी विदेशी को बाहर से देखने में भले ही ऐसा प्रतीत हो कि भारत तो भिन्न भिन्न जातियों, भिन्न भिन्न धर्मों, भिन्न भिन्न भाषाओं, एवं भिन्न भिन्न वेश-भूषा और रीति-रस्मों में विभाजित एक महाद्वीप है, किन्तु यह विभिन्नता होते हुए भी इस विशाल देश के समस्त जीवन और अन्तस में एक अपूर्व साम्य है। विभिन्नता में एकता है। भारतीयता एक विशिष्ट जीवन दृष्टिकोण है; यहां "आत्मतत्व" में एक अपूर्व विश्वास है, वह आत्म-तत्व जिसके विषय में आज भी मानव एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से सोच रहा है, वह आतमतत्व जिसके द्रष्टा प्राचीन भारतीय आर्य थे। इन भारतीय आर्यों की उत्पत्ति एवं प्रारम्भिक विकास के विषय में पूर्व अध्यायों में विचार किया जा चुका है और यह कहा जा चुका है कि एक मत के अनुसार तो आर्यों का उद्भव भारत में ही ईसा के पूर्व अति प्राचीनकाल में हुआ; दूसरे मत के अनुसार ये आर्य २५०० से १५०० ई० पू० में मध्य एशिया से आकर भारत में बसे।

भारत में आर्यों के उद्भव के पहिले प्राचीन पाषाण युग एवं नव पाषाण युग के मानव रहते होंगे। सम्भव है आजकल के मध्य भारत में पाये जाने वाले आदि मानव गोंड, विन्ध्याचल की पहाड़ियों में पाये जाने वाले आदि मानव भील, छोटा नागपुर में पाये जाने वाले आदि मानव सन्थाल, भारत के प्राचीन या नव पाषाण युग के अवशेष मानव हों, किन्तु इनकी संख्या नगण्य है, इनका

कोई इतिहास नहीं ! फिर कुछ इतिहासकार अनुमान लगाते हैं कि भारत के उत्तर - पच्छिम से अति प्राचीन काल में द्राविड़ लोग उत्तर भारत में आकर बसे । द्राविड़ लोग सांवले रंग और नाटे कद के मानव थे। इनकी प्रारम्भिक सभ्यता सौर-पाषाणी नगर सभ्यता थी जिसका वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। कुछ ऐसा भी अनुमान है कि ४–५ हजार वर्ष ई० पू० की सौर-पाषाणी सभ्यता से जो भारत की सिन्धु नदी की घाटी में प्रचलित थी और जिसका पता आजकल की मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाइयों से लगा है, द्राविड़ लोगों का सम्बन्ध था। यह भी उल्लेख हो चुका है कि प्राचीन मिस्र और बेबीलोन से सामुद्रिक राह द्वारा द्राविड़ लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था किन्तु उत्तरी भारत में आर्यों के विस्तार के साथ साथ द्राविड़ लोग दक्षिण भारत में जाकर बस गये। कुछ इतिहासकारों का ऐसा भी अनुमान है कि द्राविड़ लोगों का उत्तर भारत से कभी भी कुछ सम्बन्ध नहीं रहा। अति प्राचीन काल में दक्षिण भारत का पठार गोंडवाना महाद्वीप का एक भाग था। उस समय दक्षिण भारत के पठार और उत्तर भारत के बीच में समुद्र लहलहा रहा था। ऐसा प्राचीन काल में द्राविड़ लोग गोंडवाना से चलकर दक्षिण भारत में आकर बस गये, और वहीं बसे रहे। शनैः शनैः जब उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच का समुद्र पट गया, और आर्य सभ्यता का उत्तर भारत से प्रसार होने लगा (स्यात् भारतीय इतिहास के रामायण काल के पूर्व से ही) तब द्राविड़ लोग आर्य संस्कृति में संस्कारित होने लगे और उनकी अपनी स्वतन्त्र भाषा और अपना स्वतन्त्र साहित्य होते हुए भी वे आर्यत्व में इतना घुल मिल गये कि द्राविड़ जाति की आत्मा (भाव एवं जीवन तरङ्ग) आर्य जाति की आत्मा (भाव एवं जीवन तरङ्ग) से भिन्न नहीं रही। आर्यों ने भी उनकी अनेक बातें ग्रहण कीं और इस प्रकार एक भारतीय संस्कृति का विकास होने लगा।

भारत में उपरोक्त आर्यों और द्राविड़ों के समावेश के बाद, यहां

कई और जातियां आईं—पहिले तो ई० पू० प्राय: दूसरी शताब्दी में शक (सम्भवत: मंगोल और तुर्क लोगों की मिश्रित एक जाति) फिर ई० सन् की पहली शताब्दी में कुशन (सम्भवत: ईरानी आर्य और तुर्क लोगों की मिश्रित एक जाति) फिर ईसा की ५वीं ६ठी शताब्दी में सफेद हूण जातियां आईं;—किन्तु ये सब जातियां भी धीरे धीरे आर्यों में सर्वथा घुल मिल गई और उनका पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं रहा। फिर ८वीं शताब्दी में अरब से अरबी मुसलमान, और ११वीं १२वीं शताब्दियों में ईरानी, तुर्की, अफगानी मुसलमान और अन्त में १६वीं शती में मंगोल जाति के मुसलमान भारत में आये और उन्होंने अपने साम्राज्य भी स्थापित किये, किन्तु वे भी यहां के वातावरण में घुल मिल गये। और फिर आधुनिकतम काल में आये अंग्रेज जिनके संपर्क से यूरोपीय रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा।

अत: भारत से अपरिचित किसी विदेशी को बाहर से देखने में भले ही ऐसा प्रतीत हो कि भारत तो भिन्न भिन्न जातियों, भिन्न भिन्न धर्मों, भिन्न भिन्न बोलियों, भिन्न भिन्न वेश-भूषा एवं भिन्न भिन्न रीति-रस्मों में विभाजित एक देश है, किन्तु यह विभिन्नता होते हुए भी इस विशाल देश के समस्त जीवन और अन्तस् में एक अपूर्व साम्य है। विभिन्नता में एकता है। भारतीयता एक विशिष्ट जीवन दृष्टि-कोण है—यहां "आत्म-तत्व" में एक अपूर्व विश्वास है, वह आत्म-तत्व जिसके विषय में आज भी मानव एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से सोच रहा है—वह आत्म-तत्व जिसका "द्रष्टा" प्राचीन आर्य ऋषि था। इन भारतीय आर्यों की उत्पत्ति एवं प्रारम्भिक विकास के विषय में पूर्व अध्यायों में कुछ विचार किया जा चुका है किन्तु अभी तक भारत के इतिहास का काल-क्रमानुसार अवलोकन बाकी है। यही अब हम करेंगे। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम भारतीय इतिहास को निम्नकाल विभागों में बांट सकते हैं।

प्राचीन युग—

१. पूर्वार्द्ध—अनिश्चित प्राचीन काल से लेकर ई० पू० चौथी

शताब्दी में मौर्य साम्राज्य के संस्थापन काल के पूर्व तक, जब से तिथिवत् भारत का इतिहास कायम होता है। इस काल में मुख्यतः ३ काल खंडों का समावेश होता है।

१. ऋग्वैदिक काल
२. उत्तर वैदिक काल (महाकाव्यों की घटनायें)
३. महाजन पद युग तथा मगध काल (ई० पू० ८वीं शताब्दी से ई० पू० चौथी शताब्दी तक)

३. उत्तरार्द्ध–ई० पू० ३३२ से ६५० ई० तक–मौर्य, कुशन, गुप्त एव हर्ष साम्राज्य काल।

मध्य युग—

३. पूर्वार्द्ध–६५० ई० से १२०६ ई० तक राजपूत राज्यकाल।
४. उत्तरार्द्ध–१२०६ ई० से १५२६ ई० तक पठान राज्यकाल।

आधुनिक युग—

५. मुगल राज्यकाल–१५२६ से १७०७ ई०। बाबर से सम्राट औरंगजेब तक–जिसके पश्चात् मुगल साम्राज्य की परम्परा चाहे १८५७ ई० तक चलती रहती है, किन्तु नाम मात्र।
६. हिन्दू मराठा प्रभुत्व काल–१७०७ ई० से १८१८ ई०
७. अंग्रेज राज्यकाल–१८१८ ई० से १९४७ ई०
१८१८ ई० १८५७ ई० ईस्ट इन्डिया कम्पनी।
१८१८ ई० १९४७ ई० ब्रिटिश साम्राज्य।
८. १५ अगस्त १९४७ ई० से स्वतन्त्र भारत।

●

प्राचीन युग

१. **ऋग्वैदिक काल**—भारतीय इतिहास बहुत प्राचीन है। यहां की सभ्यता मिस्र, बेबीलोन की सभ्यता से भी प्राचीन मानी जाती है। जिस प्रकार संभवतः चीन की सभ्यता का

स्वतंत्र विकास हुआ उसी प्रकार संभव है भारत की सभ्यता का भी भारत में ही उत्पन्न आर्य लोगों में स्वतन्त्र विकास हुआ हो। यहां का इतिहास प्राचीन होते हुए भी प्राचीन मिस्र, बेबीलोन की तरह यहां सम्राटों के राज्य एवं विजय की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं लगता, वस्तुतः ग्रीक आक्रमण के पहिले किसी घटना के निश्चित काल का पता नहीं।

इसका कारण है। आजकल इतिहास जिस अर्थ में समझा जाता है अर्थात् साम्राज्यों की स्थापना, युद्ध के वर्णन, परस्पर जातियों में टक्कर एवं राज्य परिवर्तन इत्यादि, उस अर्थ में सचमुच भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास नहीं पाया जाता। वैदिक काल में आर्यों के जीवन का जो आदर्श था उसके अनुकूल, यहाँ वैदिक काल में विशाल राज्यों या साम्राज्यों का विकास नहीं हुआ और न कोई विशाल स्मारक, समाधियां, महल, मन्दिर इत्यादि बनवाये गये। मुख्यतः तपोभूमि एवं गांवों का सरल जीवन था। धीरे धीरे विशेष नगरों में या विशेष परिमित स्थानों में आर्य राजाओं की राजधानियों का विकास अवश्य होगया था। अधिक प्रतिष्ठित बनने के उद्देश्य से राजाओं में परस्पर युद्ध भी होते थे, किन्तु किसी विशाल राज्य की स्थापना नहीं हो पाई थी।

इन लोगों का लक्ष्य सरल उपासनामय जीवन था जिसमें सांसारिक सुख भी हो, किन्तु वह सुख कृषि, दुग्ध, फलफूल एवं निर्भय संतान की इच्छा एवं अनार्य शत्रुओं से रक्षा तक ही सीमित था। सृष्टि, प्रकृति, जीवन और आनन्दानुभूति के ज्ञान के विषय में आर्य लोग जिस गहराई तक पहुंच चुके थे, उस गहराई तक संसार में मानव अन्य कहीं नहीं पहुंच पाया था; मिस्र और बेबीलोन के मानव की बुद्धि अभी बहुत सीमित और उसका मानस भयातुर था, उसे विमुक्ति की अनुभूति नहीं हो पाई थी। ग्रीक दार्शनिकों एवं मनीषियों ने जिस बौद्धिक स्वतन्त्रता और मानसिक निर्भयता की अनुभूति की थी, वह भी थी अद्भुत किन्तु उनका सृष्टि के तात्विक तथ्य का ज्ञान न तो अनुभूत्यात्मक ही था–और न वे

निश्चित रूप से शुद्ध "आत्म तत्व" की कल्पना तक पहुँच पाये थे। चीनी दार्शनिक भी मुख्यतः दृष्ट संसार की परिवर्तनशीलता तक ही रह गये–इसके परे किसी अपरिवर्तनीय तत्व को वे नहीं देख पाये। सारांश यही है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के दर्शन हमें नगरों, महलों, साम्राज्यों के अवशेषों में नहीं किन्तु विशेषतः उनके तत्व सम्बन्धी साहित्यिक अवशेषों में मिलते हैं।

वैदिक काल में सामाजिक जीवन—ऋग्वैदिक या उत्तर वैदिक या उससे भी बाद के काल के सामाजिक जीवन का पूर्ण चित्र हमें नहीं मिलता। तत्कालीन साहित्य के आधार पर उसकी कल्पना की जाती है। यह भी एक तथ्य है कि समाज की स्थिति उस प्राचीन काल में सर्वदा एकसी नहीं रही, उसमें भी परिवर्तन और विकास होता रहा। जैसे, भारतीय इतिहास के वैदिक काल का जीवन सूत्र काल से भिन्न था, सूत्र काल का जीवन महाकाव्य काल से भिन्न था, महाकाव्य काल का जीवन उस काल से भिन्न था जब भारत में बुद्ध और जैन धर्म का उद्‍भव हुआ।

वैदिक काल में लोग वैदिक-संस्कृत भाषा बोलते थे, उस भाषा का लिखित रूप शुरू में विद्यमान नहीं था, अतएव जीवन-विज्ञान एवं अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान का विनिमय चर्चा और उपदेश के रूप में होता था, और दृष्ट मंत्रों की रक्षा विद्याओं को कण्ठस्थ करके की जाती थी। इस प्रकार विद्याओं की परम्परा चलती रहती थी। उस समय मूर्ति-पूजा बिलकुल नहीं थी और न मन्दिर निर्माण कराये जाते थे–अनंत आकाश के तले यज्ञ, हवन, देव-प्रार्थना एवं उपासना होती थी। अधिकतर समय सामूहिक यज्ञ, हवन और उपासना करने में ही व्यतीत होता था। इनकी प्रार्थनायें सामूहिक लोक कल्याण के लिये ही होती थीं, उनकी वृत्ति सात्विक होती थी। धार्मिक कृत्य प्रायः दो प्रकार के होते थे। १–गृह्यकर्म जो घर में किये जाते थे, जैसे, संस्कार, नित्य हवन और गृह-प्रवेश आदि। २–श्रौतकर्म

जिन्हें अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार उच्च परिवार के लोग बड़े आडम्बर के साथ धर्म-पुण्य और परोपकार की दृष्टि से करते थे, जैसे, अश्वमेधादि यज्ञ, अतिरात्र इष्टियां आदि।

खान-पान—दूध तथा उससे निर्मित वस्तुयें उनका मुख्य भोजन था; वे गेहूं और चावल भी खाते थे, तथा मांस भी खाया जाता था। वे सुरा से घृणा करते थे पर सोमरस पीते थे जो कि एक पौधे से प्राप्त होता था। इसे पीकर वे तन्मय हो जाया करते थे।

वस्त्राभूषण—वस्त्र के तीन नाम थे—वासस्, वसन और वस्त्र। अधिवास ऊपर पहिनने का तथा नीवि नीचे पहिनने का वस्त्र था। उनके कपड़े प्रायः कढ़े (पेशस्) हुए होते थे, वे ऊनी वस्त्र तथा स्वर्ण मंडित चोगा भी पहिनते थे, तपस्वी लोग चर्म पहिनते थे। कुछ नर नारी कान, गले, बाजू और हाथों में स्वर्ण भूषण पहिनते थे। बालों को संवारा जाता था, स्त्रियां चार गुथी पट्टियां बनाती थीं। पुरुष जूड़ा बनाते थे और दाढ़ी तथा मूंछ भी रखते थे।

आमोद-प्रमोद—रथ-दौड़, घुड़-दौड़, आखेट, जुआ, नृत्य और संगीत उनके मनोरंजन के मुख्य साधन थे। वाद्य तीन प्रकार के होते थे—वाण, दुंदुभि तथा कर्करी। नृत्य स्त्री और पुरुष दोनों करते थे।

युद्ध—रक्षा के लिए विशेषतः तीर-कमान, फरसा, भाला, कवच, तलवार, शिरस्त्राण, बाहुरक्षक और गदा का प्रयोग होता था। सैनिक लोग पैदल ही युद्ध करते थे, केवल राजा या प्रमुख योद्धा रथारूढ़ होकर युद्ध करते थे।

आर्थिक जीवन—उनका प्रमुख धन्धा खेती-बाड़ी तथा पशु-पालन था। बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, गधा, कुत्ता तथा गाय उनके पालतू पशु थे। तालाबों, कूपों तथा नहरों से सिंचाई होती थी। वे मृगया, शिल्प कला तथा व्यापार में भी रुचि रखते थे। व्यापार पदार्थों के विनिमय द्वारा होता था। वस्त्रवयन, तथा सोना, लोहा, आदि धातु सम्बन्धी

शिल्पों का वर्णन वेदों में आता है। आर्यों में कुटुम्ब एवं कौटुम्बिक भावना ही सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का आधार थी। कुटुम्ब के सभी सदस्य एक ही घर-या गृह में रहते थे, जो अधिकतर लकड़ी, घासफूस और मिट्टी के बने होते थे और जिनको लीप पोतकर बहुत स्वच्छ और सुथरा रक्खा जाता था। कुटुम्ब का आधार पैतृक था न कि मातृक। वरिष्ट पुरुष ही परिवार का स्वामी होता था, उसी की आज्ञानुसार कुटुम्ब के शेष सदस्यों को—स्त्री, बाल बच्चों को चलना होता था। कुटुम्ब की लड़की बड़ी होजाने पर, पूर्णवयस्क हो जाने पर ही, प्रेम विवाह करती थी, माता पिता के आदेशानुसार भी पुत्रियों के विवाह सम्पन्न होते थे। बहु पत्नीत्व के उदाहरण तो मिलते हैं किन्तु बहु पतित्व के नहीं।

समाज में स्त्रियों का स्थान—स्त्रियों का बहुत आदर होता था। जीवन में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक और सहचर समझे जाते थे। कोई भी धर्म के कार्य हवन, यज्ञ इत्यादि होते थे तो उनमें दोनों को एक साथ बैठना पड़ता था। वैदिक विधान के अनुसार पति या पत्नी एक ही शरीर के दो अंग हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है, अतएव विकल अंग के कारण अकेले इनमें से कोई भी धर्म कार्य नहीं कर सकता। वैदिक भावना यही रही है कि पति और पत्नी में एकता का भाव हो—"यह जो तुम्हारा हृदय है सो मेरा है और मेरा हृदय तुम्हारा है।" पर्दे की प्रथा का प्रचलन नहीं था—उस काल तक उनको ज्ञान भी नहीं था कि ऐसी भी कोई प्रथा हो सकती है। "युवक युवती को अपना सहचर चुनने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी। विनोद के कार्यों और स्थानों में उन्हें परस्पर अभ्ययन और अभिमनन करने (मिलने,मिलाने) के यथेष्ट अवसर मिलते थे। राजपुत्रियों के स्वयंवर होते थे। विधवायें फिर विवाह कर लेती थीं।" (जयचन्द्र)। अनेक स्त्रियां एवं ऋषिपत्नियां बहुत विदुषी होती थीं। कई स्त्रियां वेदों की कई ऋचाओं की द्रष्टा थीं।

राजकीय संगठन—ऐसा अनुमान है कि आर्य जाति के आरम्भिक काल में कोई राजा नहीं था; लोग अपने अपने परिवारों में, परिवार के वयोवृद्ध पुरुष के नेतृत्व और आदेश में रहते थे। ऐसे कई परिवार मिलकर एक समुदाय बन जाता था जिसको वे "जन" कहते थे। यह एक प्रकार का एक ही प्राचीन वंश का, या एक जाति का समुदाय होता था। इस समुदाय की जन संख्या में जब वृद्धि हो जाती थी तो समुदाय के लोग कई गांवों में फैल जाते थे। इस प्रकार जब "जनों" और गांवों में वृद्धि हुई तो उन्हें किसी राजकीय व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति आने पर ये जन एक मुखिया का 'वरण' करने लगे थे जिसे राजा कहा जाता था। वरण का यह अर्थ था कि प्रजा राजा को चुनती थी। यदि कोई राज-पुत्र होता तो प्रजा की स्वीकृति के बाद ही वह राजा होता था। राजा को प्रजा के प्रतिकूल होने पर हटाया जा सकता था। राजकीय अधिकार की आदि शुरुआत के विषय में महाभारत में कुछ ऐसी बात आती है कि ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ने लगी पारस्परिक झगड़े आरम्भ हुए, लोग अत्यन्त दुखी हो गये तो वे देव प्रजा-पति के पास गये और अपनी समस्या कह सुनाई। प्रजापति ने कहा इसका एक ही उपाय है, वह यह कि तुम लोग अपने में से एक राजा चुनो, उसकी आज्ञा का तुम पालन करो, और वह तुम्हारी रक्षा करे। उसके खर्चे के लिए तुम अपनी आय का एक नियमित भाग उसको दिया करो। इस प्रकार मनु पहला राजा बनाया गया। उसने नियय बनाये और दंड निश्चित किये। भीष्म पितामह ने राजा-निर्वाचन के सम्बन्ध में कहा है कि यदि राजा प्रजा की रक्षा करने योग्य नहीं हो तो उसे हटा देना चाहिये।

धीरे धीरे समाज और धर्म का विकास हो जाने पर, अनेक वर्षों बाद सामाजिक संगठन के दो मूल-भूत आधार बन गये थे। पहिला वर्ण-धर्म और दूसरा आश्रम-धर्म।

वर्ण धर्म—भारतीय वैदिक समाज में धीरे धीरे चार वर्ण हो गये थे–(१) ब्राह्मण (२) क्षत्री (३) वैश्य (४) शूद्र। ब्राह्मण वह जो समाज का बौद्धिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक संचालन एवं नेतृत्व करे। क्षत्री वह जो समाज की रक्षा करे। वैश्य वह जो समाज का भरण-पोषण करे। शूद्र वह जो समाज की सेवा करे। व्यक्ति अपने स्वभाव एवं विकास की स्थिति के अनुसार उन चारों वर्णों में से किसी भी एक को ग्रहण कर सकता था। व्यक्तियों का वर्ण निर्धारण जन्म से नहीं होता था। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीता लोग तात्विक बात को भूलने लगे, अन्धे होकर परम्परानुगामी होने लगे, एवं कालान्तर में एक ऐसी स्थिति आई जब वर्ण जन्म से माने जाने लगे। ऐसी स्थिति स्यात् ईसा के कई शताब्दियों पूर्व काल में ही आ चुकी थी। इतना ही नहीं, वरन् धीरे धीरे अनेक शताब्दियों में वैदिक (हिन्दू) समाज उपरोक्त चार वर्णों के अलावा सैकड़ों, हजारों जातियों में विभक्त हो गया,–यह बात हिन्दू समाज की अवनति का भी एक कारण बनी।

आश्रम धर्म—धीरे धीरे आर्य मनीषियों ने, मानव जीवन किस प्रकार बिताना चाहिये इस बात की मनोवैज्ञानिक आधार पर एक कल्पना की। यह मानकर कि मनुष्य की आयु प्रायः सौ वर्ष की होती है, इसे चार आश्रमों में बांट दिया गया। १. ब्रह्मचर्य आश्रम–बालक २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करे और विद्याध्ययन करे। उस काल में विद्याध्ययन तपोभूमियों में स्थित गुरुओं अथवा ऋषियों के आश्रम में होता था। २. गृहस्थ आश्रम– २५ वर्ष से ५० वर्ष की आयु तक मनुष्य वैवाहिक जीवन व्यतीत करे, परिवार और समाज का पालन करे। ३. वानप्रस्थ आश्रम–५० से ७५ वर्ष की आयु तक पति और पत्नि अपने परिवार को छोड़कर, अपने पुत्रों को परिवार संचालन एवं सांसारिक कार्यों का सब उत्तरदायित्व देकर स्वयं कहीं बाहर एकान्त स्थान में चले जायं और वहां ईश्वर उपासना में और अध्यात्म चिन्तन में अपना जीवन बितायें। ४. सन्यास आश्रम–७५ वर्ष की आयु के

उपरान्त मनुष्य बिल्कुल अकेला रहे, अध्यात्म चिन्तन करे, एवं समाज और मानव के कल्याण के लिये उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करे।

पुनर्जन्म और कर्मफल भोग सम्बन्धी विचार

पुनर्जन्म और कर्मवाद के सुगठित सिद्धांतों या उनमें दृढ़ मान्यता को व्यक्त करने वाले मंत्र वेदों में नहीं मिलते, जिससे यह लगता है कि वैदिक कालीन ऋषियों और आर्यजनों में पुनर्जन्म और कर्मवाद के संबंध में न तो कोई सुस्पष्ट और स्थिर विचारधारा थी और न कोई दृढ़ विश्वास। वेदों के ब्राह्मण भाग की रचना के समय तक लगभग यही स्थिति रही। यह ठीक है कि ऋग्वेद में शुनःशेप ऋषि का एक सूक्त एवं कुछ मंत्र ऐसे आते हैं जिनसे पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धांतों का आभास होता है। एक मंत्र है:—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातनात्मायांन गच्छ पृथिवीं च धर्मणा
अपोवा गच्छ यदितत्रते हितमोषधिपु प्रतिष्ठा शरीरैः
(ऋ. १०-१६-३)

भावार्थ—"शरीर यद्यपि अग्नि से भस्म हो जाता है (आर्य लोग मृतकों को जलाया करते थे) तथापि उसकी आत्मा नष्ट नहीं होती है। भिन्न भिन्न इन्द्रियां अपने अपने भौतिक पदार्थों में मिल जाती हैं; प्राण वायु लोक में मिल जाता है और जीवात्मा अपने किये हुए धर्म के अनुकूल, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अंतरिक्ष में यथावत् शरीर को धारण कर भोगों को भोगता है।" किन्तु यह आभास मात्र है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से यह आभास भी मिलता है कि उस समय लोग मृत्यु के अनन्तर होने वाले उस जीवन में विश्वास करते थे जो यम से अनुशासित लोक में प्राप्त होता था। ऐसे मन्त्रों के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म संबंधी बातों का सिद्धान्त रूप में निर्माण और विकास कहीं उपनिषद् काल (लगभग १००० से ५०० ई० पू०) में जाकर हुआ, और उसी काल में धीरे धीरे इन बातों ने लोक विश्वास का रूप धारण किया।

यह वही काल था जब सन्यास, वैराग्य, योग-ध्यान, प्रतिमा पूजन और परमात्मा की "एक व्यक्ति के रूप" में भक्ति का प्रारम्भ हुआ था। कई विद्वान तो निर्विवाद रूप से अब यह मानते हैं कि भारत में आर्यों के आगमन के पहिले जो यहां दो सभ्यतायें मौजूद थीं—आस्ट्रिक (कोल) और द्राविड़ सभ्यतायें—उन्हीं से प्रभावित होकर ही आर्यों में पुनर्जन्म, कर्मवाद और श्राद्ध के विचार, जो इन सभ्यताओं में प्रारम्भिक भय के रूप में विद्यमान थे, धीरे धीरे विकसित हो गये और कालांतर में जाकर वे हिन्दू धर्म के प्रमुख अंग बन गये।

२. उत्तर-वैदिक काल (महाकाव्यों की घटनायें)

तपोभूमि में निःश्रेयस के ज्ञानोदय के बाद शनैः शनैः सामाजिक संगठन प्रारम्भिक सरलता से अपेक्षाकृत जटिल होता गया और इस प्रकार एक अनिश्चित लम्बे काल के बाद भारतीय इतिहास का वह युग आया जिसे उत्तर-वैदिक काल कहते हैं। सामाजिक विकास के साथ साथ मनुष्य के विचार और भावों में परिवर्तन हुआ। आदि वेद अपने आप में अब तक एक सुसंस्थापित, पूजनीय संस्था बन चुके थे—समस्त आर्य समाज के आचरण के आधार। जन संख्या में वृद्धि हो चुकी थी, अधिक बस्तियां बस चुकी थीं, अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे, जहां राजा न्याय और दया से शासन करते थे। कला कौशल का विकास हो रहा था जैसे आभूषण निर्माण, शस्त्रास्त्र निर्माण, भवन निर्माण आदि। उद्यान और वाटिकायें लगाई जाती थीं, एवं सूत के अतिरिक्त रेशमी वस्त्रों का प्रयोग होता था। अनेक जन इन शिल्प कला के कामों में लगे थे, बहुसंख्यक सर्व साधारण का मुख्य काम तो कृषि और पशुपालन ही था। भूमि अवश्य धन-धान्य पूर्ण थी। आचार्यों या गुरुजनों के आश्रमों में शिक्षाध्यापन होता था, वेद शिक्षा के अतिरिक्त शस्त्रास्त्र विद्या एवं अन्य विद्याओं की शिक्षा भी होती थी। समाज में वर्ण विभाजन अब पहिले की अपेक्षा कठोर था, वैदिक देवों की पूजा

कम हो चली थी, पुनर्जन्म में विश्वास जो वैदिक युग में स्यात् अस्पष्ट था, अब अधिक व्यापक रूप में विद्यमान था। तपोभूमियां और ऋषियों के आश्रम अब भी वैसे ही थे। यज्ञ, हर्वनादि अधिक विस्तृत और जटिल हो गये थे। बलि दी जाने लगी थी। वैदिक धर्म मूल सरलता खो रहा था, कर्मकाण्ड जोर पकड़ गया था। इसी युग में आकर कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण ग्रन्थों की और फिर दर्शन-प्रधान उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई।

उत्तर वैदिक काल में वस्तुतः वे घटनायें घटित हुईं जो आर्यों के दो महाकाव्य रामायण और महाभारत में मुख्यतः वर्णित हैं,—चाहे इन काव्यों की रचना घटनाओं के अनेक वर्षों बाद हुई हो। इनकी रचना के सम्बन्ध में पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है। इन काव्यों का विषय है—रामायण में ऋग्वैदिक युग के राजा इक्ष्वाकु के वंशज राजा राम की कथा, और महाभारत में भारत के दो प्रसिद्ध वंश कौरवों और पांडवों के युद्ध की कथा जिसकी पृष्ठ भूमि में है श्रीकृष्ण का अपूर्व व्यक्तित्व। इनमें से रामायण की घटना पूर्ववर्ती है और महाभारत की घटना बाद की। ऐसा अनुमान है कि इन दोनों घटनाओं के बीच पांच शताब्दियां बीतीं—कुछ इतिहासकारों के अनुसार राम के जीवन की घटनायें १५०० ई. पू. में हुईं और महाभारत का युद्ध १००० ई. पू. में।

आर्यों के जीवन के प्रतीक राम, और कौरव पांडवों से सम्बन्धित घटनाओं के आधार पर कालान्तर में रामायण और महाभारत महाकाव्यों की रचना हुई। कुछ इतिहासकारों और चिन्तकों का ऐसा भी मत है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक नहीं हैं, केवल कल्पनायें हैं। कवियों की कल्पना है। आधुनिक गवेषणाओं के फल-स्वरूप अधिक मान्यता तो इसी मत को दी जाती है कि ये घटनायें ऐतिहासिक हैं। जो कुछ हो; इतना तो निश्चित है कि वैदिक समाज धीरे धीरे विकसित होता हुआ उस स्थिति तक पहुंच चुका था जिसका आभास इन महाकाव्यों में मिलता है; और जिसकी कुछ रूपरेखा हम

ऊपर दे चुके हैं। महाभारत युद्ध के अवसान के साथ आर्य इतिहास का एक महत्वपूर्ण प्रकरण समाप्त होता है।

इन प्राचीन युगों का चित्र अभी धुंधला है, संभव है ऐतिहासिक गवेषणाओं के फलस्वरूप धीरे धीरे यह चित्र अधिक स्पष्ट होता जाए। इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि प्रारम्भिक सभ्यताओं के जो राज्य या साम्राज्य, प्राचीन मिस्र, बेबीलोन एवं चीन में विकसित हुए, उनसे ये प्राचीन भारतीय छोटे छोटे राज्य भावना एवं वाह्य संगठन दोनों बातों में मूलतः भिन्न थे। भारतीय राज्य "जनों" (पारिवारिक समूह) के राज्य होते थे। ये राज्य छोटे छोटे होते थे। एक "जन" के लोग अपने में से ही किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का राजा के रूप में वरण कर लेते थे, उसके पश्चात् या तो उस राजा के ही पुत्र एवं वंशज राज्य करते रहते थे, या "जन" की इच्छाओं के अनुकूल न होने से किसी अन्य व्यक्ति को भी राजा के रूप में वरण कर लिया जाता था। सारांश यह है कि राजा लोगों का ही प्रतिनिधि रूप एक मानव होता था, उसमें देवता या पुरोहितपन के भाव का आरोप नहीं होता था, इसके विपरीत मिस्र में राजा (फेरो) स्वयं देवता या ईश्वर माना जाता था, बेबीलोन में शासक देवता का पुरोहित होता था; और चीन में शासक स्वयं देवता या देवता का वंशज माना जाता था। भारतीय राज्यों में जीवन, सामाजिक राजनैतिक संगठन, सब सरल था। विचार और भावनायें भी सरल और सात्विक थीं। मिस्र, बेबीलोन, चीन में भावना और विचार का अभी इतना सूक्ष्म, सरल विकास नहीं हो पाया था—जीवन अधिक स्थूल था। राज्यों का संगठन अधिक जटिल, उनमें नागरिकपन (शहरीपन) अधिक था, और शीघ्र ही उन्होंने साम्राज्यों का रूप धारण कर लिया था। भारत में साम्राज्यों का विकास अपेक्षाकृत बहुत पीछे हुआ।

महाभारत युद्ध के बाद कुछ वर्षों तक युधिष्ठिर तथा अन्य पांडव भाई भारत के प्रमुख राज्य-वंश की हैसियत से हस्तिनापुर

में राज्य करते रहे। उनके बाद अनेक वर्षों तक उनके वंशज राज्य करते रहे।

महा जनपद युग तथा मगध काल (ई० पू० ८वीं शताब्दी से ई० पू० ४थी शताब्दी तक)—इस प्रकार इतिहास के इस प्रायः धुंधले युग को पार करते हुए हम ई० पू० सातवीं आठवीं शताब्दी तक पहुंचते हैं जब से भारत का प्रायः सुनिश्चित क्रमबद्ध इतिहास हमको मिलता है। इस काल में अर्थात् ई० पू० ७–८वीं सदी में भारत में प्रायः १६ भिन्न भिन्न राज्य प्रसिद्ध थे–जो "महाजनपद" कहलाते थे। ये पूर्व-कालीन जन राज्यों के विस्तृत रूप थे। कुछ जन राज्यों ने दूसरे राज्यों का प्रदेश जीतकर और कुछ ने आपस में मिलकर अपनी भूमि(राज्य) बढ़ा ली थी। प्रमुख महाजनपद निम्न थे:–कौशल(अवध) जिसकी राजधानी अयोध्या थी; मगध (बिहार) जिसकी राजधानी राजगृह थी और जहां काशी से निकले शिशुनागवंश के राजा राज्य करते थे, वत्स जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी; अवन्ती जिसकी राजधानी उज्जैन थी; एवं उत्तर पच्छिम में गांधार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र था, जहां बड़े बड़े जगत-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे।

इन महाजनपदों में प्राचीन राजवंशों के राजा राज्य करते थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वत्स राज्य में जिसकी राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग जिले में) थी, उदयन नामक राजा जो पांडवों का वंशज था, राज्य करता था। उसके जीवन की प्रेम और शौर्य की अनेक कथायें प्रचलित हैं जिनमें कुछ ऐतिहासिक भी हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा है उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता की जिसे उदयन उड़ाकर लेगया था। संस्कृत के महाकवि भास ने अपने नाटक "स्वप्न-वासवदत्ता" में इस कहानी को अमर कर दिया है। इसके अतिरिक्त अमरावती के प्राचीन स्मारकों और उदयगिरि की गुफाओं की दीवारों पर यह घटना चित्रित है, इन चित्रों की कला अपूर्व है। कौशाम्बी की खुदाइयों में मिट्टी की बनी अद्भुत कलात्मक सौन्दर्य की मूर्तियां

मिली हैं जिनमें उदयन और वासवदत्ता की प्रेममयी जीवन घटनायें अंकित हैं। कुछ महाजनपदों में एवं कुछ छोटे छोटे राज्य जनपदों में
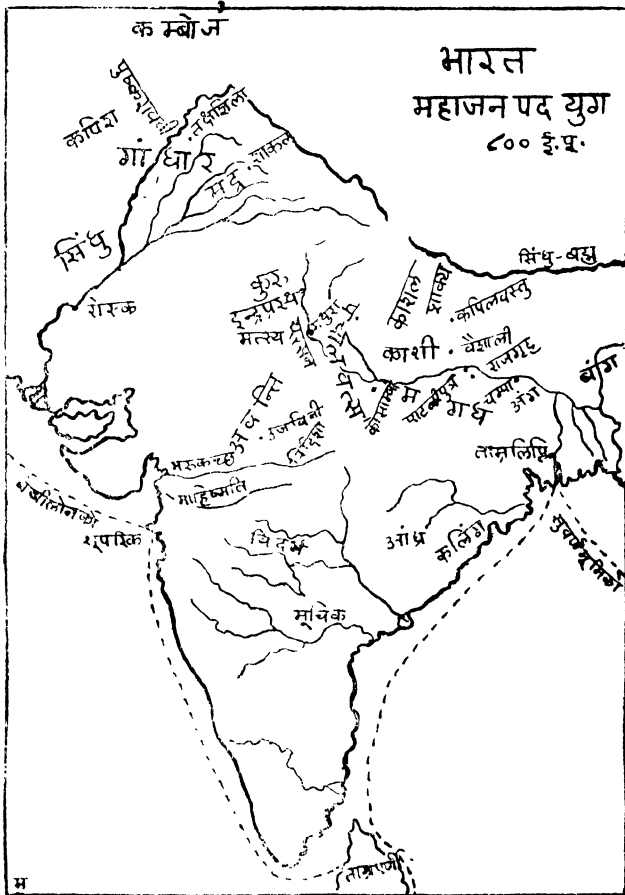
प्रजातन्त्रात्मक अथवा पंचायती राज्य भी कायम थे, जैसे नेपाल की तराई में शाक्य लोगों का संघ था; कपिलवस्तु में लिच्छिवि वंश के लोगों का

संघ एवं मिथिला में विदेहों का संघ ।

इन जनपदों एवं महाजनपदों में परस्पर युद्ध भी होते रहते थे और इसी प्रकार कालान्तर में किसी महाजनपद के शासक के राज्य का विस्तार अधिक होने से भारत में साम्राज्य का सूत्रपात हुआ। भारतीय इतिहास में प्रथम उल्लेखनीय साम्राज्य "मगध" का साम्राज्य था, जो आधुनिक बिहार से प्रसारित होकर उत्तर प्रान्त, उज्जयिनी और तत्-पश्चात् भारत के उत्तर पच्छिम और दक्षिण प्रान्तों तक पहुंच गया था। इसकी स्थापना ई० पू० छठी शताब्दी में मानी जाती है। मगध जब एक महाजनपद था तब ६५० ई०पू० के लगभग वहां शिशुनाग वंश का राज्य था। इसी वंश में बिम्बसार राजा हुआ जिसने अंग राज्य को जीतकर मगध राज्य में मिलाया। बिम्बसार का पुत्र अजातशत्रु था जिसने काशी और कोसल राज्य मगध में मिलाये। इस प्रकार मगध साम्राज्य बना। प्रायः इसी काल, यथा ई० पू० छठी शताब्दी में भारतीय धार्मिक मानस में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। भारत में एक ऐसे युग पुरुष का आगमन हुआ जो अनेकानेक शताब्दियों के बाद आज भी संसार का महान् पुरुष—महात्मा—माना जाता है, और जिसकी वाणी का प्रभाव आज भी कोटि कोटि विश्व-जन के हृदय में व्याप्त है। यह महात्मा बुद्ध था।

•

(३१)

भारतीय मानस में धार्मिक क्रांति

(१) महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध (५५७-४८६ ई० पू०) के आविर्भाव के पूर्व भारत में वर्णों का (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का) प्रचलन

प्रायः बंधी हुई पृथक पृथक जातियों के रूप में हो चुका था। धर्म ग्रंथों का भी पठन पाठन प्रायः ब्राह्मणों तक ही सीमित हो चुका था। कर्म-काण्ड अर्थात् वैदिक युग के यज्ञ और बलि ही व्यावहारिक धर्म के मुख्य अंग रह गये थे। इस कर्मकाण्ड को भी ब्राह्मणों ने बडा जटिल और आडम्बरपूर्ण बना दिया था। दूसरी ओर अनेक साधु-संत, योगी और महात्मा हो गये थे जो इस दुनिया और इस जीवन का तिरस्कार कर केवल आत्मा, परलोक और मोक्ष की बात करते थे। संस्कृत भाषा, इसका साहित्य एवं इसके धर्मग्रन्थ जन साधारण से दूर की वस्तु थीं। उस समय जन-साधारण में बोलचाल की भाषा संस्कृत नहीं, किन्तु अन्य कई बोलियां थीं जो प्राकृत कहलाती थीं। जन साधारण यज्ञ, कर्मकांड और दार्शनिकता की दुरुहता और जटिलता से मुक्त होना चाहता था; एवं अनजाने कुछ ऐसी आवश्यकता अनुभव कर रहा था कि कोई सरल राह उसे मिल जाय। जीवन में यह सरल राह दिखलाने वाले कई महात्मा प्रगट हुए, उनमें बुद्ध और महावीर प्रमुख थे।

महात्मा बुद्ध का जीवन—सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) का जन्म ई० पू० ५५७ में कपिलवस्तु (आधुनिक उत्तर प्रदेश में बस्तीनगर के उत्तर में) नामक नगर में जो शाक्य वंश के लोगों के गणराज्य की राजधानी थी, शाक्य राजा अर्थात् राष्ट्रपति शुद्धोदन की स्त्री महामाया से हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही चिन्ताशील रहते थे—उनकी यह प्रवृत्ति देख कर पिता ने १८ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह कर दिया, किन्तु उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति बदली नहीं। एक बूढ़े और उसके बुढ़ापे के दृश्य ने, एक रोगी और उसके कष्टमय रोग के दृश्य ने, एक लाश और मृत्यु के दृश्य ने, और एक शांत प्रसन्नमुख सन्यासी के दृश्य ने उनके जीवन पर गहरी छाप डाली और उनकी दिशा को ही बदल दिया। २० वर्ष की आयु में उनके पुत्र भी हो चुका था, किन्तु इसी समय (आषाढ़ पूर्णिमा) एक रात अन्तिम बार अपनी स्त्री और बालक का मुंह देखकर वह घर से बाहर निकल पड़े, दुःख सुख

ग्रौर जीवन के रहस्य को ढूंढने के लिए। इसे गौतम का "महाभि-निष्क्रमण" कहते हैं। गृहस्थों के कर्मकांड (यज्ञयागादि से) तो शांति मिली ही नहीं थी–ग्रब वह दार्शनिकों के पास उस समय की विद्या सीखने लगे, उसमें भी शांति नहीं मिली। फिर जंगलों में छ: वर्ष तक घोर तपस्या की जिसके परिणाम स्वरूप शांति तो दूर उनके सौम्य शरीर का केवल हाड़-चाम ग्रस्थि-पञ्जर बाकी रह गया, ग्रौर उनकी स्थिति ग्रस्वस्थ ग्रौर ग्रर्ध चेतन हो गई। कहते हैं उस समय एक युवती जिसका नाम सुजाता था, उधर से निकली, उस युवती ने गौतम को बड़ी श्रद्धा से पायस खिलाया, ग्रौर वह स्वस्थ हो गये। स्वस्थ होने के बाद एक दिन (वैशाखी पूर्णिमा) गौतम एक पीपल के नीचे–जब वह ध्यान मग्न थे उन्हें एक ग्रद्भुत शांति की ग्रनुभूति हुई–मानो उनके चित्त के सब विक्षेप शांत हो गये हों, सब प्रकार के कष्टों ग्रौर दुखों का रहस्य खुल गया हो। इससे "बोध" ग्रर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी दिन से गौतम "बुद्ध" हुए ग्रौर वह पीपल भी "बोधि-वृक्ष" कहलाया। बुद्ध को क्या बोध हुग्रा ? वह बोध था–सरल, सच्चा जीवन ही सुख का मार्ग है; वह सब यज्ञों, शास्त्रार्थों ग्रौर तपों से बढ़ कर है। जीवन का यह स्वयं ग्रनुभूत तथ्य था। सरल, सच्चा जीवन क्या है ? इसका ग्राभास बुद्ध की इस वाणी से मिलता है, जो बोध प्राप्ति के बाद बनारस सारनाथ पहुंचकर उनके प्रथम श्रावकों के सामने उच्चरित हुई थी–"भिक्खुग्रों ! सन्यासी को दो ग्रन्तों (सीमाग्रों) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दो ग्रंत कौन से हैं ? एक तो काम ग्रौर विषय, सुख में फंसना जो ग्रत्यन्त हीन, ग्राम्य ग्रौर ग्रनार्य है; ग्रौर दूसरा शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जो ग्रनार्य ग्रौर ग्रनर्थक है। इन दोनों ग्रन्तों का त्याग कर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को पकड़ा है—जो ग्रांख खोलने वाली ग्रौर ज्ञान देने वाली है।" यह मध्यम-मार्ग ही बौद्ध धर्म का निचोड़ है। इसमें जाति भेद, ऊंच नीच का भाव, यज्ञयागादि एवं देव-पूजा; ब्राह्मण पौरो-

हित्य एवं कर्मफल वाद का पचड़ा नहीं है। सब पचड़ों से दूर सरल आचरण का एक मार्ग है। बुद्ध ने अपनी अनुभूति से मानव का कल्याण करना चाहा। अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर घूमकर, जाति, ऊंचनीच के भेद भाव, यज्ञयागादि एवं ब्राह्मण सता एवं कर्मफलवाद से उपर उठकर उपदेश देना प्रारम्भ किया। अनेक जन उनके शिष्य हो गये–जिनमें भिक्षु, सन्यासी और गृहस्थ अनुयायी भी थे। अपने अनुयायी, भिक्षु-सन्यासियों का बुद्ध ने जनतन्त्र के आदर्शों पर एक संघ के रूप में संगठन कर दिया। ये बौद्ध भिक्षु भी धर्म प्रचार के लिए निकल पड़े। चारों ओर बुद्ध के यश का प्रचार हुआ। एक बार घूमते-घूमते यशस्वी बुद्ध अपने पुराने घर पर अपनी पत्नी एवं पुत्र (जिसका नाम राहुल था) के पास भी भिक्षा के लिये पहुंचे। गौतम (बुद्ध) की पत्नी फिर से उनका दर्शन पाकर अपने को न सम्भाल सकी। एकाएक गिर पड़ी और उनके पैर पकड़ कर रोने लगी। मा (गौतम की पत्नी) ने बुद्ध (अपने पति) को समर्पित किया अपना बालक राहुल, जो भिक्षुक बना और अपने पिता के पद चिन्हों पर चल पड़ा–धर्म प्रचार के लिए। कुछ वर्षों बाद स्वयं राहुल की माता ने भिक्षुणी बनने का निश्चय किया–भिक्षुणी संघ की अलग स्थापना हुई। वह संघ भी मानव कल्याण के लिये धर्म प्रचार के काम में लग गया।

इस प्रकार ४५ वर्ष तक भारत भर में बुद्ध बराबर घूमते रहे और अपनी सुखद वाणी लोगों को सुनाते रहे। अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनके शरीर में दर्द हुआ–साथी भिक्षुओं को अन्तिम बार अपने पास बुलाया और यह अन्तिम वाणी कही–"भिक्षुओं ! मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी अपनी आयु है। अप्रमाद से काम करते जाओ। यही तथागत की अन्तिमवाणी है।" तत्पश्चात् बुद्ध की आंखें मुंद गई। यही उनका "महापरिनिर्वाण" था।

बौद्ध धर्म–बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके भिक्षुओं ने उनकी शिक्षाओं का संकलन

किया। निर्वाण के बाद राजगृह (मगध) में ५०० बौद्ध भिक्षुओं की एक "संगति" (सभा) हुई, जिसमें बुद्ध के मुख्य शिष्य आनन्द के सहयोग से "सुत्त पिटक" नामक धर्मग्रन्थ, एवं एक अन्य प्रमुख शिष्य उपालि के सहयोग से "विनय पिटक" नामक धर्म ग्रन्थ का संकलन किया गया।

उपरोक्त प्रथम सभा के सौ वर्ष बाद, दूसरी सभा वैशाली में हुई और फिर तीसरी सम्राट अशोक के समय (२६७-२३२ ई० पू०) पटना में। इन सभाओं में बौद्धों के धार्मिक साहित्य का रूप निर्दिष्ट हुआ। उपर्युक्त दो ग्रन्थों को मिलाकर कुल तीन ग्रन्थ बौद्ध धर्म के आधारभूत ग्रन्थ बने, यथा:—

१. सुत्त पिटक—जिसमें बुद्ध की सूक्तियां (उपदेश) हैं।

२. विनय पिटक—जिसमें भिक्षुओं के आचार सम्बन्धी नियम हैं।

३. अभि-धम्म पिटक—जिसमें बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्त हैं।

बौद्ध धर्म के ये तीन पिटक (पेटियां—धर्मग्रन्थ) मुख्य हैं। ये पहले पहल पाली भाषा में लिखे गये। कालान्तर में उपरोक्त धर्मग्रन्थ सुत्त पिटक में "जातक" नामक एक और अंश जोड़ दिया गया—जातक भाग में लगभग ५०० उपदेशात्मक कहानियां हैं। ६-७ वीं शताब्दी के पूर्व भारत में बहुत सी मनोरञ्जक कहानियां प्रसिद्ध थीं—उनको बुद्ध के पूर्वजन्म की कहानियों की शक्ल देदी गयी और जातक नाम से सुत्त पिटक में उनका समावेश कर लिया गया।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त:—बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करने के पहिले एक बार अपना ध्यान प्रचलित वैदिक धर्म की सामान्य मान्यताओं पर पुनः दृष्टिपात करलें। ये मान्यतायें प्राय: निम्न हैं:—

(१) एक सर्वोपरि सर्वशक्तिमान् परमात्मा है जो अखिल सृष्टि का निर्विशेष शासनकर्त्ता है।

(२). प्राणी में स्थित आत्मा है जो परमात्मा का ही अंश है और जो अविनाशी, अमर है। आत्मा एक अनिर्वचनीय, अव्यक्त सत्ता है जो शरीर, मन, बुद्धि आदि से सर्वथा भिन्न और परे है।

(३) प्रार्थना, पाठपूजा इत्यादि द्वारा प्राणी परमात्मा की कृपा का भाजन हो सकता है, एवं मानवात्मा अनंत काल तक के लिए सुख, शांति, आनन्द की स्थिति प्राप्त कर सकती है।

उपरोक्त मत ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म, एवं आत्मा की नित्यता में विश्वास करता है। किन्तु,–

बौद्ध धर्म इन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता–इन मान्यताओं को सत्य भी नहीं मानता। बुद्ध ने केवल वस्तु को ही नहीं आत्मा, परमात्मा को भी नित्य मानने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की दृष्टि में यह सृष्टि एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया मात्र है, यह आत्मा तथा जगत् अनित्य हैं। वे मानसिक अनुभवों तथा प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, किन्तु आत्मा को उन मानसिक प्रक्रियाओं से कोई भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा तो मानव प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं। उनका सिद्धान्त आजकल के वैज्ञानिक भौतिकवादियों एवं मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के जैसा है जो मन और मानसिक प्रक्रियाओं को तो मानते हैं और आत्मा को यदि वह है तो उन मानसिक प्रक्रियाओं से भिन्न और परे कुछ भी पदार्थ नहीं मानते। व्यवहार में सरलता के लिए उन सब मानसिक प्रवृत्तियों को "आत्मा" नाम दिया जा सकता है और कुछ नहीं। किन्तु बुद्ध सब वस्तुओं की क्षण क्षण परिवर्तनशीलता, अर्थात् उनकी अनित्यता मानते हुए भी एक दृष्टि से "प्रवाह" की एकता को, "परिणाम" की वास्तविकता को मानते हैं–जैसे बहती हुई गंगा में हम एक डुबकी लगाते हैं, फिर दूसरी फिर तीसरी; प्रथम बार जिस जल में हमने डुबकी लगायी, दूसरी डुबकी उसी जल में नहीं लगी क्योंकि वह तो बहकर दूर निकल गया, किंतु फिर भी हम यह समझते रहते हैं कि हमने एक ही जल में (गंगा में) डुबकी लगायी है–यह इसलिए कि प्रवाह की एकता बनी हुई है, अर्थात् चाहे हमने एक जल में डुबकी लगायी हो या कई जलों में, व्यावहारिक दृष्टि से परिणामात्मक स्थिति में कोई विशेष

अन्तर नहीं आता। वास्तव में अपने मध्यम मार्ग की अनुभूति के अनुकूल सत्ता असत्ता विषयक दार्शनिक प्रश्नों में भी, ऐसा प्रतीत होता है, बुद्ध ने मध्यम मार्ग ही अपनाया। "एक मत (नित्य) सत्ता पर विश्वास करता है, तथा दूसरा मत असत्ता पर निश्चय रखता है, पर मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीच में कहीं है।" अर्थात् बुद्ध परिणामात्मक स्थिति को सत्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की सत्ता असत्ता में विश्वास करने न करने से उस वस्तु से हमारे सम्पर्क द्वारा उत्पन्न परिणाम में कोई फर्क नहीं पड़ता—जैसे एक पत्थर को आप सत् असत्, परिवर्तनशील अपरिवर्तनशील, गतिहीन या सतत गतिमान् कुछ भी मानिये, यदि उसको आप अपने माथे पर मारेंगे तो वह आपके माथे को फोड़ेगा ही। बुद्धकाल में कर्मवाद और परलोकवाद, मरने के बाद क्या होता है, आत्मा क्या है आदि विषयों में अनेक मत प्रचलित थे। इनके संबंध में बुद्ध ने साफ कह दिया कि तुम्हारे इन मतों के रहते या न रहते संसार का दुःख तो कम होता नहीं, फिर इनके पीछे बेकार क्यों पड़े हो, वर्तमान के पीछे पड़ो; जो बीता सो बीता, जो नहीं आया उसकी चिन्ता करना बेकार है। वास्तव में बुद्ध की दृष्टि बहुत ही व्यावहारिक और बुद्धिसंगत थी। मानव मात्र के कल्याण के लिये दार्शनिक प्रपंचों और विषमताओं से दूर वे किसी व्यावहारिक रास्ते की खोज में थे, जो उन्होंने खोज भी निकाला। उन्होंने निम्न चार आर्य सत्यों की अनुभूति की—और ये ही सत्य उन्होंने मानव के सामने रक्खे। ये सत्य हैं :—

१. इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है।

२. इन दुःखों का कारण विद्यमान है।

३. इन दुःखों से छुटकारा मिल सकता है।

४. दुःखों से छुटकारे के लिए उचित उपाय या मार्ग है।

इन चार सत्यों का विवेचन करें। (१) यह तो प्रायः निर्विवाद है कि संसार में दुःख है। (२) इन दुःखों का कारण, बुद्धकाल में एवं उससे पूर्व भी, हमारे पूर्व-कर्म का फल बताया जाता था। बुद्ध ने आत्मा नाम की नित्य वस्तु से साफ़ इन्कार किया, इसीलिये किसी एक व्यक्तित्व (जीव) के कर्मफल भोगने के लिये पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बुद्ध को दार्शनिक प्रश्नों की बहस में तो पड़ना नहीं था, अतः यदि सब कहते ही थे तो कुछ अंशों तक 'कर्मफलवाद' मानने में उन्होंने हठपूर्वक आनाकानी भी नहीं की। किन्तु इतना उन्होंने साफ़ कहा है कि यह सत्य नहीं कि मनुष्य के सब ही दुःख सुख उसके पूर्व कर्मों के कारण हैं। बुद्ध ने पुरबले कर्मों को इस जन्म की समस्याओं में महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है—उनका मुख्य अभिप्राय अदृष्ट जगत् की बातें न सोचकर दृष्ट जगत के प्रति चिंतनशील होना है। कर्मफलवाद को इस लोक में गौण ठहराकर बुद्ध ने बतलाया है कि हमारे दुःखों का मूल कारण हमारी इसी जन्म (भव) की तृष्णायें हैं। तृष्णायें जैसे :—इन्द्रिय जन्य इच्छायें पूरी हों अर्थात् विषय लोलुपता; यह इच्छा कि मैं हमेशा बना रहूं, मैं अमर होऊं; यह इच्छा कि मैं संसार में खूब धनी और समृद्धवान बनूं; इत्यादि। (३) इन तृष्णा जन्य दुखों से हम बच निकल सकते हैं; (४) और, इस बच निकलने का उपाय है :—जीवन में सरल मध्यम मार्ग को अपनाते हुए (न तो घोर तपस्या एवं व्रत इत्यादि ही हो और न काम और इन्द्रिय विषयों में फंस जाना हो), बुद्धिपूर्वक (बहमी विश्वासों के आधार पर नहीं) सच्चाई और ईमानदारी के भाव से कर्म करते हुए (कर्म त्याग कर नहीं) हमें अपना जीवन यापन करना चाहिये, और निःस्वार्थ भावना की मनः-स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार सरलता से, सहजभाव से, जीवन यापन करते हुए निःस्वार्थ भावना की स्थिति प्राप्त होने पर हम निर्वाण की (अर्थात् दुःखों से निवृत्ति की) अनुभूति कर सकते हैं। निर्वाण का अर्थ इस लोक में या किसी परलोक में 'अमरत्व'

या किसी परमात्म तत्व में विलीन हो जाना, या जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति, नहीं है। बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है–इस जीवन में, इस भव में दुख से निवृत्ति एवं पूर्ण शान्ति की अनुभूति–यह मानव मात्र को सरल शुचिमय जीवन से प्राप्त हो सकती है।

बुद्ध की शिक्षाओं का धर्म सम्प्रदाय रूप में संगठन

बुद्ध धर्म आदि रूप में सरल आचार मार्ग का धर्म था। किन्तु जैसा सभी धर्मों के साथ प्रायः होता है, इस धर्म में भी कालान्तर में अनेक प्रपंच और आडम्बर आकर जुड़ गये और इसकी मूल सरलता और इसका मूल रूप विलुप्त हो गया। यदि आज स्वयं बुद्ध भगवान् आ उपस्थित हों तो उनके नाम से प्रचलित धर्म को वे स्वयं नहीं समझ पायंगे–वे आश्चर्य करने लगेंगे कि मनुष्य ने आखिर उनकी सरल सीधी शिक्षाओं में क्या अनर्थ पैदा कर दिया।

ई० पू० चौथी शताब्दी में वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की जो दूसरी सभा हुई थी उसी में आचार तथा अध्यात्म-विषयक कुछ प्रश्नों को लेकर भिक्षुओं में परस्पर मतभेद उपस्थित हो गया। कुछ ऐसे थे जो प्राचीन "विनयों" में कुछ संशोधन, परिवर्तन करना चाहते थे, कुछ ऐसे थे जो थोड़ा सा भी संशोधन नहीं चाहते थे। कालांतर में ऐसी ही बातों को लेकर अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये। आजकल विशेषतया तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं:—

१. **महायान सम्प्रदाय**–जो बुद्ध के ईश्वरत्व में विश्वास करता है। इस प्रकार मानव बुद्ध की जगह लोकोत्तर बुद्ध की स्थापना हुई। अतः बुद्धमूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ। इसमें ईश्वर-वादिता, पाठ-पूजा, भक्ति, आचार्य एवं पुजारी पूजा का अधिक महत्व है। आजकल इसका प्रचार तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में विशेषतया पाया जाता है।

२. **हीनयान सम्प्रदाय**–जो बुद्ध की मूल शिक्षाओं के अधिक

निकट है। जीव को परमुखापेक्षी (ईश्वर, देवपूजा इत्यादि की ओर मुखापेक्षी) होने की आवश्यकता नहीं–यदि वह स्वयं सरल मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है तो उसका कल्याण हो सकता है। आजकल इसका प्रचार लंका, बरमा, स्याम, जावा आदि देशों में है।

३. **वज्रयान सम्प्रदाय**–महायान तो बुद्ध को संसार के उद्धारक रूप में देखता था। वज्रयान ने उसे वज्रगुरु बना दिया। वज्रगुरु वे उस आदर्श पुरुष को कहते थे जिसे अलौकिक सिद्धियां प्राप्त हों। इस में मंत्र, हठयोग, तांत्रिक आचारों का बहुत प्रचार है, क्योंकि सब सिद्धियां मंत्र, तंत्र, यौगिक क्रियाओं आदि से ही प्राप्त होती हैं। अनुमान है कि इस सम्प्रदाय का जन्म ईसा के बाद छठी शताब्दी में हुआ। ऐसा माना जाता है कि ८वीं से ११वीं तक वज्रयान के ८४ सिद्ध हुए। प्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं ८४ में से एक थे। इन्हीं के प्रभाव से ८वीं ९वीं शती में भारत में हठयोग सम्प्रदाय, वाममार्ग सम्प्रदाय, नाथपंथ आदि का प्रचलन हुआ।

(२) जैन धर्म

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म। ऋग्वेद में ऋषभदेव तथा अरिष्टनेमि मुनियों के नाम आये हैं जो जैन धर्म के पहले और २२वें तीर्थंकर माने गये हैं। प्रायः ई. पू. ९वीं शताब्दी में बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर हुए। पार्श्वनाथ के लगभग २५० वर्ष बाद जैनियों के २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए जिनके काल से जैन धर्म का स्पष्ट संगठित रूप मिलता है।

महावीर स्वामी (५९९–५२७ ई० पू०) : क्षत्रियों में लिच्छव वंश के प्रधान सिद्धार्थ और वैशाली के लिच्छिवि राजा चेटक की बहिन त्रिशला के पुत्र वर्धमान महावीर का जन्म ५९९ ई० पू० में वैशाली के समीप कुन्डिनपुर (बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले) में हुआ। उनका

जीवन काल ५२७ ई० पू० तक रहा। उक्त सिद्ध पुरुष पार्श्वनाथ के पदचिन्हों पर ये चले और आगे जाकर महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। बड़े होने पर यशोदा नामक देवी से उनका विवाह हुआ, जिससे एक लड़की हुई। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने घर छोड़ा। १२ वर्ष के भ्रमण और तप के बाद उन्होंने "कैवल्य" (ज्ञान) पाया तब से वे अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धन हीन) और महावीर कहलाने लगे। उनके अनुयायी जैन कहलाये। कैवल्य प्राप्ति के बाद मिथिला, कोसल आदि प्रदेशों में भ्रमण करते रहे और अपने ज्ञान का प्रचार भी। बुद्ध निर्वाण के एक वर्ष पहिले पावांपुरी (राजगृह या गोरखपुर के आसपास) में उनका निर्वाण हुआ।

जैन धर्म के मूल ग्रन्थ छठी शताब्दी के उपलब्ध हैं, इसके पहिले वे लिखे कभी भी गये हों। ये प्राचीन ग्रन्थ ४५ हैं। इनकी भाषा अर्धमागधी है। जैनाचार्यों द्वारा जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ बराबर लिखे जाते रहे हैं, जिनमें से अनेक प्रमाणिक माने जाते हैं। प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द के ४ ग्रंथ-नियम-सार, पंचास्तिकाय सार, समयसार, प्रवचनसार, जैन धर्म साहित्य के सर्वस्व माने जाते हैं।

जैन धर्म जाति पांति के भेदभाव से उपर उठकर, मोक्ष प्राप्ति में यज्ञादि एवं ब्राह्मण पुरोहितों को अनावश्यक मानकर, जीवन में सत्य, निस्वार्थ आचार की प्रधानता मानकर ही चला था। किन्तु कालान्तर में क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसने भी ग्रहण कर लिया, यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के लिए आचार की प्रधानता भी उनमें बनी रही।

जैन धर्म की दार्शनिक पृष्ठ भूमि इस प्रकार है—सृष्टि अनादि काल से चल रही है, इसका नियंता कोई ईश्वर या भगवान् नहीं—यह अपने ही आदि तत्वों के आधार पर स्वतः चल रही है। ये आदि तत्व जिनकी यह सृष्टि बनी है, छः हैं। यथा—जीव (आत्मायें = Souls), पुद्गल (भूत पदार्थ = Matter), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार

जैन दर्शन आध्यात्मिक अद्वैतवादी या भौतिक अद्वैतवादी की तरह सृष्टि का मूलतत्व एक नहीं मानता, किन्तु अनेक। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि के ६ मूलतत्वों का विवरण इस प्रकार है:—

जीव चेतन द्रव्य है। जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्म करता है, सुख दुःख का भोक्ता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। प्रत्येक जीव (आत्मा) की अनादि काल से ही पृथक पृथक स्थिति है—ऐसा भी नहीं कि जीवों अर्थात् आत्माओं का विलीनीकरण किसी "परम-आत्मा" में हो जाता हो। जीव अनादि काल से कर्म से संबद्ध है। ऐसा नहीं कि किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद में उसके साथ कर्मों का बन्धन हुआ। कर्म एक प्रकार का पुद्गल (भूत-पदार्थ) है—पृथ्वी, जल आदि के समान एक भौतिक पदार्थ, जो जीव के साथ बंधा रहता है। कर्म के साथ संबद्ध जीव ही बद्ध पुरुष (मनुष्य जो मुक्त नहीं है) के रूप में दिखता है। उत्तम कर्म जीवों को उत्तम जन्म प्राप्त कराता है, अधम कर्म अधम जीवन, जैसे जानवर, वनस्पति का जीवन; यहां तक कि अधम कर्म जीव को अजीव प्रतीत होने वाले पत्थर, धातु इत्यादि भूत पदार्थों में भी जन्म प्राप्त कराता है। वास्तव में जैन दर्शन इस जगत के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है और इसलिए इसमें अहिंसा की सर्वाधिक महत्ता मानी गई है। जीव का मूल गुण है—अनंतज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत दर्शन एवं अनन्त सुख। किन्तु जीव के ये मूल शुद्ध गुण कर्मों के परदे में छिपे हुए रहते हैं, अननुभूत रहते हैं,—अनादि काल से यह ऐसा है।

मनुष्य (कर्म के साथ सम्बद्ध जीव) आनन्द, शांति चाहता है। यह तभी सम्भव है जब जीव कर्म का आवरण हटाकर अपने शुद्ध गुण को प्राप्त करले। कर्म का क्षय होने पर, कर्म का आवरण हटने पर, जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव में अनन्त सुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सद्यः उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा

मुक्त जीव जिन (ईश्वर) कहलाता है, जो अनन्त सुख ज्ञानादि की स्थिति में जिन लोक (सिद्ध लोक) में अनन्त काल तक वास करता रहता है।

अतएव जीवन का ध्येय हुआ—मोक्ष प्राप्ति और उसका मार्ग है कर्मक्षय। कर्मक्षय के साधन तीन हैं:—(१) सम्यक् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा; (२) सम्यक् ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान (३) सम्यक् चारित्र्य अर्थात् सच्चा आचार। इनकी प्राप्ति अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह अर्थात् सच्चा वैराग्य पालन करने से होती है। इन साधनों से मनुष्य शनैः शनैः पूर्ण वैराग्य और तप की स्थिति और अन्त में कर्मक्षय की स्थिति को प्राप्त होता है; जब उसे मोक्षकी उपलब्धि होती है। जीव-बन्धन में अनादिकर्म की और जीवन मुक्ति में अहिंसा की महत्ता होने से जैनाचार्य्यों ने कर्म और अहिंसा का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है, जो अति तक पहुंच गया है।

जैनाचार्यों ने कर्मफल और अहिंसा के सिद्धान्तों का इतना विश्लेषणात्मक अध्ययन कर डाला कि विश्लेषण करते करते कर्म सिद्धान्त एवं हिंसा-अहिंसा के उन्होंने इतने भेद, बन्धन के इतने रूप एवं दशायें गिना डालीं, एवं उनको परिभाषाओं के इतने जटिल बन्धन में बांध दिया कि वे सहज सरल व्यवहारिक जीवन से कुछ दूर पड़ गयीं। जैन धर्म में भी अन्य धर्मों की तरह कई संप्रदाय चल पड़े। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो संप्रदाय तो बहुत पहले से ही हो गये थे। इन दोनों संप्रदायों में तात्त्विक मतभेद कोई नहीं है—केवल इसी एक बात पर कि कुछ लोग तो अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श मानकर जैन मुनियों के लिए दिगम्बर (नग्न) रहना आवश्यक समझते थे, और कुछ लोग इन आचार विषयक बातों में ढील देने को तैयार थे एवं जैन मुनियों के लिए सफेद वस्त्र (श्वेताम्बर) धारण करना आवश्यक समझते थे—ये दो भेद हो गये। जिन मन्दिरों, देवों और पुरोहितों के आडम्बर से ऊपर उठकर जैन धर्म के प्रवर्त्तक चले थे, उन

प्रवर्त्तक तीर्थङ्करों की ही मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया गया और वे ही मन्दिर,पूजा आदि इस धर्म के अंग बन गये, यहां तक कि आज भारत के मन्दिरों में जैन मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक है।

किन्तु फिर भी जैन दर्शन का अपना एक स्थान है। उन दार्शनिक बातों के अलावा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जैन दर्शन की एक विशेषता है उनका अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद। अनेकान्तवाद का आशय है कि वस्तु का ज्ञान अनेकाङ्गी, अनेक रूपात्मक है। किसी भी पदार्थ का सत्य ज्ञान समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये प्राप्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् वस्तु की उसकी निर्विशेष स्थिति में परीक्षा नहीं की जा सकती, उसकी परीक्षा अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध की स्थिति में होनी चाहिए—उसका सापेक्ष निरूपण होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं और अनन्त सम्बन्ध। बद्ध (छद्मस्थ) मानव में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं का पूर्ण निरुपण कर सके, अतएव वस्तु के विषय में उसका ज्ञान अपूर्ण होता है। एतदर्थ किसी वस्तु के विषय में जब वह किसी तथ्य का निरुपण करता है तो वह कहता है कि वस्तु का यह रूप तो है ही किन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति कोई दूसरा तथ्य उस वस्तु के विषय में बताता है तो वह भी सत्य हो सकता है। इस विचार पद्धति को जैन दर्शन का स्याद्‌वाद कहते हैं। स्यादवाद की भावना से जैन दर्शन एवं धर्म की श्रेष्ठ सहिष्णुता का परिचय मिलता है। वस्तु का पूर्ण ज्ञान, तथ्य का पूर्ण परिचय तो 'सिद्ध पुरुष' को ही हो सकता है जिसका गुण ही अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन है।

(३) भारतीय धार्मिक-मानस का विकास

धर्म की धारा वैदिक युग की वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों में प्रकृति और विज्ञान, आत्मा और "परमात्मा" के रहस्यों का उद्‌घाटन करती

हुई; यज्ञयागादि में कर्मकांड की दुरुहता प्राप्त करती हुई और उप-निषदों में दार्शनिक अनुभूतियां करती हुई बहती चली जा रही थी। पुरोहितों यज्ञयागादि के दुरूह कर्मकाण्ड से जब यह धारा अवरुद्ध होने लगी तो बुद्ध और महावीर आये, जिन्होंने इस अवरुद्ध होती हुई धारा को प्रशस्त भूमि पर प्रवाहित किया। इन धर्मों का अध्ययन हमने किया है।

वैदिक (हिन्दू), जैन बौद्ध धर्मों के बाह्यांतरों को छोड़कर उनके सैद्धान्तिक आधारों की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म आत्मा, ब्रह्म (ईश्वर), कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है; सृष्टि :ब्रह्म का प्रस्फुटन है। जैन धर्म आत्मा, कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है; सृष्टि अनादिकाल से स्वतः ६ मूल तत्वों (जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश) में स्थित है; बौद्ध धर्म न किसी आत्मा को मानता, न किसी ब्रह्म को, और कह सकते हैं कि कर्मवाद की भी इस धर्म में स्थिति नहीं है। यह धर्म तो सृष्टि को एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया मात्र मानता है। यह विचार आधुनिक भौतिकवाद से मिलता जुलता है। शुद्धाचार द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसको अवश्य मान्य है।

हिन्दू धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा का परब्रह्म में विलीनीकरण। जैन धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीव को अनन्त सुख, ज्ञानादि की उपलब्धि और अमरत्वपद की प्राप्ति—सुखमय, ज्ञानमय अमरत्वपद प्राप्त करके जीव जिनलोक (अर्हत्‌लोक = सिद्धलोक) में अनन्तकाल तक विचरण करता रहे। बुद्ध धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवन में दुःख से पूर्ण निवृत्ति और सम्पूर्ण सुख शान्ति की प्राप्ति।

हिन्दूओं का सृष्टि के अंतिम सत्य के सम्बन्ध में मूल मन्त्र है—सद्‌चिद्‌ानन्द—१ सत्, २ चित् ३ आनन्द। इसके ठीक विपरीत बौद्धों

की स्थापना है—सत् की जगह असत् (कुछ भी चीज अपनी स्थिति में ठहरने वाली नहीं—सतत परिवर्तनशील है, अतः कैसे किसी भी चीज की सत्ता मानी जा सकती है);चित् की जगह अचित् अर्थात् अनात्मवाद—अर्थात् सर्वव्यापी,सर्वकालीन,अमर,कोई आत्मा नहीं;चेतना तो शरीर का एक गुण है—जो शरीर के साथ सतत परिवर्तनशील है और जिसका अंत भी शरीर के विघटन के साथ साथ हो जाता है। ३. आनन्द की जगह दुखःवाद अर्थात् सृष्टि के गहनतमतल में सुख नहीं किन्तु दुःख व्याप्त है। किन्तु इन धर्मों का रूप इन सूक्ष्म सिद्धान्तों में सीमित नहीं था, जैसा उल्लेख भी हो चुका है। जन साधारण में इन धर्मों के स्थूल रूप ने प्रशस्ति पाई। वेदों में उषा, वरुण, सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं के अतिरिक्त "विष्णु" नाम के एक साधारण देवता का भी नाम आता है। धीरे धीरे इस देवता के रूप और इसके प्रति भावना में परिवर्द्धन होता रहा। रामायण काल तक इस देवता का कोई महत्व नहीं था। महाभारत में इस देवता का महत्व बढ़ता है, और फिर पुराणों में इनको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है, और यह ब्रह्म के ही रूप माने जाते हैं। इस रूप में इनके प्रति पूजा की भावना का उद्भव ईसा पूर्व पांचवीं ६ठी शताब्दी में हो चुका था। इसके बाद इनके अवतार रूप में इनकी प्रतिष्ठा होती है। सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में या इससे भी कुछ पूर्व श्रीकृष्ण की भावना का इसमें सम्मिलन होजाता है, अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में कुछ लोग यह मानने लग गये थे कि श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार थे। विष्णु की अवतार रूप में पूजा का भाव भागवत धर्म के नाम से धीरे धीरे प्रायः समस्त हिन्दुओं में प्रचलित हो जाता है। ईसा की ११ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १६ वीं शताब्दी तक अनेक भागवत धर्माचार्य्यों द्वारा विष्णु रूप में कृष्ण, राम, विठ्ठल या विठोवा मूल रूप से प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जन साधारण के लिये अब राम, कृष्ण, विठ्ठल ही परमात्मा हैं, सृष्टि के नियंता हैं, मानव के भाग्यविधाता हैं। ११वीं शताब्दी के

प्रसिद्ध आचार्य रामानुज, फिर १४ वीं शताब्दी में उनके चेले रामानन्द और फिर १७ वीं शताब्दी में महाकवि तुलसीदास के अद्भुत काव्य "रामायण" ने राम और राम-भक्ति को जनजन के हृदय की एक अपूर्व संवेदनात्मक अनुभूति दी। राम और राम-भक्ति से जनजन का मानस प्लावित हो उठा। इसी प्रकार श्री भागवत पुराण, एवं १२वीं शताब्दी के श्री निम्बार्क स्वामी, फिर चंडीदास और विद्यापति कवि, फिर १६वीं शताब्दी के श्री चैतन्य महाप्रभु, फिर १७वीं शताब्दी के वल्लभाचार्य और भक्त महाकवि सूरदास के "सूरसागर" ने जनजन के हृदय को श्रीकृष्ण के प्रति अद्भुत प्रेम के माधुर्य से प्लावित कर दिया। इस प्रकार आज हम हिन्दू मात्र में राम और कृष्ण की भावना प्रतिष्ठित पाते हैं।

एक व्यक्तिरूप ईश्वर में विश्वास—वही ईश्वर सृष्टि का नियंता है, वही मानव का भाग्यविधाता—ऐसी मान्यता, ऐसी स्थिति आज भी संसार के बहुजन समाज की बनी हुई है। ईसाई धर्म का, जो प्रायः यूरोप, अमेरीका महाद्वीपों में प्रचलित है, ईसाई भी ईश्वर के फैसले में भरोसा करता है; मुसलमान धर्म का, जो प्रायः अरब, पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका में प्रचलित है, मुसलमान भी खुदा की मर्जी और तकदीर में एतबार करता है। चीन, तिब्बत, हिन्दचीन, जापान इत्यादि देशों में भी करोड़ों बौद्ध हैं जो बुद्ध के ईश्वरीय रूप में विश्वास करते हैं और अपने सुख समृद्धि और कल्याण की स्थिति बुद्ध की कृपा पर आश्रित मानते हैं; नास्तिकवादी रूस में भी आज ऐसे अनेक साधारण जन हैं जिनके लिए गिरजा और ईश्वर एक सत्य तथ्य है और यही मानते हैं कि यह 'सब' ईश्वर की ही करनी है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान धर्म तो अपने प्रारम्भ से ही एक व्यक्तिगत ईश्वर रूप पर आश्रित है; भारत में अपने प्राचीन इतिहास के युग पुरुषों यथा राम और कृष्ण में व्यक्तिगत ईश्वर की प्रतिष्ठा की बौद्ध और जैन धर्मों ने अपने धर्म-प्रवर्तकों में यथा बुद्ध और

महावीर में व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना की।

मानो व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना किए बिना मनुष्य का काम ही नहीं चला। भगवान के प्रति अनुराग, भक्ति, मानव मन की स्यात् एक भावमूलक, संवेदनात्मक आवश्यकता थी।

•

(३२)

प्राचीन भारत (उत्तरार्ध)

(ई० पू० ३२२ से ६५० ई० तक—लगभग १००० वर्ष)

प्राचीन और मध्य युग में भारत में राजकीय संगठन की विशेषता—भारत इतना विशाल देश रहा है कि सम्पूर्ण देश केवल एक राजकीय संगठन के अन्तर्गत रहा हो ऐसे अवसर भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक बहुत कम ही आए हैं। भारत के इतिहास में ऐसा सर्व प्रथम अवसर तो प्रियदर्शी अशोक के काल में आया; फिर मध्य-युग के मुसलमानी जमाने में अलाउद्दीन खिलजी के राज्य काल में आया; फिर १६वीं १७वीं शताब्दी में मुगल सम्राट् अकबर, जहांगीर, शाहजहां, और औरङ्गजेब के समय में रहा; फिर आधुनिक काल में सन् १८५७ ई० में अंग्रेजी राज्य काल से तो खैर ऐसी परम्परा बन गई कि सारे देश में सार्वभौम राजनैतिक सत्ता एक ही रहे। प्राचीन और मध्ययुग में उपरोक्त अवसरों को छोड़कर देश में अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र अदलते बदलते राज्यों का अस्तित्व बना रहता था—इन छोटे छोटे राज्यों में भी कई अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो जाते थे, एवं संगठन और शक्ति की दृष्टि से बढ़े

चढ़े। इन्हीं समृद्ध राज्यों के नाम से भारतीय इतिहास काल के भिन्न भिन्न युगों का नामकरण हुआ और इतिहास में उन्हीं का विशेष परिचय रहा—यद्यपि पृथक् पृथक् छोटे राज्यों के एवं •राज्यवंश एवं राजाओं के इतिहास भी लिखे जाते रहे, जो कुछ उपलब्ध भी हैं। किन्तु भारत में अनेक पृथक् पृथक् राज्यों के अस्तित्व बने रहने के तथ्य से यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि भिन्न भिन्न राज्यों में बसने वाले भारत के लोगों (जन साधारण) का इतिहास भी भिन्न भिन्न रहा। भारतीय इतिहास की यही विशेषता रही है कि एक ही काल में देश में छोटे बड़े अनेक राज्य होते हुए भी यहां के सभी लोग सभ्यता, संस्कृति, एवं दैनिक जीवन, विचार और भावनाओं की दृष्टि से सर्वदा एक सूत्र में बंधे रहे हैं। अतएव अब तक भारतीय इतिहास का कुछ सविस्तार विवेचन, जो हमने किया है—जो भारतीय जीवन की मूल धाराओं को समझने के लिये आवश्यक भी था—उतना विस्तार से विवेचन अब हम आगे नहीं करेंगे। इतिहास के विशेषत: उन्हीं मोड़क-बिन्दुओं को स्पर्श करेंगे—जिन्होंने लोक जीवन या लोकमानस में कुछ दिशा परिवर्तन कर दिया हो।

(क) **मौर्य साम्राज्य** (३२२–१८४ ई० पू०): ई० पू० ७वीं ८वीं शताब्दी में महाजन पदों की चर्चा करते समय हम कह आये हैं कि उस समय मगध (आधुनिक बिहार) एक प्रमुख महाजनपद था—जहां काशी से निकले शिशुनाग वंश के राजा राज्य करते थे—जिनमें बिम्बसार और अजातशत्रु प्रमुख हुए, जिन्होंने अनेक राज्य जीतकर अपने राज्य में मिलाये और इस प्रकार मगध ने साम्राज्य का रूप धारण किया। अजातशत्रु के पोते राजा उदयी ने गंगा और सोन के संगम पर पाटिल-पुत्र नगरी की स्थापना की, जो आगे चलकर संसार भर में प्रसिद्ध हुई। शिशुनाग वंश का अन्तिम राजा महानन्दी था जो उदयी का पोता था। महानन्दी के दो बेटों का अभिभावक महापद्मनन्द था जो महानन्दी के दोनों पुत्रों को मारकर स्वयं मगध की गद्दी पर बैठ गया। महानन्द

के बेटे धननन्द के राज्यकाल में ही यूनान के प्रसिद्ध विजेता अलक्षेन्द्र ने भारत के उत्तर पश्चिम में चढ़ाई की थी और गांधार के पूर्व में कैकय देश के वीर राजा पूरु को झेलम नदी के किनारे पर हराया था। इसी समय अलक्षेन्द्र से एक भारतीय युवक की भेंट हुई थी जिसका नाम चन्द्रगुप्त था। हिमालय की तराई में 'मोरिय' (मौर्य) नाम की जाति का एक संघ राज्य था–इसी संघ राज्य का एक कुशाग्र बुद्धि युवक चन्द्रगुप्त था जो पीछे मगध के नन्द राजा के यहां एक सेना का सेनापति हुआ–राजा से किसी बात पर झगड़ा होने पर वह मगध से निकल गया–तक्षशिला में अलक्षेन्द्र से मिला–और वहाँ उसकी भेंट चाणक्य नामक ब्राह्मण से–जो बाद में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध नीतिकार और अर्थशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हुआ, हुई। चाणक्य का दूसरा नाम "कौटिल्य" भी था–उसकी नीति और अर्थशास्त्र आज भी भारतीय इतिहास के अध्ययन के विशेष विषय हैं।

इसी ब्राह्मण चाणक्य और युवक चन्द्रगुप्त ने, जो दोनों ही असाधारण "कर्मठ दृढव्रती और प्रतिभाशाली" थे, मिलकर मगध के नंदवंश को समाप्त किया–और मौर्य वंश की नींव डाली। चन्द्रगुप्त स्वयं मगध का सम्राट बना (ई० पू० ३२२ में)–और चाणक्य उसका प्रधान आमात्य (मंत्री)। यूनानी अलक्षेन्द्र महान् अपने विजित प्रान्तों में शासन रखने के लिये कई सेनापति छोड़ गया था–एक सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया–चन्द्रगुप्त ने उसे हराया; ग्रीक सेनापति को अपने राज्य के कई प्रान्त, भारत के उत्तरी पश्चिमी प्रांत, चन्द्रगुप्त को भेंट करने पड़े। अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत रक्खा।

मेगस्थनीज ने भारत का वास्तविक विवरण अपने लेखों में छोड़ा है–उनसे हमें तत्कालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का एवं लोगों की रहन सहन का अच्छा परिचय मिलता है। यह

लगभग वही काल था जब चीन में वहां का प्रथम महासम्राट सीह्वांगटी राज्य कर रहा था।

मौर्य वंश में ही संपूर्ण भारत का सम्राट अशोक महान् (२६८ ई० पू० से २३२ ई० पू० तक) हुआ। अशोक ही भारत में पहला ऐसा सम्राट हुआ जिसके राज्यकाल में राजनैतिक दृष्टि से प्रायः समग्र भारत एक सूत्र में बंधा।

अशोक ने राज्य ग्रहण करने के कुछ वर्ष बाद कलिंग देश पर आक्रमण किया—इस युद्ध में १ लाख आदमी मारे गये—लाखों घायल हुए—विनाश की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से अशोक का मानव हृदय तड़प उठा; तत्पश्चात् वह दिग्विजय नहीं किन्तु "धर्म-विजय", हृदय-विजय करने निकला, बुद्ध धर्म उसने ग्रहण किया। अशोक का पुत्र महेन्द्र स्वयं भिक्षु बना; उसकी बहिन संघमित्रा भिक्षुणी। बुद्ध के प्रेम और करुणापूर्ण धर्म का प्रसार करने के लिये चारों ओर अशोक के दूत फैल गये। यथा—सिंहल (लंका), गांधार, काश्मीर, कम्बोज, ब्रह्मा, हिन्दचीन, एवं पश्चिमी देशों में (यथा—फारस, फिलस्तीन इत्यादि)। अशोक के २५० वर्ष पीछे पश्चिमी एशिया के फिलस्तीन देश में महात्मा ईसा प्रकट हुए, जिनकी शिक्षायें भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत मिलती जुलती हैं। ईसा की मातृभूमि में बुद्ध की शिक्षायें अशोक ने ही पहुंचाई थीं।

अशोक ने पहाड़ी चट्टानों पर, और पत्थर के खम्भों (स्तम्भों) पर अनेक लेख खुदवाये जिनमें से बहुत से आज तक भी मौजूद हैं। ये खम्भे जो मुख्यतः दिल्ली, प्रयाग और चम्पारन जिले में मिले हैं—४०-४० फीट ऊंचे हैं—और उनकी चिकनी पालिश आज २००० से भी अधिक वर्षों तक यों की यों बनी हुई है। ये कला की अनोखी कृतियां हैं, और आज के इंजिनियरों को भी आश्चर्य होता है कि उस प्राचीन काल में एक ही प्रस्तर भाग में से इतने बड़े-बड़े खम्भे कैसे बनाये गये, किस प्रकार इतने भारी खम्भों की प्रस्थापना की गई और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये गये। इनके अतिरिक्त अशोक ने कई स्तूप भी बनवाये—ये पत्थर

के बने गोलाकार मन्दिर (भवन) हैं–जिनमें कोई मूर्तियां नहीं हैं–किन्तु बौद्ध श्राचार्यों की राख गड़ी हुई है। उन पर स्मारक स्वरूप बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बड़ी सुन्दरता से लिखे गये थे।

मौर्य वंश के सम्राटों का राज्य–विशेषत: चन्द्रगुप्त श्रौर श्रशोक का, बहुत ही सुव्यवस्थित, शांतिमय, सुखमय था। राज्य संगठन में, श्रौर उसके संचालन में वैसी पूर्ण श्रौर नियमित व्यवस्था श्रौर निपुणता थी जिसकी कल्पना किसी श्राधुनिक राज्य के कुशल संगठन में की जा सकती है।

श्रशोक सम्राट् होकर भी जनजन में प्रेम श्रौर मानवता का संदेश-वाहक था। उसके समान प्रियदर्शी, श्रौर मानवता से सम्पन्न सम्राट् न केवल भारत में किन्तु श्रखिल संसार में उस काल से श्राज तक नहीं हुश्रा–मानो उसका नाम सुनकर विश्व इतिहास के पन्ने सिहर उठते हों;–श्राज तक मानो मानव इस प्रतीक्षा में हो कि श्रशोक जैसे शासक फिर कभी इतिहास में हों।

(ख) सातवाहन युग (१८४ ई० पू० से १७६ ई० सन् = ३६० वर्ष लगभग) : श्रशोक के देहावसान के बाद प्राय: ५० वर्ष तक मौर्य साम्राज्य की परम्परा चलती रही श्रौर समस्त भारत राजकीय संगठन की दृष्टि से एक सूत्र में बंधा रहा किन्तु १८४ ई० पू० के श्राते श्राते मौर्य साम्राज्य टूट गया श्रौर भारत के ४ मण्डलों यथा–१. मध्यप्रदेश (श्राधुनिक बिहार, उत्तर प्रदेश श्रादि), २. पूर्व (श्राधुनिक बंगाल), ३. दक्षिण, ४. उत्तरापथ (श्राधुनिक श्रफगानिस्तान, तुर्किस्तान, सिंध, पंजाब श्रादि) में नये राज्य उठ खड़े हुए।

उत्तरापथ में सेल्यूकस के बाद के ग्रीक शासकों का राज्य बना रहा, जो धीरे धीरे भारतीय तत्व से मिलते रहे। उस समय काबुल श्रौर कंधार के देश भारत में ही गिने जाते थे।

दक्षिण में सिमुक नाम के एक ब्राह्मण ने श्रपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन था (सातवाहन = शालिवाहन)।

सातवाहनों का राज्य पहिले महाराष्ट्र में था, पीछे आंध्र में भी होगया। उपरोक्त लगभग ३५० वर्षों के काल में यह राज्य प्रमुख रहा, इसलिए इस युग को इसी नाम से पुकारते हैं।

उपरोक्त ३६० वर्षों के अरसे में भारत में उत्तर पश्चिमी मार्ग से कई भारतेतर जातियों के आक्रमण हुए—जो सब शक लोग थे। उस समय मुख्य चीन के उत्तर पश्चिम में मंगोलियन उपजाति के असभ्य बर्बर लोग रहते थे जो हूण कहलाते थे। इन हूण लोगों के आक्रमण चीन के समृद्ध राज्य पर लूट मार के लिए होते रहते थे। इनसे बचने के लिए तत्कालीन प्रसिद्ध चीनी सम्राट् ने प्रसिद्ध "महान् दीवार" बनवाई। जब हूणों की दाल चीन की तरफ़ नहीं गली, तब उन्होंने अपनी दृष्टि दक्षिण पश्चिम की ओर लगायी अर्थात् यूरोप, मध्य एशिया एवं पश्चिमी एशिया की ओर। उस समय मध्य एशिया में कई जातियां बनी हुई थीं (जैसे युचि, कृषिक तुखार इत्यादि)। ये सब शक परिवार की थीं। "शक लोग भी आर्य थे, किन्तु तब तक वे जंगली और ख़ानाबदोश थे" (जयचन्द्र)। इन्हीं शक लोगों के अनेक आक्रमण भारत पर हुए, और उन्होंने उत्तरापथ के यूनानी लोगों को ध्वस्त कर कुछ काल के लिये अपना राज्य समस्त उत्तरापथ एवं पूर्व में प्रयाग तक एवं दक्षिण में पूना तक स्थापित कर लिया।

प्रसिद्ध है कि सातवाहन राज्य के राजा "विक्रमादित्य" ने दक्षिण से आकर उज्जैन को जीता और शकों का संहार कर (५७ ई० पू० से) विक्रम संवत् चलाया। "विक्रमादित्य" तो उसकी उपाधि थी, उसका असली नाम था गौतमी पुत्र शातकर्णि। इस "विक्रमादित्य" गौतमी पुत्र को गुप्त वंश के 'विक्रमादित्य" चन्द्रगुप्त से भिन्न समझना चाहिये। शकों पर विजय के उपरान्त ही सातवाहनों ने २८ ई० पू० में मगध भी जीत लिया। तब से प्राय: १०० वर्ष तक सातवाहन भारत के सम्राट रहे। सातवाहन युग की समृद्धि अपूर्व थी।

किन्तु फिर शक परिवार की एक जाति कुषक के एक सरदार कुषाण ने भारत पर हमला किया—और राजा कुषाण के ही वंशज 'देवपुत्र कनिष्क' ने सातवाहनों से अनेक युद्धों बाद मध्यप्रदेश और पूर्व में प्रयाग तक अपना आधिपत्य जमा लिया। प्रसिद्ध शक संवत् जो ७८ ई० में शुरू होता है, कनिष्क का चलाया माना जाता है। इसका राज्य उत्तर पश्चिम में मध्य एशिया (तुखारिस्तान) तक फैला हुआ था। कनिष्क बौद्ध था,–अशोक की तरह उसने भी बहुत दूर दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस कारण उसका नाम आज तिब्बत और मंगोलिया तक में बड़े आदर से लिया जाता है। तभी से चीन के साथ भारत का सम्पर्क उत्तर पश्चिम के रास्ते से बढ़ा। पुरुषपुर (पेशावर) उसने एक नया नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। पेशावर और अन्य स्थानों में उसने स्तूप और बिहार आदि बनवाये।

सातवाहन युग की समृद्धि और सभ्यता

(ई० पू० १८४ से १७६ ई०)

व्यापार :–यद्यपि इस युग में सातवाहन ("विक्रमादित्य" गौतमीपुत्र आदि), शक (कनिष्क) राजाओं के अतिरिक्त अन्य कई छोटे छोटे राज्य भी रहे, तथापि इस युग में भारत की समृद्धि खूब हुई।

महाजनपदों के काल (८००–४०० ई० पू०) से ही भारत के व्यापारी सामुद्रिक रास्ते से अपने जहाजों में अन्य देशों–यथा लंका, ब्रह्मा, सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप), जावा (यव द्वीप) जाने लग गये थे। सातवाहन युग में सुमात्रा और जावा, मलाया प्रान्त और स्याम में भारतीयों ने अपनी अनेक बस्तियां बसाईं, वहां के मूल निवासियों को सभ्य बनाया। बस्तियों के साथ साथ भारतीयों के कई छोटे छोटे राज्य भी वहां स्थापित हुए। इन बस्तियों और राज्यों के हिन्दू संस्थापक प्रायः शैव थे। इन राज्यों का जल मार्ग द्वारा चीन से भी व्यापार होने लगा। इस प्रकार भारत का संपर्क चीन से

स्थल (तुखारिस्तान प्रदेश में होकर) एवं जल, दोनों मार्गों द्वारा हो गया—एवं उनकी सभ्यता और संस्कृति में विनिमय होने लगा। भारतीय नाविक केवल पूर्व में चीन देश ही नहीं जाते थे, किन्तु लालसागर एवं नील नदी की नहर में जो भूमध्यसागर से मिलती थी, होते हुए वे रोम साम्राज्य के समस्त देशों तक पहुंचते थे। भारत से रोम को हाथी दांत का सामान, सुगन्धित द्रव्य, मसाले, मोती और कपड़े आदि जाते थे और वहां से बदले में सोना आता था। राजा कनिष्क के समय के एक रोमन लेखक ने शिकायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पांच करोड़ का सोना खींच लेता है; और "वह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है।" एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आनेवाली "बुनी हुई हवा के जाले" (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं। एक तरफ रोम और पार्थव (ईरान) तथा दूसरी तरफ़ चीन और सुमात्रा-जावा के ठीक बीच होने से भारतवर्ष इस समय सारे सभ्य जगत् का मध्यस्थ था।

धर्म :—भारतीय आर्यों का आदि धर्म वैदिक था। फिर बुद्ध धर्म का प्रचलन और प्रचार हुआ। सातवाहन युग आते आते बुद्ध के प्रति जिसने निरर्थक कर्मकांड का विरोध किया था प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, और वैदिक धर्म को पुनः जगाने की लहर उठी। किन्तु समाज और समय का प्रवाह बहुत आगे बढ़ चुका था—वैदिक धर्म के बजाय धर्म का दूसरा रूप सामने आया जिसे पौराणिक धर्म कहते हैं। आर्यों के निम्न वर्ग में एवं अनार्यों में कई प्रकार की जड़-पूजाएँ प्रचलित थीं। जन साधारण ने बुद्ध की शिक्षाओं को तो सुना जो पूजा पाठ के विरुद्ध थीं—किन्तु, उनकी बुद्धि विकसित नहीं थी और न इतना बौद्धिक साहस कि वे देवता की पूजा, और उस पर आश्रित रहने के भाव को छोड़ देते। वैसे तो वैदिक काल में भी देवताओं की पूजा होती थी—किन्तु वैदिक देवता ईश्वरीय शक्ति के प्रतीक मात्र थे—और उनकी पूजा यज्ञों द्वारा होती थी—अब उन

देवताओं की मूर्तियां बनने लगीं, और उन मूर्तियों की भव्य मन्दिरों में स्थापना होने लगी। विष्णु और शिव देवताओं की प्रधानता हो गई और प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष विष्णु के अवतार माने जाने लगे–जैसे कृष्ण। कृष्ण की पूजा की भावना से ही "भागवत धर्म" का प्रचलन हुआ–जिसका कालान्तर में अपूर्व सैद्धांतिक एवं भावात्मक विकास हुआ। इन पौराणिक धर्मों का प्रभाव बुद्ध और जैन धर्मों पर भी पड़ा–और उनके यहां भी बुद्ध एवं महावीर ने देवताओं और अवतारों का स्थान ले लिया और उनके मन्दिरों की भी स्थापना होने लगी।

साहित्य—पुराने वैदिक साहित्य से स्वतन्त्र और भिन्न नये संस्कृत साहित्य का विकास इस काल से प्रारम्भ हुआ।

महाभारत के कई अंश इसी समय की रचना बताये जाते हैं। सुप्रसिद्ध कवि भास जिसकी रचनाओं का प्रभाव चार शती पीछे महाकवि कालिदास के नाटकों पर पड़ा इसी काल के हैं। प्रसिद्ध बौद्धिक दार्शनिक, कवि, नाटककार अश्वघोष भी जिनको कनिष्क अपने दरबार में ले गया था इसी काल के हैं। भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत भी इसी युग में हुए। प्रसिद्ध आर्य दार्शनिक गौतम, बादरायण, जैमिनि इत्यादि भी इसी काल में हुए बताये जाते हैं।

शिल्प-कला—साहित्य के समान शिल्प और कला का भी सातवाहन युग में विपुल विकास हुआ। इस युग की ३ प्रकार की शिल्पकला पायी जाती है। १–चट्टानों से काटे हुए गुहा मन्दिर जो विशेषतया महाराष्ट्र में बौद्ध, और उड़ीसा में जैन मन्दिर हैं। २–भारहुत और सांची के स्तूप, जो हैं तो इस काल से पुराने, किन्तु उन स्तूपों के चारों तरफ पाया जाने वाला पत्थर की वेदिकाओं (जंगलों) और तोरणों का काम–जिसमें सुन्दर सुन्दर मूर्तियां और तत्कालीन जीवन की झांकियां काटी गई हैं–जो अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं–इसी काल का है। ३–गांधारी भवन निर्माण कला एवं मूर्तिकला–जिसमें यूनानी (ग्रीक) प्रभाव स्पष्ट है।

सामाजिक जीवन—पूर्व उल्लेखित ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों की नगर संस्थाओं का राजकाज में बहुत प्रभाव था। किसी भी प्रदेश का राजा उनका तिरस्कार नहीं कर सकता था। शिल्पियों की श्रेणियां बहुत साहूकार होती थीं। व्यापार, जहाजरानी खूब होती थी। वैदिक और मौर्य काल में विवाह-बंधन की कुछ शिथिलता अवश्य थी–चाहे आदर्श उच्च–उस काल में तलाक और पुनर्विवाह होता था। धर्मस्मृतिकार इन बन्धनों को अब कड़ा बनाने की कोशिश में थे। उद्यान-क्रीड़ायें, गोष्ठियां और नाटक जीवन में मनोरंजन के साधन थे। साहित्य और राजकाज की भाषा प्रायः संस्कृत थी–साधारण जन में बोलचाल की भाषा प्राकृत (पाली–प्राकृत का ही एक रूप) थी–शिक्षा का प्रचलन सीमित उच्च समुदाय तक ही था–साधारण जन समुदाय अशिक्षित था–किन्तु धर्म एवं दर्शन की भावनाओं से वह अपरिचित नहीं था।

(ग) **भारशिव, वाकटक साम्राज्य**—(१७६ ई. से ३४० ई.=लगभग १६० वर्ष)–ईसा की दूसरी शती अन्त होते होते न शक सम्राटों में, न सातवाहन सम्राटों में कोई शक्तिशाली शासक रहा–एवं शक और सातवाहन साम्राज्य टूटने लगे। नर्मदा नदी के दक्षिण में भारशिव क्षत्रियों का राज स्थापित हुआ–और इन्होंने नागपुर नगर बसाया। धीरे धीरे इन्होंने उत्तर पूर्व की ओर अपने राज्य का विस्तार किया। यह साम्राज्य गंगा कांठे से नागपुर तक विस्तृत था। इसमें मालवा, कोशली (छतीसगढ़) एवं बघेलखंड के प्रदेश सम्मिलित थे। इसी साम्राज्य पर भारशिवों के एक सेनापति का जो वाकाटक या विंध्यक वंश का था, आधिपत्य हुआ। इस साम्राज्य के अलावा वास्तव में इस समय भारत में कई छोटे छोटे अन्य स्वतन्त्र, एकतंत्रीय राज्य एवं गण राज्य थे। समस्त भारत में कोई एक ऐसा सम्राट नहीं था जिसकी शक्ति एवं जिसके व्यक्तित्व की मान्यता सर्वत्र देश में रही हो।

(घ) गुप्त साम्राज्य–(३४० से ५४० ई०=लगभग २०० वर्ष)–उपरोक्त भारशिव एवं वाकाटक युग में जब भारत में अनेक छोटे छोटे
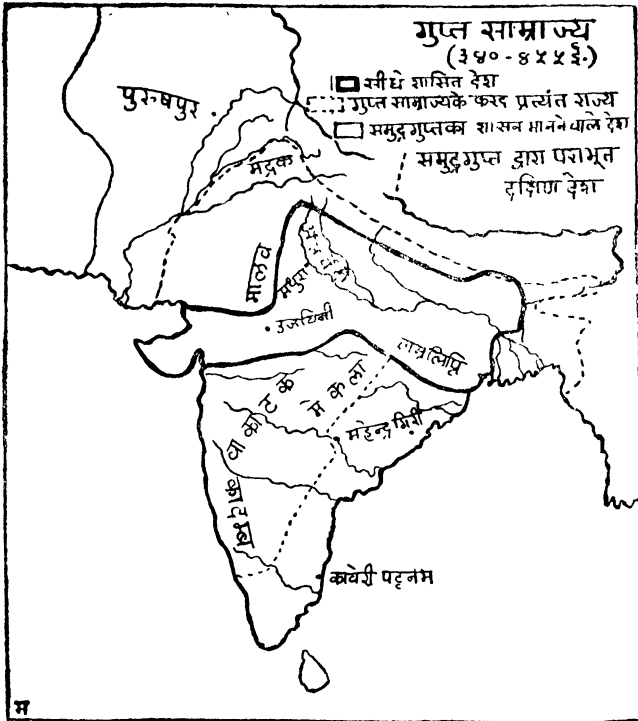
राज्य थे, उसी समय साकेत-प्रयाग प्रदेश में गुप्त नामक एक राजा था। उसके पोते चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर ३२० ई० में चढ़ाई की, और उसे जीत लिया। बस यहीं से भारत का इतिहास-प्रसिद्ध गुप्त वंश और गुप्त साम्राज्य स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की। इसका रणकौशल अद्वितीय था–और अल्पकाल में ही वह समस्त भारत के राज्यों में मान्य "महाराजाधिराज" बन गया।

समुद्रगुप्त जैसा वीर विजेता था वैसा ही आदर्श और कुशल शासक भी। वह स्वयं विद्वान था तथा नाट्य और संगीत में उसकी ऊंची पहुंच थी। गुप्त साम्राज्य का विस्तार समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त ने भी किया—जिससे चन्द्रगुप्त को विक्रमादित्य की उपाधि मिली।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—(३७५ से ४१३ ई०) के जीवन काल में भारत ने कला, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की कि उस युग को स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाने लगा। उस युग में नगर निर्माण, स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की ऐसी अमर रचनायें हुईं कि जिनकी स्मृति युगों युगों तक विश्व को भारत की महानता का परिचय कराती रहेगी। गुप्त वंश में एक और सम्राट् का नाम उल्लेखनीय है—वह है स्कंदगुप्त (४५५-४६७), यह वह काल था जब मध्य एशिया की ओर से भारत पर हूणों के आक्रमण होने लगे थे। स्कंदगुप्त ही वह सम्राट था जिसने हूणों के दांत ख़ट्टे किये और ऐसी करारी हार दी कि अनेक वर्षों तक भारत की ओर मुंह फेरने का भी उनको साहस नहीं हुआ। स्कंदगुप्त के बाद जब गुप्त साम्राज्य कुछ कमजोर हुआ, तब हूणों के फिर भारत पर आक्रमण हुए। समस्त उत्तरी पश्चिमी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया—इनके हमले मालवा तक हुये—ये लोग अत्यन्त क्रूर और निर्दयी होते थे—हूणों के एक सम्राट् मिहिरकुल ने, जिसने शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया था और जो अपने आपको शिव का उपासक कहता था, गांधार की बौद्ध प्रजा पर अमानवीय अत्याचार किये, और तक्षशिला नगरी को हमेशा के लिये मटियामेट कर दिया। कोई भी गुप्त सम्राट् उसकी नृशंसता को नहीं दबा सका। समस्त उत्तरी पश्चिमी भारत त्रस्त था। इसी समय एक जन नेता का आविर्भाव हुआ जिसका नाम यशोधर्मा था जो पीछे मालवा का राजा बना। उसने समस्त प्रजा को अपने साथ ले क्रूर मिहिरकुल को परास्त किया और समस्त हूणों को ऐसा त्रासित किया कि भारत से उनकी जड़ ही बिल्कुल उखड़ गई।

गुप्त युग की समृद्धि—बृहत् भारत, एवं विदेशी व्यापार : चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य काल में चीन से एक यात्री बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का संग्रह करने के अभिप्राय से भारत आया था। उसका नाम फाहयान था। उसने ६ वर्ष (४०५–११ ई०) तक उत्तरीय भारत का भ्रमण किया। पाटलिपुत्र में रहकर उसने ३ वर्ष तक संस्कृत पढ़ी। उसने उस समय की भारत की सुव्यवस्था, सुखावस्था, उदारता का चित्र अपने लेखों में खींचा है। वह लिखता है कि दुनिया के सब देशों में भारतवर्ष सबसे अधिक सभ्य है। प्रजा सभ्य, सम्पन्न, और सदाचारी है। लोग नशा नहीं करते, अपराध बहुत कम होते हैं, मृत्यु दंड किसी को नहीं दिया जाता। जिस समय फाहयान भारत में भ्रमण कर रहा था, उसी समय भारत के दो बौद्ध विद्वान् कुमारजीव एवं गुणवर्मा जो संस्कृत एवं मध्य एशिया की भाषाओं के अजोड़ पंडित थे, चीन गये और वहां अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में ये ग्रन्थ अब भी लोकप्रिय हैं। इसी काल में कोरिया और जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और वहां अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ। महाजनपद (प्रायः ई० पू० ८००) एवं सातवाहन युग (ईसा की प्रथम शताब्दी) से भारत के दक्षिण-पूर्व में भारतीयों के जो उपनिवेश बसने लगे थे—उनमें विकास और समृद्धि की वृद्धि होती रही। फान-ये नामक एक चीनी लेखक ने ५ वीं शती के शुरू में लिखा है कि काबुल से शुरू कर दक्षिण पश्चिम समुद्रतट तक और वहां से पूर्व की तरफ अनाम तक सब देश शिन-तु (सिन्धु = हिन्द) में शामिल हैं। अर्थात् उस काल में काबुल कंधार से लेकर समस्त भारत, लंका, ब्रह्मा, स्याम, हिंदचीन, मलाया, सुमात्रा, जावा, ये सब देश "भारत" माने जाते थे। इन सब देशों में भारतीय बसे हुए थे, भारतीय राज्य थे, एवं भारतीय संस्कृति और धर्म प्रसारित थे। वृहत्तर भारत देशों में (ब्रह्मा, हिंदचीन, स्याम, मलाया, सुमात्रा, जावा इत्यादि) हिन्दू (पौराणिक शिव-वैष्णव) एवं बौद्ध धर्म दोनों प्रचलित थे। बृहत्तर

भारत, चीन, रोम साम्राज्य और पश्चिमी एशिया के देशों में परस्पर खूब व्यापार होता था। काश्मीर में ऊन के शालों का व्यवसाय बहुत पहिले से ही प्रारम्भ हो चुका था—अब इनका व्यापार अन्य देशों से खूब होता था। फारस के राजा ने रोम सम्राट् को एक काश्मीरी शाल भेंट किया था जिसकी नफासत (सुन्दरता और बारीकी) देख कर रोम के लोग दंग रह गये थे।

राज्य संगठन एवं सामाजिक जीवन—साम्राज्य कई प्रान्तों एवं जिलों ('भुक्ति' या 'विषयों') में विभक्त था। प्रत्येक प्रांत का प्रशासन सम्राट् द्वारा नियुक्त एक शासक (गोप्ता) के आधीन था। ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों एवं व्यापारियों के निगम का स्थानीय शासन में पूरा प्रभाव होता था, अर्थात् इन संगठनों का अपने अपने क्षेत्र में पंचायती राज्य चलता था। समस्त राज्य में सुव्यवस्था थी—और यही देश की समृद्धि का कारण था। धर्म, दर्शन एवं साहित्य की भाषा संस्कृत थी, संस्कृत ही शिक्षा का माध्यम था,—किन्तु शिक्षा का प्रचार जन साधारण तक नहीं था, यद्यपि धर्म और संस्कृति की भावना से वे परिचित रहते थे। बोल-चाल की भाषा प्राकृत का जन-साधारण में प्रचलन था।

धर्म, कला, साहित्य, ज्ञान—इस युग में भारत में बौद्ध, जैन, एवं पौराणिक हिन्दू धर्म तीनों ही प्रचलित थे। पौराणिक धर्म में विष्णु, शिव, सूर्य, स्कंद (युद्ध के देवता), एवं देवी की पूजा चल पड़ी थी। आजकल के हिन्दू धर्म की बहुत सी बातें चल पड़ी थीं—किंतु असवर्ण विवाह अभी तक प्रचलित थे। वैसे तो मन्दिरों का निर्माण स्यात् सातवाहन युग से प्रारम्भ हो गया होगा किन्तु ऐसा अनुमान है कि विशाल धन सम्पत्ति व्यय करके उदात्त कलात्मक मन्दिर निर्माण करना इस युग में अधिक हुआ। ऊंचे नुकीले शिखर वाले वैष्णव मंदिर बनाने की शैली का प्रचलन अभी हुआ।

अजन्ता, ऐलोरा और उदयगिरि के गुफा-मन्दिर—अजन्ता

और ऐलोरा दो पहाड़ी गुफायें हैं जो दक्षिण में औरंगाबाद नगर के निकट हैं। अजन्ता की रमणीक चट्टानों को काट-काटकर, उन चट्टानों के अन्दर ही अनेक विशाल गुफा मन्दिर बनाये गये हैं। ऐसे गुफा मन्दिर प्रायः तीस के लगभग हैं। सबसे प्राचीन गुफायें स्यात् ई० पू० तीसरी शताब्दी की हैं–तब से नयी नयी गुफाओं का निर्माण होता रहा। अनुमान है कि ७वीं शती तक समय समय पर यह काम चलता रहा। गुप्त युग में और इसके बाद भी इन गुफा मन्दिरों की दीवारों पर अनेक चित्र चित्रित किये गये, जिनमें से अनेक अब तक भी मौजूद हैं। ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, और आधुनिक पूर्वीय एवं पाश्चात्य सभी देशों के कला प्रेमियों के लिये सचमुच एक विस्मय की वस्तु हैं। इसी प्रकार ऐलोरा (बेलूर) के गुफा मन्दिर हैं—ये गुफायें ऐलोरा की रमणीक पहाड़ी में लगभग सवा मील की लम्बाई तक जगह जगह पर काटकर बनायी हुई हैं। इन गुफाओं में बुद्ध, जैन एवं ब्राह्मण-पौराणिक–तीनों धर्मों के मन्दिर हैं। सर्वोत्तम और आश्चर्यकारी भव्य मन्दिर, कैलाश मन्दिर है जिसका निर्माण ७६३–७८३ ई० में मालखद (महाराष्ट्र और कर्नाटक) के राजा कृष्ण प्रथम ने करवाया था। उदयगिरि की सुरम्य पहाड़ी मध्य प्रदेश में भेलसा नामक नगरी से ४ मील दूर है। उदयगिरि की गुफाओं का निर्माण ५वीं शती अर्थात् गुप्तकाल में ही हुआ। उदयगिरि में मूर्तिकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं।

इस युग में सम्राट् कुमारगुप्त ने राजगृह के पास (बिहार) नालंदा महाबिहार की नींव डाली, जो एक संसार प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय बन गया, जहां देश विदेश के अनेक विद्वान् शिक्षा पाने आते थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट इसी युग में हुआ। उसने गुरुत्वाकर्षण और सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त स्थापित किये। गुप्त युग के ज्योतिषियों ने रोम और अलक्सेन्दरिया के ज्योतिषियों के भी अनेक सिद्धान्त ग्रहण किये। छठी शताब्दी के भारतीय ज्योतिषी बराहमिहिर

ने ग्रीक ज्योतिषियों का आधार माना था। अर्थ यह है कि ज्ञान विज्ञान का भारत और ग्रीस, रोम और टोलमी राजाओं का अलक्सेन्दरिया विद्यालय—में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता था। इस युग का काव्य-साहित्य अद्वितीय है। विष्णु शर्मा का पंचतन्त्र (कहानियां) एक अमर रत्न है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। विश्व-विख्यात एवं विश्व पूजनीय महाकवि कालिदास इस युग के सबसे प्रसिद्ध पुरुष हैं। कालिदास के नाटक और काव्य (जिनमें प्रमुख शाकुन्तल, रघुवंश, कुमार-संभव, मेघदूत आदि हैं) समस्त मानव की अपूर्व निधियां हैं। इनमें पावन भूमि भारत की प्राकृतिक रमणीयता और आत्मा की उदारता के मधुर दर्शन होते हैं। कवि कालिदास ने जिस अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि की—वह सौंदर्य देश देश के मनीषियों के अन्तर को स्पर्श कर गया। सन् १७८६ में सर विलियम जेम्स ने 'शाकुन्तल' का अंग्रेजी में अनुवाद किया था—तत्पश्चात् उसका अनुवाद जर्मनी तथा अन्य भाषाओं में हुआ। १९वीं शताब्दी में जर्मनी के विश्वविख्यात कवि गेटे ने शाकुन्तल को पढ़कर आनन्द के आंसू बहाये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में भारत मानो एक सुरम्य क्रीड़ा-क्षेत्र था जहां मानव सहज स्वभाव से खेलता था, हंसता था, गाता था—उसी प्रकार जिस प्रकार १६वीं १७वीं शती में इंगलैंड का मानव महाकवि शेक्सपीयर के काव्य और नाटकों से अनुप्राणित होकर खेलने, हंसने और गाने लगा था।

उस युग के संसार में केवल चार सभ्य साम्राज्य और जातियां थीं—चीनी, भारतीय, ईरानी, और रोमन। इसमें वस्तुतः भारतवासी सभ्य संसार के नेता थे। वैदिक युग में भारतीय मनीषी ने उदात्त आध्यात्मिक आनन्द में मुक्ति की अनुभूति की थी—गुप्तकाल में भारतीय मानव ने मानवीय सौंदर्य और उल्लास की अनुभूति की।

(ङ) पिछले गुप्त, मौखरि, एवं वैस (हर्ष) राज्यः—(५४०-६५०; लगभग १०० वर्ष)—गुप्तवंश का अंतिम शक्तिशाली सम्राट् स्कंदगुप्त था। उसके बाद गुप्तवंश का महत्व कम होने लगा—और

सन् ५४० आते आते सर्वथा उसका अन्त हो गया। ऐसी दशा में देश में अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इन राज्यों में सबसे अधिक महत्वशाली राज्य हर्षवर्धन (६०६-६४७) का साम्राज्य था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इस साम्राज्य में काश्मीर, पंजाब और सिन्ध को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तरी भारत सम्मिलित था। हर्ष शक्तिशाली विजेता, योग्य और न्यायी शासक था। इसके राज्यकाल में वाण भट्ट नामक प्रसिद्ध संस्कृत कवि हुआ—जिसने हर्षचरित और कादम्बरी नामक ग्रंथों की रचना की। हर्ष बुद्ध धर्म का अनुयायी था—किन्तु अन्य धर्मों का भी समान भाव से आदर करता था। इसके राज्यकाल में युवानच्वाङ्ग नामक एक चीनी यात्री ६३० ई० में भारत में आया। वह लगभग १५ वर्ष तक भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा। नालंदा विश्वविद्यालय में रहकर ५ वर्ष तक उसने संस्कृत एवं बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसने उस समय के जीवन का अच्छा चित्र खींचा है, जिसका सारांश यह है कि देश समृद्धिशाली, सुव्यवस्थित अवश्य था—किंतु जीवन और सामाजिक संगठन में से वह भव्यता, और गौरव प्रायः लुप्त हो चुका था, जिसने गुप्त युग को महान् बनाया था। हर्षवर्धन के राज्य को प्राचीन हिन्दू युग का अन्तिम गौरवशाली राज्य मान सकते हैं। इसके बाद वास्तव में भारतीय जीवन में मौलिकता का ह्रास होने लगा—उसमें जड़ता आने लगी और वह संकीर्ण बन गया। छठी शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक, लगभग १३०० वर्ष मानो भारतीय ज्ञान चक्षु एवं जीवन द्वार अवरुद्ध हो गये हों। कहीं कहीं कभी कभी प्रकाश और तीव्र कर्मण्यता के उदाहरणों को छोड़कर प्रायः समस्त जीवन पर धीरे धीरे आलस्य और अज्ञान छा गये।

●

(३३)

एक सिंहावलोकन

अतीत काल से यह सृष्टि विद्यमान है। कौन कह सकता है कि यह सृष्टि एक (अद्वैत, अद्वितीय) भूत-द्रव्य का विकास है, या एक चेतन परमात्वतत्व की अभिव्यक्ति ? इतना अब अवश्य अनुमान है कि किसी अतीत काल में किसी वाष्पसम द्रव्य से अपना सूर्य आविर्भूत हुआ; उस सूर्य में से आज से लगभग २ अरब वर्ष पहिले अपनी पृथ्वी निकली। इस पृथ्वी पर अनुमानतः ५० करोड़ वर्ष पहिले प्राण का आगमन हुआ। इसी प्राण अंश में से विकसित होता हुआ आज से लगभग १० लाख वर्ष पहिले प्रगट हुआ द्विपदजीव—अर्द्ध मानव प्राणी; और फिर ५० हजार वर्ष पहिले प्रकट हुआ सृष्टि का सर्वाधिक विकसित और सर्वाधिक चेतना युक्त रूप—मानव। मानव की इस पृथ्वी पर कहानी शुरू हुई। पहिले वह जंगली जानवर से श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं था। जंगली जानवर की तरह ही रहता था, वैसे ही खाता पीता और लड़ता था; वह उन्हीं में से एक था। इस असभ्य अवस्था को पार करता हुआ आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व वह इस स्थिति में था कि वह पशुपालन और कृषि करने लगा था, समूह बनाकर गाँवों में रहने लगा था, अपने पूर्वजों की कहानी याद करने लगा था, और पूर्वजों के नाम पर समूहगत जातियों में विभक्त हो गया था,— देवी देवताओं की कल्पना कर चुका था, उनके मन्दिर बनाने लगा था, उनकी पूजा करने लगा था, उनको प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाने लगा था। उन्हीं में से कुछ व्यक्ति पुरोहित होगये थे, जो मंदिरों के पुजारी थे, जादू, टोणा करते थे और साधारण जन को बताते थे कि कब वर्षा होती है, कब भूमि में बीज डाला जाता है, कब धान की कटाई होती है, कैसे देव प्रसन्न होता है—कैसे अप्रसन्न। मानव की यह वह स्थिति थी, जब वह प्रकृति को

देखकर विस्मित था, डरा हुआ था, अज्ञानवश कुछ समझ नहीं पाता था,—प्रतिदिन की घटनायें उसके लिए एक रहस्य थीं।

इसी प्रकार के मानव ने आज से लगभग ८ हजार वर्ष पूर्व—ईसा से ६ हजार वर्ष पूर्व—धीरे धीरे सर्व प्रथम संगठित सभ्यताओं का विकास किया। मानव की यह हलचल हुई विशेषतया कुछ विशेष सुविधाजनक स्थानों में,—यूफ्रीटीज टाईग्रीस नदियों की भूमि मेसोपोटेमिया में, नील नदी की भूमि मिस्र में, सिन्धु नदी की भूमि भारत में, एवं ह्वांगहो यांगटीसिक्यांग नदियों की भूमि चीन में। यहां बड़े बड़े नगरों का; भवनों, मन्दिरों और महलों का; नहर सड़कों का;वस्त्र, धातु सम्बन्धी हस्त कौशल और कलाओं का; व्यापार विनिमय का; सामाजिक राजनैतिक नियमों का; एवं बड़े बड़े राज्यों और साम्राज्यों का विकास और निर्माण हुआ। नगर सभ्यता और ऐहिक ऐश्वर्य को मानव ने सर्वप्रथम देखा। कहां वह आदिम जंगली अवस्था—पेड़ों के नीचे और गुफाओं में रहना, नंगे फिरना या खाल से शरीर ढकना, प्राकृत फल एवं कच्चा या भुना मांस खाना, और कहां अब नगरों और भव्य भवनों में रहना, सुन्दर रेशम, सूत, या ऊन के वस्त्र धारण करना, एवं अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का भोजन करना। माना सब व्यक्तियों को ये सब सभ्य सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं, किन्तु मानव सभ्यता के विकास की एक उच्च स्थिति यह अवश्य थी। ठीक, मानव सभ्यता का अपूर्व विकास यह अवश्य था, किन्तु उसकी संस्कृति, उसकी चेतना अभी तक अवरुद्ध थी। अभी तक वह यह सोचता था कि देवी देवता, जादू टोना ही मंगल अमंगल करने वाले हैं, इनके डर से उनका मन अभी तक पराभूत था; निर्द्वन्द हो, मुक्त हो, अभी तक वह प्रकृति के साथ एकात्म्य स्थापित नहीं कर पाया था, उदात्त आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाया था। अपने ऐहिक विकास और मानसिक बद्धता की स्थिति को लिये हुए वह सर्वप्रथम सभ्य स्थिति वाला मानव चलता जा रहा था, जब सहसा उसकी सभ्यता प्राय: खत्म हो गई, वह विलीन हो गई; मिस्र,

मेसोपोटेमिया और सिन्धु प्रदेश सब की सभ्यतायें विलुप्त हो गईं, मानों मानव की एक कहानी, उस कहानी का एक काल, एक प्रकरण बिल्कुल समाप्त हो गया हो। हम आज के मानव मानो उस काल के मानव से विलग हों, उनके संस्कार मानो हम में प्रायः न हों।

इसके बाद एक नया ही मानव उत्थित हुआ, और उसकी कहानी चलने लगी। यह कहानी प्रायः ईसा के दो हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई—उस युग में जिसको हमने मानव इतिहास का प्राचीन युग (२००० ई० पू० से ५०० ई०) कहा है—इस बार मानव कुछ नई ही प्रेरणा लेकर खड़ा हुआ। उसका मानस स्वतन्त्र था, उसकी चेतना मुक्त। भारत में मुक्त मानव ने, उसकी मुक्त आत्मा ने परमानन्द की अनुभूति की, ग्रीस में मानव ने प्रकृति को एक जादूगरी रहस्य नहीं मानकर उसका स्वतन्त्र अन्वेषण शुरू किया और मानव जीवन में कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति की। अद्भुत साहसी, मुक्त और आनन्दी ये लोग थे। भारत में वेद का द्रष्टा ऋषि हुआ और फिर बुद्ध भगवान; चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से; ग्रीस में दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू, और यरुशलम में यहूदी द्रष्टा और फिर महात्मा ईसा। भारत में काव्यमयी वाणी का गान हुआ रामायण और महाभारत में, ग्रीस में इलियड और ओडेसी में, चीन में "गीतों की पुस्तक" में। यह सब मानव चेतना का प्रथम प्रस्फुटन था, जब मानव हंसकर खिला था, जब मानव ने मानो अपने आंतरिक विकास के, अपनी संस्कृति के अन्तिम छोर को छू लिया था।

एक बार चेतना प्रस्फुटित हुई,—उस युग की विकसित दिव्य आत्मायें मानव को संकेत दे गईं कि मानव के ज्ञान और आनन्द की इतनी उच्च सम्भावनायें हैं। उस प्राचीन युग की उदात्त और प्रकाशमान परम्परा कम या अधिक लगभग ५०० ई० तक चलती रही। फिर समस्त संसार में एक आवरणसा छागया, प्राचीन मुक्त ज्ञान और आनन्द की परम्परा पर एक परदा पड़ गया, वह अन्धकार में लुप्त हो गई। यह अन्धकार था मानव इतिहास से मध्य युग का अन्धकार।

●

पांचवां खंड

मानव इतिहास का मध्य युग

(५०० ई० से १५०० ई० तक)

जब मानव चेतना के मुक्त प्रस्फुटन पर एक
परदा गिर गया।

मानव इतिहास का मध्य युग

(३४)

छठी-सातवीं शताब्दियों में संसार की दशा

पच्छिमी यूरोप :–रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था। कला, साहित्य लुप्त हो चुके थे, संगठित सामूहिक जीवन विश्रृंखल हो चुका था, मानो एक दुनिया समाप्त हो रही हो और उस पर प्रारम्भ से ही एक नई दुनिया का ही निर्माण हो रहा हो। यह नई दुनिया थी, नोर्डिक आर्य लोगों की जो स्थान स्थान पर फैल रहे थे और अपनी बस्तियां बसा रहे थे–धीरे धीरे राज्यों का निर्माण हो रहा था और ये प्रारम्भिक मूर्तिपूजक लोग धीरे धीरे ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे और अपनी आर्य-जर्मेनिक बोलियों का भाषा के रूप में शनैः शनैः विकास कर रहे थे। धीरे धीरे सामन्तवाद, ईसाई धर्म की भावना, गिरजा और पोप,–इन बातों के इर्द गिर्द साधारण मानव का जीवन

घूमने लगा था। बहुजन के निर्वाह का आधार कृषि ही था। पच्छिमी यूरोप में मध्य युग की ये प्रारम्भिक शताब्दियां थीं।

पूर्वीय यूरोपः—पूर्वीय यूरोप अर्थात् ग्रीस और डैन्यूब नदी के दक्षिणी प्रदेशों में रोमन साम्राज्य स्थापित था—अपनी पुरानी परम्पराओं को चला रहा था—इस साम्राज्य में मुख्य भाषा ग्रीक थी—सब लोग ईसाई बन चुके थे,—किन्तु यहां भी उत्तर पच्छिम एवं उत्तर पूर्व से गोथ लोगों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे—आक्रमण होते रहते थे—किन्तु पच्छिमी यूरोप की तरह रोमन साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर सर्वथा लुप्त नहीं हो पाया था। साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया उस काल में संसार का एक बहुत विशाल और समृद्धिशाली नगर था।

पश्चिमी एशियाः—एशिया माइनर, मिस्र, इजराइल, सीरिया में पूर्वीय रोमन साम्राज्य स्थापित था, फारस और मेसोपोटेमिया में फारसी (ईरानी) राजाओं का आधिपत्य था। इन प्रदेशों में बड़े बड़े नगर बसे हुए थे, नगरों में विशाल जनसंख्या आबाद थी। सीरिया में थे उस युग के प्रसिद्ध नगर अंटीओच, अपेमीआ, एमेसा और दमिश्क; इजराइल में यरुशलम; मेसोपोटेमिया में हरन, हतराओ, नीसीबिन, सेलेन्सिया, इत्यादि।

नगरों का जीवन बहुत ऐश्वर्य-पूर्ण, आरामतलब और अमीरी था; विशाल और सुन्दर रहने के भवन हुआ करते थे। व्यापार का धन नगरों में ही आकर एकत्र होता था—धनिकों के यहां गुलाम रहते थे। किन्तु बहुजन समुदाय का जीवन तो जैसा आज है यथा—खेत में खेती करना, पशु पालन करना, चरागाहों में भेड़ बकरी चराना, एवं कच्चे फूस के घर बनाकर उनमें रह जाना—वैसा ही तब था—और वैसा ही था छठी सातवीं शताब्दी के पहिले भी ईसा काल के प्रारम्भ में और उसके पूर्व की शताब्दियों में।

नहरों और सिंचाई के लिये नालियां खूब मजबूती और कुशलता से बनाई हुई थीं—वास्तव में नहरों और नालियों द्वारा सिंचाई की प्रणाली

पुराने काल से चली आ रही थी। इन्हीं पर किसान का जीवन आधारित था। इन प्रान्तों में शासकों का परिवर्तन होता रहता था, कभी ईरानी साम्राज्य के विस्तार होने पर ईरानी सत्रप या गवर्नर सीरिया, इजराइल, एशिया-माइनर के नगरों एवं प्रान्तों में नियुक्त हो जाते थे, कभी रोमन साम्राज्य के विस्तार होने पर, रोमन गवर्नर नियुक्त हो जाते थे,–किन्तु यह परिवर्तन ऊपर ही ऊपर हो जाता था, साधारण गांव के रहने वाले या नागरिक तक इसका प्रभाव प्रायः नहीं पहुंच पाता था–किसान की दिलचस्पी बस इसी बात में थी कि उसकी नहरें और जल-नालियां सुरक्षित रहें–और वह नगर सुरक्षित रहे जिससे उनका लेन देन, खरीद बिक्री का संबंध था। नागरिकों की दिलचस्पी बस इसी में थी कि उनका नगर उन्नति करता रहे और विकसित होता रहे। यह भावना कि कोई एक सुनिश्चित देश या राष्ट्र होता है, वहां के रहनेवाले उसके नागरिक होते हैं, एवं उस राष्ट्र के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व होता है, उस काल में अभी उत्पन्न नहीं हो पाई थी,–धर्मगत विभिन्नता की भावना तो उनमें अवश्य थी–जरथुस्त्री, ईसाई, यहूदी धर्मावलम्बी पृथक पृथक थे–उनमें विरोध भी होते थे।

पूर्वीय एशिया—उस समय की दुनिया में सबसे बड़ा साम्राज्य समृद्धिवान था चीन का–जो सुदूर पूर्व में चीन से प्रारंभ होकर पच्छिम में कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था–उस समय प्रसिद्ध तांग वंश के सम्राट (सन् ६१८ से प्रारम्भ) चीन और चीन के विशाल साम्राज्य पर राज्य कर रहे थे। कला, साहित्य, शिक्षा की वहां अभूतपूर्व उन्नति हो रही थी। निःसन्देह तांग वंश के सम्राटों के आने के पूर्व चीन भी कई शताब्दियों तक (तीसरी से छठी तक) कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था—एक विशाल सुसंगठित केन्द्रीय शासन वहां नहीं था, और कह सकते हैं कि रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो दशा पच्छिमी यूरोप की हुई थी, एक दुनिया खतम होकर मानो दूसरी दुनिया शुरू हो रही हो—वही चीन की हालत थी–किन्तु एक बुनियादी फर्क था। यूरोप में तो

एक विशेष सभ्यता, एक विशेष प्रकार का जीवन दृष्टिकोण, एक विशेष जाति (रोमन) लुप्त हो रही थी, और उसके पतन पर एक नई जाति (नोर्डिक आर्य), मूलतः एक नई सभ्यता, एक नये प्रकार के जीवन दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हो रहा था,—किन्तु चीन में तांग वंश के पूर्व अनिश्चित, असंगठित, और अस्त व्यस्त शताब्दियों में भी, परम्परानुकूल कला और साहित्य निर्माण की एक अजस्र धारा विद्यमान थी,—वही जाति, वही दृष्टिकोण विद्यमान था—जो तुंग वंश के सुसंगठित सुराज्य काल में खूब विकसित हो पाया।

भारत में भी गुप्त वंश के कुशल, व्यवस्थित, और शानदार राज्य काल के बाद ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य से ४५० ई० लगभग से) मध्य एशिया की ओर से आते हुए हूणों के आक्रमण होने लगे—वे ही हूण जिन्होंने समस्त पूर्वीय और मध्य यूरोप को भी आतंकित किया था—और अब भी पांचवीं छठी शताब्दियों में आतंकित कर रहे थे। अतएव पांचवीं शताब्दी के मध्य से सातवीं शताब्दी के आरम्भ में (६०६ ई० में) जब तक हर्षवर्धन का राज्य स्थापित नहीं हुआ, प्रायः यूरोप और चीन की तरह भारत की दशा भी अनिश्चित और अस्त व्यस्त ही रही। किन्तु यहां की और यूरोप की स्थिति में भी एक मूल भूत अन्तर था—भारत में चीन की तरह जीवन दृष्टिकोण और भावनाओं की प्रायः एकसी ही लहर प्रवाहित थी—ऊपर से शासक बदलते रहे, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को राजकीय परिवर्तन आकर छू नही पाते थे।—छठी, सातवीं शताब्दियों में धर्म की दो धारायें—ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म और बौद्ध धर्म प्रवाहित थीं—दोनों धर्मों के अनुयायी थे—दोनों साथ साथ रह रहे थे, किसान खेती करता था, पंडित पूजा करता था—ठीक उन्हीं बैल और हलों से, उन्हीं घण्टे और आरतियों से,—जैसा आज २० वीं सदी में किसान और ब्राह्मण कर रहे हैं।

●

(३५)

मोहम्मद और इस्लाम

जब मिस्र में मिस्र की सभ्यता का, मेसोपोटेमिया में सुमेर और बेबीलोन सभ्यताओं का उदय हुआ था एवं उनका विकास हो रहा था, उसी प्राचीन काल में अरब में कुछ काले-भूरे रंग के लोग जो बोलचाल की कुछ ऐसी भाषा बोलते थे जिससे बाद में हीब्रू (यहूदी), अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का विकास हुआ, रह रहे थे। ये लोग अरब के भिन्न भिन्न भागों में समूह बन कर रहते थे। ये समूह ही समूहगत जातियां थीं। पृथक पृथक जाति के अपने अपने पूर्वज थे और अपने अपने देवता, ऐसे ही देवता जैसे प्रारम्भिक अर्द्ध-सभ्य मानव में प्रत्येक जाति में पाये जाते हैं। कहते हैं, अरब में भिन्न भिन्न जातियों के सब मिलाकर ३४० देवता थे। उस काल में जब मिस्र और बेबीलोन के बड़े बड़े साम्राज्य थे, एवं परस्पर खूब व्यापार होता था, अरब में मक्का नगर का विकास हो चुका था। मक्का में एक मन्दिर था, इस मन्दिर में एक काला पत्थर स्थापित था। लोग इसे काबा कहते थे, यह काबा ही उपरोक्त सब ३४० देवी देवताओं में सर्वोपरि समझा जाता था, और ऐसा विश्वास था कि इसी देवता की संरक्षता में अरब जातियों के अन्य सब देवी देवता रहते थे।

अरब एक रेगिस्तान प्रधान देश है। केवल पच्छिमी तट में एवं सुदूर-दक्षिण-पच्छिम भाग में जिसे यमन कहते हैं कुछ उपजाऊ भूमि खण्ड हैं। अरब के लोग विशेषतः घुमक्कड़ थे और ऊंटों और घोड़ों पर इन लोगों के समूह इधर उधर भोजन की तलाश में, जाया करते

थे, किन्तु उपजाऊ भूखंडों में खेती और पशुपालन भी करते थे, घास के मैदानों में भेड़, बकरी और ढोर पाल कर भी रहते थे। अरब के पच्छिम में मिस्र में, उत्तर में मेसोपोटेमिया में एवं पूर्व में ईरान में उच्च विकसित सभ्यताओं एवं बड़े बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई थी, किन्तु अरब में कुछ भी विकास नहीं हो पाया, शायद इसीलिए कि यहां पर प्राकृतिक सुविधायें नहीं थीं। किन्तु याद होगा—प्राचीन काल में इन्हीं अरब लोगों की एक जाति ने मेसोपोटेमिया में असीरियन राज्य की स्थापना की थी, इन्हीं अरब लोगों की एक जाति के लोग जो बाद में यहूदी कहलाये अपने पूर्वज अबराहम के साथ लगभग १४०० ई० पू० में इजराइल चले गये थे और वहां यरुशलम में यहूदी राज्य की स्थापना की थी, और उन्हीं यहूदी लोगों में द्रष्टा ईसामसीह का जन्म हुआ था जिसके उपदेशों के आधार पर बाद में ईसाई धर्म का संगठन हुआ था; किन्तु अरब देश स्वयं में कुछ भी प्रगति नहीं हुई, बल्कि कभी तो यहां मिस्र साम्राज्य का, कभी ईरान का दबदबा रहता था, और फिर ग्रीक और फिर रोमन साम्राज्यों का दबदबा रहा। अरब लोगों को उपरोक्त साम्राज्य के शासकों को मान्यता देनी पड़ती थी, यद्यपि यह मान्यता नाम मात्र की थी, क्योंकि कोई भी सम्राट इतनी दूर रेगिस्तान में आने में कुछ तथ्य नहीं देखता था।

छठी-सातवीं शताब्दी में अरब में दो प्रमुख नगर थे, एक मक्का जहां उपरोक्त काबा का मन्दिर था; काबा अर्थात् वह काला पत्थर (सङ्ग-असवद) जिसके विषय में एक विश्वास तो यह था कि वह आकाश से टूटे हुए तारे का अंश था, एवं दूसरी मान्यता यह थी कि एक देवदूत ने यह पत्थर अबराहम (इब्राहिम) को, जिसे अरबी लोग अपना पूर्वज मानते थे, दिया था। मक्का इसीलिए अरब लोगों का पवित्र तीर्थ स्थान था। यहां अरब यात्री आते जाते रहते थे, काबा को पूजते थे, उसकी परिक्रमा करते थे, उसे चूमते थे और रात्रि के समय एकत्र होकर

कवितायें या गीत गाते थे, उनकी अरबी भाषा में। ऐसा भी अनुमान है कि अनेक धार्मिक संवाद, विवाद और वार्तालाप भी होते रहते थे। अनेक यहूदों, ईसाई लोग भी इन धार्मिक वार्तालापों में भाग लेते थे। अरब के समीपस्थ देशों में इस समय विशेषतः यहूदी और ईसाई लोग ही बसे हुए थे। दूसरा नगर मदीना था, जो कि एक व्यापारिक स्थल था, जहां यहूदी लोग विशेष रूप से बसे हुए थे और यहूदी धर्म का विशेष प्रभाव था। मक्का और मदीना दोनों उस व्यापारिक मार्ग पर बसे हुए थे जहां दक्षिण में यमन से ऊंटों के काफिले के काफिले सीरिया, फिलस्तीन, फीनीसिया इत्यादि देशों में जाया करते थे—जो मिस्र और बेबीलोन से सम्बन्धित थे।

इस तरह प्राचीन प्रारम्भिक काल से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अरब का काल बीता। उस समय कोई भी यह विश्वास नहीं कर सकता था कि अरब लोग एक शक्तिशाली संगठन बनाकर उठ सकते थे और सारी दुनिया को एक बार हिला सकते थे। किन्तु ऐसा हुआ, अरब लोग एक संगठन बनाकर तूफान की तरह उठे और उस तूफान ने उस समय में ज्ञात दुनिया के विशेष भाग को एक बार तो पराभूत कर ही दिया। यह अभूतपूर्व संगठन था—इस्लाम। यह एक धार्मिक संगठन था जिसकी स्थापना मोहम्मद ने की।

मोहम्मद:—मक्का नगर में अरब लोगों की समूहगत जातियों में बद्दू एक जाति थी। इसी जाति के एक साधारण घराने में सन् ५७० ई० में मक्का नगर में इस्लाम के संस्थापक मोहम्मद साहब का जन्म हुआ। पहिले अनेक वर्षों तक गड़रिये का जीवन व्यतीत किया, फिर मक्का में ही रहने वाली एक धनवान व्यापारी की विधवा के यहां नौकरी करली, जिसका नाम खदीजा था। मोहम्मद को उसके व्यापार की देख भाल करनी पड़ती थी। ऐसा अनुमान है कि मोहम्मद व्यापारी काफिले के साथ कई बार यमन, सीरिया और मदीना भी गया था। संभव है वहीं पर वह ईसाई और यहूदी विचार धाराओं के सम्पर्क

में आया और इन धर्मों के विषय में काफी जानकारी हासिल की। मोहम्मद शिक्षित नहीं था, किन्तु बुद्धिमान अवश्य। धीरे धीरे अपनी मालकिन खदीजा से मोहम्मद का प्रेम सम्बन्ध हो गया और फिर बाद में उससे शादी भी करली। उस समय मोहम्मद की आयु कोई २५ वर्ष और खदीजा की ४० वर्ष की होगी।

कहते हैं मोहम्मद अनेक बार रेगिस्तान के नितान्त एकान्त स्थानों में घूमने निकल जाया करता था और वहां गहन मनन किया करता था। गहन आन्तरिक द्वन्द्वों की अनुभूतियां उसे होती होंगी। अवश्य ही उसकी समझ और भावनाओं का विकास शनैः शनैः हो रहा होगा। ४० वर्ष की आयु तक वाह्यरूप से तो उसमें किसी भी विशेषता के आभास नहीं मिलते थे किन्तु इस आयु के बाद उसकी अनुभूतियां अभिव्यक्त होने लगीं अरबी कविताओं के पदों में, जिनकी शैली की जानकारी मक्का में रात्रि के समय एकत्र यात्रियों में होने वाले गान और कविता-पाठों से मोहम्मद को अवश्य हो चुकी होगी।

इन अनुभूतियों की चर्चा पहिले तो मोहम्मद ने केवल अपनी स्त्री खदीजा, एक स्नेही अंतरंग मित्र अबुबकर और अपने जमाई अली के सामने ही की। किन्तु अनुभूतियों की तीव्रता बढ़ती गई और फिर तो मुक्त होकर उन अनुभूतियों का ऐलान वह सबके सामने करने लगा। जो कुछ भी मोहम्मद ने कहा उसके विषय में मोहम्मद ने ऐलान किया कि जो कुछ भी वह कहता है उसका दर्शन अल्लाह के एक दूत ने उसे करवाया है। उसका ज्ञान, उसकी शिक्षायें अल्लाह की देन हैं। अल्लाह एक है, एक के सिवाय दूसरा कोई नहीं। वुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) अज्ञान है। जो अल्लाह में विश्वास करेंगे वे स्वर्ग का उपभोग करेंगे, जो अविश्वासी होंगे वे नर्क (दोजख) की आग में जलेंगे। अनेक आदमी मोहम्मद के अनुयायी होने लगे। किन्तु साधारणतया ये ऐलान, ये शिक्षायें मक्कावालों को बर्दाश्त नहीं हो सकती थीं, वहां तो ३४० बुत थे, काबा की पूजा सदियों से प्रचलित थी जो अरबी लोगों की

भावनाओं और परम्पराओं का केन्द्र थी। आखिर मक्कावालों का निर्वाह भी तो यात्रियों की मक्का यात्रा पर निर्भर था; किस प्रकार वे अपने बुतों, अपनी परम्पराओं, अपनी भावनाओं, अपने काबा को जिसे वे चूमते थे विनिष्ट होने देते। अतः मोहम्मद और उसके कुटुम्बियों और सहयोगियों को कत्ल करने का उन्होंने इरादा कर लिया। मक्का तो एक पवित्र तीर्थ स्थान समझा जाता था, लोगों की भावना ऐसी थी कि वहां कोई भी दुष्कार्य नहीं किया जाय, अतः वहां कत्ल नहीं हो सकता था। किन्तु मोहम्मद को बर्दाश्त करना भी कठिन था। आखिर उन्होंने एक षडयन्त्र रचा, जिसमें मोहम्मद के परिवार को छोड़कर मक्का के सभी परिवारों का प्रतिनिधित्व था, जिससे बाद में कोई यह नहीं कह सके कि मक्का के पवित्र स्थान में किसने यह काम किया किसने नहीं,—पाप के साझीदार सभी हो सकें। किन्तु मोहम्मद को षडयन्त्र का पता चल गया। उधर मदीना नगर में जहां पहले से ही यहूदी, ईसाई लोगों के प्रभाव से अनेक जन ऐकेश्वरवादी थे, मोह-म्मद के विचारों को सहानुभूति और सहयोग मिले। उन्होंने मोहम्मद को मदीना में आकर रहने के लिये आमन्त्रित किया। पहले तो मोहम्मद ने अपने सब परिवार वालों को (उसकी पहली स्त्री खदीजा की मृत्यु हो चुकी थी) और सहयोगियों को मदीना भेजा; और फिर षड़यन्त्रकारियों से बचकर मोहम्मद स्वयं और उसका अन्तरंग मित्र और सहयोगी अबुबकर गोरव के साथ सन् ६२२ ई० में २० सितम्बर के दिन मदीना में प्रवेश हुए। मोहम्मद की मक्का से मदीना तक की यह दौड़ हिज्र कहलाती है, और उसी दिन से जिस दिन मोहम्मद ने मदीना में प्रवेश किया मुसलमानों का हिजरी सन् प्रारम्भ होता है, और वही दिन इस्लाम धर्म का स्थापना दिवस माना जाता है।

मोहम्मद का विश्वास था कि एक ही "अल्लाह" है। एक ही अल्लाह का सारी पृथ्वी पर राज्य होना चाहिये। सारी पृथ्वी में एक

ही अल्लाह में विश्वास करने वाले (अर्थात् मुसलमान) लोग होने चाहियें; अतएव सारी पृथ्वी के लोगों को आस्तिक बनाना मोहम्मद ने आरंभ किया। उसने अपने सब अनुयायियों, सहयोगियों को एकत्र किया, अल्लाह का सबक उनको सिखाया, उनको मुसलमान बनाया और अपने विश्वास के प्रसार के लिये वह आगे बढ़ा। सबसे पहिले व्यापारिक काफिलों पर हमला करना प्रारंभ किया,—वे काफिले जो मक्का से आते थे। यद्ध होना अनिवार्य था। मोहम्मद के नये परिवर्तित मुसलमानों और मक्का वालों में अनेक युद्ध हुए, षड़यन्त्रों और हृदयहीन हत्याओं से परिपूर्ण। कभी मोहम्मद जीते कभी मक्का वाले। अन्त में इस सन्धि पर फैसला हुआ कि जो भी मोहम्मद के अनुयायी मुसलमान हों वे यरुशलम की तरफ नहीं किंतु मक्का की तरफ अपना मुंह करके खुदा की इबादत किया करें और मुसलमानों का पवित्र तीर्थ स्थान मक्का ही रहे। इस संधि के बाद एक धर्म संस्थापक और शासक की हैसियत से सन् ६२९ ई० में मोहम्मद ने मक्का में प्रवेश किया। काबा की बुतों को अपने पैरों के नीचे कुचला और मक्का को केन्द्र बनाकर वहां से दुनिया में अल्लाह की सल्तनत कायम करने का इरादा किया। अदम्य विश्वास से उसने काम प्रारंभ किया। सन् ६२९ ई० में दुनिया के सब बड़े शहंशाहों को उसने खत लिखे कि वे एक अल्लाह के पैगम्बर मोहम्मद की सल्तनत मंजूर करलें और मुसलमान हो जायं, अन्यथा उनको दोजख की आग में जलकर खतम होना पड़ेगा। रोम के सम्राट्, ईरान के सम्राट्, चीन के सम्राट् के पास खत लेकर मोहम्मद के दूत गये। इन खतों की क्या हालत हुई, इसकी कल्पना की जा सकती है—संक्षेप में इतना ही कि उनको कुछ भी महत्व नहीं दिया गया। खैर, नये अरबी मुसलमानों में जोश था, सारे अरबिस्तान में वे फैल गये। अनेक युद्ध हुए, साजिशें हुईं, आखिर समस्त अरब पदाक्रांत हुआ और सब अरब के रहने वाले मुसलमान। जब मोहम्मद समस्त अरब देश का मालिक था, सन् ६३२ ई० में ६२ वर्ष की उम्र में वह मर गया। अपने पीछे छोड़ गया अपने

परिवार में कई विधवायें जो आपस में झगड़तीं थीं; इस्लाम धर्म; और एक सच्चा मुसलमान अबुबकर।

इस्लाम-धर्म

इस्लाम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहब को अवश्य कुछ आंतरिक अनुभूतियां हुई थीं। उनकी एक तात्विक अनुभूति जो उनकी तीव्रतम अनुभूति होगी, वह यही थी कि एक अल्लाह है, परवरदिगार, सबका मालिक। बंदा अपनी ख्वाहिश को अल्लाह की ख्वाहिश में मिलादे और अल्लाह के भरोसे अपने आपको छोड़दे। एक अल्लाह में अदम्य, स्थिर, पूर्ण विश्वास। यह अल्लाह बुत (मूर्ति) में समाया हुआ नहीं है इसलिए मूर्तिपूजा अज्ञान है। मन्दिर, बलि, पूजा, पुजारी सब विमूढ़ता। मुसलमान को चाहिये कि वह इन्हें खत्म कर दे। इस्लाम किसी भी सूरत में मूर्तिपूजा को बर्दाश्त नहीं कर पाया। इस तात्विक बात के अतिरिक्त मोहम्मद ने बतलाया, एक स्वर्ग है (बहिश्त) और एक नर्क (दोजख)। जो अच्छा काम करेंगे वे स्वर्ग में परी और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे, जो बुरे कार्य करेंगे वे दोजख की आग में जलेंगे। जो एक अल्लाह में विश्वास नहीं करेगा, जिसका अर्थ लगाया गया जो मुसलमान नहीं होगा, उसको कभी भी बहिश्त नहीं मिलेगा। मुसलमानों में कोई भी भेदभाव नहीं होगा—किसी भी प्रकार का भेद भाव, न ऊंच-नीच का, न छोटे बड़े का। खुदा के सामने खुदा की इबादत में सब बराबर होंगे। हर एक मुसलमान एक दूसरे का भाई होगा। कोई भी मुसलमान एक दूसरे की जान माल पर निगाह नहीं डालेगा। इस प्रकार भ्रातृत्व और समानता इस्लामी सामाजिक संगठन की दो बुनियादी चीजें हैं, जो आधुनिक जनतन्त्रवाद के भी आधारभूत सिद्धान्त हैं। वास्तव में किसी भी मुसलमान इबादत की जगह (मस्जिद), किसी भी सामूहिक खानपान में देखा जा सकता है कि उनमें बड़े छोटे का, गरीब अमीर का, अफसर नौकर का किंचितमात्र भी

भेद भाव नहीं रहता। सब बराबर एक साथ बैठकर ईश्वर की प्रार्थना कर सकते हैं। सब बराबर बैठकर खा पी सकते हैं। किसी भी नस्ल, किसी भी कबीले या जाति का व्यक्ति हो जब एक बार इस्लाम के संगठित समूह में मिल गया कि उसकी विभेदात्मक सारी विशेषतायें दूर कर दी जाती हैं। और यही बात है कि सामूहिक रूप से वे एक दूसरे के साथ समान भ्रातृत्व के बन्धन से जकड़े हुए हैं और अपने आपको शक्तिशाली महसूस करते हैं।

इतिहास में स्यात् मानव का यह प्रथम व्यावहारिक प्रयास था कि समानता और भ्रातृत्व के आधार पर मानव समाज का संगठन हो। इस प्रकार के संगठन का भाव मानव की चेतना में स्यात् पहिले कभी नहीं आया था।

मोहम्मद साहब ने इबादत का ढंग (यथा दिन में पांच समय नमाज पढ़ना), व्रत उपवास (रमजान के महीने में रोजा रखना), शादी विवाह, धन जमीन, आचार विचार के सब नियमों का निर्देश कर दिया था और लोगों को यह ऐलान कर दिया था कि उसका ज्ञान ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है, उसकी व्यवस्था ईश्वरीय है, अतएव सब कालों के लिए अपरिवर्तनीय है। उसने यह भी घोषित किया कि उसके पहिले भी ईश्वरीय ज्ञान के दर्शन कराने वाले पैगम्बर हुए थे, जैसे अबराहम, मूसा, और ईसा। किन्तु वह स्वयं अन्तिम पैगम्बर था जिसने उस ईश्वरीय ज्ञान को पूर्ण किया। जो कुछ उसने कह दिया उससे न तो कुछ विशेष हो सकता था, और न कुछ कम। परमात्मा एक है, और मोहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल। यही मुसलमानों का कलमा अथवा मूलमंत्र है।

मोहम्मद के ये सब उपदेश, उसके शब्द, उसकी वाणियां उसके भक्त और अनुयायियों ने मोहम्मद की मृत्यु के बाद संगृहीत किये, और वे सब संगृहीत रूप में "कुरान" कहलाये। कुरान ही मुसलमानों की एक मात्र धर्म पुस्तक है। आज भी दुनिया के अनेक प्राणी कुरान के शब्दों में कट्टर विश्वास रखते हैं।

इस्लाम के दो फिर्के:—(शिया और सुन्नी)–यद्यपि प्रत्येक नियम, आचार और धार्मिक विवेचन निश्चितरूप से मोहम्मद द्वारा निर्देशित कर दिये गये थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद मुसलमानों में परस्पर झगड़े हुए ही। मोहम्मद साहब के बाद उनकी कई विधवायें बचगई थीं (मदीना में आने के बाद उन्होंने कई शादियां करली थीं)। मोहम्मद का कौन उत्तराधिकारी हो और कौन नहीं, राज्य का कौन खलीफा बने और कौन नहीं, इन बातों को लेकर विधवाओं, उनके सहायकों और स्वार्थी लोगों में अनेक झगड़े हुए। इन्हीं झगड़ों को लेकर मुसलमानों में दो फिर्के हो गये। एक फिर्का उन लोगों का था जो मोहम्मद साहब के गोद के बेटे अली को (जो कि मोहम्मद साहब के जमाई भी थे क्योंकि उनका विवाह मोहम्मद साहब की पुत्री फातमा से हुआ था) और अली के वंशजों को मोहम्मद साहब का असली उत्तराधिकारी समझते थे। यह फिर्का "शिया" कहलाया। दूसरा फिर्का अली और उसके वंशजों को उचित उत्तराधिकारी नहीं समझता था। इस फिर्के के लोग सुन्नी कहलाये। सुन्नी मुसलमानों ने ही अली के दो पुत्रों हसन और हुसेन को बड़ी बेरहमी से इराक के कर्बला के मैदान में मार डाला था। भारत में मुसलमान इसी घटना को हर वर्ष बड़े त्यौहार के रूप में मानते हैं और ताजिये निकालते हैं।

इस्लाम का प्रसार

अरब और खलीफाओं का राज्य—मोहम्मद की सन् ६३२ ई० में मृत्यु हुई। उसके बाद मक्का और अरब का शासन मोहम्मद के ही अन्तरङ्ग मित्र और वफादार भक्त अबुबकर के हाथों में आया। अबुबकर खलीफा कहलाया; खलीफा अर्थात् उत्तराधिकारी। अबुबकर मक्का में लोगों की आम सभा में उत्तराधिकारी चुना गया था।

मोहम्मद की मृत्यु के तीन वर्ष पहिले ही दुनिया के सम्राटों को इस्लाम स्वीकार करने के लिये पत्र लिखे गये थे और दूत भेजे गये थे।

दुनिया को अभी मुसलमान बनना बाकी था। अबुबकर सच्चा मुसलमान था, अपने पैगम्बर का काम उसे पूरा करना था। अरब के मुसलमानों में नया नया जोश था, उनमें एक तमन्ना थी। वे दुनिया को मुसलमान बनाने के लिये आगे बढ़े।

उस समय दुनिया की क्या दशा थी ? पूर्वीय रोमन, और ईरान के सम्राटों में अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये अनेक वर्षों से परस्पर युद्ध हो रहे थे और इस तरह दोनों साम्राज्य जर्जरित थे। इन साम्राज्यों में बसने वाले लोग, यथा सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, एशिया-माइनर, आरमेनिया एवं आधुनिक बाल्कान प्रायद्वीप के देशों के लोग, सब पीड़ित और थके हुए थे। अपने सम्राटों और शासनकर्त्ताओं में उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था और न उनके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति। पूर्वीय रोमन साम्राज्य के पच्छिम की ओर, रोम और इटली और समीपस्थ प्रदेशों (जैसे स्पेन, फ्रांस) में कुछ ही शताब्दियों पूर्व भव्य, शक्तिशाली रोमन साम्राज्य स्थापित था, वह अब ध्वस्त हो चुका था; वहां अस्त व्यस्त राजनैतिक स्थिति में लोग बस रहे थे; वे मुख्यतया ईसाई थे, और कई वाह्य धार्मिक मतभेदों को लेकर आपस में लड़ झगड़ रहे थे। इन्हीं प्रदेशों में उत्तर पूर्व से नये असभ्य लोग जैसे फ्रैंक, गोथ, नोर्समैन, इत्यादि आ आकर बस रहे थे, किन्तु अभीतक स्थिर और संगठित रूप में कुछ भी जमाव नहीं हो पाया था। यह तो हुई यूरोप की दशा। उधर एशिया में, इस समय भारत में बौद्ध हर्षवर्धन का राज्य प्रमुख था, एवं चीन में तांग वंश के सम्राटों का। दोनों देश उन्नत और समृद्ध थे; यद्यपि हर्षवर्धन के बाद भारत शक्तिहीन दशा में प्रवेश करने वाला था। मध्य एशिया में घुमक्कड़ तुर्क लोग रह रहे थे। इन घुमक्कड़ लुटेरे लोगों पर इस समय चीनी सम्राट का दबदबा था। उस समय की दुनिया में उपरोक्त देशों में ही विशेष मानवीय चहल पहल थी।

ऐसी दुनिया में—अबुबकर और नये अरबी मुसलमान नये जोश में इस्लामी तलवार लेकर दुनिया में एक खुदा का साम्राज्य स्थापित

करने के लिये निकले। सन् ६३२ ई० में उनकी यह विजय यात्रा प्रारम्भ हुई और ताज्जुब होगा कि कुछ ही वर्षों के अन्दर अन्दर उन्होंने पूर्व में समस्त मेसोपोटेम्यिा और फिर ईरान परास्त किया, और आगे बढ़ते बढ़ते मध्य एशिया में काबुल, किरात और बलख तक और भारत में सिंधु प्रान्त तक बढ़ गये, और इन समस्त देशों को अपने आधीन कर लिया। अपने पच्छिम में उन्होंने सीरिया, फिलस्तीन (इजराइल) और फिर मिस्र, सूडान और उत्तर अफ्रीका पर विजय प्राप्त की। उत्तर अफ्रीका से आगे, जिबराल्टर के मुहाने से उन्होंने सन् ७११ ई० में यूरोप में प्रवेश किया और समस्त स्पेन अपने आधीन किया। वे आगे बढ़ते हुए जा रहे थे और संभव है वे सारे यूरोप को पदाक्रान्त कर डालते किन्तु ७३२ ई० में फ्रांस में पोईतियर के मैदान में पच्छिमी यूरोप के लोगों के एक संघ ने जो चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में लड़ रहा था, उनको परास्त किया। इस हार से वे हतोत्साह हो गये और स्पेन तक ही उनका राज्य कायम रहा। उधर पूर्व से भी एशिया-माइनर और कुस्तुनतुनिया के रास्ते वे यूरोप में प्रवेश करके यूरोप को पदाक्रांत कर सकते थे किन्तु पूर्वीय रोमन साम्राज्य अभी डटा हुआ था,—उसने इस्लाम के प्रवाह को रोके रखा।
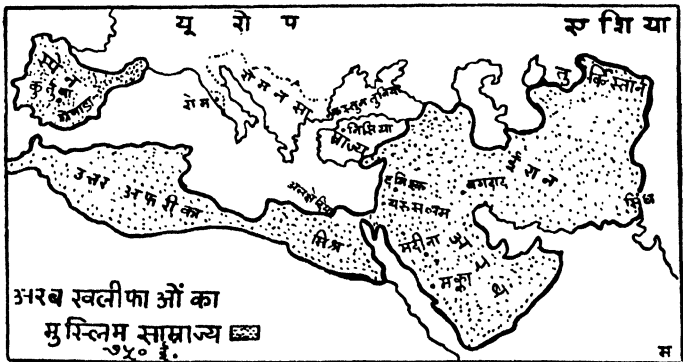
इस प्रकार पच्छिम में स्पेन से लेकर उत्तर अफ्रीका और मिस्र में होते हुए पूर्व में सिंध प्रांत तक इस्लामी राज्य स्थापित हुआ। यह केवल सामरिक विजय ही नहीं थी, किन्तु धार्मिक विजय भी; जहां जहां इनका राज्य होता गया, वहां के लोगों का धर्म इस्लाम और भाषा अरबी बनती गई।

यह जो नया साम्राज्य स्थापित हुआ इसके प्रथम शासक थे मोहम्मद साहब के परिवार से सम्बन्धित व्यक्ति। जैसा ऊपर लिख आये हैं सन् ६३२ ई० में पहिला खलीफा मोहम्मद साहब का अन्तरंग मित्र अबुबकर था। किन्तु इस सच्चे मुसलमान और खलीफा की मृत्यु दो ही वर्ष में होगई। इसके बाद मोहम्मद साहब का संबंधी उमर खलीफा बना। उमर के ही राज्यकाल में अनेक देश जीते गये थे और इस्लामी राज्य में मिला लिये गये थे। ये "खलीफा" केवल राज्य के शासक नहीं होते थे किन्तु समस्त इस्लामी दुनिया के सब मुसलमानों के धार्मिक नेता भी। उमर के बाद एक नये परिवार के लोग खलीफा बने। यह 'उमियाद' परिवार था। इस परिवार का पहिला खलीफा उस्मान था। उस्मान के बाद मोहम्मद साहब का दत्तक पुत्र अली जो कि मोहम्मद साहब का जमाई भी था (क्योंकि मोहम्मद साहब की पुत्री से उसकी शादी हुई थी) खलीफा बना। तभी से मोहम्मद साहब के परिवार में उनकी विधवाओं और रिश्तेदारों में अनेक झगड़े होने लगे इस बात पर कि कौन खलीफा बनाया जाय और कौन नहीं। इसी बात को लेकर मुसलमानों में दो फिर्के हो गये, जैसा ऊपर लिख आए हैं। अली की मृत्यु के बाद उमियाद परिवार के लोगों ने अली के दो लड़के हसन और हुसेन को बड़ी बेरहमी से मार डाला, अतएव उमियाद परिवार के लोग ही खलीफा बनते रहे; किन्तु ७४९ ई० में एक अन्य परिवार का उत्थान हुआ। यह अब्बासीद परिवार था। ये लोग मोहम्मद साहब के चाचा के वंशज थे। इस परिवार के लोगों ने हसन और हुसेन के कत्ल का उमियाद परिवार से बदला लिया। उस परिवार के सब लोगों को

कत्ल कर डाला और उनके मृतक शरीरों को जमाकर, उनकी एक मेजसी बनाकर उस पर खूब मौज से एक दावत उड़ाई। ७४६ ई० से इसी अब्बासीद परिवार के लोग खलीफा बनते रहे।

इन पारिवारिक झगड़ों की वजह से केन्द्रीय शक्ति शिथिल होगई थी, अतएव मिस्र, अफ्रीका, स्पेन के प्रान्तीय शासक खुदमुखत्यार बन बैठे थे। किसी ने तो स्वतन्त्र खलीफा की उपाधि धारण करली और किसी ने अलग सुल्तान की उपाधि धारण करली। उपरोक्त अब्बासीद परिवार में जिसका राज्य अब केवल ईरान, मेसोपोटेमिया (बगदाद), सीरिया, इजराइल और अरब में रह गया था, हारुनल-रशीद नाम का एक खलीफा हुआ। इसकी प्रसिद्धि विशेषत: "अलिफ लैला" अर्थात् अरेबियन नाइट्स की कहानियों की वजह से है। ये अलिफ लैला के किस्से उसी जमाने में अरबी भाषा में लिखे गये थे। उनमें हारुनल-रशीद की राजधानी बगदाद की शान शौकत, धन ऐश्वर्य के बहुत रोमाञ्चकारी किस्से हैं। हारुनल-रशीद की मृत्यु सन् ८०६ ई० में होगई। इसके बाद समस्त अरब राज्य शिथिल, पतित और विच्छिन्न होगया। किसी तरह से इसका नाम चलता रहा। ११ वीं शताब्दी में उत्तर पूर्व से तुर्की मुसलमान आये, इन्होंने अरबी साम्राज्य के ईरान, सीरिया और फिलस्तीन देश अपने आधीन किये, अरबी खलीफाओं के आधीन, पैगम्बर मोहम्मद के उत्तराधिकारियों के आधीन, अब केवल बगदाद और उसके चारों ओर की भूमि और अरबिस्तान रह गये। खलीफाओं का बगदाद पर यह अधिकार भी तुर्कों की कृपा से था। वास्तविक शक्ति तो तुर्कों के ही हाथ में थी। १३वीं शताब्दी में पूर्वीय एशिया से मंगोल लोगों के आक्रमण हुए। सन् १२५८ ई० में बगदाद नगर समूल ध्वस्त कर दिया गया और खलीफाओं का जो कुछ राज्य शेष रह गया था वह भी समाप्त हुआ। अरब और अरबी सभ्यता का एक प्रकार से अन्त हुआ। उपरोक्त मंगोल साम्राज्य के विच्छिन्न होने पर १५वीं शताब्दी में पच्छिमी एशिया में ओटोमन (उस्मान)

तुर्क लोगों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने पूर्वीय यूरोप (बालकन प्रायद्वीप) और पच्छिमी एशिया (अरब, ईराक, इजराइल, सीरिया) में एक साम्राज्य स्थापित किया। सन् १५१२ ई० में एक तुर्की सुल्तान ने जिसका नाम "सलीम" था, खलीफा की भी उपाधि धारण की (खलीफा अर्थात् धार्मिक मामलों में समग्र मुसलमानों के नेता; अब तक अरब के मोहम्मद साहब के वंशज खलीफाओं की परम्परा तो खत्म हो चुकी थी)। १५वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) तक अरब उपरोक्त तुर्की साम्राज्य का अङ्ग रहा। महायुद्ध काल में अरबों ने तुर्की राज्य के खिलाफ उपद्रव किये; तभी से अरबों के देश अरब, ईराक, सीरिया इत्यादि प्रायः स्वतन्त्र हैं। इन अरबी देशों के अतिरिक्त मिस्र भी प्रायः ७ वीं शताब्दी से अरबी देश होगया था, और याद होगा अरब लोगों ने स्पेन पर भी अपना अधिकार जमाया था। इन दो देशों में अरब लोगों का इतिहास इस प्रकार रहा:—

मिस्र:—का अरबी शासक सन् ९६९ ई० में बगदाद के केन्द्रीय खलीफा के शासन से पृथक हुआ। वह स्वयं एक स्वतन्त्र खलीफा बना। यह शिया समुदाय (हरा झण्डा) का मुसलमान था और अपने आपको अली और फात्मा का वंशज मानता था। किन्तु सन् ११६९ ई० में एक नये कुर्दिश वंश का एक सुन्नी मुसलमान जिसका नाम सलादीन था मिस्र का सुलतान बना। सलादीन एक प्रसिद्ध शासक था। फिर मिस्र उस्मानी तुर्क साम्राज्य का अंग रहा; फिर १९वीं शती में मिस्र पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ। आज मिस्र स्वतंत्र है, वहां वैधानिक राजतंत्र है, मिस्र का बादशाह पार्लियामेंट की अनुमति से राज्य करता है। सन् १९५३ में वैधानिक राजतंत्र की जगह गणतंत्र की स्थापना हुई।

स्पेन:—में अरब लोग सन् ७११ में प्रवेश हुये थे। दो ही वर्षों में उन्होंने समस्त स्पेन और पुर्तगाल पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। स्पेन में इन्होंने कुर्तबा अपनी राजधानी बनाई। ७४९ ई० तक स्पेन के

अरबी शासक केन्द्रीय शासन अर्थात् अरब खलीफा के आधीन रहे किन्तु केन्द्र में पारिवारिक झगड़े और गृह युद्ध होने की वजह से केन्द्र की शक्ति शिथिल हुई और स्पेन का शासक, जो अरब खलीफा का वायसराय कहलाता था, स्वतन्त्र अमीर बन बैठा। संपूर्ण स्पेन पर अरब अमीरों का जो अब 'मूर' कहलाते थे १२३६ ई० तक राज्य रहा, जब यूरोप के एक ईसाई राजा केस्टिल ने उनको परास्त किया। अरब (मूर) लोग दक्षिण स्पेन की ओर भागे और वहां उन्होंने ग्रानाडा नामक एक छोटा सा पृथक राज्य स्थापित किया जहां प्रसिद्ध अल्यहारा (लाल महल) अब भी स्थित है। यहां सन् १४९२ तक वे राज्य करते रहे। १४९२ में स्पेन के सम्राट और साम्राज्ञी फरदीनेन्द और ईसाबेला ने उनको परास्त किया और देश से बिल्कुल निकाल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् ७११ से १४९२ तक समस्त स्पेन या स्पेन के कुछ भागों में प्राय: ७०० वर्षों तक अरबों का राज्य रहा। इन वर्षों में विज्ञान, दर्शन, कला, शिक्षा का देश में खूब विकास हुआ। कुर्तुबा उस समय पश्चिमी दुनिया का सबसे बड़ा नगर और सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था, जहां कलात्मक ढंग के अनेक महल, उद्यान, सार्वजनिक स्नानघर, पुस्तकालय और मस्जिदें बनी हुई थीं। दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान की हजारों पुस्तकों का अरबी भाषा में निर्माण हो रहा था। कहते हैं स्पेन के अमीर राज्य-पुस्तकालय में कई लाख पुस्तकें थीं, किन्तु सन् १४९२ में यह सब समाप्त हुआ, अब अरबी स्पेन की जगह ईसाई स्पेन था और देश आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था।

हिन्दुस्तान :—सन् ७१२ ई० में बगदाद के खलीफा की आज्ञा से मुहम्मदबिनकासिम एक मुसलमान सेनापति सिंध की ओर बढ़ा। सिंध का हिंदू शासक दाहिर परास्त हुआ और सिंध और मुलतान पर अरबों का राज्य स्थापित हुआ। मुहम्मदबिनकासिम ही बगदाद के खलीफा की ओर से इस प्रान्त का वायसराय रहा। इसका राज्य अच्छा था, और

यद्यपि हिन्दुओं पर इसने जजिया नामक एक कर लगाया, तथापि उनके प्रति इसका व्यवहार अच्छा रहा। अन्य देशों में तो जहां भी अरबी आक्रमण हुए वहां के सब लोगों को मुसलमान बनाया गया और उनकी भाषा अरबी कर दी गई, किन्तु सिंध में ऐसा नहीं हो पाया। सिंध केन्द्रीय शासन से दूर पड़ता था अतएव खलीफाओं की दृष्टि इधर न रह सकी। यहां के अधिकारी भी धीरे धीरे सिंध में ही हिल मिल गये। धीरे धीरे इन अरबी मुसलमानों की शक्ति कम होती गई और ११वीं शताब्दी में सर्वथा खत्म हो गईं। इस आक्रमण से दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्पर्क अवश्य बढ़ा, भारत से अनेक संस्कृत ग्रन्थ अरब ले जाये गये जहां उनका अरबी भाषा में अनुवाद हुआ।

अरब खलीफाओं के समय में सामाजिक दशा

(बगदाद ८वीं से ११वीं शताब्दी)

अबुबकर, उमर और उस्मान, प्रथम तीन खलीफाओं के जमाने तक तो अरबी मुसलमानी राज्य नये जोश में सरल ढंग से चलता रहा, किंतु तब तक इतनी विशाल विजयों के फलस्वरूप खूब धन दौलत इकट्ठी हो चुकी थी। पहिले तो खलीफा चुने जाते थे, किंतु बाद में जिसके हाथ में शक्ति होती थी, जो अधिक चालाक होता था वही खलीफा बन बैठता था। ऐश्वर्य और आराम से जिन्दगी बिताना खलीफाओं का काम रह गया था। बड़े बड़े महल, बाग बगीचे बनाये जाने लगे और दूर दूर देशों से ठाठबाट की चीजें एकत्र होने लगीं। पहिले मक्का राजधानी थी,फिर सीरिया में दमिश्क राजधानी बनाई और फिर ईराक में बगदाद। दमिश्क और बगदाद खलीफाओं के जमाने के दो बहुत ही ऐश्वर्यशाली नगर थे, देश देश के व्यापारी वहां एकत्र होते थे, खलीफाओं के इन नगरों में बड़े बड़े महल, उद्यान बने हुए थे। इन नगरों में खलीफाओं का ठाठ प्राचीन रोम और ईरान के सम्राटों के ठाठ को भी मात करता था। राज परिवारों में झगड़े चलते रहते थे, साजिशें होती

रहती थीं। राज को संगठित करने की, उसको सुधारने की और मजबूत करने की किसी को कुछ नहीं पड़ी थी। साधारणजन वही अपनी खेती करता रहता था और भेड़, बकरी पालता रहता था, कुछ लोग व्यापार में व्यस्त थे, जिनकी दशा साधारणजन से अपेक्षाकृत ठीक थी, और कुछ लोग खलीफाओं के दरबारों में साजिशें करने कराने में व्यस्त रहते थे। जब तक अरब में इस्लाम का प्रचार नहीं हुआ था, तब तक औरतें स्वतन्त्र थीं, किसी प्रकार का पर्दा नहीं था; किन्तु इस्लाम धर्म के प्रचार के बाद जिसमें औरत को मिलकियत का एक तिहाई हिस्सा स्वीकृत है किन्तु जिसकी दशा घर की एक बेजान चीज से बेहतर नहीं है, सब मुसलमानों में पर्दे का प्रचलन हो गया और खलीफा लोग अनेक शादियां करके स्त्रियों को हरम में रखने लग गये।

ज्ञान विज्ञान का विकासः—यह सब होते हुए भी ये अरबी मुसलमान काफी सहिष्णु थे और उनमें कुछ ऐसे स्वतन्त्र लोगों का विकास हुआ था जो विद्या प्रेमी थे। ७वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११वीं शताब्दी तक अरबी इस्लामी खलीफाओं का इतिहास परस्पर वैमनस्य, ईर्षा, द्वेष, लड़ाई झगड़ों, साजिशों, ऐशोआराम, पर्दे की स्त्रियों और गुलामों से भरा है, किन्तु इन सब के परे हमें एक दूसरी तस्वीर देखने को मिलती है जो वास्तव में बहुत ही गौरवपूर्ण और सराहनीय है, जिसमें वस्तुतः मानव विकास की कहानी समाहित है। इस पृथ्वी पर सर्व प्रथम ग्रीक लोग ऐसे थे जिन्होंने इस संसार को, संसार के पदार्थों को वस्तु-दृष्टि से, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से, देखने की कोशिश की थी। पदार्थ और सृष्टि की यथार्थ वस्तु-सत्य समझने की कोशिश की थी, और इस प्रकार विज्ञान की नींव डाली थी, वह विज्ञान जिस पर आज का हमारा समस्त ज्ञान भण्डार आधारित है। ग्रीक लोगों ने विज्ञान की नींव डाली, उसकी परम्परा प्रारम्भ की, किन्तु ग्रीक सभ्यता के विलीन होने के बाद वह परम्परा भी प्रायः विलीन हो गई। ग्रीक सभ्यता के बाद रोमन सभ्यता आई थी; रोमन सभ्यता

बड़ी ठाठ वाली, आवाज करने वाली, बजने वाली थी, किन्तु ज्ञान विज्ञान की परम्परा को वह चालू नहीं रख सकी, वाह्याडम्बर और दिखाव में ही वह अपने आप को भूल गई। किन्तु ग्रीस की ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को चालू रक्खा अरब ने, और आधुनिक काल को उस ज्ञान की टोर्च पकड़ाई अरब ने। इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण बात है।

अरब लोग अपने साम्राज्य के विस्तार में अनेक लोगों के सम्पर्क में आये थे, पहिला सम्पर्क उनका सीरिया के लोगों से था; सीरिया की भाषा में अनेक प्राचीन ग्रीक-दर्शन और विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद मिलता था। इसी सीरियन भाषा से अरबी भाषा में उन प्राचीन ग्रीक ग्रंथों का अनुवाद हुआ। फिर अरबी सिन्ध के रास्ते से भारतीय मनीषियों के सम्पर्क में भी आये, भारतीय संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में आये, फलतः भारतीय आयुर्वेद शास्त्र, दर्शन और गणित के अनेक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ और अरबों ने उनसे बहुत कुछ सीखा। अरब राज्य से इधर उधर बिखरे हुए यहूदी लोगों के सम्पर्क में भी वे आये। यहूदी और अरब मस्तिष्कों की टक्कर हुई और अवश्य एक दूसरे ने एक दूसरे को कुछ दिया, कुछ प्रभावित किया। मध्य-एशिया के रास्ते से वे चीन के सम्पर्क में आये और ऐसा अनुमान है कि चीनियों से ही अरबों ने कागज बनाना सीखा और फिर यूरोप में यह कला अरबिस्तान से ही गई। प्रतीत होता है मानव एक देश में बंद, एक कठघरे में बंद अकेला अपने एक मस्तिष्क से कुछ नहीं कर सकता। लोगों के परस्पर स्वतन्त्र सम्पर्क से ही ज्ञान विज्ञान का विकास होता है और मनुष्य को प्रकाश मिलता है। उपरोक्त सम्पर्क के प्रभाव से ही अरब ने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति की।

अरब में कई इतिहासकार पैदा हुए जिन्होंने अरबी भाषा में अपने काल का इतिहास लिखा; इसके अतिरिक्त अनेक रोमांचकारी कहानियां और किस्से लिखे जो आज भी पढ़े जाते हैं, और जिनने उस काल में साधारण लोगों को पढ़ना सीखने के लिए प्रेरित किया। इसी काल में

अलबेरूनी नाम का एक प्रसिद्ध यात्री भारत की यात्रा के लिए आया; भारत की यात्रा करके वह अपने देश लौटा और जो कुछ उसने भारत में देखा उसका एक सुन्दर.वर्णन लिखा। यह वर्णन उस काल के भारत के इतिहास का एक ऐतिहासिक आधार है। रेखागणित में तो ग्रीक गणितज्ञ यूक्लिड ने मानो बहुत कुछ प्राप्त कर लिया था, उस जमाने में उससे अधिक विकास सम्भव नहीं था, किन्तु अरबों ने त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) का विकास किया और ऐसा अनुमान है कि बीजगणित का तो उन्होंने ही आविष्कार किया। कुछ विद्वानों का मत है कि बीजगणित का ज्ञान भी भारत से आया था। आज जो गिनती के अंक प्रचलित हैं वे अरबी अंकों से ही लिए हुए हैं; अरबों ने वे अंक कहां से लिये इसका अभी कोई निश्चय नहीं, ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अरबों ने प्रारम्भ में भारत से ही इन अंकों को सीखा था।

चिकित्सा शास्त्र में बहुत कुछ तो अरबों ने प्राचीन ग्रीक पुस्तकों से सीखा और बहुत कुछ भारतीय आयुर्वेद शास्त्र से। उस काल में अरब के दवाखानों में, जो बड़े बड़े नगरों में स्थित थे, बड़े बड़े चीरा फाड़ी के इलाज होते थे, और वे सफल होते थे। शरीर विज्ञान और सफाई शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन होता था, इसमें उनका ज्ञान काफी बढ़ा चढ़ा था। रसायन शास्त्र में उन्होंने कई नई चीजें ईजाद कीं जैसे अल्कोहल, पोटाश, नाइट्रिक तेजाब और गन्धक तेजाब। वे लोग शर्बत, सत्व और आसव भी बनाना जानते थे। वनस्पति शास्त्र की भी अनेक बातें जानते थे। वे जानते थे कि खाद का क्या महत्व होता है, किस प्रकार दो जातियों का मेल करके नये पुष्प या नई प्रकार के फल पैदा किये जा सकते हैं, जो कि आधुनिकतम विज्ञान का एक अंग है। भौतिक शास्त्र में उन्होंने लम्बक का आविष्कार किया और आंखों की ऐनक के ज्ञान में बहुत कुछ विकास किया। उन्होंने कई वेधशालायें भी बनाईं और नक्षत्रों की चाल इत्यादि देखने

के लिये कई यन्त्र भी बनाये जो आज भी प्रचलित हैं। शिक्षा के प्रसार के लिए और ज्ञान विज्ञान की उन्नति के लिए कई विश्वविद्यालय थे जिनमें बगदाद का विश्वविद्यालय, और स्पेन में कुर्तुबा का विश्वविद्यालय प्रमुख थे; वे उस काल में बहुत प्रसिद्ध थे, इनमें दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। कुर्तुबा विश्वविद्यालय में अनेक ईसाई विद्यार्थी भी पढ़ते थे। बसरा (ईराक), काहिरा (मिस्र) और कूफा में भी विश्वविद्यालय थे। अरब दार्शनिकों में इब्नरूश्त (११२६-११९८ ई०), डाक्टरों में इब्नसीना (९८०-१०३७ ई०) (जो बुखारा मध्य एशिया में रहता था) और गणितज्ञों में इब्नमूसा के नाम उल्लेखनीय हैं। यह सब प्रगति और विकास उस काल में हो रहा था (८वीं से ११वीं शताब्दी में), जब समस्त यूरोप अन्धकारमय था।

•

(३६)

ईसाई और मुसलमान धर्म-युद्ध

(Crusades)

(१०९५-१२४९ ई० = लगभग १५० वर्ष)

ईसा मसीह की प्रेरणा थी—इस पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित हो। फिर ६३२ ई० में मोहम्मद साहब की प्रेरणा हुई कि इस दुनिया में एक खुदा की सल्तनत कायम हो। ईसा का मतलब था मनुष्य का अन्तः-करण पवित्र हो, प्रेममय हो, वहीं अपने अन्तर में वह ईश्वर का राज्य स्थापित करे, ईश्वर की अनुभूति करे। मोहम्मद का मतलब था कि सब दुनिया में लोग केवल एक परमात्मा में विश्वास करने वाले हों। ईसाइयों ने समझा बस सारी दुनिया के लोग ईसाई होजायं और ईश्वर का राज्य

स्थापित हो जायेगा, मुसलमानों ने समझा बस सारी दुनिया के लोग मुसलमान होजायं और दुनिया में खुदा की सल्तनत कायम हो जायेगी।

ईसा के बाद सन्त पॉल ने संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। धीरे धीरे व्यक्तिगत सम्पर्क से इस धर्म का प्रसार होने लगा। रोमन साम्राज्य के देशों में अनेक लोग इसके अनुयायी हुए, फिर चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में रोमन सम्राट कोन्सटाइन ने ईसाई धर्म स्वीकार किया, फिर तो इसके प्रभाव से फिलस्तीन, एशिया-माइनर, ग्रीस, मिस्र, उत्तर अफ्रीका, रोम, इटली, स्पेन देशों के प्रायः सभी लोग ईसाई हुये और फिर धीरे धीरे वे असभ्य नोर्डिक आर्य जातियों के लोग जैसे गोथ, फ्रेंक, नोर्समैन, स्लाव इत्यादि जो उत्तर पूर्व से रोमन साम्राज्य की ओर अनेक झुण्डों में आये वे भी धीरे-धीरे ईसाई होते गये। इन सब ईसाइयों का धार्मिक केन्द्र रोम था। प्राचीन रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो चुका था। (१) पूर्वीय रोमन साम्राज्य जिसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया थी, जो ग्रीक भावना प्रधान था और जिसकी भाषा भी ग्रीक थी। (२) पच्छिमी रोमन साम्राज्य जो लेटिन प्रधान (रोमन प्रधान) था और जिसकी भाषा लेटिन थी। यह पच्छिमी रोमन साम्राज्य सर्वथा ध्वस्त हो चुका था। उत्तर पूर्व से आने वाले उपरोक्त असभ्य नोर्डिक लोगों ने इसको खत्म कर दिया था, किन्तु इसके भग्नावशेषों पर इसी की यादगार में एक अन्य रोमन साम्राज्य स्थापित हो रहा था—"पवित्र रोमन साम्राज्य" जिसके संस्थापक वही उपरोक्त उत्तर पूर्व से आये हुए नोर्डिक जातियों के शासक लोग थे जो सब ईसाई बन चुके थे। शार्लमन महान् द्वारा सन् ८०० ई० में इसकी स्थापना होचुकी थी। रोम इसकी राजधानी थी। पूर्वीय रोमन साम्राज्य भी (जो बिजेनटाइन साम्राज्य भी कहलाता था) सम्राट कोन्सटाइन के सयय से एक ईसाई साम्राज्य ही था। इस प्रकार इस समय (अर्थात् ११वीं शताब्दी में) दुनिया में दो ईसाई साम्राज्य थेः—

१. **पवित्र रोमन साम्राज्य** : इसका विस्तार क्षेत्र हम

आधुनिक फ्रांस, जर्मनी, हौलेंड, बेलजियम, इटली मान सकते हैं। ये सभी देश तथाकथित केन्द्रीय सम्राट के शासन के अन्तर्गत थे। किन्तु रोम के पोप का दबदबा भी इन सब देशों के लोगों पर था, मानो पोप उनकी आत्मा का संरक्षक हो। सामान्य मान्यता तो यह थी कि पोप दयालु, धर्मात्मा और शुद्धात्मा होता है किन्तु वस्तुतः अधिकतर पोप क्रूर, दुष्ट और शक्तिलोलुप और लोभी होते थे, एवं धार्मिक क्षेत्र में सर्वेसर्वा होते हुए भी हर समय उनका यह प्रयास रहता था कि राजक्षेत्र में भी उन्हीं का प्रभाव हो। इसलिए उनमें और सम्राटों में हर समय द्वन्द भी चलता रहता था। किन्तु गांव गाँव में, नगर नगर में फैले अनेक पादरियों का जीवन सरल, त्यागमय होता था, और वे ईसा के नाम से प्रेरणा पाते थे और ज्ञात या अज्ञात रूप से समस्त शिक्षित एवं धर्म-भावना प्रधान ईसाइयों में यह भावना और यह आशा बनी रहती थी कि समस्त पृथ्वी पर ईसा की भावना से प्रेरित शान्ति और सुखमय ईश्वरीय राज्य स्थापित हो।

२. **पूर्वी रोमन साम्राज्य**—इसका विस्तार क्षेत्र आधुनिक बाल्कन प्रायद्वीप, ग्रीस एवं एशिया-माइनर में था। इसकी राजधानी कस्तुन-तुनिया थी। कस्तुनतुनिया का गिर्जा यद्यपि कई शताब्दियों तक रोम के पोप के ही आधीन था, किन्तु १०४५ ई० में एक साधारण सैद्धांतिक मतभेद पर यह रोम से सर्वथा स्वतन्त्र हो चुका था। यहां का सम्राट भी रोम के पोप से अपने आपको बिल्कुल स्वतंत्र समझता था। किन्तु रोम के पोप में यह इच्छा हर समय बनी रहती थी कि पूर्वीय रोमन साम्राज्य भी उसके आधीन रहे और समस्त ईसाई दुनिया पर उसीका एकाधिपत्य हो। इस समस्त ईसाई दुनिया में अदृश्य रूप से यह भावना अवश्य प्रवाहित थी कि एक ईसाई धार्मिक राज्य स्थापित हो। यह तो ११वीं शताब्दी में ईसाई धर्म की बात हुई।

अब इस्लामी दुनिया का अध्ययन कीजिए। सन् ६३२ ई० में इस्लाम का प्रसार होने लगा। अबूबकर, उमर, उस्माम एवं अन्य

खलीफाओं ने अपनी तलवार के बल पर कुछ ही वर्षों में समस्त अरब, ईराक, ईरान, सीरिया, मिस्र, और उत्तर अफ्रीका, स्पेन और मध्य तुर्किस्तान को मुसलमान बना लिया, किन्तु ८वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक शुरुआत का जोश खत्म हो चुका था। इस्लाम का अब अधिक विस्तार नहीं हो रहा था बल्कि उपरोक्त समस्त देश जो पहिले बगदाद में स्थित केन्द्रीय शासक अरबी खलीफा के आधीन थे, स्वतन्त्र होने लगे थे। स्पेन स्वतन्त्र हो चुका था और वहां का प्रांतीय शासक अलग ही सुल्तान बन बैठा था, इसी तरह उत्तर अफ्रीका और मिस्र में हुआ। यहां तक कि ११वीं शताब्दी में बगदाद के चारों ओर की कुछ भूमि को छोड़कर अन्य समस्त प्रदेश केन्द्रीय खलीफा के हाथ से निकल चुके थे और छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य कायम हो चुके थे। ये सब निष्प्राण से थे।

ऐसी दशा में उधर यूरोपीय ईसाई राज्य समझ बैठे थे कि मुस्लिम शक्ति का सर्वदा के लिए ह्रास हो चुका है, किन्तु इस्लाम का एक नया शक्तिशाली दौर आया। यह दौर था तुर्की मुसलमानों का। ये तुर्की मुसलमान कौन थे? तुर्क लोग मंगोलियन प्रजाति की एक विशेष प्रशाखा के लोग थे; इस मंगोलियन प्रजाति की अन्य उपशाखायें थीं—हूण, मंगोल, फिन्स इत्यादि। अब तक मध्य एशिया, तुर्किस्तान, एवं मंगोलिया प्रदेशों में जो मानव बसे हुए थे, असभ्य थे, घुमक्कड़ प्रकृति के। समय समय पर इन लोगों के समूह प्रचण्ड प्रवाह की तरह कभी पूर्व (चीन) की ओर बह जाते थे, कभी पच्छिम (यूरोप) की ओर; और कभी दक्षिण (भारत) की ओर। यह याद होगा कि जब अरब मुसलमान दुनिया को मुसलमान बनाने निकले थे तो उनका एक प्रवाह ईरान होता हुआ मध्य एशिया तक भी आया था और वहां के समस्त तुर्क लोगों को (जो पहिले किसी भी प्रकार के संगठित धर्म से परिचित नहीं थे, केवल जातिगत देवों की पूजा किया करते थे) मुसलमान बनाया गया था। इन्हीं तुर्क मुसलमानों का दौर अब पच्छिम की तरफ हुआ। भिन्न भिन्न समूहगत जातियां सभी

प्रारंभिक मानवों में मिलती हैं । तुर्क लोगों में भी इस प्रकार की अनेक जातियां थीं जो आपस में लड़ा झगड़ा करती थीं । इन लड़ाइयों में क्रूरता, षड़यंत्र, और चालाकियाँ सब कुछ चलती थीं । इस समय जब का हम जिक्र कर रहे हैं, अर्थात् ११ वीं शताब्दी में, सेलजुक जाति के तुर्क लोग जोरों में थे और इन्हीं लोगों के झुण्ड एक के बाद दूसरे अरबी खलीफा साम्राज्य की ओर ईरान के रास्ते से बढ़े । ईरान, ईराक, सीरिया, फिलस्तीन (यरुशलम) इत्यादि प्रदेशों पर कब्जा करने में कुछ भी देर नहीं लगी । बगदाद के खलीफा को बगदाद का शाह बने रहने दिया, किन्तु केवल नाम मात्र के लिए; वास्तव में शासन तुर्कों ने अपने हाथ में ले लिया । ये लोग दक्षिण अरब (रेगिस्तान) की ओर, एवं मिस्र और अफ्रीका की ओर नहीं बढ़े । किन्तु उनकी दृष्टि एशिया-माइनर की ओर गई जो अभी तक रोमन साम्राज्य का एक अंग था,—उधर ही सेलजुक तुर्क बढ़े । रोमन साम्राज्य की राजधानी कस्तुनतुनिया दूसरे किनारे पर थी, उसके ठीक सामने इधर एशियाई किनारे पर उनका नीसिया शहर था । नीसिया तक तुर्क लोग पहुंच गये ।

बस इसी बिन्दु पर पहुंचने पर ईसाई और मुसलमानों की भिड़न्त हुई । बढ़ते हुए मुसलमान-तुर्कों को देखकर पूर्वीय रोमन साम्राज्य के सम्राट ने फौरन रोम के पोप को सहायता के लिए लिखा और कहा कि ईसाईयों की धर्मस्थली यरुशलम और पवित्र गिर्जा को मुसलमानों से विमुक्त करना चाहिए । रोम के पोप ने देखा अच्छा अवसर है पूर्वी रोमन साम्राज्य को अपने प्रभुत्व में लाने का और इस प्रकार समस्त ईसाई संसार का अधिनायक बन जाने का । उस समय "अर्बन द्वितीय" रोम का पोप था । तुरन्त सारे ईसाई प्रदेशों के शासकों एवं समस्त ईसाई प्रजा के नाम एक अपील निकाली कि ईसाई धर्मभूमि यरुशलम को एवं पवित्र गिर्जा को, मुसलमानों के हाथों से मुक्त करना चाहिये, मुसलमानों की क्रूरता और नृशंसता को खत्म करना चाहिये, मुसलमानों के विरुद्ध एक जिहाद बोल देना चाहिये ।

पीटर नाम का एक ईसाई साधु पादरी था। मुसलमानों के खिलाफ जिहाद का संदेशा लेकर ईसाई प्रदेशों के गांव गांव में, नगर नगर में पैदल ही वह पहुंच गया।, जन साधारण के हृदय पर उसका अद्भुत प्रभाव था, जन जन के हृदय में उसने एक नई स्फूर्ति पैदा करदी। समस्त ईसाई दुनिया धर्म युद्ध के लिये, जिहाद के लिये, तैयार हो गई। १०६५ ई० में यूरोप की ईसाई प्रजा प्रथम धर्म युद्ध के लिए रवाना हुई। इसमें अभी कोई शासक या कोई संगठित फौज शामिल नहीं हुई थी, केवल साधारण प्रजा थी। अनेक लोग सच्ची ईसाइयत की भावना से निकले, बहुतों ने देखा, चलो लूटमार का मौका मिलेगा। सब तरह के आदमी थे अच्छे बुरे, किसान, व्यापारी। मानव इतिहास में यह पहिला अवसर था जब जनसाधारण इस प्रकार संघबद्ध होकर किसी एक आदर्श की प्राप्ति के लिये काम करने को निकल पड़ा हो। पश्चिमी यूरोप से यरुशलम तक लम्बा रास्ता था; पैदल, या गदहों या घोड़ों पर जाना पड़ता था। बहुत से तो यरुशलम तक पहुंचे ही नहीं; जो पहुंचे वे लड़े किन्तु सेलजुक तुर्कों के हाथों सब खत्म हो गये। हजारों मानवों की यह नृशंस हत्या थी। धर्म युद्ध का कुछ भी परिणाम नहीं निकला।

किन्तु अब ईसाइयों का दूसरा प्रवाह चला। इस बार लोगों की संगठित फ़ौजें थीं। बोसफोरस मुहाने को उन्होंने पार किया। एशिया-माइनर में नीसिया शहर पर कब्जा किया और फिर यरुशलम की ओर बढ़े। यरुशलम पर भी कब्जा किया और अपनी विजय की खुशी में जितने भी मुसलमान मिले सबको तलवार के घाट उतार दिया। रोम के पोप ने अपना ही आदमी यरुशलम का पादरी नियुक्त किया। किन्तु युद्ध समाप्त नहीं हुए। सन् १०६५ ई० में ये शुरु हुए थे; सन् १२४६ तक, लगभग डेढ़सौ वर्षों तक ईसाईयों और मुसलमानों में ये क्रूर युद्ध होते रहे। कभी युद्ध शांत हो जाते थे, कभी गरम। इन युद्धों में मिस्र के प्रसिद्ध सुल्तान सलादीन, इङ्गलैंड के प्रसिद्ध बादशाह 'सिंह हृदय' रिचार्ड, फ्रांस के राजा एवं अन्य देशों के राजाओं ने भाग लिया। इन

युद्धों में अनेक कहानियां सच्ची वीरता की मिलती हैं, अनेक कहानियां रोमांचकारी। किन्तु इन सब धर्म युद्धों का कुछ भी परिणाम नहीं निकला। यरुशलम अंत में तुर्क मुसलमानों के ही हाथ रहा किन्तु वे आगे यूरोप में नहीं बढ़ सके। केवल यही हुआ कि यूरोप में तो "रोमन साम्राज्य" खोखला हो गया और इधर एशिया में सेलजुक तुर्क साम्राज्य भी निशक्त। लाखों मनुष्यों की, बच्चों की, धर्म के नाम पर नृशंस हत्या हुई। एक बात और अवश्य देखने को मिली कि यूरोप के जनसाधारण में एक भावना थी जिसको संगठित करके सामूहिक ढंग से कुछ काम करवाया जा सकता था, कुछ हलचल पैदा की जा सकती थी।

•

(३७)

मंगोल लोग और संसार के इतिहास में उनका स्थान

प्राचीन काल से लेकर लगभग १२वीं शताब्दी तक के मानव इतिहास का अवलोकन हम सरसरी नजर से कर आये हैं। इस काल में अनेक सभ्यताओं का उद्भव, विकास और फिर पतन हुआ। हमने देखा जहां जहां भी जब जब भी किसी सभ्यता का विकास हुआ उसका अन्त बाहर से आने वाले घुमक्कड़ चरवाहे अथवा बनजारे असभ्य लोगों द्वारा हुआ। सभी सभ्यताओं एवं संगठित समाजों का ऐसा ही इतिहास रहा। प्राचीन काल में सुमेर में संगठित समाज और सभ्यता का विकास हुआ, उसको ध्वस्त किया बाहर से आकर घुमक्कड़ सेमेटिक असीरियन लोगों ने। क्रीट द्वीप, एवं ईजीयन द्वीप समूहों में विकसित प्राचीन मायोनियन सभ्यता का अन्त किया अपेक्षाकृत असभ्य ग्रीक लोगों ने जिनके समूह

उत्तर-पूर्व से इन प्रदेशों में दाखिल हुए थे। और इन्हीं ग्रीक लोगों ने फिर प्राचीन मिस्र की सभ्यता पर अपनी सभ्यता का आरोप किया। कालान्तर में पच्छिमी एशिया में, फारस और मेसोपोटेयिया में जब प्राचीन ईरानी सभ्यता स्थापित थी और मिस्र में रोमन साम्राज्य, उनको ध्वस्त करते हुए निकले घुमक्कड़ अरब लोगों के प्रवाह। और फिर रोम, रोमन साम्राज्य और रोम सभ्यता का अन्त किया उत्तर पूर्व से आते हुए घुमक्कड़ नोर्डिक आर्य लोगों ने। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में किसी भी संगठित सभ्यता और समाज के लिए हर समय यह भय बना रहता था कि कहीं कोई असभ्य जाति बाहर से आकर उनका विनाश न कर दे। उस समय की स्थिति ऐसी थी मानो जिस किसी प्रदेश या भूभाग में सुसभ्य समाज संगठित है और उच्च सभ्यता का विकास है, वह एक नखलिस्तान के समान है जिसके चारों ओर रेगिस्तान फैला हुआ है–कौन जाने कब धूल का बवंडर उठ खड़ा हो और उस नखलिस्तान को खत्म कर डाले। इसका यह अर्थ नहीं कि उस संगठित सभ्यता या समाज के विनाश का कारण केवल वह बाहरी आक्रमण ही होता था। वस्तुतः कुछ आन्तरिक कमजोरी उत्पन्न हो जाने पर ही–जैसे शासक वर्ग में सामाजिक भावना का अभाव, ऐश्वर्य एवं स्वार्थ और सत्ता लोलुपता, बाहरी दुनिया की अनभिज्ञता इत्यादि–बाहरी आक्रमण सफल होते थे। उस स्थिति की तुलना कीजिये आधुनिक संसार की स्थिति से। आज पृथ्वी पर जहां कहीं भी मानव रहते हैं लगभग उन सभी स्थानों पर सभ्यता, संगठित सामाजिक जीवन-प्रणाली, आधुनिक यातायात और सम्पर्क के साधन इत्यादि प्रसारित हैं–यदि कुछ भू-भाग ऐसे भी हैं जहां के मानव सभ्य न हों, तो वे इतने सबल नहीं कि अपने चारों ओर प्रसारित सभ्यता को दबा सकें। आज दुनिया में सभ्यता को बाहरी किसी खतरे का डर नहीं–यदि इसको कुछ चीज ध्वस्त कर सकती है तो इसकी कुछ आन्तरिक कमजोरियां या आन्तरिक बुराइयां ही।

१२वीं शताब्दी तक भिन्न भिन्न सभ्यताओं पर असभ्य घुमक्कड़ लोगों के जो ध्वंसात्मक आक्रमण हुए उनका निर्देश करने के बाद अब हम मानव इतिहास में बंजारे लोगों के अन्तिम आक्रमण का वर्णन करते हैं। यह बवंडर अपने से सब पूर्व बवंडरों की अपेक्षा अधिक प्रसारित, अधिक ध्वंसकारी एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वशाली भी है; हमारे युग के अधिक निकट, इसलिए इसकी स्मृति भी अधिक ताजा।

यह तूफानी बहाव था मंगोल लोगों का, जो मध्य एशिया के उत्तर-पूर्व में मंगोलिया इत्यादि प्रदेशों में फैले हुए थे, और जो पूर्व में प्रशान्त महासागर के किनारे से पश्चिम में यूरोप तक जहां कहीं भी गये, सब कुछ अपने पीछे समेटते गये, और सब कहीं अपना अधिकार स्थापित करते गये।

ये मंगोल लोग कौन थे ?—ये लोग नोर्डिक एवं नीग्रो प्रजातियों से भिन्न मंगोल जाति के लोग थे; हूण, तुर्क और तातार लोगों से मिलते जुलते जिनके आक्रमण भिन्न भिन्न शताब्दियों में दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों में हुए थे—वे ही हूण जिनके आक्रमण ई० पू० शताब्दियों में चीन पर होते रहते थे—और जिनको रोकने के लिए महान् दीवार बनाई गई थी; वे ही हूण जिनके नेता अटिला ने चौथी-पांचवीं शताब्दी में पूर्वीय यूरोप में अपना साम्राज्य स्थापित किया था, और जिनके एक अन्य नेता मिहिरगुल ने ६ठी शताब्दी के आरम्भ में भारत पर लूटमार का आतंक जमाया था,—वे ही तुर्क जिन्होंने ११वीं शताब्दी में अरबी खलीफाओं को विनष्ट कर फारस, ईराक, सीरिया, इत्यादि पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। वास्तव में हूण, तुर्क, तातार, मंगोल—ये सब लोग एक ही मंगोलियन उपजाति के लोग थे, जिनके झुंड भिन्न भिन्न युगों में इधर उधर जाते रहते थे।

ये घुमक्कड़ (बंजारे) लोग थे, जो भेड़ बकरी, घोड़े पालते थे, चरागाहों में इधर उधर चराते फिरते थे और शिकार करते थे, ठण्ड के दिनों में दक्षिणी भागों में आ जाते थे, गर्मियों में उत्तर की ओर चले जाते थे। तम्बूओं में अपना जीवन व्यतीत करते थे, घोड़ी का दूध और

मांस इनका मुख्य भोजन होता था। जीवन सरल और साहसी होता था। यूराल आल्टिक (मंगोल) परिवार की भाषाओं–तुर्की-मंगोल इत्यादि की बोलियों का ये प्रयोग करते थे–जिनके लिखित रूप का अभी विकास नहीं हुआ था। वे इस बात से परिचित ही नहीं थे कि भाषा और बोली का कोई लिखित रूप भी होता है। शैमिनिज्म एक प्रकार का आरम्भिक धर्म जिसमें "आकाश देव" या अन्य देवताओं की पूजा होती थी उसी का ये पालन करते थे किन्तु यह धर्म उसके जीवन में कोई महत्व की वस्तु नहीं थी, उस समय की दुनिया में प्रचलित संगठित एवं सुविकसित बौद्ध, हिन्दू ईसाई, इस्लाम धर्मों से ये सर्वथा अपरिचित थे। छोटी-छोटी समूहगत जातियों में ये विभक्त थे,–प्रत्येक जाति का एक नेता या सरदार होता था,जिसके आदेश का पालन होता था।

१३वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी चीन में जिन (तातार) लोगों का साम्राज्य था, उन्हीं के आधीन ये थे–उन्हीं के आधीन रह कर संगठित सेना संचालन का काम इन्होंने सीखा था। धीरे-धीरे ये लोग इनके एक नेता चंगेजखां के नेतृत्व में संगठित हुए। चंगेजखां के नाम से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि वह मुसलमान था। अभी तक अपने शेमिनिज्म मत के अतिरिक्त और किसी मत को ये नहीं जानते थे। चंगेजखाँ ने एक कुशल सेना का संगठन किया। १३वीं शती के प्रारम्भ होते ही उसने अपना विजय प्रयाण प्रारम्भ किया।

१३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दुनिया की क्या हालत थी— सुदूरपूर्व में चीन दो राज्यों में विभक्त था, उत्तर में तातार वंशज किन साम्राज्य था और दक्षिण में शुंग साम्राज्य। हिन्दचीन, स्याम, पूर्वीय द्वीप समूहों में चीनी, एवं भारतीय बौद्ध और हिन्दू उपनिवेश थे। उत्तर भारत में गुलाम वंश के मुसलमान बादशाहों का राज्य था। भारत के उत्तर पच्छिम में भारतीय सीमा से लेकर मध्य एशिया, समस्त फारस और मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में मुसलमानी खीवान वंश के बादशाहों का राज्य था। मिस्र, सीरिया, इजराइल में मिस्र के प्रसिद्ध सुल्तान

सलादीन के वंशजों का राज्य था, और उत्तर अफ्रीका एवं दक्षिण स्पेन तक अन्य मुसलमानी राज्य थे। एशिया-माइनर में तुर्क लोगों का राज्य था–जिनकी संरक्षता में बगदाद का खलीफा मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में राज्य कर रहा था। चीन साम्राज्य के पच्छिमी छोर से लेकर पच्छिम में यूराल पर्वत और कालासागर तक के विशाल घास के मैदानों में बनजारे तातार एवं मंगोल फैले हुए थे। यूरोप में पूर्वीय रोमन साम्राज्य बाल्कन प्रायद्वीप एवं एशिया-माइनर के पच्छिमी भागों में स्थित था, कस्तुनतुनिया उसका केन्द्र था; उत्तरी इटली, जर्मनी, बेलजियम प्रान्तों में पवित्र रोमन साम्राज्य प्रसारित था। इङ्गलैंड व फ्रान्स में द्वन्द चलता था; पोलेण्ड, हंगरी, नार्वे, स्वीडन राज्यों का धीरे धीरे उद्भव हो रहा था,–उत्तरी स्पेन में कई सामन्ती शासकों का राज्य था; पूर्वीय यूरोप में रूस राज्य का भी उद्भव हो रहा था जिसके उत्तर में नेवोगो-रोड प्रजातन्त्र स्थापित था और दक्षिण में कीफ का राज्य।

दुनिया का उपरोक्त जो चित्र दिया गया है उससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि संसार के किसी भाग में कोई शक्तिशाली सुसंगठित राज्य कायम नहीं था और न उनको इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान था कि मध्य एशिया कोई विशाल भूभाग है जहां अनेक लोग रहते हैं। पूर्व में चीनी शुंग साम्राज्य अवश्य था–किन्तु इसकी शक्ति इस समय क्षीण थी। इसी चीनी साम्राज्य को छोड़कर बारूद और बन्दूकों का ज्ञान भी दुनिया में अन्य किन्हीं लोगों को नहीं था। मंगोल लोग चीन के इस आविष्कार से परिचित हो चुके थे, और अपने आक्रमणों में उन्होंने इसका प्रयोग भी किया।

(१) **मंगोलों के आक्रमण** :–(१३वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध)–१३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में चंगेजखां* का तूफानी दौरा प्रारम्भ हुआ।

*रूसी पुरातत्ववेत्ता प्रो० सर्ज किसलेफ न पता लगाया है कि चंगेजखां का जन्म ११६२ ई० में बेकाल झील के पूर्व में चित्रा ओब जास्त नामक स्थान में हुआ था।

सर्वप्रथम वह पूर्व की ओर बढ़ा, चीन के उत्तरी किन साम्राज्य का अन्त किया, और मंचूरिया जीता। स्यात् इतने साम्राज्य से ही वह संतुष्ट हो जाता किन्तु ईरान के बादशाह ने कुछ मंगोल व्यापारियों को लूट लिया, और चंगेज खां के भेजे हुए राजदूतों को मार डाला, इस पर चंगेजखां भयंकर प्रतिकार की भावना से ईरान पर चढ़ आया, भयंकर गर्जते हुए काले बादलों की तरह सन् १२१६ में उसकी सेनायें समस्त प्रदेश पर छागईं। समृद्धिशाली प्रसिद्ध समरकन्द, बुखारा, कोरंद नगरों को उसने धूल में मिला दिया,ऐसा साफ कर दिया मानो वे कभी बसे हुए ही नहीं थे, लाखों आदमियों को नृशंशता से मार डाला गया, और इस प्रकार एक तूफान की तरह वह आगे बढ़ता गया। संपूर्ण तुर्किस्तान पर अपना राज्य स्थापित करता हुआ, ईरान की ओर बढ़ा, उसे अपने राज्य में सम्मिलित किया, और फिर आरमेनिया,और फिर पश्चिम में यूरोप की ओर वोल्गा नदी को पारकर कालासागर के उत्तर तक उसने अपना राज्य स्थापित कर लिया।

इस प्रकार पश्चिम में कालासागर से लगातार पूर्व में प्रशान्त महासागर तक उसके राज्य का विस्तार हो गया। चंगेजखां ने मंगोलिया के छोटे से नगर कराकोरम को ही इस विशाल साम्राज्य की राजधानी रक्खा। राजधानी में ईरान, यूरोप, तुर्किस्तान, चीन, मेसोपोटेमिया इत्यादि सभी देशों के व्यापारिक, और विद्वान लोग आकर एकत्र थे। यद्यपि चंगेजखां अशिक्षित था, किन्तु बहुश्रुत था, देश देश की बातें सुनने का उसे बहुत शौक था, यहां तक कि जब उसको ज्ञान हुआ कि बोलियों का कोई लिखित रूप भी होता है, तो उसने चाहा था कि मंगोल लोगों के जितने रस्म रिवाज हैं उनको लिखित रूप दे दिया जाय। येल्यू चुत्सई चीन का एक शिक्षित राजनैतिक, चंगेजखां का सलाहकार था, उसके प्रभाव की वजह से अनेक नगरों, कलाकृतियों और साहित्य की रक्षा हो सकी।

(२) १३वीं शताब्दी मध्य—सन् १२२७ में उस समय जब चंगेजखां

अपनी विजय की उच्च शिखर पर था, उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र चगताई को जाति के सामन्तों और सरदारों द्वारा खां की उपाधि दी गई और वह विशाल साम्राज्य का सम्राट बना। विजय यात्रा जारी रही। सर्वप्रथम यूरोप की ओर प्रयाण हुआ। सन् १२४० में दक्षिण रूस की राजधानी कीफ का पतन हुआ,–फिर पौलेंड और जर्मनी की सम्मिलित फौज के साथ मध्य यूरोप में लिबनिज स्थान पर मंगोलों का युद्ध हुआ–पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट फ्रेडरिक महान् भी कुछ नहीं कर पाया। जर्मन और पोल लोग परास्त हुए, समस्त दक्षिणी रूस में मंगोलों का राज्य स्थापित होगया। उपरोक्त युद्ध की विजय के बाद मंगोल लोग पश्चिमी यूरोप की ओर भी बढ़ते–जर्मन और पोलिश लोगों की सम्मिलित शक्ति की हार के बाद कोई भी यूरोपीय शक्ति नहीं थी जो उनको रोक सकती थी, किन्तु घर पर सम्राट की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी के प्रश्न पर कुछ झगड़ा होने के समाचार पाकर, मंगोल फौजें यूरोप से अपने घर कराकोरम राजधानी की ओर लौट आईं, पश्चिमी यूरोप बच गया। पूर्व में अब तक समस्त चीन साम्राज्य–सुंग साम्राज्य सहित मंगोलों के आधीन हो चुका था।

सन् १२५२ ई० में मंगुखां साम्राज्य का अधिनायक बना। उसने भिन्न भिन्न प्रान्तों में गवर्नर शासक नियुक्त किये जिनमें सबसे प्रसिद्ध चीन का गवर्नर कुबलेखां था। ईरान का गवर्नर हुलागु था। बगदाद के खलीफा ने मंगोल गवर्नर को किसी बात पर नाराज कर दिया, इससे क्रोधित होकर मंगोल गवर्नर ने बगदाद पर आक्रमण कर दिया और इस प्राचीन नगरी को नष्टभ्रष्ट कर दिया। अरब खलीफाओं के पिछले ५०० वर्षों के राज्यकाल में जो कुछ भी कला, साहित्य, धन, ऐश्वर्य वहां एकत्र हुए थे सब धूल में मिला दिये गये, बगदाद के अतिरिक्त बुखारा एवं अन्य अनेक नगर भी नष्टभ्रष्ट कर दिये गये। इस प्रकार सन् १२५८ ई० में जब बगदाद का पतन हुआ, मोहम्मद के वंशज खलीफाओं का और जो कुछ भी छोटा मोटा अब्बासीद वंश का राज्य बचा था वह

समूल नष्ट हो गया। मेसोपोटेमिया में मंगोल लोगों ने केवल नगर ही बरबाद नहीं किये, किन्तु हजारों वर्षों से सिंचाई की जो अनुपम प्रणाली वहां चली आ रही थी, वह भी नष्ट कर डाली। सम्राट मंगुखां का राज्य दरबार कराकोरम में ही लगा करता था। यहां, जैसा कि मंगोल लोगों का स्वभाव था मंगोल सम्राट ने कोई बड़ा नगर बसाने का प्रयत्न नहीं किया और न कोई बड़े बड़े महल बनवाये। बंजारे लोगों की तरह तम्बुओं के अन्दर उसका राज्य दरबार लगा करता था, देश विदेश से व्यापारी राजदूत, कलाकार, विद्वान, ज्योतिषी इत्यादि एकत्र होते थे। मंगुखां सब लोगों से परिचय प्राप्त करता था। उसने ईसाइयों के पोप की भी बातें सुनीं। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध इत्यादि धर्म प्रचारक इसके राज्य दरबार में आये और सबने यह प्रयत्न किया कि सम्राट उनका धर्म अपनाले। वे समझते थे कि जिस धर्म को खां ने स्वीकार कर लिया वह धर्म संसार में अधिक शक्तिशाली हो जायगा। कहते हैं, एक बार खां ने ईसाई धर्म ग्रहण करने का इरादा भी कर लिया था किन्तु यह बात सुनकर कि रोम का पोप ही सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली पुरुष है, उसने यह विचार छोड़ दिया। अंत में मंगोल लोगों ने जहां जहां वे बसे हुए थे वहां वही धर्म ग्रहण कर लिया जो उन स्थानों में प्रचलित था। मध्य एशिया और मंगोलिया में जो लोग बसे हुए थे उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और रूस और हंगरी में जो मंगोल लोग बसे हुए थे सम्भवत: उन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मंगुखां की मृत्यु के बाद चीन का मंगोल गवर्नर कुबलेखां मंगोल साम्राज्य का सम्राट बना। कुबलेखां पर चीनी सभ्यता और स्वभाव का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। मंगोल लोगों की क्रूरता उसमें नहीं थी। वह उन लोगों में इतना घुल मिल गया था कि चीनी लोग उसको अपनी ही जाति का एक व्यक्ति समझने लग गये थे और वास्तव में उसने चीन में चीनी युग्रान राज्य-वंश की नींव डाली। समस्त चीन तो उसके साम्राज्य में आ ही चुका था, इसके अतिरिक्त हिन्द-चीन, बर्मा

भी उसने अपने साम्राज्य में मिला लिए। जापान और मलेसिया (पूर्वीय द्वीप समूह) पर भी उसने राज्याधिकार करना चाहा, किन्तु मंगोल लोग नव-सेना युद्ध में और जहाजरानी में दक्ष नहीं थे। इसलिए इस काम में वह सफल नहीं हो सका। कुबलेखां के राज्य-काल में (१३ वीं शती में) इटली से दो व्यापारी चीन में आये थे। कुबलेखां पर उनका काफी प्रभाव पड़ा था। कुबलेखां ने उनसे कहा था कि वे अपने देश जायें और वहां पोप से प्रार्थना करके १०० ईसाई धार्मिक विद्वान चीन में पहुँचवायें। ये दोनों व्यापारी लौट कर रोम आये। पोप से १०० विद्वानों को चीन भेजने की बात कही गई। विद्वान उपलब्ध नहीं थे, आखिर दो पादरी इन व्यापारियों के साथ भेजे गये। वे चीन की राजधानी पेकिंग आये। इनके साथ एक व्यापारी का लड़का भी था। अपनी यात्रा में इसने चीनी भाषा अच्छी तरह से सीखली थी। खां पर इसका खूब प्रभाव पड़ा, और उसे खां के राज्य में बहुत ऊंचा पद मिला। १२ वर्ष तक वह वहां रहा, फिर दक्षिण भारत, ईरान होता हुआ वह अपने देश इटली में आया जहां उसने १२९८ में अपनी यात्राओं का एक विषद वर्णन लिखा। यह विलक्षण व्यक्ति मार्को पोलो था।

कुबलेखां की समस्त शक्ति चीन में लग जाने के फ़लस्वरूप मंगोल साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रांतों के गवर्नर शासक धीरे धीरे स्वतन्त्र होते जा रहे थे। सन् १२९२ ई० में जब कुबलेखां की मृत्यु हुई उस समय साम्राज्य में कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था जो इतने बड़े साम्राज्य का एकाधिपत्य स्वामी बन सकता। अतएव उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर कई भागों में विभक्त हो गया। साम्राज्य के मुख्यतः ५ भाग बनेः—

१. चीन–जिसमें तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया इत्यादि सम्मिलित थे। यहां सन् १३६८ ई० तक कुबलेखां द्वारा स्थापित यु-आन वंश का राज्य चलता रहा, तदुपरान्त शुद्ध चीनी मिंग राज्य वंश की स्थापना हुई।

२.–३. सुदूर पच्छिम में किपचक और शिविर साम्राज्य (जो रूस के दक्षिणी भाग में स्थित थे)। इन प्रदेशों में धीरे धीरे अधिकतर मंगोल लोगों ने समयानुकूल घुमक्कड़ जीवन ग्रहण कर लिया, और वे उन प्रदेशों में पूर्व स्थित अन्य घुमक्कड़ जातियों, जैसे इन्डोसिथियन, काकेशियन इत्यादि के साथ हिल मिल गये; किन्तु पूर्व-स्थित नगरों जैसे कीफ, मास्को आदि के ड्यूकों (सरदारों) से कर वसूल करते गये। अन्त में सनु १४८० ई० में मास्को के ड्यूक आईवन तृतीय ने खां का आधिपत्य मानने से इन्कार कर दिया। साथ ही उसने उत्तर में स्थित नोवोग्रोड प्रजातन्त्र को जीतकर अपने आधीन कर लिया। इस प्रकार इन प्रदेशों में मंगोल आधिपत्य समाप्त करके आइवन तृतीय ने आधुनिक रूसी राज्य की नींव डाली।

४. पामीर प्लेटो की भूमि में जगताई, मंगोल साम्राज्य का एक

विभाग बना। यहां के मंगोल लोगों ने भी धीरे धीरे जंगली चरावाह एवं घुमक्कड़ जीवन ग्रहण कर लिया। कभी कभी किसी शताब्दी में उन लोगों का छोटा मोटा साम्राज्य कायम रहा किन्तु धीरे-धीरे इस विभाग का पूर्वीय भाग तो चीन साम्राज्य में मिल गया और शेष भाग रूसी साम्राज्य में।

५. मंगोल इलखान साम्राज्य जो कि ईरान और मेसोपोटेमिया में स्थित था। १४वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में पच्छिमी तुर्किस्तान में एक और घुमक्कड़ लोगों का बवंडर उठा जिसका नेता तैमूरलङ्ग था। तैमूर-लङ्ग माता की ओर से चंगेजखां के वंशजों में से ही था। तैमूरलङ्ग के पिता ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था इसलिए तैमूर मुसलमान था; वह बहुत ही असभ्य और क्रूर आदमी था। मंगोल इलखान साम्राज्य के ईरान और मेसोपोटेमिया पर धुआंधार की तरह तैमूर चढ़ कर आया, जो कुछ भी रास्ते में मिला उसे ध्वंस करता गया। उसने एशिया-माइनर, समस्त ईरान, मेसोपोटेमिया, दक्षिणी तुर्किस्तान एवं अफगानिस्तान में अपना साम्राज्य स्थापित किया और सन् १३९८ ई० में जब महमूद तुगलक देहली के सिंहासन पर था, भारत में लूटमार करने के लिये भयङ्कर आक्रमण किये। भारत की राजधानी में कई दिनों तक उसने लूटमार की, लाखों आदमियों को मार डाला और जहां जहां गया बर-बादी फैला दी। भारत से लौटते समय हजारों कैदियों और अटूट धन-राशि भारत से लूटकर ले गया। सन् १४०५ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न होगया, मेसोपोटेमिया में १३वीं शताब्दी में ओटोमन (उसमान) तुर्क लोगों का राज्य हुआ, और फारस में कुछ ही बर्ष बाद एक अन्य तुर्की वंश का राज्य कायम हुआ।

इस प्रकार १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मंगोल लोगों की जो आंधी चली थी, वह समस्त एशिया, यूरोप पर भयङ्कर रूप से छाती हुई, १५वीं शताब्दी में कहीं जाकर साफ हुई। उसके बाद मंगोल लोगों की संगठित स्थिति दुनिया में कहीं नहीं रही। हां इन्हीं मंगोल लोगों से

कुछ सम्बन्धित जातियों द्वारा एक ओर तो एशिया-माइनर और यूरोप में और दूसरी ओर भारत में कुछ महत्वपूर्ण आक्रमण हुए जिनका वर्णन संक्षेप में कुछ आगे किया जायेगा।

मंगोल आक्रमणों का विश्व इतिहास पर प्रभाव—मंगोल आक्रमण पूर्व में चीन से लेकर पच्छिम में यूरोप तक पहुँचे थे—यूरोप में इन आक्रमकों ने जर्मनी और पौलेण्ड को भी अछूता नहीं छोड़ा था, अतएव चीन, मध्य-एशिया, तुर्किस्तान, ईरान, एवं यूरोपीय देशों में पर्याप्त निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। दो शताब्दियों तक पूर्व से पच्छिम और पच्छिम से पूर्व तक व्यापारिक मालों से लदे बड़े बड़े काफिले निशंक होकर घूमे थे; भिन्न भिन्न देश के अनेक विद्वानों, ज्योतिषियों, धर्मज्ञों में भी सम्पर्क स्थापित हुआ था; मंगोल खां के दरबार में ये सब लोग मिलते थे—भारत के बौद्ध भिक्षुक, चीन के कनफ्यूशियन, अरब के मुसलमान, यूरोप के ईसाई।

यूरोप अभी अन्धकारमय युग में से होकर गुजर रहा था—विज्ञान प्रकाश में नहीं आया था। पूर्व और पच्छिम के उपरोक्त सम्पर्क से यूरोप को चार बहुमूल्य चीजें मिलीं। कागज, छपाई, जहाजी कुतुबनुमा एवं बारूद की बन्दूकें। इन चारों वस्तुओं से चीनी लोग अति प्राचीन काल से परिचित थे—यहीं इनका आविष्कार हुआ था। हम कल्पना कर सकते हैं कि कागज ने और छपाई की कला ने यूरोप में कितना युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया होगा। वास्तव में यूरोप का उत्थान तभी से होने लगा जब कागज और छपाई की कला वहां पहुंच गई। इन सब से अधिक महत्वशाली प्रभाव था—मार्को पोलो की प्रसिद्ध पुस्तक (मार्को पोलो की यात्रायें) का, जो उसने अपने पूर्वीय देशों में भ्रमण और चीन में १२ वर्ष के अनुभव के आधार पर लिखी थी। इस पुस्तक में पूर्वीय देशों के धन, वैभव, स्वर्ण, मोती, जवाहरात, मसाले, इत्यादि का अपूर्व एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया था—एवं यह भी निर्देश किया गया था

कि पूर्वीय देशों में कई ईसाई राज्य स्थापित हैं जो बहुत ही ऐश्वर्यशाली हैं। इस रोमांचकारी पुस्तक ने यूरोप में इटली, स्पेन, पुर्तगाल और फ्रांस में एक क्रान्ति सी पैदा करदी एवं परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अनेक जनों के मन में एक महत्वाकांक्षा पैदा करदी कि वे भी भिन्न भिन्न पूर्वीय देशों में भ्रमण करें। उधर जहाजी कुतुबनुमा का पता लग ही चुका था—बस कुछ ही वर्षों में यूरोपीय जातियों ने सामुद्रिक रास्तों से पूर्वीय देशों की खोज प्रारम्भ करदी, जिसने दुनिया के इतिहास ही को बदल डाला।

•

(३८)

चीन का इतिहास (मध्य युग)

४. उत्थान (९६० ई० से १६४३ ई०)—इस काल में ३ राज्यवंश के सम्राटों ने राज्य किया यथा शुंग, युआन और मिंग। प्राचीन तांग वंश के अन्तिम शासक सबल और कुशल नहीं थे अतः ९०७ ई० में यह राज्यवंश ही लुप्त हो गया। फिर से चीन के इतिहास में विकेन्द्रित मनमाने छोटे छोटे राज्यों का काल आया; देश उत्तर और दक्षिण के कई राज्यों में विभक्त हो गया, किन्तु यह अस्थिर और अनिश्चित स्थिति इस बार बहुत समय तक नहीं चली। सन् ९६० ई० में शुंगवंश की स्थापना हुई। इस वंश के राज्य काल में देश में शांति और संतोष बना रहा। शुंगवंश के राजा दयालु थे और जीवन में कला को प्यार करते थे। अतएव दर्शन, राजनीति-शास्त्र, कला और कनफ्यूसियस के विचारों का गहन अध्ययन हुआ और प्रत्येक वस्तु को मौलिक दृष्टि से देखा गया। छपाई की वजह से पुस्तकें तो खूब मिलती ही थीं, जगह

जगह पर अध्ययन परिषदें बनीं; अनेक लोग उद्यान, नदी और झरनों के किनारे जाकर अध्ययन में लग्न रहते थे। एक नई बौद्धिक विकास की लहर देश भर में फैली।

दो भिन्न भिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ, जिनके अनुरूप दो राजनैतिक दल भी देश में पैदा हुए। १०वीं ११वीं शताब्दी के दो राजनैतिक दलों को आज की भाषा में हम अनुदार दल और उदार (रेडिकल) दल कह सकते हैं। समस्त शासनाधिकार तो सम्राट के ही हाथ में था और चीन में जब तक कि सन् १९१२ ई० में जनतन्त्र की स्थापना नहीं हुई तब तक हम किसी उदार या लोक सम्मत सरकार की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। एकतंत्रीय राजशाही सरकार होते हुए भी उपरोक्त दो राजनैतिक दलों की उपस्थिति का यही अर्थ था कि सम्राट किन लोगों की विचार धारा से अधिक प्रभावित होकर किन लोगों को उच्च पदों पर अपने विचारों के अनुकूल शासन चलाने के लिए आरूढ़ करते हैं। यद्यपि अधिकतर लोग अनुदार दल की विचार-धारा में ही विश्वास करते थे तब भी शुंग-वंश के एक बहुत अच्छे सम्राट ने रेडिकल दल के प्रसिद्ध विचारक वांग-आंग-शी को कई शासनाधिकार देकर एक उच्च पद पर नियुक्त किया। वांग-आंग-शी(प्रशासन काल १०६९-१०७६ ई०) ने गरीब किसान लोगों की हालत में कई सुधार किये। विशेषकर उसने यह काम किया कि बोहरे लोगों को जो किसानों को कर्ज दिया करते थे और उनको खूब चूसा करते थे हटाकर उनकी जगह यह व्यवस्था की कि सरकार किसानों को कर्ज दे और उनकी उपज की बिक्री का ठीक प्रबन्ध करे। एक और काम रेडिकल दल ने किया। चीन में घोड़ा प्रमुख जानवर नहीं है, वहां पर खेती प्रायः भैंस और बैल की ही सहायता से की जाती है और बहुत कम कभी कभी खच्चरों की सहायता से। किन्तु उस काल में चीन राष्ट्र को घोड़ों की आवश्यकता विशेष रहती थी, वह इसलिये कि तातार और हूण लोग उत्तर पच्छिम से देश पर जो हमले किया करते थे, वे हमले वे घोड़ों पर करते थे और उनका मुकाबला घुड़-

सवार सिपाहियों से ही किया जा सकता था। घोड़ों की इस समस्या को रेडिकल दल के नेता वांग-श्रांग-शी ने हल करने के लिए यह ढंग निकाला कि देश का प्रत्येक परिवार कम से कम एक या दो घोड़े हर वक्त तैयार रखे।

जब इस प्रकार शुंग-वंश के राज्य काल में बौद्धिक पुनरुत्थान हो रहा था उसी समय चीन की विशाल दीवार के पीछे बर्बर मंगोल जाति के लोग शक्तिमान हो रहे थे। इतिहास प्रसिद्ध मंगोल विजेता चंगेजखाँ ने समस्त चीन, मध्य एशिया, फारस, रूस इत्यादि को पददलित कर डाला। एशियाई महाद्वीप के पूर्वी छोर से पच्छिम में ठेठ रूस तक एक विशाल साम्राज्य की उसने स्थापना की। उसकी मृत्यु के बाद यह विशाल साम्राज्य कई भागों में बंट गया। साम्राज्य का पूर्वीय श्रंग चीन था। इस विभाग का शासक बना कुबलेखां जो इतना क्रूर नहीं था जितने श्रन्य मंगोल। चीनी जीवन के साथ वह घुल मिल गया, श्रौर उसने चीच में 'यु-श्रान' राज्य वंश (१२६०-१३६८ ई०) की स्थापना की। यद्यपि चीनी लोगों के प्रति इसका व्यवहार श्रच्छा था श्रौर चीनी लोगों ने भी इसको श्रपना लिया था तथापि इस विचार से कि कहीं चीनी लोग विद्रोह न कर डालें वह इस बात का ध्यान रखता था कि बड़े बड़े ऊंचे पदों पर वह यूरोप से लाये हुए उपयुक्त-लोगों को ही नियुक्त करे। चीन का पच्छिम में यूरोप तक मध्य एशिया के रास्ते होकर निकट सम्पर्क स्थापित हो ही गया था क्योंकि ये सब प्रदेश एक ही मंगोल साम्राज्य के श्रंग थे। प्रसिद्ध इटालियन यात्री स्वयं मार्को पोलो ने यू-श्रान (कुबलेखां) वंश के श्राधीन चीन में २० वर्ष से भी श्रधिक काल तक नौकरी की थी। किन्तु जिस प्रकार संसार के श्रन्य भागों में मंगोल साम्राज्य जितनी तेजी से श्राया था उतनी ही तेजी से विलीन होगया था उसी प्रकार चीन में भी वह लुप्त होगया। चीनी लोग इन विजातीय श्रपरिचित लोगों से श्रसन्तुष्ट तो थे ही; ज्यों ज्यों मंगोल सम्राट श्रपने विजित धन श्रौर ऐश्वर्य में फंसकर शिथिल होते गये त्यों त्यों चीनी राष्ट्र

का विरोध प्रबल होता गया और अन्त में सन् १३६८ ई० में विद्रोहियों के नेता हूंगवू ने मंगोल यु-आन वंश का खात्मा किया और विशुद्ध चीनी मिंग राज्य-वंश की नींव डाली।

मिंग राजवंश के सम्राटों ने सन् १३६८ ई० से १६४३ ई० तक राज्य किया। मिंग शब्द का अर्थ है जाज्वल्यमान; और वास्तव में चीन के इतिहास में मिंग-वंश का राज्य काल एक जाज्वल्यमान काल माना जाता है। इस राज्य काल में देश में शान्ति, अमन चैन और सुख रहा। चीनी सम्राटों की प्रसिद्धि दूर दूर देशों में फैली। कोरिया, जापान, हिन्द-चीन, सुमात्रा, जावा इत्यादि देश चीन के सम्राट को, मिंग वंश के सम्राट को, अपना शहंनशाह मानते रहे। विदेशियों से मित्रता और देश के अन्दर शान्ति कायम रहने की वजह से साधारण लोगों के लिये अनेक जन-हितकारी कार्य हो सके। सड़कें, नहरें, जलमार्ग इत्यादि की मरम्मत की गई। किसान लोगों पर लगान का भार कम किया गया, फसल बिगड़ जाने या अकाल पड़ जाने की आफत से बचने के लिए अनेकों गोदाम अनाजों मे भरे रहते थे। सम्राट ने कागज के नोटों का भी प्रचलन किया; इससे व्यापार और लेन देन में भी वृद्धि हुई। बड़ी बड़ी शानदार इमारतें बनीं, मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तन बने और उन पर नक्काशी का काम हुआ। अनेक कलापूर्ण चित्र बने जिनकी तुलना इटली के चित्रों से की जा सकती थी। उस काल के हाथी दांत, जेड, कांसा और लकड़ी में सुन्दर खुदाई के नमूने मिलते हैं। भिन्न भिन्न सम्राटों के राज्य काल में चीन की राजधानी के भिन्न भिन्न नगर रहे हैं। शुंग और यु-आन वंश के सम्राटों के काल में चीन की राजधानी दक्षिण प्रदेश का हंग-चो नगर रहा, जिसके धन, ऐश्वर्य और ठाठ की तारीफ मार्को-पोलो ने अपनी यात्रा-वर्णन में की है। मिंग वंश के राज्य-काल में उत्तर में एक नया नगर पेकिंग बसाया गया। सन् १४२१ ई० में यह नगर बन कर तैयार हुआ और तब से सन् १६१२ ई० तक यही चीन की राजधानी रहा।

उत्थान युग के समस्त ७०० वर्षों के (९६० ई० से १६४३ ई०)काल में विशेषतः मिंग राज्य-वंश के काल में (१३६८ ई० से १६४३ ई०) बुद्धि का पुनर्जागरण हुआ। बौद्धिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक आन्दोलन चला जिसे ली-सुई (बुद्धिवाद) कहते हैं। इस युग के पूर्व राष्ट्र के बौद्धिक क्षेत्र में दो धारायें प्रवाहित हो रही थीं—दो विचार धारायें विद्यमान थीं। एक तो प्रोफलीगेंटस थे जो अपने आपको बुद्ध एवं लाओत्से के अनुयायी बताते थे, किन्तु न जो बुद्ध और न लाओत्से के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ सकते थे। ये अजीब तरह के "निराशावादी" थे जो दुनिया को बताते तो थे सारहीन और बुरी किन्तु स्वयं सांसारिक जीवन ऐशोआराम से बिताना चाहते थे; जो दुनिया को सारहीन समझकर चाहते तो थे त्याग और तपश्चर्या करना, किन्तु जीवन में ध्येय बना रहता था खाने पीने और सुख से दिन काटने का। दूसरे क्लासिसिस्टस अर्थात् रीतिकार थे—जो प्राचीन ग्रंथों के शब्दों, लेखन के नियमों, बाह्यालंकार इत्यादि को ही महत्व देते थे, किन्तु वाणी या लेखन की आत्मा तक पहुंचने को किंचितमात्र भी महत्व नहीं देते थे—वे कोरे पण्डित थे। इस प्रकार की दो विचार-धारायें चीन में अनेक वर्षों तक चलीं, किंतु फिर प्रतिक्रिया हुई। उसका पहला चिन्ह था "ली-सुई" बुद्धिवाद। इस युग के ७०० वर्षों में इस आन्दोलन के प्रवर्तक अनेक प्रसिद्ध विद्वान हुए, जिन्होंने एक प्रकार से चीन में वैज्ञानिक ढंग से, तर्कपूर्ण ढंग से; एवं मानवीय बुद्धि के आधार पर विचार करने के ढंग की नींव डाली। ये बुद्धिवादी युगप्रवर्तक न केवल महान् विद्वान एवं दार्शनिक थे किन्तु इनका व्यक्तित्व भी महान् था। चीनी बुद्धिवाद का संस्थापक चाऊ तुनयी था। उसकी दो कृतियां बहुत प्रसिद्ध हैं—१. ताई ची तू सुओ अर्थात् "महान् निर्विशेष का आकार और उसकी समीक्षा", इस पुस्तक में विश्व के तात्विक ज्ञान का विश्लेषण है। इसके अनुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति वू ची अर्थात् अज्ञात, निर्विशेष

एवं ताई ची अर्थात् महान् निर्विशेष दोनों में निहित है। जब महान् निर्विशेष स्पन्दन होता है, तो हां-धर्मी शक्ति का उद्भव होता है और जब निर्विशेष समाधिस्थ होता है तो ना-धर्मी शक्ति का उद्भव होता है। जब हां-धर्मी एवं ना-धर्मी शक्तियों का (पुरुष और प्रकृति का) मिलन होता है तो ५ तन-मात्राओं (तत्वों) धातु, लकड़ी, जल,अग्नि और पृथ्वी (चिन, वू, शुई,हो और तू) का जन्म होता है। फिर जब इन पंच तत्वों का मिलन होता है तो उससे सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि होती है। मनुष्य जीवन इसी विश्व का एक अंग है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह इस विश्व के साथ सामंजस्य स्थापित करके रहे, एवं इस प्रकृति के व्यापारों के साथ अपना जीवन एकरस कर दे। चाऊ-तुन-यी का यह दर्शन चीन के प्राचीन ग्रन्थ (परिवर्तन के नियम) एवं प्राचीन महात्माओं की शिक्षा पर आधारित है। इस दार्शनिक ने तो केवल उन प्राचीन शिक्षाओं को एक प्रकार से सुसंगठित ढङ्ग से जमाकर मनुष्यों के सामने रक्खा। दार्शनिक चाऊ-तुन-यी की दूसरी कृति तुंग-शू साधारण ग्रंथ है। इस पुस्तक में मानव जीवन के दर्शन को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

इसी चीनी बुद्धिवाद का अन्तिम महान् विद्वान वांग-यांग-मिन था। इसके अनुसार ज्ञान की परिणति या ज्ञान की सार्थकता कर्म में है। बिना कर्म के कुछ ज्ञान नहीं, बिना ज्ञान के कर्म नहीं। उनका मुख्य ध्येय यही था कि ज्ञान और कर्म में सामंजस्य स्थापित हो, एवं मनुष्य प्राचीन महात्माओं और ऋषियों की शिक्षाओं को अपने व्यवहारिक जीवन में उतारे। चीन के महात्मा और मनीषी हमेशा से तत्व-दर्शन की अपेक्षा नैतिक जीवन पर विशेष जोर देते रहे हैं।

चीन में ९६० ई० से १६४३ ई० तक का यह ७०० वर्षों का युग एक महान् बौद्धिक, विचारात्मक एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान का युग रहा है, जिसमें प्राचीन महात्माओं और ऋषियों की वाणियां

पुनर्जीवित की गई।

मानव इतिहास के 'मध्य-युग' में चीन को छोड़कर और सब देशों में, यहां तक कि 'प्राचीन युग' से सांस्कृतिक परम्पराओं के धनी भारत देश में भी, बुद्धि का प्रायः ह्रास ही रहा, चेतना कुछ जड़वत ही रही, अर्थहीन मान्यताओं और विश्वासों से पराभूत। विज्ञान, समाज एवं विचार के क्षेत्रों में निर्भीक, स्वतंत्र कोई भी नई उद्भावना नहीं हो पाई।

●

(३९)

मध्य-युगीय भारत (पूर्वार्ध)

[६५० ई० सन् से १२०६ ई० तक लगभग ५५० वर्ष राजपूत काल]

हर्षवर्धन के अनन्तर कोई भी एक ऐसा शक्तिशाली संगठनकर्त्ता, एवं जागृत दूरदर्शिता-एवं विशाल दृष्टिकोण-युक्त व्यक्ति नहीं हुआ, जो दुनिया की अन्य शक्तियों से अपनी जानकारी बनाये रखता, और उस ज्ञान की पृष्ठभूमि में अपने घर का उचित प्रबंध करता। ऐसे प्रतिभा शाली व्यक्ति के अभाव में, एवं सामरिक दृष्टि से किसी महान् महत्वाकांक्षी सैनिक के अभाव में, उत्तर भारत और दक्षिण भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया। ये स्वतन्त्र राजा भारतीय इतिहास में राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हैं—जो एक नया ही नाम है। सम्भवतः संस्कृत शब्द "राजपुत्र" जो राजकुमारों के लिए प्रयुक्त होता था, से बिगड़ कर राजपूत बना। वस्तुतः राजपूत प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की परम्परा में से ही थे; यह सम्भव अवश्य हो सकता है कि उनमें विदेशी आक्रमणकारियों जैसे शक, हूण आदि लोगों का सम्मिश्रण होगया

हो। ये लोग प्राचीन आर्य परम्परा के पालक, बड़े वीर, युद्ध-कुशल, एवं साहसी थे, ब्राह्मण-पौराणिक धर्म में मान्यता रखते थे। हर्ष के अनन्तर प्रायः समस्त भारत में इन्हीं राजपूत (क्षत्रिय) राजाओं के छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य हुए–जिनका अस्तित्व ११वीं शताब्दी के अंत तक बना रहा।

प्रमुख राज्य एवं राज्य-वंश निम्न थे–कन्नौज, अजमेर और दिल्ली; बिहार में पाल-वंश; बंगाल में सेनवंश; गुजरात और सौराष्ट्र में परिहार, सोलंकी और गहलोत वंश; मालवा में परमार वंश; देवगिरि में यादव वंश; पंजाब; काश्मीर; दक्षिण में राष्ट्रकूट और चालुक्य वंश इत्यादि। इसी मध्य युग में मालवा का प्रसिद्ध विद्या-प्रेमी राजा भोज (१००९ ई०-१०५४ ई०) हुआ जिसके विषय में, अनेक कहानियां और दन्त कथायें प्रचलित हैं।

इन राज्यों में भिन्न भिन्न क्षत्रिय (राजपूत) वंशों का राज्य था, समय समय पर परस्पर युद्ध, विजय, पराजय और राज्य-परिवर्तन की घटनायें घटित होती रहती थीं।

इन राज्यों में ब्राह्मण धर्म अथवा पौराणिक वैष्णव धर्म की उन्नति हुई, बौद्ध धर्म का भारत से प्रयाण होने लगा–ब्राह्मणों ने राजपूतों के गुणगान किये और राजपूतों ने ब्राह्मणों के प्रभाव और मान गौरव को मान्यता दी। इसी काल से धीरे धीरे साधारण जन में अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति उदासीनता आने लगी–इस काल में किसी भी गण-राष्ट्र का नाम नहीं सुना जाता। हां–गांवों की पंचायतें इस मध्यकाल में पूर्ववत् सुसंगठित रहीं। भूमि पर अभी तक प्रजा का ही अधिकार माना जाता था, राजा का नहीं।

मध्य-युगीय हिन्दू काल की सभ्यता

धर्म और दर्शक—बौद्ध-धर्म की अवनति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस धर्म को भारत से उखाड़ फेंकने में दो प्रतिभाशाली विद्वानों का प्रभाव विशेष माना जाता है। एक कुमारिलभट्ट जो ७वीं शती में हुये

थे और जिन्होंने वैदिक भावना और यज्ञों का पुनरुत्थान चाहा था। दूसरे स्वामी शङ्कराचार्य जिनका जन्म केरल प्रान्त में ७८८ ई० में हुआ था। शङ्कर ने मीमांसा सूत्र पर अपना भाष्य लिखा था और अद्वैत दर्शन का विलक्षण प्रतिपादन किया था। इनके मतानुसार एक अव्यक्त निर्विकल्प ब्रह्म की ही सत्ता है—यह दृश्य सृष्टि केवल माया है—यह भासित होती है, इसका अस्तित्व नहीं। शङ्कर की गणना संसार के महान् दार्शनिकों और विद्वानों में होती है। शङ्कर का भारत के दार्शनिक मत पर इतना प्रभाव रहा कि २–३ शतियों तक उनकी ही विचार पद्धति का भारत में साम्राज्य रहा। लोक में धर्म-भावना जागृत रखने के लिए शङ्कर ने भारत के चारों कोनों में चार—उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में पुरी एवं पश्चिम में द्वारका,—शङ्कराचार्य मठों की स्थापना की, जिनकी परम्परा आज तक भी चली आ रही है। फिर ११वीं-१२वीं शताब्दी में मीमांसा सूत्र के अन्य भाष्यकार जैसे रामानुज आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया, जिनमें भक्ति को मुख्य स्थान मिला। दार्शनिक आचार्यों के अतिरिक्त अनेक भक्त और सुधारक भी इस युग में पैदा हुए। तामिल (दक्षिण) देश में तो वैष्णव और शैव भक्तों का एक सिलसिला ही जारी रहा। वैष्णव भक्त वहां आलवार कहलाते थे और शैव भक्त नायन्मार। इन भक्तों की तामिल रचनाओं का वेद और उपनिषद् की तरह आदर किया जाता है।

सातवाहन युग में (१८४ ई० पू० से १७६ ई०) जिस सरल भक्तिमय पौराणिक पूजा का सूत्रपात हुआ था, गुप्त युग में जिसका अधिक प्रचार हुआ था—वह अब साधारण जन के हृदय में और भी परिपुष्ट होगयी। इस धार्मिक भावना का ललित कला से बन्धन हुआ, स्थापत्य और मूर्तिकला मनोरम रूप में प्रकट हुई। देवताओं के सुनहले मन्दिर बनने लगे, उनका साज शृङ्गार होने लगा, उनकी पूजा एक भारी और जटिल प्रपंच-सा हो गई। अनेक विशाल और भव्य मन्दिरों का

निर्माण हुआ—मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, मन्दिर तोड़े जाते थे, किन्तु इनका निर्माण बन्द नहीं होता था। इसी काल में आबू का प्रसिद्ध देलवाड़ा मन्दिर बना जो संगमरमर के बारीक नक़्क़ाशी के काम में भारत भर में एक अनूठी रचना है। उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर, खजुराहो में चन्देल राजाओं के बनवाये मन्दिर, मालवे में उदयादित्य का मन्दिर,—एवं अनेक पत्थर और कांस्य की सुन्दर मूर्तियां निर्मित हुईं। इस युग तक वृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा आदि द्वीप) भारत का ही एक अंग माना जाता था। इस युग में बौद्ध राजाओं ने जावा द्वीप के बोरोबुदर स्थान में वे अनोखे मन्दिर बनवाये जिनको 'पत्थर के तराशे हुए महाकाव्य' कहा जाता है। ९वीं शताब्दी के अन्त में जावा के शैव राजा दक्ष ने प्राम्बनन के मन्दिर बनवाये, जिन पर रामायण की सारी कहानी मूर्तियों में चित्रित है।

साहित्य और शिक्षा—कवि भवभूति जिसने करुणारसपूर्ण अद्वितीय "उत्तर राम चरित" नाटक लिखा, इस युग में हुआ। कवियों और विद्वानों की परम्परा काश्मीर राज्य में भी चलती रही, वहां के कल्हण पंडित ने ११४९ ई० में राजतरङ्गिणी नामक काश्मीर का इतिहास लिखा, जो भारतीय साहित्य का एक रत्न माना जाता है।

उपरोक्त तत्वज्ञानी शंकर एवं रामानुज के अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित प्रसिद्ध हुए। इस युग में सर्वप्रसिद्ध विद्या का केन्द्र नालन्दा विश्व विद्यालय था जिसकी स्थापना गुप्त-काल में हुई थी। ७वीं ८वीं शती में वहां ३५०० से ५००० तक विद्यार्थी पढ़ते थे। उपरोक्त बौद्ध दार्शनिक विद्वान् शांतरक्षित ने नालन्दा विहार के नमूने पर तिब्बत में विहार स्थापित कराया। एक क्षत्रिय राजा बीसलदेव ने अजमेर में एक विद्यालय बनवाया जो अब अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहलाता है और जिसके अवशेष अब भी बाकी हैं।

देशी भाषायें—भारत में आदि आर्य युग की भाषा वैदिक थी। यह भाषा धीरे धीरे नियमों के बन्धन में जकड़ी गयी, इसका रूप संवारा

गया और स्थिर किया गया—और यह 'संस्कृत' कहलाई। वैदिक युग के बाद संस्कृत भाषा में हिन्दुओं का समस्त साहित्य और धर्म-शास्त्र लिखा गया। किन्तु धीरे धीरे जन साधारण से यह संस्कृत भाषा दूर होती गयी, उनमें बोलचाल की भाषा के एक रूप का चलन होता रहा, जिसे प्राकृत कहते थे। जन साधारण को प्राकृत भाषा में ही बुद्ध और महावीर के उपदेश हुए थे। प्राकृत भाषा भी नियमों के बन्धन में जकड़ी गयी और उसका भी संस्कृत के समान व्याकरण बन गया। प्राकृत के बाद जन साधारण में जिस बोल चाल की भाषा का प्रचलन था वह अपभ्रंश थी—इसी अपभ्रंश भाषा से फिर धीरे-धीरे आधुनिक देशी भाषाओं—हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि का विकास हुआ।

मध्य युग में विद्यालयों में तो संस्कृत और प्राकृत में लिखना पढ़ना होता था—किन्तु इसी युग में हमारी देशी भाषायें भी शुरू होगयीं। ८४ सिद्धों के गीतों और दोहों में हिन्दी कविता का सबसे पहिला नमूना है। दक्षिण के तामिल साहित्य का तो प्रारम्भ सातवाहन युग में ही हो गया था; तेलगू साहित्य १०वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। ८वीं शताब्दी में जावा की देशी भाषाओं में भी संस्कृत के प्रभाव से ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

सामाजिक और बौद्धिक जीवन—मध्य युग तक प्राचीन परम्पराओं और स्फूर्ति के फलस्वरूप जातीय जीवन में समृद्धि तो बनी रही, किंतु एक बात सबसे जबरदस्त हुई वह थी—बुद्धि-द्वारों का अवरुद्ध होना। इस युग में विचारों की प्रगति और प्रवाह बन्द हो गया था—जीवन में स्फूर्ति का ह्रास होने लगा था—दृष्टि आगे की ओर नहीं किन्तु पीछे की ओर उन्मुख थी। इसलिए जीवन की प्रत्येक दिशा में—धर्म में, आचार-विचार में, सामाजिकता में संकीर्णता का आधिपत्य होने लगा। इस युग में जात-पांत की सृष्टि हुई। सामाजिक ऊंच नीच के जितने दर्जे थे वे पथराकर जात-पाँत बनने लगे। लोगों का स्वतन्त्र सामाजिक मिलन बन्द होगया—उनका जीवन कूपमंडूक की तरह हो गया। फिर भी इस

काल तक समाज में स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उनमें परदा नहीं था, विवाह बड़ी होने पर ही होता था। उनमें ललित कलाओं का प्रचार था। किन्तु बुद्धि, मानस एवं सामाजिक जीवन का प्रवाह रुक अवश्य गया था और उसमें गतिहीनता आगयी थी।

●

(४०)

मध्य-युगीय भारत (उत्तरार्ध)

(१२०६ ई० से १५२६ ई०=लगभग ३०० वर्ष)

भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना

हम लिख आये हैं कि किस प्रकार ७वीं शती के आरम्भ में अरब में इस्लाम धर्म की स्थापना हुई, और किस प्रकार अपने नये जोश में इस्लाम के खलीफाओं ने ७वीं ८वीं शतियों में पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में मध्य एशिया तक अपना साम्राज्य स्थापित किया। जब इस्लाम इस तरह बढ़ रहा था, तब संसार में कहां कहां कौन कौन सी जातियां बसी हुई थीं, इस पर एक विहंगम दृष्टि डालना, भारत में इस्लामी राज्य कैसे स्थापित हुआ इस घटना की पृष्ठभूमि समझने के लिए आवश्यक है। उस समय भारत, वृहत्तर भारत,चीन, मध्य एशिया, ईरान, पश्चिम एशिया (अरब, सीरिया, फिलस्तीन, एशिया-माइनर), मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, यूरोप (ठेठ उत्तरी भागों को छोड़कर) इत्यादि देश सभ्य दुनिया में विशेष ज्ञात थे। अमेरिका देश, आस्ट्रेलिया एवं प्रशान्त महासागर के द्वीप-समूह, इत्यादि सर्वथा अज्ञात थे। दक्षिण अफ्रीका अर्ध ज्ञात था। इन ज्ञात प्रदेशों में कौन कौन सी जातियां बसी हुई

थीं ? यूरोप में प्राचीन रोम-साम्राज्य का पतन हो चुका था—केवल बालकन प्रायद्वीप के देशों में और ग्रीस में उसकी परम्परा बनी हुई थी—ये सब ईसाई थे । पश्चिमी यूरोप में नार्डिक आर्य जातियों का यथा—ट्यूटीनिक, गोथ, डेन्स, केलटिक इत्यादि का प्रसार हो रहा था । धीरे धीरे उनके राज्य स्थापित हो रहे थे—और वे अपने आदि देव-पूजा के धर्म को छोड़कर धीरे धीरे सब ईसाई बन चुके थे—या बनते जा रहे थे । फिलस्तीन, सीरिया, एशिया-माइनर, मिस्र में प्राय: यहूदी एवं ईसाई धर्मी लोगों का वास था । चीन सभ्य चीनी जाति का देश था । यह जाति प्राचीन कनफ्यूसियस मत को मानने वाली थी, इसमें बौद्ध धर्म का भी प्रचलन हो गया था । मंगोलिया, और मंगोलिया से लेकर सीधे पश्चिम में यूरोप तक हूण-तुर्क असभ्य लोगों का तांता बंधा हुआ था । भारतवर्ष में प्राचीन आर्य लोग थे—ये प्राय: वैदिक या पौराणिक हिन्दू थे, यहां बौद्ध धर्म और जैन धर्म का भी प्रचलन था । वृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा, कम्बुज, हिन्द-चीन, इत्यादि) में भी अधिकतर भारतीय आर्य बसे हुए थे जो वहां के आदि आग्नेय लोगों से हिलमिल चुके थे । आधुनिक अफगानिस्तान (काबुल, कंधार, गजनी), एवं पामीर (काश्मीर के उत्तर में मध्य एशिया का भाग) प्राय: भारत के ही अंग माने जाते थे—और यहां भारतीय हिन्दू राजाओं का राज्य था । पामीर के उत्तर में तुखारिस्तान (मध्य एशिया) में शक जातियों के लोग (कृषिक, तुखार) बसे हुए थे, ये भी भारतीय आर्यों के सम्पर्क में आने से सभ्य हो चुके थे, और वहां तिब्बती राजा होने लगे थे । भारत के इन निकट प्रान्तों में—यथा तुखार प्रदेश, तिब्बत आदि में बौद्ध धर्म का प्रचार था । ईरान प्राचीन ईरानी-आर्यों का देश था—पारसी (जरथुस्त्र) उनका धर्म था ।

७वीं शती में प्राय: ज्ञात संसार की यह राजनैतिक, धार्मिक व जातिगत विभाजन की संक्षिप्त रूपरेखा खींच लेने के बाद, थोड़ासा यह भी यहां दुहरा लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि

७वीं शती तक किन किन भारतेतर जातियों के भारतीय आर्यों पर आक्रमण हुए थे और उनका क्या परिणाम हुआ था। सर्व प्रथम तो प्राचीन काल में ई० पू० ३२७ में ग्रीक अलक्षेन्द्र महान् का आक्रमण हुआ—वह पंजाब तक ही आकर लौट गया,—उसके पश्चात् अलक्षेन्द्र द्वारा विजित भारत के समीपस्थ प्रान्तों के ग्रीक शासक सेल्यूकस का भारत पर आक्रमण हुआ—किन्तु तत्कालीन भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों उसकी करारी हार हुई। फलतः कोई स्थायी ग्रीक राज्य भारत में कायम नहीं हुआ। परन्तु भारत समीपस्थ ग्रीक राज्यों के फलस्वरूप ग्रीक और भारत सभ्यता का, जो दोनों ही उच्च रूप से विकसित थीं, संपर्क बढ़ा, दोनों में पर्याप्त आदान प्रदान हुआ। जो कोई भी ग्रीक भारत में बस गये होंगे वे यहीं की सभ्यता और जीवन में समा गये।

तदुपरान्त ईसा की प्रथम शताब्दी में मध्य एशिया से शकों के (जो असभ्य आर्य ही थे—मंगोल या सेमेटिक उपजाति के नहीं) आक्रमण हुए, इन्हीं शक लोगों की एक शाखा के एक सरदार (देवपुत्र कनिष्क) का भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में साम्राज्य भी स्थापित हुआ। किंतु इसके बाद शक लोगों का और कोई आक्रमण नहीं हुआ—और ये शक लोग जो आये और जिनका राज्य स्थापित हुआ, वे सब भारतीय आर्य-जीवन और संस्कृति में घुल मिल गये।

इसके बाद ५वीं शताब्दी के मध्य में क्रूर हूणों के (जो चीन के पश्चिम में मंगोल प्रदेश के मंगोलियन उपजाति के असभ्य लोग थे और जिन्होंने इन्हीं शताब्दियों में समस्त पूर्वीय यूरोप को भी आक्रान्त किया था) अनेक आक्रमण लगभग ५०-६० वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत में हुए—उन्होंने मध्यदेश तक भी भयंकर लूटमार मचायी किन्तु उस समय मालवा के राजा यशोधर्मा और कुछ गुप्त-सम्राटों ने मिलकर छठी शताब्दी में उनको परास्त किया, और उनकी शक्ति का पूर्णतः दमन किया। यदि कुछ हूण भारत में रह गये होंगे तो उनको भी आर्य संस्कृति ने अपने में घोल लिया।

इसके बाद हम ७वीं शताब्दी में आते हैं। अरब के सेमेटिक लोगों में इस्लाम धर्म का उदय हुआ। कई प्रदेशों की विजय करते लगभग ई० सन् ६५० में सबसे पहिले अरब के मुसलमानों के भारत के पश्चिमी तट पर सामुद्रिक हमले हुए—किन्तु स्थानीय हिन्दू राजाओं ने वे सब विफल कर दिये।

इसी समय अरबी मुसलमान ईरान विजय कर रहे थे। ईरान के आर्यन राजाओं को उन्होंने परास्त किया (६३६-३७ ई०)। तदुपरांत फिर उनकी दृष्टि सिन्ध की ओर गई। सिन्ध में उस समय हिन्दू राजा दाहिर था। खलीफाओं की ओर से अरबी मुसलमान सरदार जिसने सिन्ध पर आक्रमण किया (सन् ७१०–११ ई०) उसका नाम मुहम्मद-बिनकासिम था। हिन्दू राजा दाहिर वीरता से लड़ा, किन्तु अन्त में परास्त हो गया, किन्तु फिर भी उसकी रानी ने कुछ सेना एकत्र की और जब तक बन सका आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया। अन्त में जब कोई आशा नहीं रही तो उसने बची हुई राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। भारत में जौहर की यह पहली घटना थी। इस प्रकार सिन्ध पर ८वीं शती के आरम्भ में अरब के मुसलमानों का राज्य हुआ—अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने के भी भरसक प्रयत्न किये, किन्तु वे सब विफल हुए। ९वीं शती में अरब में खलीफाओं की शक्ति कम हो गई—उनका साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। सिन्ध में भी उनका शासन अधिक काल तक नहीं रहा। जो कुछ भी अरबी मुसलमान सिंध में बच गये, वे यहीं घुल मिल गये। सिंध में इन अरबी मुसलमानों की अल्पकालीन विजय से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में कुछ भी बुनियादी हलचल नहीं हुई—किन्तु हां, इससे दुनिया के सांस्कृतिक क्षेत्र में अवश्य एक बुनियादी प्रभाव पड़ा। अरब लोग प्रारम्भ में तो क्रूर थे, किन्तु ईरान और भारत के सम्पर्क ने उनको शीघ्र ही सभ्य बना दिया था। खलीफा हारुनलरशीद के समय में (७८६–८०९ ई०) बगदाद में उसका दरबार भारतीय पंडितों से भरा था। अनेक अरब विद्यार्थी भारत

में संस्कृत पढ़ने आये। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ। और अरबों के द्वारा ही यह ज्ञान धीरे धीरे यूरोप में पहुंचा। इस प्रकार अरबों ने पश्चिम और पूर्व में ज्ञान प्रसार के लिए एक माध्यम का काम किया।

सीधे मूल अरबी मुसलमानों के आक्रमण से तो भारत में कोई भी राजकीय परिवर्तन नहीं हुआ–किन्तु यह काम मध्य एशिया के पठान और तुर्क लोगों द्वारा हुआ जो १०वीं ११वीं शती में मुसलमान हो गये थे।

ये पठान और तुर्क लोग कौन थे? पठान—भारत के पश्चिमोत्तर भाग में एवं मध्य एशिया के दक्षिण भागों में ईसा काल से कुछ पूर्व बसने वाले तुखार लोगों का हम उल्लेख कर आये हैं, जो शक जाति के लोगों की ही श्रेणी के थे। ये सब लोग असभ्य आर्य ही थे। धीरे धीरे ये सब लोग बौद्ध या हिन्दू धर्मावलम्बी हो गये थे, इन्हीं लोगों में पठान एक जाति थी। ये भी सब हिन्दू थे। १०वीं ११वीं शती में उपरोक्त पठान अफगानिस्तान के गजनी और गौर इलाकों में बसे हुए थे। इन इलाकों में ११वीं सदी में तुर्क मुसलमान महमूद गजनवी राजा हुआ–और उसी काल में प्राय: अफगान हिन्दू (पठान) मुसलमान बने।

तुर्क—मंगोलिया प्रदेश के मंगोल प्रजाति के असभ्य हूण लोगों का जिक्र पहिले हो चुका है–जिन्होंने समस्त पूर्वीय यूरोप, मध्य एशिया और यहां तक कि भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में आफत ढ़ाई थी। इन्हीं हूण लोगों की एक शाखा तुर्क थी। इनका असली नाम असेना था और ५वीं शताब्दी में ये लोग कान्सू प्रान्त में (मध्य एशिया के उत्तर में) एक पहाड़ के पास रहते थे। उस पहाड़ की शकल एक फौजी टोपी की सी थी, जिसे हूण भाषा में तुर्क कहते हैं। इसी से वे लोग 'तुकु' या 'तुर्क' कहलाने लगे। ये ही तुर्क लोग मध्य एशिया और पश्चिम एशिया की ओर फैले और ईरानी और

तुखार लोगों के सम्पर्क में आये। इन प्रदेशों में इनकी शक्ति भी बढ़ी, और कहीं कहीं इनके छोटे छोटे राज्य भी कायम हुए। जो तुर्क मध्य एशिया में आकर बस गये थे, धीरे धीरे उनमें बौद्ध धर्म का प्रवेश हो रहा था।

तुर्की भाषा में संस्कृत के कई ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। वास्तव में मध्य एशिया और पश्चिम एशिया में आकर जो तुर्क लोग बस गये थे—अब वे पुराने हूण नहीं रहे थे उनमें शकों तुखारों और ईरानियों का आर्य खून पर्याप्त मिल चुका था। ८वीं शती के प्रारम्भ में (७११ ई०) जब अरब सेनापति मुहम्मदबिनकासिम सिन्ध को जीत रहा था, उसी समय एक दूसरा अरब सेनापति कौतेवा (७०५–७१४ ई०) मध्य एशिया में लड़ रहा था। उस समय तो चीनियों से मुकाबला होने पर अरबी मुसलमानों को सफलता नहीं मिली, किन्तु उनके आक्रमण बराबर जारी रहे। ९वीं शती के प्रारम्भ तक उन्हें सफलता मिली, और काबुल और गजनी में उनका शासन स्थापित हुआ। ऐसा होने पर पहिले तो वे तुर्की लोग मुसलमान बने जो पश्चिमी भागों में बसे हुये थे। फिर तुखारिस्तान के तुर्क १०वीं शती के अन्त तक मुसलमान हो गये। पहिले तो इन तुर्कों में जो सरदार लोग थे वे अरबों और ईरानियों के आधीन रहे—किन्तु बगदाद की खलीफा-शक्ति का क्षय होने पर वे सिर उठाने लगे—और १०वीं एवं ११वीं शती के प्रारम्भ तक तो उनका एक ऐसा भयंकर बवंडर पश्चिम की ओर टूट कर पड़ा कि उन सब प्रान्तों में, (यथा पश्चिम एशिया, सीरिया आदि) जहां अरबी खलीफाओं की सत्ता थी, ये सर्वत्र फैल गये और स्वयं सत्ताधारी बन गये।

इसी सिलसिले में और इसी काल में अल्पतगीन नामक एक तुर्क ने गजनी में एक छोटे से राज्य की नींव डाली। यह राज्य धीरे धीरे विस्तृत हुआ, यहां तक कि उसके पोते महमूद गजनवी (९९७ ई०-१०२९ ई०) के समय में यह राज्य पश्चिम में कास्पियन सागर तक फैला। इसी महमूद गजनवी ने, कहते हैं भारत पर (पंजाब में) १७ आक्रमण किये,

जिनमें अन्तिम आक्रमण १०२३ ई० में सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर पर हुआ, और वह भारत से अटूट धन माल लूट कर अपनी राजधानी गजनी ले गया, जहां उसने अनेक भव्य महल और मस्जिदें बनवायीं। भारत के पश्चिमोत्तर कुछ जिले महमूद राज्य के अंतर्गत हो गये किन्तु पंजाब के हिन्दू राजाओं के उससे बराबर लड़ते रहने के कारण पंजाब या भारत के किसी भाग पर उसकी राज्य-सत्ता स्थापित न हो सकी। इसके दरबार में अल्बेरुनी नामक एक विद्वान् था जिसने पेशावर और मुलतान के पण्डितों से संस्कृत पढ़ी, और भारतवर्ष के विषय में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा।

इस प्रकार लगभग सन् १००० ई० से प्रारम्भ होकर लगभग दो सौ वर्षों तक तो यही सिलसिला जारी रहा कि मुसलमान आक्रमक आते थे और केवल लूटमार करके चले जाते थे। स्थायी मुसलमान राज्य भारत में शहाबुद्दीन गोरी ने स्थापित किया। उपरोक्त गजनी का तुर्क राज्य महमूद के बाद धीरे धीरे क्षीण हो गया था—गजनी से कुछ दूर गोर नामक प्रदेश के अलाउद्दीन नामक एक पठान सरदार ने गजनी पर आक्रमण किया—७ दिन तक गजनी को खूब लूटा और उसे जला कर खाक कर दिया। इसी अलाउद्दीन का बेटा शहाबुद्दीन गोरी था जो ११८६ ई० में अपने पिता अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद गोर और गजनी का शासक बना। शहाबुद्दीन ने भारत जीतने का संकल्प किया। जब शहाबुद्दीन गोरी हिन्दुस्तान पर विजय करने के विचार में था उस समय समस्त उत्तरी भारत राजपूत राज्यों में विभाजित था। इन राज्यों में कहीं भी इस समझ और भावना वाले शासक नहीं थे और किन्हीं में भी यह राजनैतिक चेतना नहीं थी कि वे देखते कि उनके राज्य के बाहर भी, उनके देश के बाहर भी कुछ शक्तियाँ हैं, जिनका कुछ महत्व हो सकता है और जिनकी वजह से कुछ ऐसी हलचल पैदा हो सकती है जिनके भावी परिणाम की उन्हें कल्पना भी न हो। केवल शासक ही इस राजनैतिक और सामा-

जिक जागरुकता और दूरदर्शिता से हीन नहीं थे–उस समय की प्रजा भी सामाजिक और राजनैतिक चेतनता से विहीन थी। उन सबकी दृष्टि इतनी संकीर्ण हो चुकी थी कि वे अपने घर की चहार दीवारी के बाहर देख ही नहीं पाते थे। एक अजीब मानसिक एवं बौद्धिक शिथिलता उनमें घर कर चुकी थी–पुरानी लकीर पर चलने के अतिरिक्त कोई दूर की या नयी चीज़ उन्हें सूझती ही नहीं थी। दृष्टि-शून्यता तो थी ही, साथ ही किसी भी प्रकार के व्यवस्थित, संगठित, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के लिये कार्यशून्यता भी।

ऐसी परिस्थितियों में शहाबुद्दीन गोरी के भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए। ११८६ ई० तक उसने मुल्तान, लाहौर और सीमा-प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये। सन् ११९२ ई० में उसने दिल्ली के चौहान शासक पृथ्वीराज को पानीपत के पास तरावड़ी के मैदान में परास्त किया और इस प्रकार दिल्ली पर उसका अधिकार हुआ। फिर ११९४ ई० में कन्नौज पर आक्रमण हुआ, और वह राज्य भी जीत लिया गया। इसके पश्चात् गोरी के सेनापतियों ने ग्वालियर, कालिंजर, अजमेर,–और फिर ११९७ ई० में अवध, बंगाल और बिहार प्रदेशों को जीता। इस प्रकार उत्तर भारत में इस्लामी सल्तनत कायम हुई। शहाबुद्दीन अपने सेवक (गुलाम) कुतुबुद्दीन को जो तुर्क था, भारत में हस्तगत किये प्रान्तों का शासक बनाकर ग़जनी की ओर लौटा जहां १२०६ ई० में उसकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन भारत में विजित प्रान्तों का सन् १२०६ ई० में बादशाह बना–वह और उसके उत्तराधिकारी गुलाम वंश के बादशाह कहलाये। इस प्रकार सन् १२०६ ई० से भारत में बादशाहत प्रारम्भ हुई।

सन् १२०६ ई० से १५२६ ई० तक अर्थात् लगभग ३०० वर्षों तक भिन्न भिन्न वंशों के (यथा गुलाम, खिलजी, तुगलक एवं लोदी) मुसलमान बादशाहों ने भारत में राज्य किया। इसका यह अर्थ नहीं कि इन ३०० वर्षों में भारत में कोई भी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य रहे ही नहीं। केवल

खिलजी वंश के बादशाहों के जमाने में (१२८०-१३२५ ई०) भारत का यह तुर्क राज्य अपनी चरम सीमा पर था—जब सुदूर दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर समस्त भारत दिल्ली की सल्तनत के आधीन था। प्रायः इन कुछ वर्षों को छोड़कर उत्तर भारत के प्रांतों में यथा काश्मीर में, राजपूताना में दक्षिण के अनेक प्रान्तों में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य कायम थे। इसके अतिरिक्त जब कभी दिल्ली की सल्तनत कमजोर पड़ जाती थी तो प्रान्तीय मुसलमान शासक भी अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर देते थे। इन ३०० वर्षों का राजनैतिक इतिहास इन्हीं दो विशेषताओं का बना हुआ है कि केन्द्रीय बादशाहों का राज्यकाल प्रायः हिन्दू राजाओं या प्रान्तीय मुसलमान शासकों के साथ लड़ने में बीतता था, और केन्द्रीय बादशाहत के लिये सम्बन्धियों में चालबाजियां चलती रहती थीं।

इसी युग में सन् १३९८ ई० में मंगोल तुर्क तैमूरलंग का भारत पर आक्रमण हुआ। उस समय देहली के सिंहासन पर महमूद तुगलक था। तैमूर भयंकर आतंककारी मनुष्य था। पंजाब को पदाक्रांत करता हुआ वह देहली पर आया, तीन दिन तक खूब लूटमार की, खुले आम लोगों का वध किया—इस प्रकार हजारों निरपराध नर नारी मारे गये। अंत में असंख्य कैदियों और लूट का धन लेकर वह वापस मध्य एशिया लौट गया—केवल लूटमार करने ही वह भारत आया था। किन्तु उसके पीछे दिल्ली सिंहासन के टांके उधड़ गये और प्रायः समस्त देश स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्यों में विभक्त हो गया। अब तुर्क सरदारों में दिल्ली का शासन मानने की प्रवृत्ति नहीं थी, डेढ़ शताब्दी से वे भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों से परिचित हो चुके थे और भारत के बन चुके थे। प्रत्येक प्रान्त में कुछ लोग मुसलमान हो चुके थे और बाहर से आये हुए तुर्क उनमें घुल मिल गये थे। अब जब वे अपने अपने प्रदेश में निःशंकता से राज्य खड़े कर सकते थे तो किसी भी केन्द्रीय शासक की आधीनता मानने की वे जरूरत नहीं समझते थे। इसी प्रकार अनेक हिन्दू राज्य भी स्वतंत्र

हो गये। इस प्रकार १५वीं शती का (१३४८-१५०४) भारत का इतिहास प्रादेशिक राज्यों का इतिहास है। मुख्य प्रादेशिक राज्य ये थे—मेवाड़, राजपूत राणाओं का; बंगाल, जौनपुर, मालवा, गुजरात, तुर्क सरदारों (सुल्तानों) के। दक्षिण भारत में दो महत्वशाली राज्य हुए,—एक मुसलमान बहमनी राज्य जिसका विस्तार आधुनिक बम्बई प्रान्त और हैदराबाद की सीमाओं तक था, दूसरा हिन्दू विजयनगर राज्य।

१२०० ई० से १५२६ ई० तक भारतीय जीवन

यह ३०० वर्षों का भारतीय इतिहास का मध्य काल, पठान या तुर्क राज्य-काल, हिन्दू सभ्यता की अधोगति का युग था। सचमुच यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि किस प्रकार मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व समस्त देश के अन्दर आर्य राजाओं का राज्य होने पर भी विदेशी आक्रान्ताओं का अधिकार दिल्ली पर होकर प्रायः समूचे भारत में फैल गया। इस घटना को समझाने के लिये प्रायः यह कहा जाता है कि ठंडे देशों के निवासी और मांसाहारी होने की वजह से मुसलमान हिन्दुओं से अधिक हृष्ट-पुष्ट थे; हिन्दू राजा युद्ध में अपने मंद हाथियों पर भरोसा करते थे जो फुर्तीले तुर्क घुड़सवारों के मुकाबले में नहीं ठहरते थे, एवं हिन्दुओं में एकता नहीं थी। इन बातों में तथ्य नहीं है। जैसा ऊपर निर्देशित किया जा चुका है, इस पराजय का कारण था हिन्दू राजाओं और हिन्दू प्रजा के राजनैतिक जीवन की मंदता, उनकी दृष्टि-संकीर्णता एवं उनमें उदार सामाजिकता का अभाव। "सच बात तो यह है कि यदि हिन्दुओं का राजनैतिक जीवन मन्द न हो गया होता तो एक एक हिन्दू राज्य अकेले ही शत्रु का मुकाबला कर सकता था।" मुसलमानों का राज्य पक्की तरह स्थापित हो जाने के बाद भी अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य थे। यदि उनमें राजनैतिक सचेष्टता और जागरूकता होती तो वे एक बड़ी शक्ति संगठित कर सकते थे। न जाने क्यों सामाजिक भावना का नितान्त अभाव हो गया था। यहां तक कहा जा

सकता है कि यदि तुर्कों का राज्य भारत में स्थापित नहीं होता तो जहां तहां छोटे मोटे सरदारों और राजाओं की अनगिनत रियासतें खड़ी हो गयी होतीं और देश में कहीं भी एक सूत्रता का पता नहीं लगता—इसके विपरीत मुसलमान मानो एक जाति के लोगों का दल था, जिनकी भाषा, जिनका आचार, रहन सहन, मजहब सब एक—उनमें नया जोश और नयी उमंग थी,—सामाजिक मिलन जुलन में कोई भेदभाव, कोई अन्तर नहीं था—और जहां जातीयता का प्रश्न आया कि वे संगठित होकर काम करने लगे।

"हिन्दू राजाओं ने जितनी लड़ाइयां लड़ीं," वे सब अपनी रक्षा के लिए थीं। कभी उन्हें आगे बढ़कर शत्रु पर चढ़ाई करने की नहीं सूझी। मुसलमान बादशाह यदि हमलों में हारे भी तो उन्हें अपने राज्य का कोई हिस्सा नहीं देना पड़ा, और यदि हिन्दू राजा उनके मुकाबले में जीते भी तो अधिक से अधिक अपना घर बचाने में ही सफल हुए। राजपूतों की जिस वीरता की बड़ी प्रशंसा की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रकट हुई। वह अपना अन्त निकट देख निराश होकर मरने मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता होती थी। उसमें महत्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊंची साध प्रायः नहीं होती थी जो मनुष्यों की नई भूमियां खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढ़ती हैं। बेशक, कायर बनकर आधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना भी अच्छा था। किन्तु वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं कहा जा सकता" (जयचन्द्र)। साथ ही साथ इस युग में राजपूत रमणियों के चामत्कारिक "जौहर" व्रत के कई उदाहरण सामने आते हैं। जब राजपूत मुसलमानों से लड़ते लड़ते ऐसी स्थिति में आ जाते थे कि उनकी विजय असंभव हो—तब वे केसरिया बाना पहनकर अपनी स्त्रियों को अन्तिम दर्शन दे युद्ध में धधकती अग्नि की लपटों की तरह फैल जाते थे—और वहीं अन्तिम बार चमक कर भस्मीभूत हो जाते थे। साथ साथ दूसरी ओर राजपूत

रमणियां अपने पतियों के पीछे अग्नि-चिता प्रज्वलित कर मौन अपने आप को उसी में भस्मीभूत कर लेती थीं। विश्व-इतिहास में मानवी जीवन के ऐसे चमत्कारिक दृश्य और कहीं देखने को नहीं मिलते।

भारतीय उपनिवेशों का अन्त–हिन्दू राज्य-काल के मध्यकाल तक अर्थात् १२०० ई० तक, वृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा, हिन्द चीन, इत्यादि) में भारतीयों के उपनिवेशों का जिक्र हम कर आये हैं। पठान राज्य काल से अर्थात् १३वीं शताब्दी से हिन्दू जन कूप मंडूक के समान हुए, तभी से उनका सम्बन्ध इन सब उपनिवेशों से प्राय: सर्वथा टूट गया–और कुछ ही वर्षों में भारत यह भूल भी गया कि कभी उसका सम्बन्ध इन सब प्रदेशों से था भी कि नहीं।

सामंतशाही—इसी काल से भारत में भू-स्वत्व की एक नयी प्रणाली चल पड़ी। वह नयी प्रणाली थी सामंतशाही। अब तक कृषक अपनी उस भूमि का जिस पर वह कृषि करता था स्वयं स्वामी समझा जाता था। अब मध्य युग से यह होने लगा कि जो तुर्क या अन्य विजेता आते थे वे विजय के बाद जमीन आपस में बांट लेते थे या मुसलमान बादशाह विजेता अपने सामन्तों या सरदारों को जमीन या कहिए जागीरें बांट देता था। तो मानो अब जमीन का मालिक बादशाह हुआ न कि किसान–या जमीन के मालिक वे सामन्त या सरदार हुए जिन्हें बादशाह जमीन दे देता था। प्राय: ऐसी ही सामन्तशाही का प्रचलन यूरोप में भी, मध्य युग में हुआ।

सामाजिक जीवन—इस्लामी आक्रमण के प्रारम्भ में प्राय: दो शताब्दियों तक तो इस्लाम एक विदेशी तत्व के समान रहा। किन्तु १५वीं शती से प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ साथ इस्लाम भी भारत में विदेशी न रहा। तुर्क लोग तब तक भारतीय हो चुके थे और बहुत से भारतीय भी मुसलमान हो चुके थे। लोदी और अन्य पठान, भारतीय मुसलमान–अर्थात् हिन्दुओं से बने मुसलमान थे–वे विदेश के लोग नहीं थे और वास्तव में इस्लाम का उग्र प्रचार उन्हीं मुसलमानों

ने किया था जो हिन्दुओं से बने मुसलमान थे,—न कि मूल तुर्की मुसलमानों ने। हिन्दू कालीन मध्य युग में जात-पांत का विकास हो चुका था, और विवाह, खान पान इत्यादि पर कड़े बन्धन लग चुके थे। इस मध्य युग में वे और भी परिपुष्ट हुए। वास्तव में बजाय इसके कि हिन्दू लोग अपने आचार विचार के अवरुद्ध द्वार खोलते, जीवन में कुछ साहस, उदारता और जिन्दादिली बरतते, शुद्ध स्वतन्त्र वा को अपने जीवन में प्रवाहित होने देते कि जिससे वे इस नयी इस्लामी हलचल को भी अपने में समा-लेते, जैसे वे ग्रीक, शक और हूणों को अपने में समा सके थे,—वे दिन प्रति दिन अधिक से अधिक संकीर्ण होते गये और अपने आप में सिकुड़ते गये—उनके लिए जात-पांत, खान-पान, पाठ-पूजा और अपने धर्माचारों से बाहर कुछ नहीं बचा था, इसके साथ साथ परदा और बाल-विवाह, जड़पूजा, वाममार्ग और अन्धविश्वास, तथा कथित सिद्धों की असाधारण सिद्धियों में विश्वास—ये सब बातें हिन्दू मानस में बहुत दृढ़ हो गयी थीं। इस प्रवृत्ति के खिलाफ एक सुधार की लहर भी चली थी। वह लहर मुख्यतः संत लोगों ने चलायी थी जो प्रायः वैष्णव भक्त थे। इन लोगों ने बाह्याडम्बरों, जाति पांति के भेद भावों, पूजा पाठों की बात छोड़कर केवल शुद्ध भक्ति-भाव, प्रेम और अन्तःकरण की शुद्धता पर जोर दिया। मध्य एशिया और ईरान में वैष्णव धर्म के सम्पर्क में इस्लाम में भी एक रहस्यवाद चला जिसके अनुभूति-कर्त्ता सूफी कहे जाते थे। इस काल में ईरान में एक प्रसिद्ध सूफी कवि हुआ जिसका नाम हाफिज़ था—जिसके काव्य का प्रभाव फारसी भाषा-भाषियों पर अब भी है। प्रेम और मधुर भक्ति-भावना की अनुभूति जन जन में कराने में सफल इस काल में कई महान् महात्मा हुए—यथा रामानन्द (१३७०–१४४० ई०) जिसने कृष्ण को छोड़ रामभक्ति को अपनाया, महात्मा कबीर (१३९९-१५१८ ई०), गुरु नानक (१४६८-१५३८ ई०), राजपूताना में दादूदयाल (१५४४–१६०३ ई०) और मीरा (१४९८–१५४५ ई०),—बंगाल में चैतन्य महाप्रभु (१४८५–१५३३ ई०); महाराष्ट्र में नामदेव (१२७०–१३५० ई०)। इन सब भक्तों का धर्म अनुभूति-परक था, आचारपरक

नहीं—ये सब स्वयं अनुभूत बात कहते थे; "अनुभव गावे सो रागी है"—शास्त्र में पढ़ी लिखी बात नहीं। इनकी वाणी मधुर कविता की अजस्र धारा बनकर निकलती थी जो मानव हृदय को आप्लावित कर देती थी—जो आज भी मानव हृदय को आत्मविभोर कर देती है। उस युग के जीवन में यदि कहीं सौन्दर्य था तो बस यहीं—मानव मात्र की अमर बात वे कहते थे—व्यक्ति विशेष, धर्म विशेष, जाति विशेष की नहीं।

कला कौशल—वास्तव में १४वीं १५वीं शती में प्रादेशिक राज्यों में ही कला-कौशल, साहित्य की विशेष उन्नति हुई। दिल्ली में जो कुतुबमीनार है वह प्रथम मुसलमान बादशाह कुतुबुद्दीन की बनवायी हुई मानी जाती है। उस काल के प्रादेशिक हिन्दू व मुसलमान शासकों ने अनेक भवन, लाठ, मस्जिदें, मन्दिर बनवाये जो उस काल की वास्तुकला के भव्य स्मारक हैं, जो विशेषत: मालवा, गुजरात और दक्षिण में मिलते हैं। मूर्ति कला का इस युग में ह्रास हुआ।

भाषा एवं साहित्य—जिन तुर्क मुसलमानों का आधिपत्य भारत पर हुआ, पहिले ईरानी प्रभाव के सम्पर्क से उनकी भाषा फारसी थी। मुसलमानी शासन-काल में फारसी भाषा द्वारा समस्त राज्य-कार्य किये जाने लगे। मुस्लिम दरबारों के इतिहास भी फारसी में लिखे जाते थे। अत: संस्कृत का प्रचलन कम हुआ—किन्तु हिन्दू राज्यों में हिन्दू शास्त्रों और भाषा की रक्षा होती रही। दक्षिण के हिन्दू राज्य विजयनगर में दो बड़े विद्वान हुए—माधवाचार्य और सायणाचार्य। इन्होंने संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन के लिए एक मण्डल बनाया था जिसमें बड़े बड़े पंडित काम करते थे। सायणाचार्य द्वारा सम्पादित वेद ही आज वेदों के पाठ के आधार हैं। याद रखना चाहिये कि यह सब काम हस्तलिखित होता था। इस समय संस्कृत का स्थान देशी भाषाओं ने ले लिया, देशी भाषाओं और साहित्य को प्रादेशिक राज्यों में खूब प्रोत्साहन मिला। मलिक खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) ने खड़ी बोली में सब से पहले कविता की। बंगला भाषा के प्रसिद्ध कवि चंडीदास (१५वीं शताब्दी), मैथिल भाषा के विद्यापति

(१३७५-१४४८ ई०) इसी काल में हुए। बंगाल के प्रादेशिक मुसलमान शाहों ने बंगला में भागवत और महाभारत के अनुवाद करवाये। १३वीं सदी के तामिल कवि कम्ब की रामायण तथा प्रसिद्ध कवयित्री आण्डाल के गीत भारतीय साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। भक्त कवयित्री मीरा, कवि कबीर और दादू का नाम पहिले ही लिया जा चुका है—इन सब की सौंदर्यमयी कृतियों से हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व समृद्धि हुई। वास्तव में हिन्दू हो या मुसलमान, उस समय सर्वसाधारण की बोली प्रादेशिक देशी भाषायें ही थीं—न कि फारसी और न संस्कृत।

इसी भारतीय मध्य युग (१२००-१५२६ ई०) की तुलना हम यूरोप के मध्ययुग (८००-१४५० ई० लगभग) से कर सकते हैं। सभ्यता की दृष्टि से देखें तो भारत यूरोप से अनेक गुणा उन्नत स्थिति में था, किंतु दोनों जगह राजनैतिक दृष्टि से सामन्तशाही थी,—बुद्धि का द्वार अवरुद्ध था—धर्म में आडम्बर,और संकीर्णता विशेष थी। यूरोप के लिए ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि वह तो असभ्य स्थिति में धीरे धीरे विकास कर रहा था, उसकी कोई प्राचीन परम्परा या संस्कृति नहीं थी। किन्तु भारत में ऐसा संकीर्ण युग आया, ऐसा अप्रगतिशील युग आया, यह आश्चर्यजनक घटना अवश्य है, क्योंकि इस देश के पीछे तो हजारों वर्षों की भव्य और उदात्त परम्परा और संस्कृति थी। वास्तव में भारतीय इतना शिथिल और स्थिर हो चुका था, कि जब १५वीं शती के मध्य से यूरोप ने तो करवट बदली भी—और करवट बदल कर, सहसा जागृत होकर ऐसा खड़ा हुआ और प्रगति-पथ पर अग्रसर हुआ कि कल्पनातीत ज्ञान का अबाध गति से वह सम्पादन करता गया,—भारत प्रायः २०वीं शती के प्रारम्भ तक वहीं रहा जहां वह हिन्दू या इस्लामी मध्य युग में था। यूरोपीय मानव की उपरोक्त जागृति के फलस्वरूप पुर्तगाली (यूरोप) नाविक वास्को-ड-गामा अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ १४९८ ई० में भारत के पश्चिमी तट (मलाबार तट) पर स्थित काली-कट बन्दर आ पहुंचा। पुर्तगालियों ने वहां व्यापार प्रारम्भ किया—कई व्यापारिक कोठियां खोलीं। १५०३ ई० में कोचीन में अपनी कोठी की

किलाबन्दी की। फिर १५१० ई० में बीजापुर राज्य से गोग्रा छीना और उसे अपने व्यापारिक क्षेत्र की राजधानी बनाया। आधुनिक काल में पश्चिम का भारत से यह प्रथम संपर्क था—यहीं से भारत पर यूरोप की प्रभुता स्थापित होने का श्रीगणेश समझना चाहिये।

(४१)

यूरोप में मध्य युग

आधुनिक इतिहासकारों ने ई० सन् की लगभग छठी शताब्दी से प्राय: १५वीं शताब्दी तक के काल को मध्य युग माना है।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जिस जीवन, जीवन के रहन-सहन, जीवन की गतिविधि का विकास यूरोप में सर्वत्र फैलती हुई और बसती हुई नवागन्तुक नोर्डिक जातियों में हो रहा था—वह ग्रीक और रोमन जीवन से सर्वथा भिन्न था, यूं कहना चाहिये एक नई सभ्यता का विकास हो रहा था, धीरे धीरे उस नई सभ्यता का जो आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की पूर्वपीठिका थी।

मानव जाति के इतिहास को एक सतत प्रवाहित धारा के समान समझना चाहिए। उस धारा में कहीं रोक-टोक हो सकती है, उसकी दिशा में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु वह धारा कभी टूटती नहीं,—इसलिये जब कहा जाता है कि यूरोप में एक नई सभ्यता का विकास होने लगा, तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पहिले से बहती आती हुई जीवन की धारा से सर्वथा पृथक कोई दूसरी धारा ही प्रवाहित होने लग गई थी—किन्तु यही समझना चाहिये कि उस आदि धारा में ही कोई नया गुण, कोई नई दिशा उत्पन्न हो गई थी; उस आदि धारा के गुण नई सभ्यता को प्रभावित करते रह सकते थे, या कुछ काल तक लुप्त होकर फिर प्रगट हो सकते थे।

मध्य युग का जो कुछ भी व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन है वह समस्त मुख्यतया दो संस्थाओं से प्रभावित है, और उन्हीं दो बातों से सीमित भी। वे हैं–सामन्तवाद और ईसाई धर्म। इन्हीं दो बातों के इर्द-गिर्द मध्य युग का जीवन घूमता रहा था।

यूरोप के लोगों में तब तक राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं हो पाया था। समस्त यूरोप भिन्न भिन्न सामंती ठिकानों का बना प्रायः एक ईसाई राज्य था। यूरोप में लोगों की गणना इस आधार पर प्रायः नहीं होती थी कि अमुक लोग अंग्रेज हैं, अमुक जर्मन, अमुक फ्रान्सीसी, अमुक स्पेनिश, अमुक डच, अमुक ग्रीक, इत्यादि। वस्तुतः भिन्न भिन्न राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने में एवं कट्टर राष्ट्रीय भावना जागृत होने में अभी प्रायः एक हजार वर्षों की देर थी। राष्ट्रीय भावना का स्पष्ट विकास यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से होने लगा।

सामन्तवाद

रोमन कालीन संगठित राज्य और समाज ध्वस्त हो चुके थे। नई नोर्डिक जातियां आ रही थीं, लूटमार करती थीं और धीरे धीरे अपनी बस्तियां बसाकर जम रही थीं। समाज में कोई व्यवस्था नहीं थी, प्राण और धन के रक्षार्थ कोई संगठन नहीं था। गड़बड़ी और लूटमार का समय था। कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति, अपनी शक्ति और अपने साथियों की सहायता के बल पर किसी भी भूमि का मालिक बन बैठता था–और कोई पक्का किला बनवाकर उसमें शरण लेता था। ऐसे बहुत से किले उस काल में बन गए थे। ऐसी अवस्था में धीरे धीरे संगठित राज्य का विकास होने लगा। उस जमाने की उपरोक्त परिस्थितियों में यह होने लगा कि जो सब से कमजोर था वह समीपस्थ अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और वह शक्तिशाली व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और इस प्रकार रक्षित और रक्षक इन दो सम्बन्धों वाले व्यक्तियों की शृंखला सी बन गई।

इस शृंखला में सबसे नीचे तो थे किसान। वे किसान लूटमार से

बचने के लिए अपने पड़ोसी किसी सरदार की शरण लेते थे जो अपनी शक्ति से अपने कुछ साथियों के साथ किसी किले या विशेष भूमि का मालिक बनकर बैठ जाता था। यह सरदार किसी अन्य बड़े सरदार की शरण लेता था। और वह सरदार अन्त में किसी राजा की। इस प्रकार बहुत अंशों तक एक संगठित सामाजिक प्रणाली का विकास हो रहा था और उस प्रणाली की परम्परायें, नियम और रस्म रिवाज स्थापित हो रहे थे। राजा सब भूमि का स्वामी समझा जाता था और इस दुनिया में ईश्वर का प्रतिनिधि। राजा अपनी यह भूमि अपने आधीन या साथी सरदारों को दे देता था, जो सामन्त कहलाते थे। इस भूमि के बदले जो राजा से मिलती थी, सामन्तों को, जब कभी भी राजा चाहता, अपनी सेनाओं सहित राजा के पास उपस्थित होना पड़ता था—किसी बाहरी दुश्मन से राज्य की रक्षा करने के लिए। ये बड़े बड़े सामन्त अपनी जमीन छोटे छोटे सामन्तों या जमींदारों को दे देते थे, और वे छोटे छोटे जमींदार भूमि को जोतने और खेती करने के लिए अपनी भूमि किसानों को दे देते थे। किसान यह मान्यता रखकर कि यह भूमि तो उसे जमींदार या राजा से मिली है, इसके बदले सामन्त को जमीन की उपज का कुछ भाग दे देता था। सामन्त लोगों का किसानों पर पूरा अधिकार रहता था और उपज का विशेष भाग वे ले जाते थे। किसान लोग सर्फ कहलाते थे और वह भूमि जहां वे बसे हुए होते थे और जिसे वे जोतते थे फीफ (Fief) कहलाती थी। सामन्त की ओर से यदि और कोई भी चीज जैसे पवन-चक्की इत्यादि, किसी व्यक्ति को चलाने के लिए मिली होती थी, वह भी फीफ कहलाती थी और उसके बदले में सामन्त को लाभ का पर्याप्त भाग मिलता था। जैसा ऊपर कह आये हैं यह फीफ सामन्त अथवा राजा की देन समझी जाती थी। जब तक किसान भूमि की उपज का हिस्सा सामन्त को देता रहता, एवं उस सामन्त के लिए मजदूरी का या अन्य कोई काम जो सामन्त कहता करता रहता, तब तक वह जमीन उसके पास रहती थी अन्यथा छीनी जा सकती थी। सर्फ का यह धर्म था कि सामन्त की सेवा करे और

सामन्त का यह धर्म था कि वह सर्फ की रक्षा करे। इसी तरह आगे बढ़कर सामन्तों का राजा के प्रति यह धर्म था कि उनकी सेवायें राजा के लिये उपस्थित रहें क्योंकि राजा ने ही उनको सामन्त या जमींदार बनाया था। सामन्तों को राजा के प्रति पूर्ण स्वामी-भक्ति, युद्ध काल में वीरता और त्याग की भावना का विचार रखना पड़ता था। इस संगठन की भावना तो कम से कम यही थी, यद्यपि व्यवहार में इसके विपरीत भी उदाहरण मिलते हैं। ऐसे सम्बन्ध की परम्परा इन नोर्डिक आर्य लोगों में प्राचीन काल से ही चली आती थी। उत्पादन के साधन भी वही थे—भूमि, हल, बैल, वर्षा, कुएं, नदी—जो सैकड़ों वर्षों से चले आरहे थे। रहने के लिये मिट्टी, घास फूस के कच्चे मकान और जहां पत्थर सरलता से उपलब्ध होता वहां पत्थर के मकान, सामन्त के किले के चारों ओर बन जाते थे—और इस तरह गांवों का विकास और उनकी वृद्धि होती चलती थी।

ऊपर जिस संगठन का वर्णन किया गया है वही सामन्तवाद कहलाता है। प्रायः ऐसा संगठन मध्य युग में यूरोप में सर्वत्र विकसित हुआ था—स्थानीय विभिन्नतायें तो होतीं ही थीं। यह संगठन, इसके नियम, इसकी विधियां लिखकर निश्चित नहीं की गई थीं, किन्तु उस काल की परिस्थितियों में भिन्न भिन्न प्रदेशों में अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ ऐसा संगठन अपने आप विकसित हो गया था और उसकी अपनी ही कुछ परम्परायें बन गई थीं। उन दिनों, जमीन जोतना और खेती करना ये ही मुख्य काम थे। अतएव भूमि के आधार पर ही उपरोक्त प्रकार से आर्थिक जीवन का संगठन हुआ।

उस काल में सामन्तवादी संगठन भारत में भी प्रचलित था किन्तु यूरोपीय और भारतीय सामन्तवाद में एक बुनियादी फर्क था। भारत में खेती करने योग्य विशाल भूमि पड़ी थी। अतएव जो लोग जिस ओर जितनी भूमि पर खेती करने लग गये थे वह भूमि उन्हीं किसानों की मानी जाने लगी थी। परम्परा या सिद्धान्त से राजा भूमि का स्वामी नहीं समझा जाता था। किन्तु राजा का एक अधिकार सर्वथा मान्य था,

वह यह कि जो कोई भी खेती करे उसकी उपज के कुछ अंश पर राजा का अधिकार होता था, और किसान को उपज का कुछ भाग या उस भाग जितना रुपयों में मूल्य राजा के पास जमा करा देना पड़ता था। राजा का भाग पैदावार का प्रायः दसवें हिस्से से छठे हिस्से तक होता था। राज्य की मुख्यतया एकमात्र आय भूमि का लगान होती थी। छोटे छोटे भू-भाग सामन्तों के आधीन होते थे और ये सामन्त अन्त में एक राजा के आधीन होते थे। सामन्त लोगों का सम्बन्ध राजा के प्रति स्वामी-भक्ति का होता था और वे राजा को वार्षिक भेंट दिया करते थे एवं युद्ध काल में अपनी सेना से राजा की सहायता करते थे। इन सब बातों में लिखित नियम का इतना बन्धन नहीं था जितना रूढ़ि और परम्परागत भावनाओं का। तो हमने देखा कि उस युग में यूरोप में राजा भूमि का सम्पूर्ण सार्वभौम स्वामी माना जाता था और भारत में भूमि पर सम्पूर्ण स्वामित्व किसी का नहीं था—जब तक किसान उचित लगान राजा को देता रहता था तब तक वह उस भूमि का स्वामी था और उसको वहां से कोई नहीं हटा सकता था।

चीन में सब भूमि किसानों में विभक्त थी और अपनी अपनी भूमि पर किसान पूर्ण सत्ताधारी थे। उस पर किसी भी सरदार, शासक या राजा का दखल नहीं था, वैसे धार्मिक भावना में राजा सर्वस्व भूमि का स्वामी समझा जाता था। हरएक प्रदेश या गांव में कुछ भूमि राज्य की अपनी स्वतन्त्र भूमि समझी जाती थी और उस भूमि की तमाम उपज राजाओं के पास जाती थी। उस नियुक्त भूमि पर उस गांव या प्रदेश के लोगों को ही खेती करनी पड़ती थी और उसकी तमाम उपज राजा को या शासक को संभलवा देनी पड़ती थी।

यह तो मध्य युग में, यूरोप में समाज के आर्थिक संगठन की रूप-रेखा हुई—जिसकी तुलना उस जमाने के और देशों के आर्थिक संगठन से भी की गई है।

सामन्तवाद का इस आर्थिक पहलू के अतिरिक्त एक और पहलू भी

था जिसे हम सांस्कृतिक पहलू कह सकते हैं। समाज में दो वर्ग तो हो ही गये थे,—एक सामन्त और दूसरा सर्फ वर्ग। यह भी सत्य है कि सर्फ वर्ग एक शोषित वर्ग था, किन्तु उस युग में सर्फ वर्ग के लोगों को इस विचार और भावना ने अभी तक परेशान नहीं किया था कि सामन्त लोग उन्हें चूस रहे हैं, उन्हें उत्पीड़ित कर रहे हैं, अतएव सर्फ लोगों में यह खयाल भी नहीं था कि सामन्त वर्ग का विरोध करना चाहिए और उसे खत्म करना चाहिए बल्कि दोनों वर्ग के लोगों में परस्पर अविरोध का ही भाव था और धीरे धीरे वे ये ही विश्वास करने लगे थे कि जिस प्रकार का भी संगठन है उसमें परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं है। लोग धर्म और ईश्वर में एक सरल विश्वास के सहारे रहते थे।

स्वयं सामन्त वर्ग में कुछ विशेष संस्कारों का विकास हो रहा था। सामन्त लोगों के बड़े बड़े अच्छे अच्छे क़िले होते थे और उन्हीं किलों में वे अच्छे महल और मकान बनवाने लग गये थे। उनके खाने पीने, वस्त्र परिधान, रहन सहन, उनके घरानों की स्त्रियों को किस तरह से बाहिर निकलना चाहिये; किस ठाठ से गिरजा में प्रार्थना करने के लिये जाना चाहिये इत्यादि बातों के कुछ निश्चित नियम से धीरे धीरे अपने आप ही विकसित हो गये थे। सामन्त लोग सैनिक रखते थे, नौकर चाकर रखते थे, रक्षादल रखते थे इत्यादि। सामन्त का प्रमुख सैनिक या रक्षक नाइट (Knight) कहलाता था। नाइटों में अपने स्वामी के प्रति संस्कार गत शुद्ध स्वामी-भक्ति और आत्म-त्याग की भावना होती थी। इन नाइट लोगों के बड़े बड़े खेल (Tournaments) होते थे जिनमें साहसी कार्यों का प्रदर्शन होता था; और सचमुच ऐसा होता था कि नाइट लोग किसी सुन्दर स्त्री की प्रसंशा भावना से प्रेरित और अनुप्राणित हो जीवन में कुछ अनोखा वीरतापूर्ण और रोमाञ्चकारी काम कर जाते थे।

मध्य-युग के इस प्रेम, साहस और सम्मान, व स्त्री के प्रति आदर और उसके लिए त्याग की भावना, इन सब गुणों को एक शब्द शिवेलरी (Chivalry) से निर्देशित किया गया है। सामन्त वर्ग में शिवेलरी

की भावना, मध्य-युग की एक विशेषता थी। उस युग के साहित्य में हमें इस भावना के सुन्दर दर्शन होते हैं। यह भाव कि वह आनन्द नहीं जो सम्मान से नहीं आता और वह सम्मान नहीं जो प्रेम का प्रतिफल न हो, उस युग के काव्य में एक अन्तर्धारा की तरह प्रवाहित रहता है। उस युग के साहित्य में जो दूसरी मुख्य धारा प्रवाहित है, वह है ईसाई धर्म की भावना। जैसा हमने प्रारम्भ में कहा था, सामंती संस्कृति और धार्मिक भावना ही इस युग के जीवन के आधार हैं। समस्त यूरोप में लोगों के मनोरंजन के लिये और साथ ही साथ इस उद्देश्य से कि मनोरंजन के द्वारा उनको धार्मिक शिक्षा मिले, अनेक नाटक खेले जाया करते थे। ये वास्तव में नाटक नहीं थे किन्तु इन्हें साहित्यिक नाटकों का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं। इन सब का विषय होता था ईसाई धर्म, स्वर्ग, नर्क, ईसाई सन्तों की जीवनियां इत्यादि। इसके अतिरिक्त स्वयं अपने प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व की छाप लिये हुए यूरोप में दो महान् कवि प्रगट हुए जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला, इटली का (जहां का साहित्य उस युग में सर्वाधिक समुन्नत था) महाकवि दांते (१२६५-१३२१ ई०) जो अपने जीवन के प्रारम्भ काल में बिट्रिस नामक सुन्दर लड़की के प्रेम में मग्न हुआ था और फिर उसीसे आविर्भूत होकर जिसने हमारे लिए वह सुन्दर काव्य "दीवाइना कोमेदिया" प्रस्तुत किया जिसमें गाई है उसने अपनी कहानी, कि किस प्रकार वह जो अपने जीवन में बिट्रिस नहीं पा सका था 'स्वर्गलोक' (भावलोक) में उस सौंदर्यमयी देवी के दर्शन कर सका, प्रेम की उस शक्ति से जिस पर आधारित है सूर्य और नक्षत्र लोकों की गति भी। छापेखानों के प्रचलन के पहिले इस काव्य की ६०० हस्तलिखित प्रतियां तैयार हो चुकी थीं, और भिन्न भिन्न यूरोपीय देशों में प्रसारित हो चुकी थीं। दूसरा इङ्गलैण्ड का महाकवि चॉसरँ (१३४०-१४११ ई०) जिसने स्वतन्त्र या स्यात् उस युग के प्रसिद्ध इटालियन लेखक बोकेकचो की संसार प्रसिद्ध गद्य कहानी की पुस्तक 'डेकामेरोन' से प्रभावित होकर अपने प्रसिद्ध काव्य "कण्टरबरी टेल्स" की रचना की, जो

काव्य उस समय के भिन्न भिन्न पेशेवाले साधारण जन, नाइट, चक्कीवाला, पादरी, हलकारा देने वाला, बाथ की स्त्री के जीवन की मधु झांकी हमको देता है, और जिससे हमको आभास मिलता है कि कितने भिन्न भिन्न रंगों में रंगी हुई है मानव जीवन की यह कहानी।

मध्य युग में ईसाई धर्म, और जीवन पर उसका प्रभाव

ईसाई धर्म का प्रसार :–उत्तर प्रदेशों से जो नोर्डिक लोग आये थे वे सब मूर्तिपूजक और बहुदेववादी थे। उनका धर्म एक बहुत ही प्रारम्भिक किस्म का धर्म था। इजराइल से निकल कर ईसाई धर्म प्रचारक सर्वत्र फैल गये। रोमन सम्राट एवं साम्राज्य के, लोग तो चौथी शताब्दी में ही ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके थे–यह धर्म वहां के समस्त समाज में पैठ गया था–और इस धर्म के चारों ओर परम्परायें भी बन गई थीं। साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर पूर्व और उत्तर-पश्चिम से जो अर्ध सभ्य लोग आये, उनमें अब इस धर्म का प्रचार होने लगा, कहीं कहीं तो जबरदस्ती उनको ईसाई बनाया जाने लगा।

रोम के प्रथम पोप ग्रिगोरी ने संत आगसटाइन को इङ्गलैंड भेजा–वहां के असभ्य लोगों को सभ्य ईसाई बनाने के लिये। लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों की यह बात है। धीरे धीरे वहां के सभी ऐंग्लो सेक्सन लोग ईसाई बन गये और केन्टरबरी में उनका सबसे बड़ा गिरजा बना। पादरी भिक्षुओं के रहने के लिए कई धर्म मठ भी बने। चारों ओर तो अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य था किन्तु इन मठों में शिक्षा और अध्ययन के संस्कार जमने लगे थे। मठों में बड़े बड़े विद्वान् अध्ययनशील और अध्यवसायी भिक्षु पैदा होने लगे थे। इङ्गलैंड में एक प्रसिद्ध भिक्षु विद्वान् हुआ वेनरेबल वीड (६७३–७३५ ई०) उसने एक महान् पुस्तक लिखी–इङ्गलैंड में ईसाई पादरियों का इतिहास। इस पुस्तक में उसने तमाम सन् और तारीख ईसा के जन्म दिन के समय की गणना करके लगाई थी। इस पुस्तक का यूरोप में खूब प्रचार हुआ था–और तभी से इंगलैंड और समस्त यूरोप

में ई० सन् की प्रणाली चली जो आज भी प्रचलित है।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में ट्यूटोनिक और स्लव लोगों को ईसाई बनाने का काम खूब जोरों से चला। शार्लमन महान् जो पवित्र रोमन साम्राज्य का संस्थापक था एक के बाद दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करता गया और सब लोगों को अपनी तलवार के बल से ईसाई बनाता गया—यहां तक कि धीरे धीर बहुत ही साहसी और लड़ाकू डेनिस और वाईकिंग लोग भी ईसाई बन गये।

छठी शताब्दी से मगयर जाति के मंगोल लोग मध्य एशिया से आकर धीरे धीरे उस प्रान्त में बसने लगे थे जो आज हंगरी कहलाता है। ये लोग भी एक हजार ई० तक सब ईसाई बन गये थे। इसी तरह वे तुर्क लोग जो धीरे धीरे बलगेरिया में बस रहे थे, किंतु जो नोर्डिक स्लव लोगों के साथ घुल मिल गये थे और जिनके राजा बोरिश (८५२—८८४ ई०) के दरबार में अरब साम्राज्य के कई मुसलमान राज्य-दूत आये थे, जो स्वयं एक बार मुसलमान बनने की सोच रहा था, वह भी ईसाई मत के प्रभाव में आया और उसने अपने आपको और अपने राज्य के सब लोगों को ईसाई धर्म के सामने समर्पित कर दिया।

हिन्दू और बौद्ध धर्मों का मुख्य क्षेत्र पूर्व में ही था, यथा भारत, पूर्वीय द्वीप समूह और चीन। वे लोग यूरोपीय देशों के सीधे निकट सम्पर्क में नहीं आये थे। इस्लाम धर्म जिसकी स्थापना सातवीं शताब्दी में हुई थी वह अरब विजेताओं के साथ आठवीं शताब्दी में स्पेन तक पहुंच चुका था और सम्भव है कि स्पेन के आगे बढ़ता हुआ वह समस्त यूरोप में भी फैल जाता। किन्तु याद होगा कि सन् ७३२ ई० में, यूरोप में नव स्थापित फ्रेन्किस राज्य के शासक चार्ल मारटेल ने उनको टूर्स के मैदान में हराया था और तभी से उनका आगे बढ़ना सर्वथा रुक गया था। इसलिये बहुत सम्भावनायें होते हुए भी यूरोप में इस्लाम के पैर नहीं जम पाये। इस प्रकार हमने देखा कि मध्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में यूरोप में प्रायः सभी लोग अपने आदिम पैगन

धर्म को भूलकर ईसाई बन गये थे। उनमें ईसाई धर्म के संस्कार, ईसाई धर्म की भावनायें धीरे धीरे स्थापित हो गई थीं। ईसाई धर्म का संस्कार उनके जीवन और भावनाओं में इतना जम गया था कि १२वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इजराइल में यरुशलम की पवित्र गिरजा जो उस समय मुसलमानों के हाथ में थी जीतने का प्रश्न चला, उस समय मुसलमानों से धर्म युद्ध करने के लिए समस्त यूरोप के ईसाईयों में एक स्फूर्ति सी पैदा हो गई और सब एक विशाल संगठन बनाकर धर्म युद्धों में जुट पड़े। यूरोप के इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन एक भावना और एक विचार से प्रेरित होकर, एक-सूत्रीय संगठन में बंधे हों और कोई आयोजित कार्य करने में जुटे हों। यूरोप में ही नहीं किन्तु स्यात् समस्त मानव इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन ने स्वयं अपना एक संगठन बनाकर कुछ कार्य किया।

रोम के पोप—यूरोप के मध्य युग के इतिहास में पोप का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यहां तक कहा जा सकता है कि साधारण जन के सरल विश्वास के आधार पर उसकी शक्ति यहां तक बढ़ गई थी कि मानो वह सब लोगों की आत्माओं का अधिनायक हो। पोप की शक्ति का दूसरा आधार था सब गिर्जाओं का एक अपूर्व अन्तर-प्रान्तीय, और जहां तक यूरोप का सम्बन्ध है एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन। समस्त पश्चिमी और मध्य यूरोप गिर्जाओं के संगठन के लिये, प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त में सबसे बड़ा धार्मिक पादरी आर्कबिशप होता था—प्रांत जिलों में विभाजित थे, जिले (Dioces) का सब से बड़ा पादरी बिशप होता था। जिले, गांवों (Parishes) में विभक्त थे, जहां साधारण पादरी गांव के गिर्जा में लोगों के धार्मिक जीवन का संचालन करता था। गांवों में प्रायः गिर्जा ही केवल एक पक्की इमारत होती थी, और गांव का पादरी थोड़ा बहुत शिक्षित व्यक्ति—अन्यथा मीलों तक पक्के भवन और शिक्षित व्यक्ति का मिलना कठिन था। पहिले तो यरुशलम, रोम, कोन्सटेनटिनोपल, इत्यादि प्रमुख गिर्जाओं के बिशप पद में प्रायः बराबर

माने जाते थे; फिर यरुशलम और कोन्सटेनटिनोपल के बिशप अपने को सबसे बड़ा समझते थे किन्तु धीरे धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया था कि ईसाई धर्म का प्रथम सन्त पीतर ही रोम का सर्व प्रथम बिशप था, और उसकी अस्थियां, जिनके अवशेष रोम में थे, चमत्कारिक काम कर सकती थीं—जैसे अंधों को सूझता कर देना, कोढ़ियों को स्वस्थ कर देना, इत्यादि; और यह चमत्कारिक काम करवाना रोम के बिशप के हाथ में था। ऐसी परिस्थितियों में सन् ५९० ई० में उच्च वर्ग का एक धनिक व्यक्ति जिसका नाम ग्रिगोरी था, रोम का पादरी निर्वाचित हुआ, उसे समस्त गिर्जाओं का अधिपति घोषित किया गया और वह पोप कहलाया। ईसाई धर्म में यह पहिला पोप था—जिसकी परम्परा आज भी रोम में चली आरही है और जो अपने निवास स्थान वेटिकन पेलेस से रोमन कैथोलिक ईसाइयों का धार्मिक नेतृत्व करता रहता है। ग्रिगोरी जब पोप बना तब उसके पास अपनी स्वयं की काफी लम्बी चौड़ी भूमि थी और इटली में उसका काफी प्रभाव था। धीरे धीरे एक के बाद दूसरे पोप आने लगे और पोप लोगों के धन, जायदाद और प्रभाव क्षेत्र में विस्तार होने लगा,—पूर्वीय रोमन साम्राज्य को छोड़कर समस्त पच्छिमी और मध्य यूरोप के लोगों पर, गिर्जाओं और पादरियों पर तो पोप का धार्मिक प्रभाव था ही किंतु धीरे धीरे राजनैतिक शक्ति भी पोप में केन्द्रित होने लगी; और उसका राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा।

ईसामसीह के इन वाक्यों से कि समस्त संसार में ईश्वरीय राज्य हो, अनेक पादरी और सर्वोपरि पोप यह विचार मन में लाने लगे थे कि सारे संसार में ईसाई धर्म का प्रचार हो, और सब लोग एक राज्य के सूत्र में बंध जायें। विशाल रोमन साम्राज्य, जिसकी स्मृति अभी बनी हुई थी, की कल्पना करके ये लोग भी एक धर्म साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। ऐसा अवसर आया भी। यह याद होगा कि सन् ८०० ई० में पोप लियो तृतीय ने शार्लमन महान् को गिर्जा में राज-मुकुट से आभूषित किया था और यह घोषित किया था कि वह पवित्र रोमन

साम्राज्य का प्रथम सम्राट है। (रोम नाम की महानता चली आ रही थी; इसलिए इस साम्राज्य का नाम रोमन रक्खा गया)। पवित्र रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ। पोप ग्रीगोरी सप्तम (१०७३-१०८५ ई०) के समय से प्रारम्भ होकर, जिसने गिर्जा, पादरियों इत्यादि के संगठन में अनुपम व्यवस्था और अनुशासन स्थापित किया, लगभग डेढ़ शताब्दी तक पोप और गिर्जा की शक्ति में खूब वृद्धि हुई। पोप लोग अपना यह अधिकार मानते थे और बहुत अंशों तक शासकों को यह अधिकार मान्य भी था कि वे, अर्थात् पोप ही राजाओं को राज्य करने का अधिकार देते हैं और वे ही उनको शासनारूढ़ करते हैं। जो राजा या शासक पोप और धर्म की अनुमति के अनुकूल नहीं चलता था उसका वे समस्त समाज द्वारा बहिष्कार करवा सकते थे। पोप की सत्ता सर्वमान्य थी।

ईश्वरीय राज्य की संभावना जो प्राप्त न की जा सकीः—इतनी अटूट श्रद्धा लोगों की पोप और गिर्जा में थी, इतना स्वाभाविक उनका विश्वास था—इतनी जबरदस्त सत्ता पोप और गिर्जा में निहित थी। जन जन अपने कल्याण के लिए उनकी ओर ताकता था। ईसाई धर्म, पोप और गिर्जा को एक स्वर्ण अवसर मिला था कि वे सचमुच एक ईश्वरीय साम्राज्य इस दुनिया में स्थापित कर लेते, एक ऐसा साम्राज्य जिसके सब सदस्य बिना किसी भेद भाव के एक भ्रातृत्व भावना से अनुप्राणित हों, और सद्भावनापूर्ण वातावरण में लोगों का सहज मानवीय और नैतिक विकास होता चले। किन्तु धर्म, गिर्जा और पोप ने इस मौके को खो दिया; सामान्य जन तो तैयार था उठने को किन्तु 'धर्म' (गिर्जा और पोप) ने ही उसको गिरा दिया। इस चिंता के बजाय कि जन जन की आस्तिक भावना और श्रद्धा के सहारे उनको आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर करे और उनका कल्याण चाहे पोप यह चिंता करने लगा कि किस तरह उसकी सत्ता और भी बढ़े; कि किस तरह वह, न कि राजकीय सम्राट साम्राज्य का संचालन करे। ठीक है कभी कभी प्रतिभावान पोप या पादरी सत्तारूढ़ होते थे और वे ईश्वरीय राज्य का आदर्श अपने सामने रखते थे, ऐसी भावना समस्त ईसाई दुनिया में

प्रसारित करने का प्रयत्न भी करते थे, किन्तु ऐसा बहुत कम होता था। वस्तुतः तो पोप प्रजाजनों के मन और हृदय में अपना स्थान बनाने की बजाय उनको भयातुर करके उन पर अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश करने लग गये थे। जो कोई भी जन पोप और पादरियों के विचार और इच्छा के जरा भी प्रतिकूल होता उसको वे जला कर भस्म करवा देते थे। उन्होंने अपनी स्थिति राजकीय शासनकर्ताओं जैसी बना ली थी। जगह-जगह पर बड़े पादरियों के आधीन न्यायालय और जेलखाने थे जिन सब के ऊपर रोम में पोप का प्रधान न्यायालय था। पोप ने सब जगह एक प्रकार का कर लगा रखा था जिसे टाइथ कहते थे, जिसका आशय था कि भूमि की उपज का दसवां हिस्सा गिर्जा में जमा करवाया जाना चाहिये। पोप ने यह भी अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वह चाहे जिसको विशेष नियमों या अनुशासन के पालन से मुक्त करदे जिसका यह अर्थ था कि वे पादरी जो पोप के मित्र और संबंधी होते थे विवाह करने एवं भूमि और धन संग्रह करने की आज्ञा पा लेते थे जो उचित नहीं था। पोप ने लोगों के ऊपर यह विश्वास जमाया कि चूंकि वह इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है इसलिये उसमें यह क्षमता है कि वह किसी भी पापी या दुष्कर्मी को क्षमापत्र देकर नर्क की यातनायें भोगने से बचा सकता है। लोगों से अतुल धनराशि लेकर पोप ने ऐसे क्षमापत्र बेचना प्रारम्भ कर दिया था। उसने अपनी अहमन्यता यहां तक बढ़ा ली थी कि वह किसी को भी ईसाई-मत-विरोधी एवं नास्तिक घोषित करके सूली पर चढ़वा सकता था, मरवा सकता था, जलवा सकता था। इस अधिकार के फलस्वरूप यूरोप में तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही अमानवीय और क्रूर घटनाएं घटित हुईं। जहां कहीं भी देखो यूरोप में सैकड़ों जगह सैकड़ों आदमियों को जलाया जा रहा है और नृशंसता से मारा जा रहा है—और उनका अपराध केवल यही कि वे पोप की सत्ता के विरुद्ध कुछ बोलते होंगे, पोप की सत्ता का आदर नहीं करते होंगे।

प्रतिक्रिया हुई। धीरे धीरे लोग यह महसूस करने लग गये कि गिर्जा

और पोप तो धर्म, जायदाद और राजनैतिक सत्ता के द्वन्द्व के क्षेत्र बनते जा रहे हैं। पोप तथा गिर्जाओं के प्रति राजाओं तथा साधारणजन के हृदय पर कई शताब्दियों से जो एक सरल और विश्वासमूलक आधिपत्य जमा हुआ था वह खिसकने लगा। इसका प्रथम संकेत मिला पवित्र रोमन साम्राज्य के फ्रेडरिक द्वितीय के राज्य काल में, जब उसने पोप को एक खुला पत्र लिखा कि यह महत्वाकांक्षा कि वह धर्म और राज्य दोनों का अधिपति बना रहे अनुचित है, और यह कि संसारी (भौतिक) राज्य के क्षेत्र में पोप का अधिकार न होकर राजा का ही अधिकार होगा। सम्राट फ्रेडरिक ने यूरोप के अन्य राजाओं को भी यह आभास करवाया कि राज्य के क्षेत्र में पोप का कोई भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। पोप के प्रति धीरे धीरे अवज्ञा और रोष की भावना यहां तक फैली कि सन् १३०२ ई० में फ्रांस के राजा ने अपने सामन्तों और साधारणजनों की अनुमति से स्वयं पोप को उसके महल में जाकर गिरफ्तार कर लिया था। इस प्रकार मध्य युग में ही जो एक धर्म प्रधान युग था पोप की पोपडम के विरुद्ध आवाज उठने लग गई थी। मध्य युग के बाद पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार के युग में, और तदन्तर अनेक राजनैतिक विचार धाराओं के उद्भव होने से धीरे धीरे स्वाभावत: ही यह बात मानी जाने लगी थी और स्पष्ट हो गई थी कि गिर्जा, पोप और धर्म (बाह्य धर्म)का राज और राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। किंतु इस स्पष्ट बात को भी मान्यता मिलने में यूरोप में कई शताब्दियां लग गई थीं।

मध्य युग की सन्त परम्परा—ऊपर गिर्जाओं के सगठन, पोप लोगों के अधिकार और सत्ता लोलुपता इत्यादि की जो बातें लिखी गई हैं उनसे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि ये ही बातें उस युग की भावनाओं की परिचायक हैं। इन सब ऊपरी बातों के परे, राजाओं और पोप लोगों की महत्वाकांक्षाओं के परे, अनेक साधारण जन और गाव के पादरी ऐसे थे जिनकी आत्मा और हृदय को सचमुच ईसा की आत्मा और भावना प्रेरित करती थी। उनका जीवन सरल और प्रेममय था। इसके अतिरिक्त कई सच्चे सन्त लोगों का उस युग में आविर्भाव हुआ

था। इन सन्त लोगों ने धन वैभव से परे सरल धार्मिक सेवामय जीवन व्यतीत करने के लिए कई विहारों की स्थापना की थी। ऐसा एक सन्त था बेनेदिक्त (४८०–५४४ ई०) जिसने रोम से लगभग पचास मील दूर एक निर्जन स्थान में कई वर्षों तक समाज और संसार से दूर एक सरल और तपस्यामय जीवन व्यतीत किया था। तदनन्तर इसने मानव समाज में आकर अनेक विहारों की स्थापना की। इन विहारों में ब्रह्मचारी (ईसाई भिक्षुक) त्याग, नियम पालन और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अपना शेष जीवन आत्मा-कल्याणार्थ ईश्वर की आराधना में बिताते थे।

एक दूसरे सन्त हुए जिनका नाम केसियोडोरस (४६०–५८५ ई०) था। इसने अपने विहारों में अपने अनुयायियों को यही मुख्य आदेश दिया कि वे प्राचीन साहित्य का संग्रह करें, उसकी रक्षा करें एवं सत्य धार्मिक साहित्य की हस्तलिखित प्रतियां बनायें जिससे कि लोगों में धर्म और ज्ञान का प्रसार हो। इन्हीं लोगों के प्रयास से कई विद्यालयों की स्थापना हुई; जो धीरे धीरे विकसित होकर मध्य युग के विश्वविद्यालय बन गये थे। एक और सन्त हुए, असाइसी के सन्त फ्रांसिस (११८१–१२२६ ई०)। इस संत के अनुयायी भिक्षुओं ने जो फ्रायर कहलाते थे, पीड़ित बीमार जनों की, मुख्यतया कोढ़ियों की प्रेम-मय सेवा में अपना जीवन व्यतीत करने की अपूर्व सराहनीय प्रथा चलाई थी। इन फ्रायर लोगों का जीवन वास्तव में त्यागमय, सेवामय, तथा दिव्य होता था। यदि पोप की नगरी में और गिर्जाओं के संगठन में धर्म के बाह्य रूप की चकाचौंध, ठाठ और ऐश्वर्य के दर्शन होते थे तो इन भिक्षुकों और फ्रायर लोगों के जीवन में, गांवों के पादरियों के जीवन में, और इन भिक्षुकों के विहारों में धर्म की आत्मा के दर्शन होते थे। उस युग में लोगों में जो कुछ भी सच्ची धार्मिक भावना, शान्ति और ज्ञान की आभा थी वह इन्हीं लोगों की वजह से, और यदि कहीं उन युगों में साहित्य और कला की रक्षा हुई, और उसका विकास हुआ और शिक्षा का प्रसार हुआ तो वह भी इन्हीं लोगों के प्रयास से।

मध्य युग में इन संत लोगों की एक लम्बी परम्परा और गौरवपूर्ण गाथा है। ये सब ईश्वर के अनन्य भक्त थे। इनका ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान अनुभूत्यात्मक था, धर्मपोथी से सीखा हुआ नहीं। चिंतन चित्-शुद्धि, भाव-योग (भक्ति) के द्वारा इन्होने परमात्मतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति की थी—अपने हृदय में ईश्वर के दर्शन पाये थे। कुछ प्रसिद्ध संतों के नाम दिये जाते हैं। इटली में हुए—संत ओगस्टीन (३५४ से ४३० ई०) जिसकी रहस्यात्मक अनुभूति बहुत गहरी थी और जिसकी साहित्यिक कृति "कन्फशनस्" (आत्म-स्वीकारोक्ति) विश्व विख्यात है; संत अन्सलेम (१०३३–११०६ ई०), संत थोमेस अक्वीनस (१२२५–१२७४ ई०) जो रहस्यवादी होने के साथ साथ भारत के शंकराचार्य की तरह महान् दार्शनिक भी थे,नीदरलैंड प्रदेश में हुए—जोहन रूईस ब्रोक(१२९३–१३८१ ई०) जिनकी गिनती विश्व के महानतम रहस्यवादी संतों में होती है; जर्मनी में हुए मिस्टर ईकहार्ट (१२७० से १३२७ ई०)—इनकी गणना भी विश्व के महानतम रहस्यवादियों में होती है। इन्हीं के विचारों और अनुभूतियों से जर्मन दर्शन की शुरुआत मानी जाती है; इंगलैंड में हुए वाल्टर हिल्टन (१३९६ ई०) एवम् रिचार्ड शेल ऑफ हेमपोल (१३००–१३४९ ई०) जो सत होने के साथ साथ एक महान् कवि भी थे। स्त्री भक्त, कवयित्री, और संत भी हुए। भक्तों मे जर्मनी की संत गर्टरूड महान् (१२५६–१३११ ई०), इटली की संत कैथेरीन ऑफ सियाना, (१३४७–१३८७ ई०)एवम् संत कैथरीन ऑफ बोलोगना (१४१३ से १४६३ ई०); फ्रांस की संत जोन ऑफ आर्क (१४१२–१४३१ ई०) जो दैवी प्रेरणा से इङ्गलैंड के विरुद्ध लड़ी थी। कवयित्रियों में जर्मनी की मैक्टहिल्ड ऑफ मैकडलबर्ग (१२१२–१२९९ ई०) एवम् इंगलैंड की लेडी जूलियन आफ नौरविच जिसकी कृति "रेवेलेशनस् ऑफ डिवाइन लव" मध्य युग के साहित्य की एक अनुपम देन है।

इन संतों के शब्द आज भी उन सब को जो चेतना के उच्चतर स्तर को छू लेना चाहते हैं प्रेरणा दे रहे हैं।

ज्ञान विज्ञान की स्थिति

मध्य युग धार्मिक विश्वास और श्रद्धा का युग था, बुद्धिवाद का नहीं। अतः इस युग में ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का इतना महत्त्व नहीं जितना धर्म और परलोक की भावना का। फिर भी ऐसा नहीं कि ज्ञान-विज्ञान की गति बिलकुल अवरुद्ध रही हो। गिर्जाओं में एवं ईसाई भिक्षुओं के विहारों में विद्याओं का अध्ययन चलता रहता था, अनेक विद्या-प्रेमी जन ज्ञान का विस्तार भी करते रहते थे। पादरियों की प्रेरणा से गिर्जाओं से सम्बन्धित विद्यालयों के उपरान्त यूरोप में सर्व प्रथम विश्व-विद्यालयों की स्थापना १२ वीं–१३वीं शताब्दियों में हुई थी–११५८ ई० (?) में इटली के बोलोगना विश्व-विद्यालय की; १२५३ ई० में सोरबोन (पैरिस) विश्व-विद्यालय की, एवं १२वीं ही शताब्दी में इंग्लैण्ड के प्राचीनतम विश्व-विद्यालय ओक्सफोर्ड की; १२९० ई० में केम्ब्रिज की। १५०० ई० तक यूरोप में ७९ विश्व-विद्यालय स्थापित हो चुके थे।

मध्य-युगीय यूरोप में विज्ञान की हलचल प्रारम्भ होने का श्रेय जाता है अरबी विद्वानों को। सिसली के शासक फ्रेडरिक द्वितीय, स्पेन के शासक ऐलफोन्जो—(१२२१–१२८४ ई०) की संरक्षता में अनेक अरबी ग्रन्थों के लेटिन तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद किये गये। कई विद्वान अरबी विज्ञान के सम्पर्क में रहकर विज्ञान के अध्ययन में और उसकी खोज में लगे हुए थे। इसी के फलस्वरूप इंगलैंड के प्रसिद्ध ईसाई भिक्षु रोजर बेकन (१२१४-१२९४ ई०) और इटली के प्रसिद्ध कलाकार लिओनार्दो दाविंची (१४५२–१५१९ ई०) लेखक या कलाकार होते हुए भी वैज्ञानिक खोजों में संलग्न हुए।

यूरोप में मध्ययुग के निम्न आविष्कार हुए : १. घोड़ों के लोहे की नाल लगाने का आविष्कार। (इसके पहिले रोमन लोग चमड़े की नाल लगाते थे इसलिये न तो वे अधिक बोझा ढो सकते थे और न पक्की सड़कों पर अधिक काम में लाये जा सकते थे–भारी बोझा मानव द्वारा ढोया जाता था)। २. पतवार का आविष्कार (इसके पहिले रोमन

जहाज डाँडों के सहारे खेये जाते थे)। ३. १५८८ ई० में इंगलैंड में जहाजों के चलाने में मानव शक्ति की जगह वायु-शक्ति का प्रयोग हुआ। यह प्रयोग सबसे पहिले स्पेन के जहाजी बेड़े में हुआ। इसके पूर्व प्राय: मानवँ मजदूर डांडों से जहाज चलाते थे। ४. यांत्रिक घड़ी का आविष्कार अंधकार युग में निश्चित रूप से एक ईसाई मठ में हुआ। ५. यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में मोसेली नदी के किनारे बनाई गई पहली पनचक्की का नाम आता है। हवा चक्की भी अंधकार युग के आविष्कारों में से है। १२वीं सदी आते आते हम यूरोप के विभिन्न स्थानों में हवा चक्की का इस्तेमाल देखते हैं। रोमन काल में चक्कियां गुलामों या गदहों द्वारा चलाई जाती थीं।

सन् १२८५ ई० में आंखों के चश्मे का आविष्कार अलक्सेंदर-द-स्पीना ने किया। सन् १३७० ई० के लगभग कागज, बारूद, चुम्बक और मुद्रण की कलायें चीन से यूरोप में मंगोल लोगों द्वारा लाई गईं। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कई मुद्रणालय यूरोप में खुल गये। इङ्गलैंड में सर्व प्रथम छापाखाना सन् १४५५ ई० में खुला। पुनर्जागृति काल में विज्ञान की नींव नये सिरे से पड़ी और तभी से चमत्कारिक आविष्कार होने लगे।

मध्य युग में व्यापार और यातायात—व्यापार की स्थिति और व्यापारिक मार्गों की सुविधायें सभी प्रदेशों में एक सी नहीं थीं। साधारण तौर पर इतना कहा जा सकता है कि मध्ययुग में यातायात बहुत कठिन और धीमा था। यह तो स्पष्ट है ही कि बिना पशु या आदमी की शक्ति के, किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति जैसे कोयला, पैट्रोल, बिजली इत्यादि से गाड़ियों को चलाने की तो उस युग में कल्पना ही नहीं हो सकती थी। रोमन काल में जो सड़कें बनी थीं उन्हीं सड़कों पर आवगमन होता रहता था। ऐसा भी अनुमान है कि मध्य युग में न तो नई सड़कों का निर्माण हुआ और न पुरानी सड़कों की मरम्मत ही। लोग घोड़ों पर, खच्चरों पर या बैलगाड़ियों और घोड़ागाड़ियों में यात्रा करते थे। व्यापारिक माल मुख्यत: खच्चरों पर लदकर इधर उधर जाया करता

था। जहां कहीं भी नदियां होती थीं उनमें सरलता से नावों द्वारा माल का यातायात होता था। सामुद्रिक किनारों पर जहाज चलते रहते थे। सब प्रदेशों के बन्दरगाह एक दूसरे से सम्बन्धित थे। उदाहरण स्वरूप मिस्र में अलेक्जेन्डिरिया, इजराइल में टायर, पूर्वीय रोमन साम्राज्य में कोन्सटेनटिनोपल, इटली में नेपल्स, उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस, स्पेन में केड़िज, फ्रान्स में बोरडक्स, इङ्गलैंड में लन्दन, इत्यादि ये सब बन्दरगाह एक दूसरे से जहाजों द्वारा जुड़े हुए थे। मुख्य व्यापार की वस्तुयें ये थीं:—इङ्गलैंड में ऊन, टीन, लोहा; स्केन्डिनेविया में लकड़ी; डेनमार्क में दूध, मक्खन; पूर्वीय प्रदेशों में जैसे इजराइल सीरिया इत्यादि में गलीचे; और उससे भी पूर्वीय प्रदेशों में जवाहरात और मोती; इटली में जैतून, जैतून का तेल इत्यादि; फ्रांस में चांदी, शक्कर, शराब इत्यादि वस्तुओं का व्यापार होता था। आवागमन बहुत सुरक्षित नहीं था, मार्गों में लूटमार का डर रहता था, इसलिए यात्रियों के साथ रक्षक दल चला करते थे। पूर्वीय भाग में अलेक्जेन्ड्रिया और कोन्सटेनटिनोपल में पूर्वीय देशों से व्यापारिक वस्तुएं जैसे जवाहरात, रेशम, हाथीदांत, गलीचे, मलमल, मसाले और मिठाइयां एकत्र होती थीं और वहीं से यूरोपीय देशों में वितरित होती थीं। यूरोप के देशों में उस समय तक कई नगर बस चुके थे, मेले भरा करते थे, जहां पर व्यापारिक लेनदेन होता था। व्यापार के लिए चांदी और सोने की मुद्रायें प्रचलित थी। ऐसा अनुमान है कि बाद में यहूदी लोगों ने हुण्डियों का भी प्रचलन कर दिया था। धीरे धीरे जो नगर बस रहे थे उनमें हस्त-कला-कौशल का काम होने लगा था जैसे बेलजियम के ब्रूसल्स एवं घेंट नगर में तलवार, ढाल, तीर-कमान, इत्यादि बनते थे। फ्लण्डर्स नगर में सुन्दर ऊनी कपड़े बनते थे और कई नगरों में सूती कपड़े बुने और रंगे जाते थे। धीरे धीरे नगर में रहने वाले व्यापारियों और हस्त-कला-कौशल के काम में लगे हुए कारीगरों (शिल्पियों) का महत्व बढ़ रहा था; नगरों में उनके संघ (Guilds) स्थापित थे, एवं व्यापारिक लोग भी अपने स्वतन्त्र संघ बना रहे थे। संघों की वजह से नगर जीवन और

नागरिक लोगों का सामाजिक आर्थिक जीवन सुसंगठित था। ये संघ भारत के शिल्पियों एवं व्यापारियों की "नगर संस्थाओं" के समान थे, जो भारत में प्राचीन युग में संगठित थे। उस काल में अनेक सामाजिक काम जो आज राज्य करता है, नगर संस्थायें किया करती थीं। धीरे धीरे व्यापारियों के पास खूब धन संगृहीत होने लगा था—उनका महत्व और उनकी शक्ति भी बढ़ने लगी थी। ज्यों ज्यों व्यापार में अभिवृद्धि हुई बैंकों की एवं साख प्रणाली की भी स्थापना होगई। १४वीं शती तक इटली में लोम्बार्डी में अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग की स्थापना हो चुकी थी। इटली के वेनिस और जिनोआ नगरों में भी बैंक खुल गए थे—इनके संस्थापक बड़े बड़े व्यापारिक धनी कुटुम्ब थे। इनका प्रभाव यहां तक बढ़ गया था कि शासकों को भी धन के लिए इन व्यापारियों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। पश्चिमी यूरोप में विशेषकर इङ्गलैंड और फ्रांस में ११वीं से १५वीं शताब्दी तक, "गोथिक भवन निर्माण रीति के," विशालता, ऊंची ऊंची मीनारें एवं कई कई मेहराब जिसकी विशेषतायें होती थीं, अनेक सुन्दर और भव्य गिर्जा बने। इटली और स्पेन में भी इसी प्रकार के अनेक भवन बने। इनमें पहिले तो गिर्जाओं का रुपया लगता था—तदनंतर राजा और व्यापारिक लोग भी इनमें खर्चा करने लगे थे। अद्भुत यह एक भावना थी जिससे प्रेरित होकर विशाल धनराशि, ऐसे धार्मिक भवन बनाने में सहर्ष व्यय करदी जाती थी। १४वीं १५वीं शताब्दियों में गोथिक रीति के अनुसार ही यूरोप के प्रायः सभी नगरों में नगर-पालिका-भवन बने। इन भवनों को सुन्दर बनाने में प्रत्येक नगर गौरव की अनुभूति करता था। उस जमाने के ये भवन अब भी नगर-पालिकाओं के दफ्तर का काम देते हैं।

व्यापारिक मार्ग एवं आवागमन के साधन इत्यादि का जो वर्णन ऊपर किया गया है वैसी ही स्थिति प्रायः दुनिया के अन्य देशों में थी; जैसे भारत और चीन में भी। किन्तु उस युग में भारत और चीन के नगर यूरोप के नगरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनी, समृद्धिशाली और

सुन्दर थे। इन देशों की सभ्यता, विद्या, साहित्य, कला-कौशल भी यूरोप की अपेक्षा बहुत अधिक समुन्नत और विकसित थी।

उपसंहार

मानव इतिहास की गति का अनुशीलन करते करते हम उस काल तक आ पहुंचे हैं जो हम लोगों से केवल चार सौ–पांच सौ वर्ष ही पुराना है। मध्य युग का समाज एक स्थिर सा समाज था जिसमें आन्दोलन और गति इतनी धीमी थी कि सहज ही दृष्टिगोचर नहीं होती थी,–वह समाज एक रूढ़िगत समाज था जहां सामन्तिक परम्पराओं और भावनाओं का साम्राज्य था; धर्म के प्रति भी एक रूढ़िगत विश्वास था जिसमें बुद्धि का प्रकाश नहीं के बराबर था। किन्तु फिर भी कहीं कहीं खूब गति-शील व्यक्ति आविर्भूत होजाते थे, फिर भी कहीं कहीं समाज के रूढ़िगत संस्कारों से मुक्त हो मानव स्वतन्त्र राह पर चलने के लिए निकल जाता था; फिर भी कहीं कहीं मानव धर्म के अन्ध-विश्वासी रूप को पार करके धर्म की आत्मा तक पहुंच जाता था।

मध्य युग की ऐतिहासिक गति में कहीं समरसलय दिखलाई देती है तो वह उस युग की संत परम्परा में, सन्तों की गहन धार्मिक अनुभूति में, और जन-मानस पर उनके सात्विक प्रभाव में।

मध्य युग के मानव और समाज में से हमारा और हमारे समाज का विकास हुआ। उस युग का कोई भी व्यक्ति आज हमारी विज्ञान की दुनिया में कहीं अचानक आकर उपस्थित हो जाय तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में यथा–धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक,–सब में, सचमुच चौंका देने वाली अनेक कल्पनातीत नई चीजें मिलेंगी। किन्तु फिर भी वह अपने आपको बिल्कुल एक ऐसी दुनिया में तो नहीं पायेगा जिससे मानो उसका कोई सम्बन्ध ही न हो, जिससे मानो उसके जमाने की दुनिया का कोई तारतम्य ही नहीं बैठता हो। मध्य युग की परम्पराओं से मानव और उसका समाज आज भी सर्वथा मुक्त नहीं है।

●